Dr. C.V. Raman University
Kargi Road, Kota, BILASPUR, (C. G.),
Ph. : +07753-253801, +07753-253872
E-mail : info@cvru.ac.in | Website : www.cvru.ac.in

Functional Management

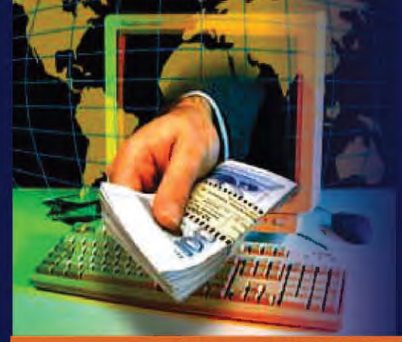

Institute of **Open** and **Distance Education**

Faculty of Commerce

Functional Management

2MCOM1

DR. C.V. RAMAN UNIVERSITY

Chhattisgarh, Bilaspur — A STATUTORY UNIVERSITY UNDER SECTION 2(F) OF THE UGC ACT

2MCOM1

क्रियात्मक प्रबंधन

2MCOM1, Functional Management

Edition: March 2024

Compiled, reviewed and edited by Subject Expert team of University

1. Dr. Archana Agrawal

(Associate Professor, Dr. C. V. Raman University)

2. Dr. Vivek Shukla

(Assistant Professor, Dr. C. V. Raman University)

3. Dr. Satish Kumar Sahu

(Assistant Professor, Dr. C. V. Raman University)

Warning:

All rights reserved, No part of this publication may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the publisher.

Published by:

Dr. C.V. Raman University

Kargi Road, Kota, Bilaspur, (C. G.),

Ph. +07753-253801, 07753-253872

E-mail: info@cvru.ac.in

Website: www.cvru.ac.in

विषय-सूची

इकाई - I

1. वित्तीय प्रबन्ध: अवधारणा महत्व एवं उद्देश्य 01
(Financial Mangement: Concept, Importance and Objectives)

2. वित्तीय कार्य 09
(Financial Functions)

3. वित्तीय निर्णय 22
(Financial Decisions)

4. वित्तीय नियोजन 29
(Financial Planning)

इकाई - II

5. पूँजीकरण 35
(Capitalisation)

6. पूँजी ढाँचा 58
(Capital Structure)

7. पूँजी संरचना के सिद्धान्त 80
(Theories of Capital Structure)

8. परिचालन एवं वित्तीय उत्तोलक 91
(Operating and Financial leverages)

इकाई - III

9. विपणन प्रबन्ध : अवधारणा 116
(Marketing Management: Concept)

10. विपणन: प्रकृति एवं क्षेत्र 127
(Marketing: Nature and Scope)

11. विपणन मिश्रण की अवधारणा 140
(The concept of Marketing Mix)

12. विज्ञापन प्रबन्ध 145
(Advertising Management)

13. विक्रय संवर्द्धन 176
(Sales promotion)

इकाई - IV

14. सेविवर्गीय प्रबन्ध 185
(Personnel Monagement)

15 मानव शक्ति नियोजन 195
(Manpower Planning)

16. भर्ती, चयन एवं प्रशिक्षण 206
(Recruitment, selection and training)

इकाई - V

17. उत्पादन प्रबन्ध: अवधारणा एवं महत्व 224
(Production Management: Concept and Importance)

18. उत्पादन नियोजन एवं नियंत्रण 236
(Production Planning and Control)

19. उत्पाद अवधारणा 247
(Concept of Product)

20. उत्पाद विकास 260
(Product Development)

21. उत्पाद नियोजन 267
(Product Planning)

22. प्रमापीकरण एवं विशिष्टीकरण 276
(Standardisation and Specialization)

●●●

1

NOTES

वित्तीय प्रबन्ध : अवधारणा, महत्व एवं उद्देश्य
(FINANCIAL MANAGEMENT : CONCEPT, IMPORTANCE AND OBJECTIVES)

वित्त प्रत्येक व्यवसाय की नींव है। व्यवसाय में सफलता प्राप्त करने में पर्याप्त वित्त की व्यवस्था करना आवश्यक होता है। वित्त वर्तमान व्यवसाय का जीवन रक्त माना जाता है, जैसे शरीर में रक्त संचार शरीर के विभिन्न अंगों को बल प्रदान करता है, उसी प्रकार वित्त भी व्यावसायिक संगठनों को सफलता प्रदान करता है। इसी कारण वित्तीय प्रबंध को महत्व दिया जाने लगा है जो कि व्यावसायिक प्रबन्ध का एक महत्वपूर्ण अंग बन गया है।

वित्तीय प्रबन्ध का सम्बन्ध उन संगठनों की वित्त व्यवस्था से किया जाता है जिनका उद्देश्य लाभार्जन करना होता है। वित्तीय प्रबन्ध दो शब्दों से मिलकर बना है- वित्तीय + प्रबन्ध। वित्तीय से आशय वित्त की व्यवस्था करने से है और प्रबन्ध से आशय कार्य को कुशलता से करने से है। वर्तमान में गलाकाट प्रतियोगिता, उदारीकरण आदि के कारण प्रबन्धकों का ध्यान साधनों के अनुकूलतम उपयोग की ओर गया है। अतः वित्तीय प्रबन्ध से आशय व्यवसाय में उपयोग होने वाले कोषों को प्राप्त करके उनका अनुकूलतम उपयोग करने से है।

वित्त दो प्रकार के होते हैं- (1) **सार्वजनिक वित्त** एवं (2) **निजी वित्त**। सार्वजनिक वित्त में इस बात का अध्ययन किया जाता है कि विभिन्न सार्वजनिक संस्थाएँ किस प्रकार अपनी वित्तीय व्यवस्था करती हैं। इसमें सार्वजनिक ऋण को भी सम्मिलित करते हैं। निजी वित्त में विभिन्न व्यक्तियों व निजी संस्थाओं की आय एवं व्यय का अध्ययन किया जाता है। निजी वित्त को तीन उपविभागों में बाँटा जाता है– (i) वैयक्तिक वित्त, (ii) व्यावसायिक वित्त, (iii) गैर लाभ अर्जित संस्थागत वित्त। व्यावसायिक वित्त का सम्बन्ध लाभोपार्जन के उद्देश्य से संचालित किए जाने वाले उपक्रमों की वित्तीय व्यवस्था से है। इसमें समस्त प्रकार के व्यावसायिक संगठनों की समस्त क्रियाओं की वित्तीय व्यवस्था को सम्मिलित किया जाता है।

वित्तीय प्रबन्ध की विचारधारा
(Approaches of Financial Management)

वित्तीय प्रबन्ध की विचारधारा को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है–

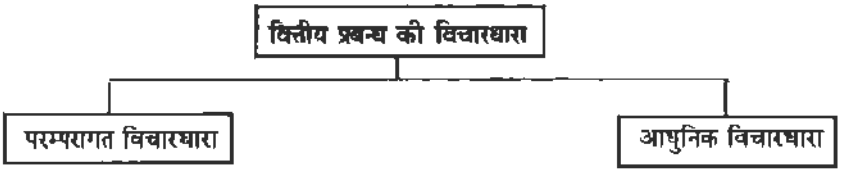

(i) **परम्परागत विचारधारा** (Traditional Approach)–परम्परागत विचारधारा के अन्तर्गत विषय का अध्ययन कोषों की व्यवस्था करने तथा समय-समय पर आवश्यकतानुसार अन्य कार्यों को सम्पन्न करने तक ही सीमित था, जिसके अन्तर्गत पूँजी प्राप्ति के उपकरणों, संस्थागत स्रोतों एवं वर्तमान व्यवहारों के अध्ययन को सम्मिलित किया गया था, जो कि निवेशक की दृष्टि से आवश्यक एवं उपयोगी था। इस दृष्टिकोण के अन्तर्गत वित्तीय प्रबन्ध का सम्बन्ध कम्पनी प्रवर्तन, पूँजी बाजार, एकीकरण, संविलियन, पुनर्संगठन, प्रतिभूतियों आदि तक सीमित था। इस विचारधारा के समर्थक **हण्ट एवं विलियम, थॉमस एल.ग्रीन ई., एस.मीड, ए.एस.डेविंग** आदि थे, जिनकी रचनाएँ सन् 1897 से 1950 के मध्य प्रकाशित हुई थीं।

परम्परागत विचारधारा की सीमाएँ
(Limitations of Traditional Approach)

परम्परागत विचारधारा संकीर्ण एवं दोषपूर्ण थी और इस विचारधारा की प्रमुख सीमाएँ निम्नलिखित थीं :–

(1) **एक पक्षीय दृष्टिकोण** (Unilateral Approach):- इसमें एक पक्ष पर ही ध्यान दिया गया, जिससे उपयोग की उपेक्षा की गयी। इसे बाह्य व्यक्तियों द्वारा केवल फाँकने की विचारधारा के नाम से जाना जाता है।

NOTES

पर प्रभाव डालते हैं तथा ये दोनों कारक सम्मिलित रूप में फर्म के मूल्य को निर्धारित करते हैं। अतः वित्तीय परिणामों के आधार पर ही व्यवसाय की कार्य निष्पत्ति का मूल्यांकन किया जाता है।

(5) **विश्लेषणात्मक एवं वृहद स्वरूप** (Analytical and Wider Form)–वित्तीय प्रबन्धक की आधुनिक विचारधारा विश्लेषणात्मक एवं अधिक व्यापक है। इसके अन्तर्गत आन्तरिक एवं बाह्य परिस्थितियाँ सभी पर ध्यान देकर श्रेष्ठ वित्तीय प्रबन्ध पर बल दिया जाता है।

(6) **सतत् प्रशासनिक प्रक्रिया** (Continuous Administrative Functions)– परम्परागत रूप में व्यवसाय में वित्तीय प्रबन्ध यान्त्रिक कार्य था, जबकि आधुनिक रूप में वित्तीय प्रबन्ध का कार्य एक सतत् प्रशासनिक प्रक्रिया है, क्योंकि व्यवसाय के सफल संचालन के लिये कोषों के लाभपूर्ण एवं सम्यक् उपयोग का दायित्व भी अब इस क्षेत्र की परिधि में आता है फलस्वरूप वित्तीय प्रबन्धक की भूमिका के महत्व को प्रत्येक व्यावसायिक संगठन में मान्यता दी जाने लगी है।

(7) **व्यावसायिक प्रबन्ध का एक महत्वपूर्ण अंग** (An Important Organ of Business Management)– आधुनिक व्यावसायिक प्रबन्ध में वित्तीय प्रबन्धक की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। व्यवसाय की सभी गतिविधियों में वित्तीय प्रबन्धक व्यवसाय निर्णयों में आधारभूत भूमिका निभाता है। फलस्वरूप वित्तीय प्रबन्ध व्यावसायिक प्रबन्ध का एक अभिन्न अंग बन गया है।

वित्तीय प्रबन्ध का महत्व
(Importance of Financial Management)

हसबैंड एवं **डोकरे** की राय में, "विभिन्न आर्थिक एवं व्यावसायिक गतिविधियों को एक सूत्र में बाँधने के लिये वित्तीय आवश्यकता होती है।" इसी कारण वित्तीय प्रबन्ध, व्यवसाय प्रबन्ध का एक प्रमुख अंग बन गया है। **जे.एफ.ब्रेडले** का मत है कि "वित्तीय प्रबन्ध व्यावसायिक प्रबन्ध का वह क्षेत्र है जिसका सम्बन्ध पूँजी का सम्यक प्रयोग एवं पूँजी के साधनों के सतर्कतापूर्ण चयन से है, ताकि व्यवसाय को इसके उद्देश्यों की पूर्ति की दिशा में निर्देशित किया जा सके।"

वित्तीय प्रबन्ध के महत्व और उपयोगिता का अध्ययन निम्न शीर्षकों में किया जा सकता है–

(1) **कृषि के क्षेत्र में महत्व** (Importance in Agriculture Sector)–उन्नत कृषि के लिये कृषि क्षेत्र में भी वित्तीय प्रबन्ध की महत्वपूर्ण भूमिका है, क्योंकि आज कृषकों को अच्छे बीज, रसायन खादों और कृषि यन्त्रों के सन्दर्भ में चुनाव हेतु वित्तीय परामर्श जरूरी होता है।

(2) **वित्तीय संस्थाओं के लिये महत्व** (Importance for Financial Institutions)– अभिगोपकों, विनियोग बैंकों एवं प्रन्यास कम्पनियों के व्यवस्थापकों के लिए प्रस्तुत विषय का व्यापक ज्ञान अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त व्यापारिक बैंकों एवं अन्य सभी प्रकार की वित्तीय संस्थाओं के प्रबन्धकों को भी विषय का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। यही कारण है कि प्रायः इस प्रकार की संस्थाएँ अपने लिए ऐसे वित्तीय विशेषज्ञों की सेवाएँ प्राप्त करती हैं जो वित्तीय प्रबन्ध के प्रत्येक पहलू से पूर्ण परिचित होते हैं।

(3) **पूँजी निवेशक एवं अंशधारियों के लिये महत्व** (Importance for Investors and Shareholders)–देश के अनेक विनियोक्ता अपनी संचित पूँजी का विनियोग इन कम्पनियों को प्रतिभूतियों में करते हैं। विनियोक्ताओं में धनी एवं साधारण सभी वर्गों के व्यक्ति होते हैं। उनका मार्गदर्शन करने के लिए देश में विनियोग बैंक का अभाव रहा तथा उन्हें विनियोग के लिए **'सिक्यूरिटी डीलर्स'** (Security Dealers) तथा **'वित्तीय दलालों'** पर निर्भर रहना होता है। उन सबसे यह आशा नहीं की जा सकती है कि वे स्वयं निर्णय कर सके कि किस कम्पनी का चुनाव किया जाये अथवा किन प्रतिभूतियों में धन लगाया जाये? किन्तु जिन विनियोक्ताओं को वित्तीय प्रबन्ध के सिद्धान्तों का ज्ञान होता है, वे स्वयं इस विषय में उचित निर्णय करने की स्थिति में हो जाते हैं। ऐसे विनियोक्ता भी जो स्थायी रूप से अंशधारी न बनकर केवल परिकल्पकों (Speculators) के रूप में ही विनियोग करते हैं, विषय के ज्ञान से लाभ प्राप्त करते हैं।

कम्पनी का स्वामित्व अंशधारियों में निहित होता है। संख्या अधिक होने के कारण वे प्रबन्ध में प्रत्यक्ष भाग नहीं लेते और प्रबन्ध का भार निर्वाचित संचालक-मण्डल को सौंप देते हैं। संचालक-मण्डल अंशधारियों के हित में इस कर्तव्य का किस सीमा तक और किस प्रकार पालन करते हैं, यह देखना अंशधारियों का कार्य है। यदि अंशधारी वित्तीय प्रबन्ध के सिद्धान्तों से अवगत हैं तो कम्पनी की साधारण सभाओं में कम्पनी की वित्तीय दशा का उचित मूल्यांकन कर सकेंगे।

(4) **प्रबन्धकों के लिये महत्व** (Importance for Managers)–प्रबन्धक जनता द्वारा विनियोजित धन के प्रन्यासी (Trustees) होते हैं और निगमों में जनता के विभिन्न वर्गों की पूँजी का विनियोग किया जाता है जिसकी सुरक्षा का भार प्रबन्धकों पर ही होता है। प्रबन्धकों को यह भी ध्यान रखना होता है कि विनियोजित पूँजी की मात्रा पर

नियमित रूप में उचित लाभ प्राप्त होता रहे; ताकि सदस्यों को विनियोजित पूँजी एवं जोखिम के लिए समुचित लाभांश दिया जा सके।

NOTES

(5) **कर्मचारियों के लिये महत्व** (Importance for Employees)–आज औद्योगिक उपक्रमों में श्रम संघों का महत्व बढ़ा है। कर्मचारी संघ के नेताओं में वित्त की प्रवीणता हासिल करने पर वे कर्मचारियों को मजदूरी, बोनस, भत्ते व अन्य सुविधाओं को बढ़ाने के लिये कारगर ढंग से माँगों को रख सकते हैं।

(6) **अन्यों के लिये महत्व** (Importance for Others)–अन्य सब ऐसे व्यक्तियों को भी जो देश की आर्थिक समस्याओं में रुचि रखते हैं, निगमों के वित्तीय प्रबन्ध का ज्ञान लाभ पहुँचाता है, जैसे- अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री, राजनीतिज्ञ, वाणिज्य एवं व्यवसाय के विद्यार्थी इत्यादि।

वित्तीय प्रबन्ध के कार्य
(Functions of Financial Management)

वित्तीय प्रबन्ध के कार्यों को दो वर्गों में रखा जा सकता है- (1) प्रशासकीय या निर्णयात्मक कार्य (Executive functions) और (2) नैत्यक अथवा दैनिक कार्य (Routine functions)।

(अ) **प्रशासकीय अथवा निर्णयात्मक कार्य** - वित्तीय प्रबन्ध की आधुनिक विचारधारा के अनुसार वित्त कार्य में तीन प्रकार के निर्णय–अर्थप्रबन्धन, विनियोग व लाभांश–शामिल किए जाते हैं। इसमें निम्न कार्य सम्मिलित हैं :–

(i) **उच्च प्रबन्ध को परामर्श देना** (To advise the Top Management)–प्रबन्ध के समक्ष वित्तीय समस्या उत्पन्न हो तो उसके निराकरण हेतु सलाह देना वित्तीय प्रबन्ध का कार्य होता है। प्रत्येक समस्या का सही निदान, समस्या के समाधान हेतु वैकल्पिक उपायों एवं उनमें से सर्वोत्तम विकल्प का चुनाव आदि के सम्बन्ध में वित्तीय प्रबन्ध उचित राय दे सकता है।

(ii) **पूँजी की उत्पादकता में वृद्धि हेतु प्रयास करना** (To make efforts for increasing the productivity of the Capital)– वित्तीय प्रबन्ध का यह भी कर्तव्य है कि विनियोग के नए-नए अवसरों की खोज करके पूँजी की उत्पादकता बढ़ाने का प्रयत्न करे।

(iii) **वित्तीय निष्पत्ति का मूल्यांकन** (Evaluating of Financial Performance)– वित्तीय प्रबन्ध का यह भी कार्य होता है कि एक निश्चित अवधि के बाद व्यावसायिक संस्था के वित्तीय निष्पादन का विश्लेषण व मूल्यांकन किया जाए और उसके परिणामों से उच्च प्रबन्ध को अवगत कराया जाए। इस प्रकार के वित्तीय विश्लेषण व मूल्यांकन हेतु अनेक प्रकार के उपकरण एवं तकनीकियाँ प्रयोग में लाई जा सकती हैं।

(iv) **रोकड़ बहावों का प्रबन्ध करना** (Management of Cash-flows)–व्यावसायिक संस्था में समुचित रोकड़ बहाव उसी भाँति आवश्यक होता है जैसा स्वस्थ शरीर के लिए शुद्ध रक्त का संचालन। वित्तीय प्रबन्ध का यह आवश्यक कार्य होता है कि वह रोकड़ बहाव के सम्बन्ध में उचित नीति का पालन करे।

(v) **आय का प्रबन्ध करना** (Management of Income)–आय के प्रबन्ध के अन्तर्गत आय का सही ढंग से मापन करना, आय का सही अनुपात में वितरण करना तथा यथोचित लाभांश नीति का पालन करना भी शामिल होता है।

(vi) **विनियोग संबंधी निर्णयन** (Investment Decisions)–इस कार्य के अन्तर्गत प्राप्त फण्ड का विभिन्न सम्पत्तियों में विनियोग करने सम्बन्धी निर्णय को शामिल करते हैं। स्थायी सम्पत्तियों में विनियोग (दीर्घकालीन विनियोग) और चल सम्पत्तियों में विनियोग (अल्पकालीन विनियोग) की मात्रा निर्धारित करना वित्तीय प्रबन्धक का कार्य होता है।

(vii) **वित्तीय समझौता** (Financial Negotiations)–वित्तीय प्रबन्ध का यह कार्य भी होता है कि जिन वित्तीय स्त्रोतों से पूँजी उगाहना हो, उनसे सम्पर्क साधें और उनसे बातचीत करके या अन्य किसी विधि से अनुबन्ध को अन्तिम रूप दें। इस प्रक्रिया में अनेक प्रकार के वैधानिक नियमों एवं मान्यताओं को कार्यरूप में बदलना पड़ता है।

(viii) **अर्थ प्रबन्धन निर्णय** (Financing Decisions)–वित्तीय प्रबन्ध का कार्य अर्थप्रबन्ध सम्बन्धी निर्णय का होता है। इसके अन्तर्गत वित्तीय स्त्रोतों का निश्चय करना, उनकी तुलनात्मक लागतों का अध्ययन करना, संस्था को अंशधारियों की इक्विटी पर पड़ने वाले प्रभाव को जाँच करना, आदि शामिल होता है।

(ix) **वित्तीय नियोजन** (Financial Planning)–वित्तीय पूर्वानुमानों के बाद वित्तीय नियोजन का कार्य किया जाता है। वित्तीय नियोजन के अन्तर्गत तीन प्रकार की उप-क्रियाएँ की जाती हैं–(i) वित्तीय उद्देश्यों का निर्धारण, (ii) वित्तीय नीतियों का निर्माण तथा (iii) वित्तीय कार्यविधियों का विकास।

(x) **वित्तीय पूर्वानुमान** (Financial Forecasting)- नई व्यावसायिक संस्था के सम्बन्ध में शुरू में इस प्रकार का पूर्वानुमान प्रवर्तकों द्वारा लगाया जाता है, परन्तु एक चालू व्यावसायिक संस्था में प्रत्येक परियोजना के सम्बन्ध में वित्तीय आवश्यकताओं का पूर्वानुमान वित्तीय अधिकारियों द्वारा ही लगाया जाता है।

(ब) नैत्यक या दैनिक कार्य – इस श्रेणी में उन कार्यों को शामिल करते हैं, जो प्राय: प्रतिदिन निम्न स्तरीय कर्मचारियों द्वारा किए जाते हैं। इस वर्ग में निम्न कार्यों को शामिल करते हैं :

(i) विभिन्न वित्तीय प्रलेखों को सुरक्षित रखना;

(ii) उधार (साख) का प्रबन्ध करना;

(iii) रोकड़ शेष की व्यवस्था करना;

(iv) विभिन्न वित्तीय विवरणों को तैयार करना;

(v) अभिलेख रखना (Record Keeping)।

वित्तीय प्रबन्ध के उद्देश्य
(Objectives of Financial Management)

वित्तीय प्रबन्ध के उद्देश्य के सम्बन्ध में दो विचारधाराएँ हैं:-

(1) लाभ अधिकीकरण उद्देश्य (Profit Maximization goal),

(2) मूल्य अधिकीकरण उद्देश्य (Wealth Maximization objective)।

1. **लाभ अधिकीकरण उद्देश्य** – वित्तीय प्रबन्ध का उद्देश्य संस्था के लाभ को अधिकतम करना है। कुछ विद्वानों का मत है कि जब वित्तीय प्रबन्धक विनियोग, अर्थप्रबन्धन व अन्य सम्बन्धित निर्णयों पर विचार कर रहा हो, तो उसे उस विकल्प का ही चुनाव करना चाहिए, जिसको अपनाने से लाभ अधिकतम हो सके। लाभ को अधिकतम करने के लिए सीमित साधनों से उत्पादन अधिकतम करना पड़ता है। लाभ आर्थिक क्षमता व कुशलता का मापदण्ड है : आर्थिक निष्पादन के मूल्यांकन हेतु लाभ मापदण्ड के रूप में प्रयोग किया जाता है। इससे संसाधनों का कुशलतम आवंटन भी सम्भव हो जाता है, क्योंकि संसाधनों को केवल वहीं पर प्रयोग किया जाता है जहाँ पर लाभ अधिकतम होने की सम्भावना होती है।

लाभ अधिकीकरण उद्देश्य में अनेक कमियाँ होने के कारण इसे एक सीमित उद्देश्य के रूप में जाना जाता है। इसमें निम्न कमियाँ पाई जाती हैं :–

(i) 'लाभ' शब्द का प्रयोग कई अर्थों में लिया जाता है और अलग-अलग लेखांकन परम्पराओं के अन्तर्गत लाभ की मात्रा भी अलग-अलग मापी जा सकती है। ऐसी स्थिति में एक कठिनाई व्यावहारिक रूप में यह उत्पन्न होती है कि किस लाभ का अधिकीकरण किया जाए।

(ii) लाभ अधिकीकरण उद्देश्य भावी लाभ के समय अन्तराल को ध्यान में नहीं रखता है। विनियोग के कुल जीवन काल में भिन्न-भिन्न समयावधि में प्राप्त होने वाले लाभ के योग के आधार पर ही निर्णय लिया जाता है।

(iii) लाभ अधिकीकरण उद्देश्य अनिश्चितता को भी ध्यान में नहीं रखता है। जब भावी लाभ अनिश्चित होते हैं, तो लाभ को अधिकतम करने की बात अपने आप में निरर्थक हो जाती है।

(iv) लाभ अधिकीकरण उद्देश्य का दृष्टिकोण बहुत ही संकुचित माना जाता है, क्योंकि यह सामाजिक उत्तरदायित्वों व हितों को ध्यान में नहीं रखता है।

(v) लाभ अधिकीकरण उद्देश्य जोखिम तत्व (Risk factor) को ध्यान में नहीं रखता है। सर्वविदित है कि लाभ व जोखिम का सीधा सम्बन्ध होता है। जोखिम जितनी ही अधिक होती है, लाभ की मात्रा उतनी अधिक होती है।

2. **मूल्य का अधिकीकरण उद्देश्य** – वित्तीय प्रबन्धक को प्रयत्न करना चाहिए कि अंशधारियों के लिए संस्था का मूल्य अधिकतम हो जाए। संस्था के मूल्य से तात्पर्य संस्था की शुद्ध सम्पत्तियों के मूल्य से होता है। वान हार्न ने लिखा है कि सम अंशों का यह बाजार मूल्य भावी लाभों के वर्तमान मूल्य में से विनियोगों की प्रारम्भिक लागत निकालकर जो शुद्ध वर्तमान मूल्य बचता है, उसी से प्रभावित होता है। इस प्रकार मूल्य अधिकीकरण उद्देश्य के अनुसार व्यवसाय का संचालन इस प्रकार करना चाहिए कि अंशधारियों को अधिकतम शुद्ध वर्तमान मूल्य प्राप्त हो सके। शुद्ध वर्तमान मूल्य की गणना के लिए निम्न सूत्र का प्रयोग कर सकते हैं:

$$NPV = GPV \text{ of Future cashflow} - C$$

जहाँ NPV = शुद्ध वर्तमान मूल्य

GPV – निश्चित दर पर डिस्काउण्टेड भावी लेकड़ बहाव

C = विनियोग की प्रारम्भिक लागत

यदि व्यवसाय संचालन के फलस्वरूप शुद्ध वर्तमान मूल्य शून्य से अधिक है, तो यह माना जाएगा कि स्वामियों की सम्पत्ति के वर्तमान मूल्य में वृद्धि हुई है। यदि शुद्ध वर्तमान मूल्य ऋणात्मक है तो इसका अर्थ होगा कि सम्पत्ति के वर्तमान मूल्य में कमी आई है।

NOTES

अंशधारियों के हित और व्यवसाय के सामाजिक उत्तरदायित्व के मध्य टकराव सम्भव है। वास्तविकता यह है कि उपरोक्त दोनों में कोई मूलभूत अन्तर न होकर अपर्याप्त समानता है। यदि संस्था अपने उत्तरदायित्व को पूरा करती है तो यह दीर्घकाल तक उचित दर से लाभ अर्जित करने में भी सक्षम हो जाती है। अंशधारियों की दृष्टि से उपार्जन की अनियमितता की अपेक्षा दीर्घकालीन नियमितता अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। संस्था के वित्तीय प्रबन्ध का उद्देश्य यह अवश्य होना चाहिए कि उसके द्वारा कमाए जाने वाले लाभ की दर उसी प्रकार की अन्य कम्पनियों द्वारा कमाई जाने वाली लाभ-दर से कम न हो। विनियोग निर्णय, वित्त प्रबन्ध निर्णय और लाभांश निर्णय तीनों वित्तीय निर्णयों का संयुक्त परिणाम अंशों का दीर्घकालीन बाजार मूल्य ही होता है। अतः यदि इन तीनों का कुशल व समन्वित ढंग से सम्पादन किया जाए तो एक व्यावसायिक संस्था उपरोक्त दोनों दायित्वों का निर्वाह संयुक्त रूप से करने में सफल हो सकती है।

वित्तीय प्रबन्ध की उपयोगिता
(Utility of Financial Management)

गत वर्षों में हुए औद्योगिक विकास ने वित्त और वित्तीय प्रबन्ध को व्यावसायिक प्रबन्ध का अमूल्य अंग बना दिया है। **इरविन फ्रैण्ड** के शब्दों में, 'एक फर्म की सफलता यहाँ तक कि उसका अस्तित्व, उसकी कार्यक्षमता और उत्पादन करने की इच्छा, स्थायी और कार्यशील पूँजी में विनियोग करने की क्षमता, काफी बड़ी सीमा तक उसकी भूत एवं वर्तमानकालीन वित्तीय नीतियों द्वारा ही निर्धारित होते हैं।' वर्तमान में वित्तीय प्रबन्धक का कार्यक्षेत्र केवल वित्त विभाग तक ही सीमित नहीं है, बल्कि व्यावसायिक नियोजन और नियन्त्रण की प्रत्येक क्रिया में उसका योगदान अपेक्षित हो गया। **प्रो. सोलोमन** के शब्दों में, 'वित्तीय प्रबन्ध आज केवल वित्तीय साधन संकलित करने की एक विशिष्ट क्रिया-मात्र ही नहीं है, अपितु सम्पूर्ण प्रबन्धकीय विज्ञान का एक अभिन्न अंग बन गया है। वित्तीय संसाधन एकत्रित करने के साथ-साथ वित्तीय उत्पादन, विपणन और उपक्रम में प्रत्येक निर्णयात्मक क्रिया से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित रहता है।'

वित्तीय प्रबन्ध बड़े संगठनों के प्रबन्ध के क्षेत्र में एक चुनौती भरा और उत्तरदायित्वपूर्ण क्षेत्र माना जाने लगा है। वित्तीय प्रबन्ध के अन्तर्गत जो वित्तीय निर्णय लेने की प्रक्रिया है उसका प्रभाव जोखिम और लाभदायकता दोनों पर पड़ता है। एक तीव्र गति से चलायमान और तकनीकी दृष्टि से जटिल व्यावसायिक पर्यावरण में सही निर्णय लेना प्रबन्ध के लिए दुष्कर कार्य हो गया है। आजकल वित्तीय प्रबन्ध फर्म की तरलता और लाभदायकता को प्रभावित करने वाले विभिन्न कार्य इस प्रकार हैं :

(i) सूचनाओं का द्रुत गति से संवहन जिसके फलस्वरूप उच्च गति के कम्प्यूटर्स का प्रयोग।

(ii) तकनीकी में ऊँची दर से परिवर्तन और अनुसन्धान व विकास पर खर्च की आवश्यकता।

(iii) विकास पर अधिक बल जिसके लिए फण्ड के नवीन साधनों की आवश्यकता।

(iv) मुद्रा-स्फीति की ऊँची दरें जो फर्म के पूर्वानुमान व नियोजन को प्रभावित करती है।

(v) विभिन्न प्रकार के व्यवसायों, बाजारों एवं वस्तुओं के फर्म द्वारा विविधीकरण।

(vi) पूँजी गहन पर्यावरण में जोखिमपूर्ण विनियोगों से सम्बन्धित अर्थप्रबन्धन की ऊँची लागत।

वित्तीय प्रबन्ध का अन्य कार्यों से सम्बन्ध
(Relationship of Financial Management with other Functional Areas)

प्रत्येक व्यावसायिक क्रिया का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सम्बन्ध वित्त से होता है। उत्पादन, विपणन, क्रय आदि क्रियाओं में वित्तीय पहलू का समावेश होता है। वित्त की समस्याओं का घनिष्ठ सम्बन्ध क्रय, उत्पादन और विपणन की समस्याओं से होता है। इस प्रकार सभी विभागों की क्रियाओं में वित्त की समस्या किसी न किसी रूप में निहित होती है। वित्तीय प्रबन्ध उन समस्त गतिविधियों का समावेश करता है जो भावी फण्ड बहाव की मात्रा एवं समय सम्बन्धी निर्णयों को प्रभावित करती है। वित्त, उत्पादन और विपणन के बीच वही कार्य करता है जो मशीन को चलाने में तेल पदार्थ का होता है। उत्पादन और विपणन सम्बन्धी निर्णयों में कुछ ऐसे भी पहलू होते हैं जो वित्तीय प्रबन्ध के क्षेत्र में नहीं आते, यद्यपि वे वित्त को प्रभावित करते हैं। उत्पादन की दशाओं में परिवर्तन या व्यवसाय के प्रबन्ध में कर्मचारियों

की सहभागिता या विपणन और विज्ञापन तकनीकी में परिवर्तन, आदि ऐसी समस्याएँ हैं जो मूलतः उत्पादक प्रबन्ध, कर्मचारी प्रबन्ध, विपणन प्रबन्ध के क्षेत्र में ही शामिल की जाएँगी।

NOTES

प्रश्न
(QUESTIONS)

1. वित्तीय प्रबन्ध की परिभाषा दीजिये।
2. वित्तीय प्रबन्ध की दो विशेषतायें बताइये।
3. वित्तीय प्रबन्ध के दो महत्व बताइये।
4. वित्तीय प्रबन्ध के किन्हीं दो प्रमुख कार्य को बताइये।
5. वित्तीय प्रबन्ध से आप क्या समझते हैं? वित्तीय प्रबन्ध की उपयोगिता का वर्णन कीजिए।
6. वित्तीय प्रबन्ध से क्या आशय है? वित्तीय प्रबन्ध की विभिन्न विचारधाराओं का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।
7. वित्तीय प्रबन्ध की परिभाषा दीजिये। आधुनिक युग में वित्तीय प्रबन्ध व्यावसायिक प्रबन्ध का महत्वपूर्ण अंग क्यों माना जाता है?
8. व्यावसायिक वित्त अथवा वित्तीय प्रबन्ध के अध्ययन की उपयोगिता की विवेचना कीजिए। व्यावसायिक फर्मों के अतिरिक्त और कौन से पक्ष इसके अध्ययन से लाभान्वित हो सकते हैं?
9. "वित्त-कार्य का परम्परागती व्यवहार अति वर्णनात्मक था। यह बहुत कुछ एक शब्द-कोष की भाँति था तथा पर्याप्त विश्लेषणात्मक नहीं था।" इस कथन की व्याख्या कीजिए तथा वित्तीय प्रबन्ध की परम्परागत एवं आधुनिक विचारधाराओं में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

2

वित्तीय कार्य
(FINANCIAL FUNCTIONS)

प्रत्येक व्यावसायिक उपक्रम को वित्तीय प्रबन्ध के अन्तर्गत कुछ उपयोगी व महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करने होते हैं, जिन्हें वित्त कार्य के नाम से जाना जाता है। प्रत्येक व्यवसाय का उद्देश्य लाभ अर्जित करना होता है और व्यवसाय के संचालन के लिये किसी न किसी प्रकार के संगठन की आवश्यकता रहती है। वित्त का अर्थ मुद्रा से लगाया जाता है। वित्त के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों की भिन्न-भिन्न राय है जिन्हें तीन श्रेणी में रखा जा सकता है –

(i) प्रथम श्रेणी में उन विचारों को लेते हैं जो कि वित्त में विपजों के भुगतान हेतु अनुकूलतम शर्तों पर पूँजी लगाने को मानते हैं।

(ii) दूसरी श्रेणी में उन विचारों को लेते हैं जो कि वित्त का सम्बन्ध रोकड़ के लेन-देन से मानते हैं।

(iii) तीसरी श्रेणी में उन विचारकों के मत को लिया जाता है जो कि वित्त का अर्थ पूँजी का संग्रह व उसके उपयोग को मानते हैं।

अत: व्यावसायिक वित्त से आशय उस प्रक्रिया से होता है, जो पूँजी प्राप्त करने एवं उसे प्रयुक्त करने से सम्बन्धित है।

गुथमैन व डूगल के शब्दों में, 'व्यावसायिक वित्त का तात्पर्य उन कार्यों से है जो व्यवसाय में उपयोग होने वाले फण्ड के नियोजन, संग्रह, नियन्त्रण व व्यवस्था करने से सम्बद्ध होते हैं।' **ओसवार्न** के अनुसार, 'वित्त कार्य का अभिप्राय व्यवसाय द्वारा पूँजी प्राप्त करने तथा प्रयोग करने की प्रक्रिया से है।' **हार्वर्ड व अप्टन** का मत है कि 'यह किसी संगठन में नकद और साख (Cash and Credit) के प्रबन्ध से सम्बन्धित प्रशासकीय क्षेत्र या क्रिया या समूह है, जिससे कि संगठन के पास अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए यथासम्भव सन्तोषजनक ढंग से साधन उपलब्ध हो सकें।' **वानविले** एवं **डिवे** ने कहा है, 'वित्त व्यवस्था के अन्तर्गत व्यवसाय के लिए प्रत्येक प्रकार की पूँजी एकत्र करने तथा प्रबन्ध करने की क्रियाएँ सम्मिलित होती हैं।'

वित्त कार्य
(Finance Functions)

औद्योगिक और व्यावसायिक उपक्रम में वित्तीय प्रबन्धक को जो भी कार्य करने होते हैं, उन्हें ही वित्त कार्य कहा जा सकता है। सामान्य अर्थ में किसी व्यावसायिक संस्था की वित्तीय व्यवस्था ही वित्त कार्य है, परन्तु वित्तीय प्रबन्धक के कार्यों तथा उनके नामों के बारे में वित्तवेत्ता एकमत नहीं हैं। कुछ वित्तवेत्ताओं ने वित्तीय प्रबन्धकों द्वारा किये जाने वाले निर्णयों के अनुसार इनके कार्यों को **विनियोग निर्णय** (Investment Decision), **वित्त प्रबन्धन निर्णय** (Financing Decision) तथा **लाभांश नीति निर्णय** (Dividend Policy Decision) का नाम दिया है। कुछ वित्तवेत्ताओं ने वित्त प्रबन्ध के कार्यों को **प्रशासनिक कार्य** (Administrative Function) तथा **नैत्यक या दैनिक कार्य** (Routine or daily functions) दो भागों में बाँटा है।

सुविधा की दृष्टि से वित्त कार्यों को दो भागों में रखकर अध्ययन किया जा सकता है–

(i) परम्परागत विचारधारा,

(ii) आधुनिक विचारधारा।

(अ) परम्परागत विचारधारा (Traditional Concept)–

इस विचारधारा के अन्तर्गत वित्त कार्यों को निम्न प्रकार से रखा जा सकता है–

(1) **वित्तीय प्रशासन** (Financial Administration)–इसके अन्तर्गत सम्मिलित कार्यों को निम्न प्रकार से उप-विभाजित किया जा सकता है –

(i) **वित्त-कार्य का संगठन** (Organisation of Finance Function)–वित्तीय विभाग एवं उप-विभागों का संगठन एवं कोषाध्यक्ष (Treasurer) एवं नियन्त्रक (Controller) के कार्यों, अधिकारों एवं दायित्वों का निर्धारण एवं समस्त लेखा-पुस्तकों के उचित रख-रखाव की व्यवस्था।

(ii) **सम्पत्तियों का प्रभावपूर्ण प्रबन्ध** (Effective Assets Management)–स्थिर सम्पत्तियों (Fixed Assets) की खरीद से सम्बन्धित वित्तीय पहलुओं पर विचार-विमर्श एवं उचित परामर्श। चल-सम्पत्तियों (Current Assets) की समयानुकूल पूर्ति की व्यवस्था करना, सम्पत्तियों के प्रबन्ध से सम्बद्ध नीतियों के निर्धारण में उच्च स्तर पर प्रबन्धकों को सलाह देना।

(iii) **वित्तीय नियन्त्रण** (Financial Control)–यह वित्तीय प्रशासन का एक प्रमुख अंग है। वस्तुतः इसके बिना व्यावसायिक लक्ष्यों की पूर्ति करना सम्भव नहीं होता है। वित्तीय नियन्त्रण की आधुनिक विधियों के द्वारा ही वित्त-विभाग व्यवसाय के सब विभागों द्वारा वित्तीय परिसीमाओं के अतिक्रमण को रोकने में सफल होता है। **पूँजी बजट, रोकड़ बजट तथा लोचपूर्ण बजटिंग** (Flexible Budgeting) प्रणालियों के द्वारा वित्त विभाग इस कार्य को सम्पन्न करता है।

(2) **वित्त प्राप्ति की व्यवस्था** (Procurement of Funds)–पूर्वानुमानित पूँजीकरण एवं प्रस्तावित पूँजी-ढाँचे के अनुसार विभिन्न स्रोतों से व्यवसाय संचालन के लिए अपेक्षित पूँजी संकलन से सम्बद्ध आवश्यक कार्यों को सम्पन्न करना।

(3) **वित्तीय नियोजन** (Financial Planning)–इसके अन्तर्गत निम्नलिखित कार्यों का समावेश होता है–उद्देश्यों का निर्धारण, नीतियों का निर्धारण, कार्यविधि का निर्धारण, वित्तीय योजनाओं का निर्माण, पूँजीकरण तथा पूँजी ढाँचे का निर्माण, सम्भावित परिवर्तन हेतु अग्रिम आयोजनों की व्यवस्था आदि।

(4) **विकास एवं विस्तार के लिए अतिरिक्त पूँजी की व्यवस्था** (Procurement of Additional Capital for Expansion and Extension)–पूँजी की लागत (Cost of Capital), स्वामित्व, नियन्त्रण, जोखिम एवं आय पर पड़ने वाले प्रभावों के सन्दर्भ में अतिरिक्त वित्त-प्राप्ति के विभिन्न वैकल्पिक साधनों पर विचार-विमर्श करके उचित परामर्श देना। आवश्यकता पड़ने पर विकास, विस्तार, एकीकरण एवं संविलयन की योजनाओं के वित्तीय पहलुओं की जाँच करना तथा तत्सम्बन्धित प्रासंगिक कार्यों को सम्पन्न करना।

(5) **वित्तीय निष्पत्ति का मूल्यांकन** (Evaluating Financial Performance)–विगत वर्षों की प्रगति की तुलना में चालू वर्ष की कार्य-निष्पत्ति का समीक्षात्मक मूल्यांकन करना तथा इसके लिए **वित्तीय विश्लेषण** (Financial Analysis) की आधुनिक विधियों का उपयोग, जैसे–**अनुपात विश्लेषण, प्रवृत्ति विश्लेषण, कोष प्रवाह विश्लेषण, लागत-लाभ मात्रा विश्लेषण, विचरणांश विश्लेषण** आदि।

इसके लिए **अन्तर-वर्ष तुलना** (Inter-year Comparison) तथा **अन्तर-फर्म तुलना** (Inter-firm Comparison) की विधियों का प्रयोग किया जाता है। प्रथम विधि के अन्तर्गत, कम्पनी की चालू वर्ष की कार्य-निष्पत्ति की तुलना विगत वर्षों में उसके द्वारा की गयी कार्य-निष्पत्ति के स्तर से की जाती है। द्वितीय विधि के अन्तर्गत कम्पनी की चालू वर्ष की कार्य-निष्पत्ति का तुलनात्मक मूल्यांकन उसी क्षेत्र अथवा उद्योग में कार्यरत कम्पनियों की उसी वर्ष की कार्य-निष्पत्ति से किया जाता है।

(6) **शुद्ध लाभ का आवंटन** (Allocation of Net Profits)–अंशधारियों को शुद्ध लाभ का कितना भाग लाभांश (Dividend) के रूप में वितरित किया जाये तथा कितना भाग व्यवसाय में संचित कोषों के रूप में धारित (Retain) किया जाये? इस प्रकार के निर्णयों का सम्बन्ध लाभांश एवं प्रतिधारित आय के पारस्परिक अनुपात से जुड़ा होता है जिसका निर्णायक प्रभाव कम्पनी के अंशों के भावी बाजार मूल्यों पर पड़ता है। अतः लाभांश-नीति (Dividend-Policy) का निर्धारण वित्तीय प्रबन्ध का एक प्रमुख दायित्व माना जाता है।

(7) **वार्षिक वित्तीय विवरणों का निर्माण एवं लाभ का निर्धारण** (Preparation of Annual Financial Statements & Determination of Profit)–इसके अन्तर्गत **तुलन-पत्र** (Balance sheet) एवं **आय-विवरण** (Income Statement) **अथवा लाभ-हानि लेखा** (Profit and Loss Account), प्रावधानों, ब्याज एवं करों आदि के समायोजन के बाद शुद्ध लाभ की मात्रा का निर्धारण सम्मिलित होता है।

(8) **विविध** (Miscellaneous)–वित्तीय प्रबन्ध के क्षेत्र में उपर्युक्त के अतिरिक्त और भी अनेक कार्य आते हैं, जैसे–प्रबन्धकों के लिए प्रतिवेदन (Reporting for Management) की उचित व्यवस्था, अल्पकालीन ऋणों की तथा अतिरिक्त धनराशियों के अल्पकालीन विनियोग की उचित व्यवस्था ताकि रोकड़ आगमों (Cash Inflows) एवं रोकड़ निर्गमों (Cash Outflows) में निरन्तर तालमेल रखा जा सके।

(ब) आधुनिक विचारधारा (Modern Concept)–

आधुनिक विचारधारा वित्तीय समस्याओं पर विश्लेषणात्मक रूप से विचार करती है। वित्त कार्य का मूलबिन्दु वित्तीय संसाधनों का विवेकपूर्ण प्रयोग करना है। वित्तीय संसाधनों के प्रभावशाली प्रयोग हेतु तीन प्रकार के महत्वपूर्ण निर्णय लेने पड़ते हैं–विनियोग निर्णय, अर्थप्रबन्धन निर्णय व लाभांश निर्णय। इस प्रकार आधुनिक विचारकों के अनुसार

पूँजी का विगोजन, पूँजी व अग्रह पूंजी का विनियोजन, आय का प्रबन्ध व नियन्त्रण आदि के साथ साथ वित्तीय नियन्त्रण, वित्तीय विश्लेषण तथा पूर्वानुमान को भी वित्त कार्य के अन्तर्गत समाहित कर लिया गया है। इन कार्यों के साथ-साथ एक वित्तीय अधिकारी को उन सभी वित्तीय समस्याओं को भी निपटाना पड़ता है, जो संस्था के समापन, पुनर्गठन, संविलयन आदि परिस्थितियों में उत्पन्न होती हैं।

NOTES

वित्त कार्य की आधुनिक विचारधारा के अन्तर्गत तीन महत्वपूर्ण निर्णय हैं। वस्तुतः इन तीन निर्णयों का सामूहिक नाम ही वित्त कार्य कहलाता है। आधुनिक विचारधारा के अनुसार वित्त कार्य को अग्र रूप में वर्णित किया जा सकता है:

(i) **विनियोग निर्णय** (Investment Decisions)–विनियोग निर्णय में दीर्घकालीन सम्पत्तियों में विनियोग (पूँजी बजटिंग) तथा अल्पकालीन सम्पत्तियों में विनियोग (कार्यशील पूँजी प्रबन्ध) शामिल होते हैं। दीर्घकालीन सम्पत्तियों (पूँजीगत सम्पत्तियों) में विनियोग सम्बन्धी निर्णय, पूँजी बजटिंग व अनिश्चितता विश्लेषण के द्वारा विभिन्न वैकल्पिक योजनाओं के सतर्कतापूर्ण मूल्यांकन के बाद ही लिया जाता है। इस प्रकार के पूँजी बजटिंग के तीन तत्व ध्यान में रखने पड़ते हैं। पहला, विभिन्न वैकल्पिक प्रस्तावों में उसी पूँजी विनियोग को चुना जाता है, जो सर्वोत्तम लाभ प्रदान करता हो। दूसरा तत्व जोखिम व अनिश्चय का विश्लेषण है। तीसरे, पूँजी विनियोगों का मूल्यांकन सदैव एक प्रमाप लाभ-मापदण्ड के आधार पर ही किया जा सकता है। इसे पूँजी की लागत के बराबर मान लिया जाता है। यदि अल्पकालीन सम्पत्तियों में आवश्यकता से अधिक विनियोग कर दिया जाए, तो लाभदायकता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। यही नहीं, अल्पकालीन सम्पत्तियों के सम्बन्ध में भी उचित विनियोग नीति (investment policy) अपनानी चाहिए।

(ii) **अर्थप्रबन्धन निर्णय** (Financing Decisions)–अर्थप्रबन्धन निर्णय का सम्बन्ध पूँजी संरचना से होता है। विनियोग के अर्थप्रबन्धन हेतु कोषों के विभिन्न स्रोतों से प्राप्त किया जा सकता है। कोष के प्रत्येक स्रोत में भिन्न-भिन्न समस्याएँ निहित रहती हैं। वित्तीय प्रबन्धक का यह दायित्व होता है कि वह दीर्घकालीन और अल्पकालीन कोषों के बीच एक उचित सन्तुलन बनाए रखे। दीर्घकालीन विनियोगों के अर्थप्रबन्धन हेतु उसे पर्याप्त मात्रा मे दीर्घकालीन कोषों का संग्रह करना पड़ेगा। दीर्घकालीन कोषों के अन्तर्गत उसे ऋण पूँजी और सम-अंशपूँजी के मध्य एक समुचित अनुपात निर्धारित करना पड़ेगा। ऋण पूँजी के प्रयोग से सम अंशधारियों के प्रत्यय पर पड़ने वाले प्रभावों की भी जाँच करनी होगी।

(iii) **लाभांश निर्णय** (Dividend Decisions)–वित्तीय प्रबन्ध का तीसरा कार्य लाभांश घोषित व भुगतान करने सम्बन्धी निर्णय से सम्बन्धित है। वित्तीय प्रबन्धक उच्च प्रबन्धक को राय देता है कि लाभ का कितना भाग अंशधारियों को लाभांश के रूप में दिया जाए और कितना भाग प्रतिधारित किया जाए। एक अनुकूलतम लाभांश भुगतान अनुपात वही होता है जो अंशधारियों के धन को अधिकतम कर दे। इसे निम्न प्रकार से रखा जा सकता है:-

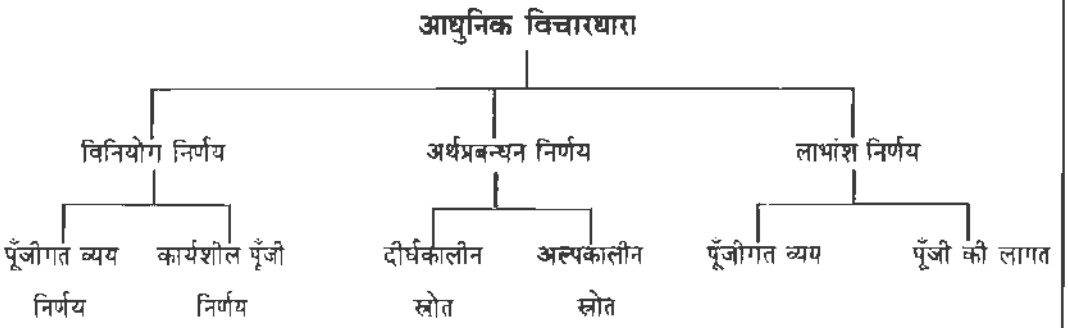

वित्त कार्य का संगठन (Organisation of Financial Function)–विभिन्न स्तरों पर विभागों एवं उप-विभागों के अधिकारियों को यदि महत्वपूर्ण वित्तीय निर्णय करने की छूट दी जाती है तो यह स्वाभाविक है कि प्रत्येक विभाग अपनी-अपनी खिचड़ी अलग पकाने का प्रयास करेगा तथा सर्वोच्च स्तर द्वारा उचित समन्वय एवं नियन्त्रण के अभाव में व्यवसाय के पूर्व निर्धारित उद्देश्यों और लक्ष्यों की पूर्ति न हो सकेगी। अतः प्रबन्ध के विषय में जितना विकेन्द्रीकरण, उत्पादन विभाग और विक्रय विभाग में सम्भव है, उतना वित्त के क्षेत्र मे सम्भव नहीं हो सका है। वित्तीय आयोजन का कार्य प्रायः प्रबन्ध के सर्वोच्च स्तर द्वारा ही सम्पन्न किया जाता है तथा इसे सम्भव बनाने के लिए सम्बद्ध विभागों एवं उप-विभागों में विशेषज्ञों की नियुक्ति की जाती है जो सर्वोच्च प्रबन्ध (Top Management) के समक्ष वित्त-विश्लेषण के लिए यह आवश्यक प्रमुख समंकों और तथ्यों को प्रतिवेदित करते हैं। सर्वोच्च-प्रबन्ध द्वारा निर्धारित वित्तीय उद्देश्यों एवं नीतियों के अन्तर्गत जहाँ तक कार्याविधि और कार्यक्रमों के निर्धारण का प्रश्न है, इसका विकेन्द्रीकरण सम्भव है और वस्तुतः अनेक नियमों में ये कार्य विभिन्न विभागों और उप विभागों के अधिकारियों पर छोड़ दिये जाते हैं।

वित्त विभाग के संगठन के स्वरूप की दृष्टि से विभिन्न कम्पनियों में असमानताएँ दिखायी देती हैं तथा प्रत्येक कम्पनी अपने आकार, कार्यक्षेत्र एवं व्यवसाय की प्रकृति को ध्यान में रखकर अपने वित्त विभाग का संगठन करती है। वैधानिक एवं सैद्धान्तिक दृष्टि से कम्पनी के प्रबन्ध का मूल अधिकार अंशधारियों में निहित होता है, किन्तु उनकी संख्या एवं उनके बिखराव को देखते हुए यह कार्य उनके द्वारा निर्वाचित संचालक के मण्डल को सौंप दिया जाता है। वस्तुतः संचालक मण्डल ही सर्वोच्च स्तर पर प्रबन्ध का कार्य सम्पन्न करता है। प्रायः संचालक-मण्डल को प्रबन्ध के कार्य में सहायता देने के लिए प्रबन्ध संचालक (Managing Director) अथवा अध्यक्ष (Chairman or President) की नियुक्ति की जाती है जो संचालक मण्डल से नीति सम्बन्धी निर्देश प्राप्त करता है और उसके प्रति उत्तरदायी होता है। छोटी कम्पनियों में वित्त प्रबन्ध अपेक्षाकृत सरल कार्य होता है। अतः विभागों और उप-विभागों की संख्या भी कम होती है, किन्तु विशाल निगमों में यह कार्य अत्यन्त कठिन एवं जटिल बन जाता है तथा विभाग और उप-विभागों की संख्या भी बढ़ जाती है। विशाल निगमों में **वित्त** (Finance) और **वित्तीय-नियन्त्रण** (Financial Control) को पृथक करके **वित्त उप-विभाग** के लिए '**कोषाध्यक्ष**' (Treasurer) और **वित्त-नियन्त्रण उप-विभाग** के लिए '**नियन्त्रक**' (Controller) की नियुक्ति की जाती है और इसमें से प्रत्येक के अधीन अनेक उप-विभाग स्थापित किये जाते हैं।

वित्त समिति
(Finance Committee)

चूँकि **वित्तीय आयोजन एवं नियन्त्रण का कार्य** अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है, अतः अनेक बड़े निगमों में यह कार्य केवल प्रबन्ध-संचालन पर ही नहीं छोड़ा जा सकता। अतः संचालक-मण्डल और प्रबन्ध-संचालक के मध्य एक **वित्त समिति** नियुक्त की जाती है जिसमें कुछ संचालकों के प्रतिनिधि एवं विभिन्न विभागों के उपाध्यक्ष अथवा प्रबन्धक सदस्यों के रूप में नियुक्त होते हैं।

विशाल निगमों में वित्तीय नीतियों के निर्धारण एवं समन्वय के लिए वित्त समिति का गठन अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। उत्पादनों के विविधीकरण तथा अनेक विभागों और उपविभागों के विकेन्द्रीकरण की परिधि का जैसे-जैसे विस्तार होता है, सर्वोच्च स्तर पर **प्रबन्धकों को** उचित परामर्श देने के लिए विशेषज्ञों की एक अल्प सदस्यीय समिति की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है। **वित्त समिति** एक ओर **संचालक-मण्डल** तथा दूसरी ओर **विभागीय-प्रशासकों** के बीच सम्बन्ध स्थापित करने **वाली एक मध्यस्थ शृंखला है जो** वित्तीय-नियोजन, **वित्तीय-नियन्त्रण** तथा वित्तीय पूर्वानुमान सम्बन्धी अनेक जटिल प्रश्नों **का उचित विश्लेषण करके** संचालक-मण्डल को उचित परामर्श देती है।

इसे निम्न प्रकार से रखा जा सकता है:

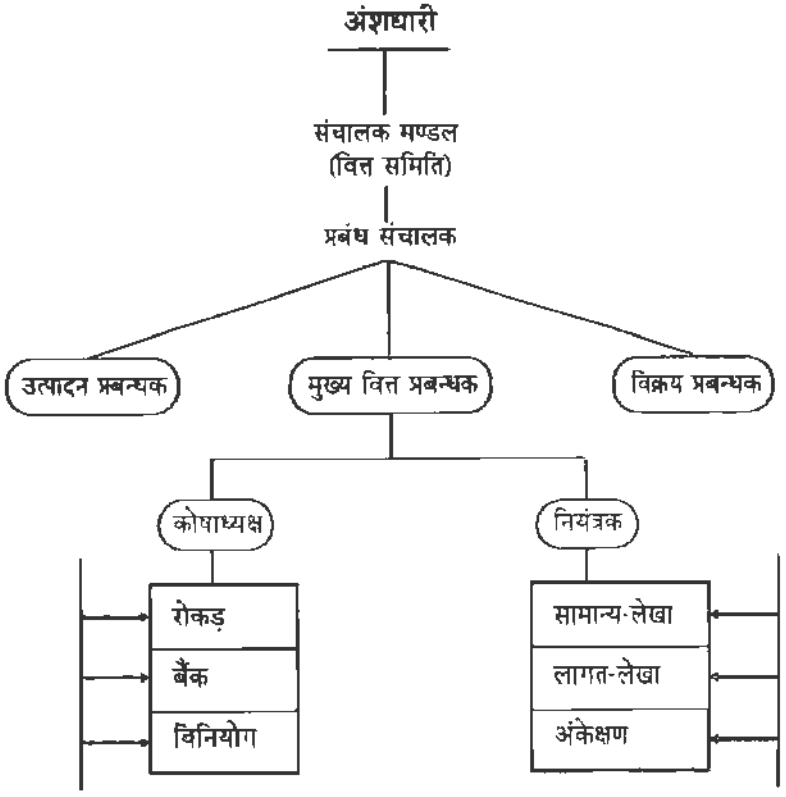

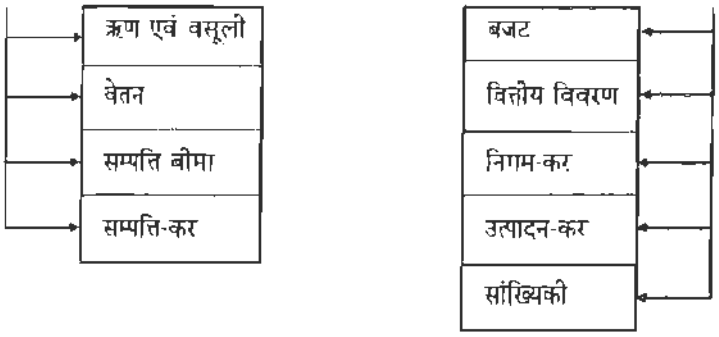

वित्त समिति का गठन संचालक-मण्डल की एक **उप-समिति** (Sub-Committee) के रूप में अथवा कुछ संचालकों एवं कतिपय विभागीय प्रबन्धकों की एक **संयुक्त-समिति** (Joint-Committee) के रूप में हो सकता है। उप-समिति के रूप में केवल संचालक-मण्डल के ही कुछ सदस्यों तक इसकी सदस्यता सीमित होती है।

वित्त विभाग के गठन की रूपरेखा को अन्तिम स्वरूप नहीं माना जा सकता, क्योंकि अलग-अलग कम्पनी अपने आकार, कार्य क्षेत्र व व्यवसाय की प्रकृति को ध्यान में रखकर ही वित्त विभाग का संगठन करती है। वित्त विभाग का संगठन स्वरूप स्थैतिक (Static) नहीं होता है। वित्त कार्य का संगठन विभिन्न बाह्य परिस्थितियों से प्रभावित होता है। औद्योगिक वित्त में राज्य का हस्तक्षेप, निगम करारोपण नीति, वित्तीय निगमों की नीतियों में परिवर्तन आदि का भी वित्त कार्य के संगठन पर प्रभाव पड़ता है। इन सभी तत्वों को ध्यान में रखकर ही वित्त कार्य का संगठन किया जाना चाहिए।

अति विशाल निगमों में वित्त-समिति के अतिरिक्त वित्तीय मामलों से सम्बद्ध अन्य समितियाँ भी होती हैं जैसे– **पूँजी विनियोग समिति** (Capital Appropriation Committee), **बजट-समिति** (Budget Committee), **वेतन-समिति** (Salaries Committee), **पेन्शन** एवं **भविष्य-निधि समिति** (Pension and Provident Fund Committee) आदि।

वित्तीय प्रबन्ध के अधीन **कोषाध्यक्ष** एवं **नियन्त्रक** दो महत्वपूर्ण अधिकारी होते हैं। वित्त की प्राप्ति, उसका उपयोग एवं विनियोग मुख्यतः कोषाध्यक्ष के अधीन होता है, जबकि सामान्य लेखा, लागत लेखा, अंकेक्षण बजट तथा वित्तीय विवरणों को तैयार करने आदि का कार्य नियन्त्रक के अधिकार क्षेत्र में होता है। भारत की अनेक कम्पनियों में वित्तीय प्रबन्ध का कार्य प्रायः **कम्पनी सचिव** (Company's Secretary) को ही सौंप दिया जाता है जो सचिव के दायित्वों के साथ-साथ कोषाध्यक्ष एवं नियन्त्रक के कार्यों का भी अधीक्षण करता है और उनमें वित्तीय विश्लेषण की दृष्टि से आवश्यक समंकों एवं सूचनाओं का संकलन करके प्रबन्ध-संचालक अथवा संचालक-मण्डल को प्रेषित करता है।

विभिन्न कम्पनियों में वित्तीय विभाग के कार्यों का संगठन भिन्न-भिन्न प्रकार से किया जाता है। संगठन का स्वरूप कैसा भी हो, मुख्य बात यह है कि वित्त एवं वित्तीय नियन्त्रण से सम्बद्ध विभिन्न विभागों और उप-विभागों का वर्गीकरण इस प्रकार से किया जाना चाहिए कि कुशल व्यक्तियों की देख-रेख में ये कार्य सुचारु रूप से संचालित होते रहें तथा प्रबन्ध-संचालक को वित्तीय सूचनाओं एवं विवरणों का नियमित प्रेषण होता रहे, जिससे वह कम्पनी **वित्तीय निष्पत्ति** (Financial Performance) का सही चित्र संचालक-मण्डल के समक्ष प्रस्तुत कर सके।

मुख्य वित्तीय प्रबन्धक
(Chief Financial Manager)

किसी भी कम्पनी में यह पद अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। कहीं-कहीं संचालक-मण्डल के ही एक सदस्य को (जो वित्तीय विशेषज्ञ होता है) यह दायित्व सौंपा जाता है और ऐसी स्थिति में इस पद का महत्व और अधिक बढ़ जाता है। अमेरिका के निगमों में इसे **उपाध्यक्ष-वित्त** (Vice President Finance) के नाम से सम्बोधित किया जाता है। भारत के अनेक निगमों में इसे मुख्य वित्तीय नियन्त्रक (Chief Financial Controller) कहा जाता है।

पहले कम्पनियों में वित्त-विभाग का संगठन अत्यन्त सरल होता था। वित्त सम्बन्धी उपविभागों का दायित्व एक ही अधिकारी को सौंप दिया जाता था, जिसे प्रायः कोषाध्यक्ष (Treasurer) कहा जाता था, किन्तु निगमों का आकार बढ़ने के साथ-साथ विभिन्न विभागों के दायित्वों एवं कार्यों का स्वरूप भी अधिक जटिल हो गया। अतः प्रभावपूर्ण सामान्य एवं नियन्त्रण स्थापित करना आवश्यक हो गया और नियन्त्रक (Controller) का स्वरूप उभरकर सामने आया। अब **कोषाध्यक्ष** का कार्य कम्पनी के कोषों की सुरक्षा एवं व्यवस्था तक ही सीमित हो गया तथा वित्तीय लेखांकन नियन्त्रण एवं अंकेक्षण आदि का कार्य उसके स्थान पर '**नियन्त्रक**' को सौंप दिया गया।

इस प्रकार अब विशाल निगमों में **मुख्य वित्तीय अथवा संचालक वित्त** (Director Finance) के अधीन **कोषाध्यक्ष** (Treasurer) एवं **नियन्त्रक** (Controller) ये दो अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रशासक होते हैं जो उनके सम्बद्ध विभिन्न वित्तीय उप-विभागों के प्रशासन के लिए उत्तरदायी होते हैं।

कम्पनियों के वित्तीय संगठन ढाँचे में एकरूपता या समानता नहीं है। अनेक कम्पनियों में **उपाध्यक्ष वित्त** (Vice President Finance) अथवा **संचालक-वित्त** (Director Finance) का पृथक पद नहीं होता है, ऐसी दशा में **कोषाध्यक्ष** एवं **नियन्त्रक** के दायित्व एक ही व्यक्ति में निहित होते हैं जो संचालक-मण्डल को सीधे वित्तीय तथ्यों एवं प्रतिवेदनों का प्रेषण करता है, उसके प्रति जिम्मेदार होता है तथा वित्त सम्बन्धी उप-विभागों के प्रशासन के लिए उत्तरदायी भी होता है।

मुख्य वित्तीय प्रबन्धक के उत्तरदायित्व एवं कार्य
(Responsibilities and Functions of Chief Financial Manager)

मुख्य वित्तीय प्रबन्धक के उत्तरदायित्वों एवं कार्यों का सम्बन्ध व्यावसायिक उपक्रम की वित्तीय नीतियों के परिपालन एवं उद्देश्यों की उपलब्धि से होता है। वित्तीय आयोजन, पूर्वानुमान, समन्वय एवं नियन्त्रण के साथ-साथ वित्तीय प्रशासन का समस्त दायित्व इसी के कन्धों पर होता है। इसके उत्तरदायित्वों एव कार्यों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है।

(1) **स्थायी एवं चल सम्पत्तियों का प्रबन्ध** (Management of Fixed and Current Assets)–भूमि, भवन, मशीनों आदि की खरीद एवं उनका प्रबन्ध, **माल के स्टाक का प्रबन्ध** (Inventory Management), नकद धनराशि बैंकों में जमा राशि एवं प्राप्य-विपत्रों का प्रबन्ध।

(2) **व्यावसायिक पूर्वानुमान** (Business Forecasting)–सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के सन्दर्भ में उद्योग पर होने वाले सम्भावित प्रभावों का पूर्वानुमान अन्तर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय, राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक प्रवृत्तियों के प्रभाव का सही मूल्यांकन तथा **कम्पनी** पर होने वाली सम्भावित प्रतिक्रिया का पूर्वानुमान, **लाभ का नियोजन** (Profit Planning) तथा **विनियोजित पूँजी पर प्रत्याय** (Return of Investment) का पूर्वानुमान आदि।

(3) **समन्वय एवं नियन्त्रण** (Co-ordination and Control)–वित्तीय लेखों का निष्पादन, बजटिंग (Budgeting), वित्तीय प्रतिवेदनों का निर्माण (Financial Reporting), लागत नियन्त्रण (Cost Control), लाभदायकता के सन्दर्भ में मूल्य-निर्धारण नीति में सहयोग, ह्रास एवं लाभांश नीतियों में योगदान आदि।

(4) **वित्तीय नियोजन एवं वित्त की व्यवस्था** (Financial Planning and Procurement of Funds)–इसमें वित्तीय योजना का निर्माण, पूँजी-ढाँचे का निर्धारण तथा कार्य-संचालन अथवा विकास विस्तार के सन्दर्भ में समय-समय पर आवश्यक परिवर्तनों के विषय में उचित परामर्श देना, विभिन्न स्रोतों से पूँजी साधनों को उपलब्ध करना, विभिन्न विभागों एवं कार्यों के लिए पूँजी का व्यवस्थापन, अतिरिक्त पूँजी का समुचित विनियोजन एवं कोषों का कुशल प्रबन्ध आदि सम्मिलित होता है।

(5) **विविध कार्य** (Miscellaneous Functions)–उधार क्रय-विक्रय नीति के निर्धारण एवं उधार की वसूली (Credit Collection) में तालमेल, सम्पत्ति का बीमा, आवश्यक आँकड़ों का संकलन एवं उनका निर्वचन, देय करों की व्यवस्था तथा अन्य वित्तीय कार्यों की निष्पति।

कोषाध्यक्ष के कार्य
(Functions of Treasurer)

सामान्य आकार की कम्पनियों में एक ही व्यक्ति (भले ही उसके पद को कोई भी नाम दिया जाये) कोषाध्यक्ष तथा नियन्त्रक–इनके दोनों कार्यों को सम्पन्न करता है, किन्तु बड़े निगमों में कार्यभार की अधिकता एवं दायित्वों की विविधता एवं जटिलता को देखते हुए वित्तीय नियन्त्रण का कार्य कोषाध्यक्ष से पृथक करके विशेष रूप से नियुक्त **नियन्त्रक** (Controller) को सौंप दिया जाता है।

कुछ दशकों पूर्व जबकि वित्तीय आयोजन एवं नियन्त्रण को उतना महत्व नहीं दिया जाता था, जितना कि आज दिया जाता है, अनेक कम्पनियों के वित्तीय संगठनों में कोषाध्यक्ष का दर्जा एवं महत्व आज की अपेक्षा कहीं ऊँचा होता था। अनेक बड़े निगमों में **उपाध्यक्ष-वित्त** (Vice-President Finance) तथा कोषाध्यक्ष एक ही व्यक्ति होता था, किन्तु जैसे-जैसे वित्तीय प्रबन्ध की विचारधारा में परिवर्तन के साथ-साथ वित्त-कार्य का विकास एवं विस्तार होता गया, वित्तीय नियोजन, वित्तीय पूर्वानुमान, वित्तीय समन्वय एवं नियन्त्रण तथा वित्तीय विश्लेषण के कार्यों का महत्व भी बढ़ता चला गया तथा **कोषाध्यक्ष** (Treasurer) के साथ-साथ **नियन्त्रक** (Controller) के समानान्तर पदों की स्थापना की आवश्यकता प्रतीत होने लगी।

कोषाध्यक्ष कम्पनी के कोषों का प्रमुख धरोहरकर्ता (Custodian) होता है। इसके कार्य-क्षेत्र के अन्तर्गत निम्नलिखित दायित्वों को सामान्यतः सम्मिलित किया जाता है–आवश्यक कोषों की उपलब्धि की व्यवस्था, प्राप्त कोषों की सुरक्षित व्यवस्था, रोकड़ एवं बैंक सम्बन्धी लेखे एवं विवरण, कोषों के प्रवाह पर निगरानी, अतिरिक्त **कोषों का लाभदायक विनियोग, कोषों के निर्गमन** (Outflow) के अनुरूप **कोषों के आगमन** (Inflow) की मात्रा एवं समय का समायोजन, **ऋणों का प्रबन्ध**, कम्पनी की **प्रतिभूतियों का लेखा एवं विवरण, उधार एवं वसूली की देख-रेख, सम्पत्ति करों की व्यवस्था** एवं **अदायगी, सम्पत्तियों की बीमे की व्यवस्था, रोकड़ विभाग एवं वेतन पंजिकाओं** (Pay-Rolls) का अधीक्षण आदि।

नियन्त्रक के कार्य
(Functions of Controller)

यदि कोषाध्यक्ष कम्पनी के कोषों का **धरोहरकर्ता** (Custodian) होता है तो नियन्त्रक उन कोषों के उचित उपयोग का **प्रहरी** (Watch-dog) होता है जिसका मूल कार्य इस बात की देख-रेख करना होता है कि कम्पनी द्वारा व्यय किये जाने वाला प्रत्येक रुपया उचित रीति से एवं नियमानुसार व्यय किया जाता है अथवा नहीं।

कोषों की सुरक्षा एवं धरोहर जितनी आवश्यक है, कोषों के उपयोग पर नियन्त्रण उससे भी अधिक आवश्यक है, अन्यथा कोषों की सुरक्षा एवं धरोहर का मूल उद्देश्य ही निष्फल हो जायेगा। यही कारण है कि बड़े निगमों में दोनों दायित्व एक ही व्यक्ति में निहित होते हैं तथा इनका पृथक्करण आवश्यक हो जाता है। आधुनिक कम्प्यूटर की आँकड़ों के संग्रहण एवं विश्लेषण की असीम क्षमता ने कम्पनी के **वित्तीय-नियन्त्रक** (Financial Controller) को निश्चयीकरण की प्रक्रिया में आधारभूत स्थिति (Key position) प्रदान कर दी है। अब अधिकाधिक कम्पनियों में नियन्त्रक का कार्यालय निश्चित रूप से व्यवसाय का सूचना-केन्द्र (Information centre) बन गया है। "नियन्त्रक के बढ़े हुए महत्व को देखते हुए यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि कुछ कम्पनियों के प्रबन्ध-दल में केवल नियन्त्रक ही ऐसा व्यक्ति होता है, जो व्यवसाय के बारे में अध्यक्ष (President) अथवा **प्रबन्ध-संचालक** (Managing Director) से भी अधिक ज्ञान रखता है।"

कम्पनी-प्रबन्ध की बारीकियों में नियन्त्रक की इतनी गहरी पैठ होती है कि प्रबन्ध सम्बन्धी अनेक मामलों में इस अधिकारी की सूझ-बूझ एवं परामर्श की अवहेलना करना उच्च स्तर पर प्रबन्धकों के लिए भी सम्भव नहीं होता है। विशाल निगमों में **नियन्त्रक** की भूमिका **इतनी महत्वपूर्ण होती है कि इस स्टॉफ अधिकारी** (Staff Officer) होते हुए भी वह निश्चयीकरण की प्रक्रिया में **अत्यन्त बहुमूल्य योगदान करता है।** नियन्त्रक की हैसियत से उपक्रम के विभिन्न विभागों एवं उप-विभागों के समन्वयकारी सूत्र उसके हाथ में होते हैं।

संक्षेप में, नियन्त्रक के निम्नलिखित **कार्य एवं दायित्व होते हैं**–लेखा पद्धति का निर्धारण एवं संचालन, लागत नियन्त्रण की व्यवस्था, अंकेक्षण की व्यवस्था, **वित्तीय-विवरणों (जैसे–लाभ-हानि, लेखा एवं तुलना-पत्र)** का निर्माण आवश्यकतानुसार वित्तीय प्रतिवेदनों (Reports) **को तैयार करके उन्हें प्रबन्धकों के समक्ष** प्रस्तुत करना, महत्वपूर्ण सांख्यिकीय तथ्यों एवं आँकड़ों का संकलन, कार्य-निष्पत्ति का वित्तीय विश्लेषण, बजट निर्माण, पूर्वानुमानों के आधार पर भावी-नियोजन की रूपरेखा तैयार करना, कर-सम्बन्धी दायित्वों (सम्पत्ति करों के अतिरिक्त) का विवरण तैयार करना एवं निर्धारित करों के समय पर भुगतान की व्यवस्था करना आदि।

नियन्त्रक ही वह व्यक्ति है जो पूर्व निर्धारित प्रमापों से वास्तविक कार्य-निष्पत्ति की तुलना करके उपक्रम की प्रगति का निरन्तर मूल्यांकन करता है और उसका वैज्ञानिक विश्लेषण **प्रबन्ध-संचालक या मुख्य वित्तीय प्रबन्धक** को प्रेषित करता है जो उसे **संचालक-मण्डल** के विचारार्थ एवं उचित निर्णयार्थ प्रस्तुत करता है।

वित्तीय प्रबन्ध की सीमाएँ
(Limitations of Financial Management)

वित्तीय प्रबन्ध का अत्यधिक महत्व होते हुए भी इसकी कुछ सीमाएँ हैं जो कि निम्न हैं:-

(1) **व्ययशील** (Expensive)–एक प्रभावशाली वित्तीय प्रबन्ध का संगठन खड़ा करना बड़ा महँगा कार्य है। अतः छोटे व्यावसायिक प्रतिष्ठान इस भार को वहन नहीं कर पाते हैं।

(2) **विकासशील विषय** (Developing Subject)–वित्तीय प्रबन्ध पूर्ण रूप से विकसित विषय नहीं है तथा इसका अभी विकास हो रहा है। अनेक विचारों एवं धारणाओं के बारे में विशेषज्ञ एकमत नहीं हैं।

(3) **वस्तुनिष्ठता का अभाव** (Lack of Objectivity)–वित्तीय प्रबन्ध पूर्ण रूप से वस्तुनिष्ठ नहीं है। वित्तीय प्रबन्ध के निर्णय वित्तीय प्रबन्धकों के व्यक्तिगत विचारों एवं भावनाओं से प्रभावित होते हैं और जब इनकी मात्रा अधिक हो जाती है तो वित्तीय निर्णय संस्था के लिए अच्छे परिणाम कम एवं बुरे परिणाम अधिक प्रदान करते हैं।

(4) **सम्बन्धित विषयों की कम जानकारी** (Lack of knowledge of Related Subjects)– वित्तीय प्रबन्ध के सही उद्देश्य तभी प्राप्त हो सकते हैं, जबकि वित्तीय प्रबंधकों को प्रबन्ध-लेखांकन, सांख्यिकी, अर्थशास्त्र, अभियांत्रिकी आदि की अच्छी जानकारी हो। इनकी जानकारी के अभाव में उच्च प्रबंध सही निर्णय लेने एवं उनके वित्तीय प्रभाव को जानने में सक्षम नहीं होगा।

(5) **वित्तीय लेखों पर निर्भर** (Based on Financial Records)–वित्तीय प्रबन्ध के लिए वित्तीय विश्लेषण एवं निर्वचन की अनेक तकनीकें काम में ली जाती हैं जो वित्तीय लेखों पर आधारित होते हैं। वित्तीय लेखे भूतकाल से सम्बन्धित होते हैं तथा लेखा परम्पराओं एवं नीतियों से प्रभावित रहते हैं।

(6) **सभी प्रबन्धकीय निर्णयों के वित्तीय प्रभाव जानना कठिन** (Difficult to know the financial effects of various managerial decisions)–एक संस्था में प्रबन्ध के जितने कार्यात्मक क्षेत्र हैं उन सबके निर्णय वित्तीय प्रभाव रखते हैं, अतः वित्तीय प्रबन्ध के लिए सभी कार्यात्मक प्रबन्धकीय निर्णयों के प्रभावों को जानना तथा उन सब में समन्वय स्थापित करना बड़ा कठिन कार्य होता है।

भारतीय वित्तीय व्यवस्था एवं बदलता स्वरूप
(Indian Financial System and Its Changing Nature)

वित्तीय संगठन का प्रमुख कार्य अर्थव्यवस्था में आय आधिक्य क्षेत्र (Surplus Sector) तथा व्यय आधिक्य (Deficit Sector) को एक दूसरे के सम्पर्क में लाना होता है। अर्थव्यवस्था में बचतकर्ताओं का एक ऐसा वर्ग होता है जिनकी आय उनके व्यय से अधिक होती है। अतः वे अपने आधिक्य अथवा बचतों को उचित स्रोत में विनियोजित करने के अवसरों की तलाश में रहते हैं तथा दूसरी तरफ ऐसे लोग व संस्थाएँ होती हैं जिन्होंने अपने साधनों से अधिक व्यय की योजना बनाई है अतः उन्हें ऐसे स्रोतों की तलाश रहती है जिनसे साधन लेकर वे अपने घाटे की पूर्ति कर सकें।

अतः अर्थव्यवस्था में एक व्यवस्था की आवश्यकता होती है जो इन दोनों वर्गों को मिला सके तथा उनकी एक-दूसरे पर निर्भर आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। एक देश का वित्तीय संगठन प्रायः निम्न कार्य करता है :

1. यह उत्पादक इकाइयों की कार्यशील पूँजी की आवश्यकता की पूर्ति करता है।
2. यह व्यवसायियों व उद्योगपतियों को अपने स्वयं साधनों की तुलना में अधिक बड़ी विनियोग की योजना बनाना संभव बनाता है।
3. यह वित्तीय बाजारों के विस्तार को प्रोत्साहित करता है।
4. यह बेकार पड़ी बचतों को गतिशील बनाता है।
5. यह साधनों का समाज के लिए आवश्यक क्षेत्रों में वितरण तथा मितव्ययी उत्पादक उपयोग संभव बनाता है।
6. देश में बचतों एवं विनियोग दोनों को प्रोत्साहित करता है।
7. यह बचतकर्ता तथा विनियोक्ताओं के मध्य, सरल, कुशल तथा लागत प्रभावी सम्बन्ध स्थापित करता है।

वित्त व्यवस्था के अंग
(Components of Financial System)

भारत की वित्त व्यवस्था का अध्ययन करके हम जान सकते हैं कि इस व्यवस्था के प्रमुख अंग निम्न हैं :

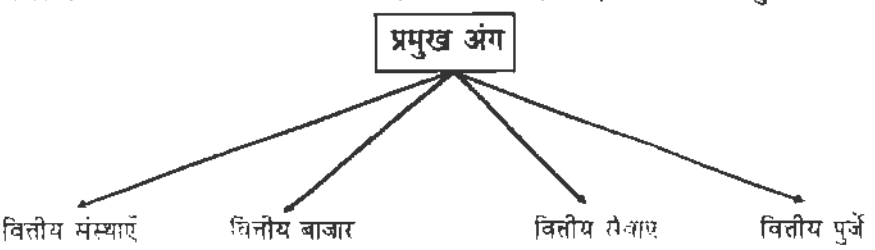

1. **वित्तीय संस्थाएँ** (Financial Institutions) वित्तीय संस्थाएँ वे होती हैं जो एक तरफ बचतकर्ताओं की बचतों को एकत्र करती हैं तथा दूसरी तरफ इन्हें उन लोगों व संस्थाओं को प्रदान करती हैं जो अपने उपक्रमों में उत्पादक कार्यों के लिये लगाते हैं। वित्तीय संस्थाओं में बैंकिंग संस्थाएँ, गैर बैंकिंग वित्तीय मध्यस्थ संस्थाएँ, गैर बैंकिंग वैधानिक वित्तीय संस्थाएँ, नियामक संस्थाएँ व अन्य संस्थाएँ आती हैं।

वित्तीय व्यवस्था का सबसे महत्वपूर्ण घटक वित्तीय संस्थाएँ होती हैं जिन्हें निम्न वर्गों में बाँटा जा सकता है :

1. नियामक संस्थाएँ,
2. गैर-बैंकिंग वैधानिक वित्तीय संस्थाएँ,

3. गैर-बैंकिंग वित्तीय संस्थाएँ, 4. बैंकिंग संस्थाएँ

5 अन्य संस्थाएँ।

NOTES

(1) **नियामक संस्थाएँ** (Regulatory Agencies)–भारत में बैंकिंग एवं वित्तीय संस्थाओं को नियंत्रित करने के लिए निम्न संस्थाएँ कार्यशील हैं :

1. **भारतीय रिजर्व बैंक**–यह भारत के वाणिज्य बैंकों तथा गैर-बैंकिंग वित्तीय कम्पनियों का नियंत्रण व मार्गदर्शन करता है। साख नियंत्रण हेतु अनेक उपकरणों का उपयोग करता है।

2. भारतीय प्रतिभूति एवं विनिमय बोर्ड भारत के पूँजी बाजारों को नियंत्रित करता है तथा विनियोक्ताओं के हितों की रक्षा करता है।

बीमा नियामक अधिकरण की स्थापना बीमा क्षेत्र के नियंत्रण हेतु की गई है।

(2) **गैर बैंकिंग वैधानिक वित्तीय संस्थाएँ** (Non-Banking Statutory Financial Organisation) – ये संस्थाएँ विकास बैंकों के नाम से जाने जाते हैं तथा ये बैंक वाणिज्य बैंकों से भिन्न होते हैं। ये दीर्घकाल के लिए ऋण देते हैं तथा ये ऋण परियोजना वित्त के रूप में होते हैं। भारत में कार्य करने वाले प्रमुख विकास बैंक निम्न हैं -

1. राज्य औद्योगिक एवं विनियोग विकास निगमें,
2. राज्य वित्त निगमें,
3. भारतीय औद्योगिक विनियोग बैंक,
4. भारतीय औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम (ICICI),
5. भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक (SIDBI),
6. भारतीय औद्योगिक विकास बैंक (IDBI),
7. भारतीय औद्योगिक वित्त निगम (IFCI)।

इनके अतिरिक्त कुछ विशिष्ट वित्तीय संस्था भी हैं :

1. राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक (NABARD)
2. भारतीय निर्यात-आयात बैंक (EXIM Bank)।

(3) **गैर बैंकिंग वित्तीय मध्यस्थ संस्थाएँ** (Non-Banking Financial Intermediaries NBFIs)– इन संस्थाओं को विनियोग संस्थाएँ, (Investment Institutions) के नाम से भी जाना जाता है। भारत में कार्यशील विनियोग संस्थाओं को नीचे के चार्ट में देखा जा सकता है।

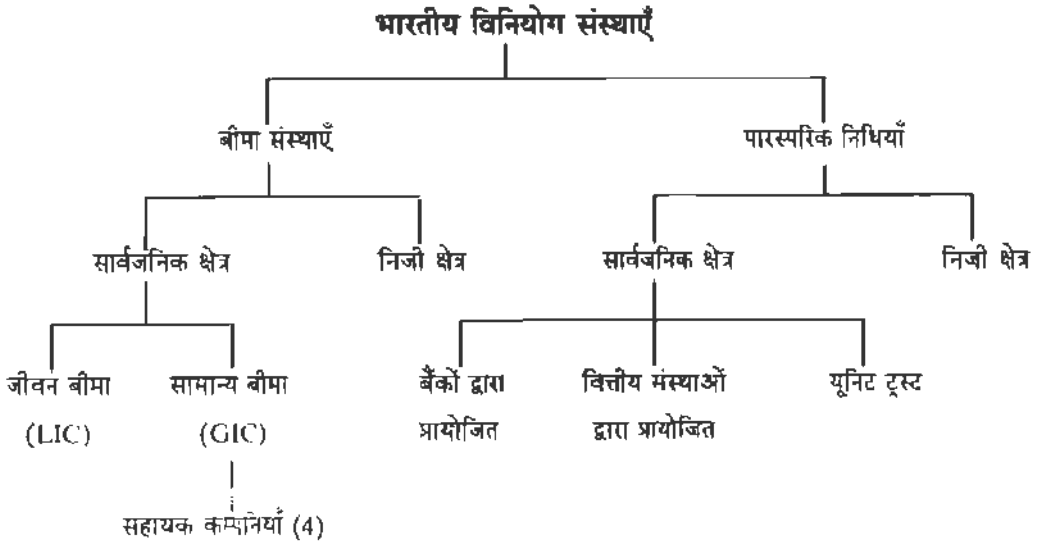

ये संस्थाएँ बचतकर्ताओं से जीवन बीमा व सामान्य बीमा तथा पारस्परिक निधियों द्वारा धन एकत्र करती हैं तथा उनका विभिन्न उद्योगों व कार्यों में विनियोजन करती हैं। इनमें बीमा कम्पनियाँ विशेष महत्व की संस्थाएँ हैं। भारतीय जीवन बीमा निगम इसमें अग्रणीय संस्था है।

(4) **बैंकिंग संस्थाएँ** (Banking Institutions)–भारतीय बैंकिंग संस्थाओं को अनुसूचित बैंक तथा गैर अनुसूचित बैंकों में बाँटा जा सकता है जिसे नीचे रेखाचित्र में देखा जा सकता है :

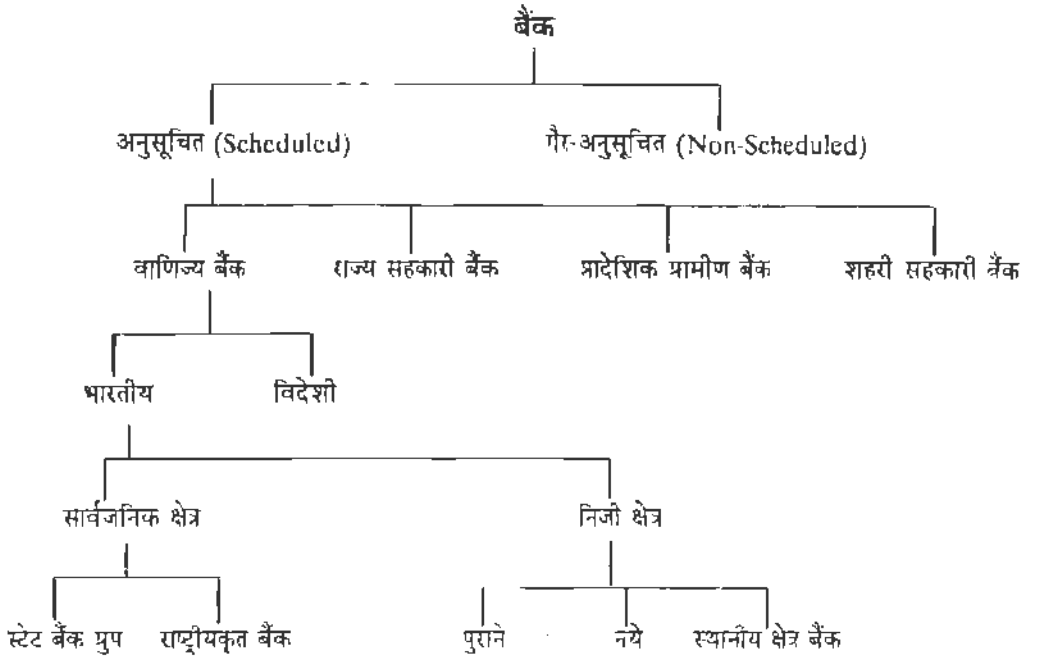

अनुसूचित बैंक वह होता है जिसका नाम भारतीय रिजर्व बैंक की अनुसूचित में दर्ज होता है। इन्हें कुछ दायित्वों को पूरा करना होता है जिससे इन्हें कुछ विशेष अधिकार व सुविधायें प्राप्त होती हैं। अनुसूचित बैंक, वाणिज्य बैंक अथवा सहकारी बैंक हो सकते हैं। कुछ चुनिंदा वर्षों में बैंकों की शाखाओं का विस्तार नीचे की तालिका से देखा जा सकता है।

(5) **अन्य संस्थाएँ** (Other Institutions) - कुछ विशिष्ट क्षेत्रों को प्रोत्साहित करने हेतु कुछ विशिष्ट वित्तीय संस्थाओं की स्थापना की है :

1. आवास व शहरी विकास निगम (Housing and Urban Development Corporation Ltd. 1971),
2. इन्फ्रास्ट्रैक्चर विकास वित्त कम्पनी (Infrastructure Development Finance Company Ltd. 1999),
3. सैलानी वित्त निगम (Tourism Finance Corporation of India Ltd. 1989),
4. शक्ति वित्त निगम (Power Finance Corporation 1986),
5. भारतीय रेलवे वित्त निगम (Indian Railway Finance Corporation Ltd. 1986)।

कुछ सहायक संस्थाएँ हैं जो अन्य संस्थाओं अथवा मुद्रा व पूँजी बाजार का चालन सरल बनाने हेतु स्थापित की गई हैं इनमें प्रमुख निम्न हैं :

(i) साख दर एवं सूचना सेवाएँ इण्डिया लि., (ii) केन्द्रीय डिपोजिटरी लि.,
(iii) नेशनल प्रतिभूति जमा लि., (iv) भारतीय स्टाक होल्डिंग निगम,
(v) भारतीय प्रतिभूति व्यापार निगम, (vi) भारतीय बट्टा एवं वित्त गृह।

2. **वित्तीय बाजार** (Financial Markets)–मुद्रा एवं पूँजी के लेनदेन को सुगम बनाने के लिए देश में मुद्रा बाजार एवं पूँजी बाजार कार्य कर रहे हैं। वित्तीय बाजार वे विस्तृत क्षेत्र होते हैं जहाँ इन बाजारों के उत्पादों के क्रेता तथा विक्रेता फैले हुये होते हैं। वित्तीय बाजार दो तरह के होते हैं·

1. मुद्रा बाजार 2. पूँजी बाजार

(i) **पूँजी बाजार** (Capital Market)–मुद्रा बाजार के विपरीत पूँजी बाजार दीर्घकालीन निधियों का बाजार है। इसमें वे सभी सुविधाएँ तथा संस्थाएँ व व्यवस्थाएँ शामिल होती हैं जो मध्यमकालीन तथा दीर्घकालीन निधियों के क्रय-विक्रय में लगी हुई हैं। यह बाजार उन सभी व्यक्तियों व संस्थाओं से मिलकर बना है जो पूँजी की माँग व पूर्ति करती है।

पूँजी बाजार में सरकारी प्रतिभूतियाँ तथा बाण्ड, निजी क्षेत्र द्वारा निर्गमित अंशपत्र, ऋणपत्र एवं बाण्ड, विदेशी सरकारों व व्यावसायिक संस्थाओं द्वारा जारी विदेशी प्रतिभूतियों आदि में व्यवहार होता है।

इस बाजार के दो भाग प्राथमिक बाजार अथवा नये निर्गमनों का बाजार तथा द्वितीय बाजार अर्थात् पूर्व निर्गमित प्रतिभूतियों में लेन-देन का होता है।

पिछले वर्षों में भारत के पूँजी बाजार को नियंत्रित व निर्देशित करने के लिए सेबी (SEBI) की स्थापना करके इसे अधिकार सम्पन्न बनाया गया है।

(ii) **मुद्रा बाजार** (Money Market)–देश में अल्पकालीन ऋणों के बाजार को मुद्रा बाजार कहते हैं। इन बाजारों में सौदा करने के लिए अनेक संस्थाएँ शामिल होती हैं।

बाजार में एक तरफ संगठित मुद्रा बाजार जिसमें अनेक संगठित बैंक एवं वित्तीय संस्थाएँ कार्यशील हैं तथा दूसरी तरफ असंगठित मुद्रा बाजार है जिसमें महाजन एवं काश्तकार व अन्य लोग कार्यशील हैं।

भारतीय मुद्रा बाजार में मुद्रा माँग बाजार (Call Money Market), खजाना बिल बाजार, वाणिज्य बिल बाजार तथा अन्य पुर्जों जैसे जमा प्रमाण-पत्र (C.D.) तथा वाणिज्य पत्र (C.P.) आदि का बाजार है। असंगठित बाजार तथा संगठित बाजार में व्यवहारों की प्रकृति, अवधि, सुरक्षा, ब्याज दरों आदि में अत्यधिक अन्तर है। असंगठित बाजार के कारण अनेक बार रिजर्व बैंक की मौद्रिक नीति में किये जाने वाले परिवर्तनों का यथोचित प्रभाव भी नहीं हो पाता है।

3. **वित्तीय सेवाएँ** (Financial Services)– देश में अनेक प्रकार के बैंक, वित्तीय संस्थाएँ, विकास बैंक, पारस्परिक निधियाँ आदि कार्य कर रही हैं। इन संस्थाओं द्वारा व्यक्तियों व संस्थाओं को अनेक प्रकार की सेवाएँ प्रदान की जाती हैं। वित्तीय सेवाओं का क्षेत्र, मात्रा तथा गहनता में लगातार बढ़ता जा रहा है। अंशों व ऋण पत्रों को इलेक्ट्रॉनिक मोड में जमा रखने के लिए डिपाजिटरी सेवाएँ, पोर्टफोलियो प्रबन्ध सेवाएँ भी प्रदान की जाने लगी हैं। अंश बाजार तथा ऋण बाजार में ऑन लाइन प्रबन्ध सेवाएँ आदि भी प्रदान की जाने लगी हैं। वित्तीय सेवाओं में वे सभी सेवाएँ शामिल होती हैं, जो सेवाएँ एक देश की वित्त व्यवस्था में लगी विभिन्न संस्थाएँ अपने ग्राहकों को प्रदान करती हैं। जमाएँ स्वीकार करना व ऋण प्रदान करने के अतिरिक्त महत्वपूर्ण वित्तीय सेवाओं में वित्तीय तथा निष्पादन गारन्टी, जमा बीमा, अन्य बीमा, उधार खरीद व किस्त साख, स्वीकृति व बट्टा सुविधा व तकनीकी सलाह सेवा आदि प्रमुख हैं।

4. **वित्तीय पुर्जे** (Financial Instruments)– मुद्रा तथा पूँजी बाजार में प्रयुक्त वित्तीय पुर्जों में भी परिवर्तन हुआ है तथा अनेक नये पुर्जों का प्रयोग बढ़ा है। अंश, ऋण पत्र, बाण्ड आदि पूँजी बाजार के पुर्जे हैं। तेजी से बदलते हुए वित्तीय पर्यावरण एवं मुद्रा व पूँजी बाजार के विकास से वित्त प्राप्ति के नवीन स्रोतों का विकास हो रहा है। इनमें से कुछ निम्न हैं वित्तीय पुर्जे वे माध्यम होते हैं जिनके माध्यम से वित्तीय साधन गतिशील बनाये जाते हैं। इनमें समता अंश, पूर्वाधिकार अंश, ऋण पत्र, बाण्ड, सी.डी., सी.पी., विनिमय बिल, ट्रेजरी बिल आदि आते हैं।

(अ) **जमा के प्रमाण-पत्र** (Certificates of Deposit)– इनके परिचालन की अनुमति भी मार्च 1989 में प्रदान की गई। सीडी एक निश्चित अवधि के लिए सावधि जमा के स्वामित्व का प्रमाण-पत्र है जो बिक्री योग्य होता है। यह प्रमाण-पत्र बैंक अवधि प्रमाण-पत्रों की तरह ही होता है, परन्तु कुछ अर्थों में उनसे भिन्न होता है। इनकी ब्याज दर निर्धारित नहीं होती है तथा इनका निर्गमन अंकित मूल्य से कम पर किया जाता है। इनकी अवधि 15 दिन से 1 वर्ष तक होती है तथा न्यूनतम 5 लाख रुपये होती है तथा ये एक-एक लाख रुपये में व्यक्त करके निर्गमित किये जा सकते हैं।

(आ) **व्यापारिक पत्र** (Commercial Paper)–अप्रैल 1989 से बड़ी कम्पनियों को सीधे मुद्रा बाजार से धन एकत्र करने के लिए व्यापारिक पत्र निर्गमित करने की अनुमति दी गई। इसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्न होती हैं :

(i) इनका खुले रूप से हस्तांतरण संभव नहीं है।

(ii) इनकी न्यूनतम अवधि 15 दिन तथा अधिकतम अवधि 1 वर्ष हो सकती है। कम्पनी की साख रेटिंग A2 अथवा P2 होनी चाहिए।

(iii) इनको एक निगम अधिकतम मात्रा में अपनी सकल कार्यशील पूँजी के 75 प्रतिशत से बराबर कर सकती है तथा न्यूनतम मात्रा 25 लाख रुपये है। ये पाँच-पाँच लाख रुपये की राशि में निर्गमित किये जा सकते हैं।

(iv) इनका उपयोग व्यापारिक बैंकों से अनुमति प्राप्त कार्यशील पूँजी की साख सीमाओं के बदले किया जाता है। अतः निगमों की साख सीमा नहीं बढ़ती है।

(v) ये अंकित मूल्य से कम मूल्य पर निर्गमित किये जाते हैं तथा बट्टे की दरें मुद्रा बाजार की परिस्थितियों पर निर्भर करती हैं।

(vi) ये उच्च मूल्य वाले निगमों या कम्पनियों द्वारा निर्गमित किये जाते हैं तथा ये जमानत रहित वायदा पत्र होते हैं।

इनसे निम्न लाभ प्राप्त होते है :

(a) कम ब्याज दर पर धन उपलब्ध।

(b) अल्पकालीन साख का अच्छा साधन।

(c) सरलता व लोचशील साधन।

(d) निवेशकर्ता को मान्यता।

31 मार्च, 2005 को बकाया व्यापारिक पत्रों की राशि 6,100 करोड़ रुपये थी।

(इ) **बहुविकल्पी बॉण्ड** (Multi Option Bonds)–ये बॉण्ड वे होते हैं जिनमें बॉण्ड धारक को ब्याज का भुगतान प्राप्त करने तथा मूलधन वापस प्राप्त करने के अनेक विकल्प दिये जाते हैं। इस तरह के बॉण्ड भी IDBI, ICICI आदि द्वारा निर्गमित किये गये हैं।

(ई) **स्फीति बॉण्ड** (Inflation Bonds)–ये बॉण्ड वे बॉण्ड होते हैं जो बॉण्डधारक को स्फीति के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करता है। इसमें धारक को स्फीति विहीन ब्याज दर प्राप्त होती है। जैसे Inflation Bond की ब्याज दर 10% निर्धारित है तथा देश में स्फीति की दर 6% है तो धारक को 16% की दर से ब्याज दिया जायेगा।

(उ) **चलायमान दर बॉण्ड** (Floating Rate Bonds)–यह वह ऋण या बॉण्ड है जिस पर ब्याज दर स्थिर नहीं है, बल्कि बाजार दशाओं के अनुसार परिवर्तनशील होती है। यह बॉण्ड निर्गमनकर्ता को ब्याज दरों में परिवर्तन के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करता है।

(ऊ) **दोहरा विकल्प बॉण्ड** (Double Option Bond)–ये बॉण्ड भी भारतीय औद्योगिक विकास बैंक द्वारा निर्गमित किये गये। इनका अंकित मूल्य 5,000 रुपया था जिन पर 15% ब्याज देय है जो प्रति 6 माह बाद संचयी है। बॉण्ड की परिपक्वता अवधि 10 वर्ष है जिसके दो भाग हैं तथा दोनों के अलग-अलग प्रमाण-पत्र जारी किये गये हैं। एक में 5,000 रुपये मूल धन व्यक्त है तथा दूसरे में विमोचन प्रब्याजी सहित ब्याज के 16,500 रुपये के लिए हैं। दोनों प्रमाण-पत्र स्टॉक एक्सचेंज में सूचीबद्ध हैं।

(ए) **गहरा बट्टायुक्त बॉण्ड** (Deep Discount Bonds)–यह भी एक तरह का शून्य ब्याज वाले बॉण्ड जैसा ही पुर्जा होता है। इन बॉण्डों के इनके ऊपर लिखित विमोचनशील मूल्य की तुलना में बट्टे पर निर्गमित किया जाता है। भारतीय औद्योगिक विकास बैंक द्वारा भारत में सर्वप्रथम जनवरी 1992 में ऐसे बॉण्डों का निर्गमन किया गया जिनका निर्गमन 2,700 रुपये प्रति बॉण्ड पर किया गया। जबकि उनका 25 वर्ष बाद देय मूल्य 1,00,000 रुपया था।

(ऐ) **सुरक्षित प्रब्याजी नोट्स** (Secured Premium Notes)–सुरक्षित प्रब्याजी नोट्स सामान्यतया अलग किये जाने वाले वारण्ट्स के साथ निर्गमित किये जाते हैं तथा 4 से 7 वर्ष की अवधि के बाद विमोचनशील होते हैं।

(ओ) **शून्य ब्याज पूर्ण परिवर्तनशील ऋणपत्र** (Zero Interest Fully Convertible Debentures)–ये वे ऋण पत्र होते हैं जिन पर कोई ब्याज देय नहीं होता है, परन्तु ये एक पूर्व निर्धारित तिथि पर पूर्वनिर्धारित मूल्य पर समता अंशों में परिवर्तनशील होते हैं।

वित्तीय क्षेत्र में सुधार
(Reforms in Financial Sector)

भारत सरकार ने रिजर्व बैंक के पूर्व गवर्नर एम.नरसिम्हन की अध्यक्षता में 14 अगस्त, 1991 को भारत की वित्तीय व्यवस्था के ढाँचे, संगठन, कार्यों तथा कार्यप्रणाली सभी की जाँच करने एवं सुझाव देने हेतु नरसिम्हन समिति का गठन किया था। उस समिति ने 16 नवम्बर, 1991 को सरकार को अपनी अन्तिम रिपोर्ट प्रस्तुत की। नरसिम्हन की अध्यक्षता में ही बैंकिंग सुधारों हेतु एक और समिति का गठन किया जिसने अपनी रिपोर्ट 23 अप्रैल, 1988 को प्रस्तुत की। इस समिति को नरसिम्हन द्वितीय समिति कहते हैं।

नरसिम्हन प्रथम एवं द्वितीय समिति की सिफारिशों के आधार पर भारत के वित्तीय क्षेत्र में अनेक सुधार किये गये हैं। अब बैंकों को जमाओं तथा ऋणों पर अपनी ब्याज दरें निर्धारित करने, साख के मूल्यांकन तथा मानीटरिंग हेतु अपने आप प्रमाण निर्धारित करने की स्वतंत्रता दे दी है। बैंक गैर-लाभप्रद शाखाओं को बन्द करने व नई शाखाएँ खोलने हेतु भी स्वतंत्र कर दिये गये हैं। पूँजी पर्याप्तता प्रमापों (Capital Adequacy Norms) को प्रभावी ढंग से लागू किया जा रहा है।

NOTES

प्रश्न
(QUESTIONS)

1. वित्त कार्य से क्या आशय है ?
2. वित्त कार्य के परम्परागत विचारधारा का वर्णन कीजिए।
3. वित्त कार्य की आधुनिक विचारधारा को समझाइए।
4. वित्त कार्य के संगठन का वर्णन कीजिए।
5. मुख्य वित्तीय प्रबन्धक के उत्तरदायित्व व कार्यों का वर्णन कीजिए।
6. वित्तीय प्रबन्ध को परिभाषा दीजिए। वित्तीय प्रबन्ध को प्रकृति तथा क्षेत्र की व्याख्या कीजिए।
7. वित्तीय प्रबन्ध के कार्यों तथा उद्देश्यों का विवेचन कीजिए।
8. एक आधुनिक व्यवसाय में 'वित्त कार्य' प्रकृति तथा महत्व का विवेचन कीजिए। वित्त कार्य के विकास का भी संक्षिप्त विवरण दीजिए।
9. एक व्यावसायिक संस्थान में 'वित्त कार्य' की भूमिका एवं संगठन की व्याख्या कीजिए।
10. वित्त कार्य से आप क्या समझते हैं ? इसके बारे में विभिन्न विचारधाराओं का वर्णन कीजिए।
11. "वित्त उद्योग का जीवन रक्त है।" इस कथन की उदाहरण सहित व्याख्या कीजिए।
12. प्रभावी नियन्त्रण बनाए रखने के लिए वित्तीय प्रबन्धक के उत्तरदायित्वों को रूपरेखा दीजिए।
13. व्यावसायिक वित्त क्या है ? वित्त कार्य की परम्परागत एवं आधुनिक विचारधारा को समझाइए।
14. व्यावसायिक वित्त से आप क्या समझते हैं ? एक वृहत् संगठन के वित्त प्रबन्धक के कार्यों की व्याख्या कीजिए।

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

NOTES

3

वित्तीय निर्णय
(FINANCIAL DECISIONS)

वित्तीय प्रबन्ध के उद्देश्य
(Objectives of Financial Management)

वित्तीय प्रबन्ध के उद्देश्यों पर विचार दो स्तरों पर किया जा सकता है – **समष्टि स्तर** (Macro-Level) तथा **व्यष्टि स्तर** (Micro-Level)। समष्टि स्तर पर प्रत्येक निगम का एक प्रमुख दायित्व हो जाता है कि अपने सीमित साधनों के अधिकतम व कुशलतम उपयोग के द्वारा किसी उपयोगी वस्तु या सेवा का सृजन और वितरण करके उस समाज को लाभान्वित करे जिसका वह अंग है। इस दृष्टि से जो निगम उचित मूल्य पर उत्तम वस्तु अथवा सेवा समाज को उपलब्ध कराते है, वे सफल माने जाते हैं। व्यष्टि स्तर पर वित्तीय प्रबन्ध का उद्देश्य व्यावसायिक प्रबन्ध के सामान्य उद्देश्य से भिन्न न होकर उसका पूरक होता है। वित्तीय प्रबन्ध के व्यक्तिगत उद्देश्य दो हो सकते हैं–(i) **लाभ को अधिकतम करना** तथा (ii) **सम्पत्ति के मूल्य को अधिकतम करना**।

अधिकतम लाभ प्राप्ति का उद्देश्य (Profit Maximisation Objectives)–किसी व्यावसायिक उपक्रम का मूल उद्देश्य उसके स्वामियों का अधिकतम हित साधन माना जाता है। इसके लिये अब तक अधिकतम लाभोपार्जन को व्यवसाय संचालन का प्रमुख उद्देश्य माना जाता रहा है, इसमें निम्न आते हैं:-

(1) **पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा प्रतियोगिता** – किसी भी समाज में यदि इस प्रेरणा अथवा आकर्षण को समाप्त कर दिया जाये तो पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा एवं प्रतियोगिता का कोई स्थान नहीं रह जायेगा।

(2) **उचित उपयोग** – उपलब्ध दुर्लभ साधनों का कुशल आवंटन तथा विवेकपूर्ण उपयोग लाभ के आधार पर ही किया जाता है।

(3) **निर्णय प्रक्रिया का मापक** – समस्त व्यावसायिक निर्णय लाभोपार्जन के लक्ष्यों को दृष्टिगत रखकर ही किये जाते हैं। अतः यह निर्णय प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण प्रमाप बन गया है।

(4) **प्रबन्धकीय कुशलता का सूचक** – लाभ वित्तीय प्रबन्ध की कुशलता की एक सामान्य एवं प्रभावी कसौटी है जिसके आधार पर उपक्रम के प्रबन्ध की सफलता अथवा असफलता को परखा जा सकता है।

(5) **प्रेरणा का आधार** – लाभ एक प्रमुख प्रेरणा है जिसका आकर्षण अधिकाधिक उत्तम एवं कुशल कार्य निष्पत्ति के लिये मार्ग प्रशस्त करता है। लाभ के वशीभूत होकर ही व्यक्तियों के समूह कठोर परिश्रम एवं बड़ी प्रतिस्पर्द्धा करके एक दूसरे से अधिक कुशल एवं उपयोगी बनने का प्रयास करते हैं।

विपक्ष में तर्क – अधिकतम लाभ के उद्देश्य के विपक्ष में निम्न तर्क महत्वपूर्ण हैं–

प्रथम – अब अनेक विद्वानों का मत है कि यह सिद्धान्तपूर्ण प्रतियोगिता की दशा में ही व्यवसाय का एक उत्तम उद्देश्य हो सकता है। आधुनिक युग में प्रायः सभी बाजारों में अपूर्ण प्रतियोगिता (Imperfect competition) ही दिखलायी देता है। अतः लाभ को अधिकतम करने का उद्देश्य उचित नहीं जान पड़ता है।

द्वितीय – व्यावसायिक उपक्रमों पर विभिन्न प्रकार के नियमों एवं नियन्त्रणों के इस युग में व्यावसायिक उद्देश्य के रूप में अधिकतम लाभ के सिद्धान्त का औचित्य एवं महत्व अपेक्षाकृत कम होता जा रहा है।

तृतीय – स्वामित्व एवं प्रबन्ध में पृथक्करण (Divorce between Ownership and Management) के कारण अब कम्पनियों, निगमों का प्रबन्ध पेशेवर प्रबन्धकों (Professional Manager) के द्वारा किया जाता है जो अनेक परस्पर विरोधी हितों में उचित सामंजस्य रखकर ही व्यवसाय को लाभदायक स्थिति में रखने में सफल हो सकते हैं, ऐसी स्थिति में अधिकतम लाभ का विचार गौण हो जाता है।

आलोचना -

(1) **व्यवसाय के सामाजिक दायित्व की उपेक्षा** – यह विचारधारा व्यवसाय के सामाजिक दायित्वों की उपेक्षा करती है तथा स्वामित्व के लाभ को अधिकतम करती है।

(2) **मुद्रा के समय मूल्य की उपेक्षा** – यह भी आलोचना की जाती है कि अधिकतम लाभ का सिद्धान्त अव्यावहारिक है। इस मापदण्ड के अन्तर्गत प्राय: अनेक वर्षों के आय को औसत निकालकर फिर पूँजी विनियोग पर प्रत्याय की दर ज्ञात की जाती है। इस प्रकार यह विधि आय के समय मूल्य को कोई मान्यता नहीं देती।

(3) **अस्पष्ट धारणा** – लाभ एक अस्पष्ट विचार है और इसके अनेक स्वरूप हो सकते हैं, जैसे–**सकल लाभ** (Gross profit),**ब्याज एवं कर घटाने से पूर्व लाभ** (Earnings before interest and rate),**कर सहित लाभ** (Profit before tax) तथा **कर रहित लाभ** (Profit after tax) आदि। इसमें से कौन से लाभ को अधिकतम किया जाये, यह एक व्यावसायिक कठिनाई बनी रहती है।

इस प्रकार अधिकतम लाभोपार्जन का सिद्धान्त अब पुराना विचार (Old Concept) हो गया है। एकाकी व्यापार एवं साझेदारियों के युग में फिर भी सिद्धान्त का कुछ महत्व था क्योंकि उस समय व्यक्तियों द्वारा अधिकांशत: अपनी निजी पूँजी एवं सम्पत्ति का विनियोग व्यवसाय में किया जाता था। अत: स्वाभाविक था कि अधिकतम लाभ के लिए वे व्यवसाय का संचालन करें, किन्तु अब नियमों अथवा कम्पनियों का युग है जिससे विनियोजित कुल पूँजी के एक बड़े भाग का विनियोजन सार्वजनिक संस्थाओं एवं जन-साधारण द्वारा किया जाता है।

सम्पत्ति के मूल्य को अधिकतम करना
(Maximisation of Wealth)

अधिकतम लाभ के स्थान पर अब सम्पत्ति के मूल्य में अधिकतम वृद्धि के सिद्धान्त को व्यवसाय के मूल उद्देश्य के रूप में मान्यता प्रदान की जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि व्यवसाय का संचालन इस प्रकार किया जाना चाहिए कि जिससे व्यवसाय के स्वामियों को अधिकतम **निवल वर्तमान मूल्य** प्राप्त हो सके। "व्यावहारिक उपयोग के लिए निश्चयीकरण के मापदण्ड के रूप में अधिकतम लाभ के सिद्धान्त की तीन प्रमुख कमियाँ हैं। यह **जोखिम** पर ध्यान नहीं देता, यह द्रव्य के **समय-मूल्य** पर ध्यान नहीं देता तथा साथ ही यह **अस्पष्ट** है। इन्हीं कारणों से **वित्तीय प्रबन्ध** के निर्णयन के मापदण्ड के रूप में अब अधिकतम लाभ के उद्देश्य का स्थान सम्पत्ति के अधिकतम वृद्धि के उद्देश्य ने ले लिया है।

"कम्पनी के प्रबन्धक तीन प्रकार के वित्तीय निर्णय लेते हैं–**वित्त-पूर्ति के निर्णय** (Financing Decisions), **विनियोग निर्णय** (Investment Decisions) तथा **लाभांश-निर्णय** (Dividend Decisions)। ये निर्णय परस्पर एक दूसरे को तो प्रभावित करते ही हैं, साथ ही ऐसा प्रत्येक निर्णय फर्म के मूल्य (Value of the Firm) को भी प्रभावित करता है।

पूँजी निवेश की प्रारम्भिक राशि से कितनी अधिक होगी ? यदि ऐसा वर्तमान-मूल्य प्रारम्भिक पूँजी निवेश की राशि के बराबर है तो लाभ शून्य होगा, यदि यह कम है तो घाटा (Loss) होगा और यदि यह अधिक है तो लाभ होगा। इन दोनों में धनात्मक अन्तर (Positive difference) जितना ही अधिक होगा शुद्ध वर्तमान मूल्य (Net Present Value) उतना ही अधिक होगा और इस प्रकार प्रबन्धक कम्पनी के अंशधारियों के आर्थिक हितों में उतनी ही अधिक वृद्धि कर सकने में सफल हो सकेंगे। इसे निम्न सूत्रों के आधार पर व्यक्त किया जा सकता है–

$$NPW = GPW - C$$

Where, NPW = Net Present Worth or Value

GPW = Gross Present Worth or Value of Future Cashflows Discounted at an appropriate rate of interest

C = Original capital invested

यदि व्यवसाय संचालन के परिणामस्वरूप, NPW शून्य से अधिक है तो इसका अर्थ यह होगा कि स्वामियों की सम्पत्ति के वर्तमान मूल्य में वृद्धि हुई है और व्यवसाय संचालन का उद्देश्य पूरा हुआ है। यदि NPW शून्य है तो यह इस बात का प्रतीक होगा कि सम्पत्ति के वर्तमान मूल्य में न वृद्धि हुई है और न कमी हुई है अर्थात मूल्यांकन की दृष्टि से व्यवसाय जहाँ पहले था, वहीं अभी भी है। यदि NPW शून्य से नीचे है तो इसका अर्थ होगा कि सम्पत्ति के वर्तमान मूल्य में कमी (Minimisation of Wealth) हुई है तथा व्यवसाय संचालन का मूल उद्देश्य निष्फल रहा है। इसे निम्न सूत्रों के द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है–

$$NPW = \frac{A_1}{(1+r)} + \frac{A_2}{(1+r)^2} + \frac{A_3}{(1+r)^3} + \ldots + \frac{A_n}{(1+r)^n} - C$$

Where, NPW = Net present worth or value

$A_1 A_2 A_3, \ldots$ = Stream of expected future cashflow or benefits

NOTES

r = Appropriate rate of discount

C = Original Net Capital invested

चूँकि उपर्युक्त सिद्धान्त विभिन्न वर्षों में प्राप्त होने वाली सम्भावित आय के समय-मूल्य (Time-Value) को मान्यता प्रदान करता है, अतः कम्पनियों एवं निगमों के संचालन के मूल-उद्देश्य (Basic objective) के रूप में यह स्वीकार किया जाता है। इसके अनुसार जोखिम (Risk) एवं अनिश्चितता (Uncertainty) की सीमा का विश्लेषण भी भली प्रकार हो जाता है।

Illustration 1.

प्रबन्धकों के समक्ष पूँजी विनियोग की दो परियोजनाएँ विचाराधीन हैं। दोनों में प्रारम्भिक पूँजी विनियोग 24,000 रुपयों का होगा। दोनों का अनुमानित जीवन-काल 5 वर्ष का है जिसके बाद उनका निस्तारण मूल्य (Salvage Value) शून्य हो जायेगा। प्रबन्धकों द्वारा पूँजी पर अपेक्षित प्रत्याय की दर (Required Rate of Return) 10% है। नकद-प्रवाह (Cashflows) परियोजना A से पाँच वर्षों में से प्रत्येक वर्ष में 6,000 रुपये तथा परियोजना B से प्रथम वर्ष में 10,000 रुपये, द्वितीय वर्ष में 8,000 रुपये, तृतीय वर्ष में 6,000 रुपये, चतुर्थ वर्ष में 4,000 रुपये तथा पाँचवें वर्ष में 2,000 रुपये होगा।

10 प्रतिशत की कटौती-दर (Discount factor) पर शुद्ध वर्तमान मूल्य (NPV) के आधार पर बतलाइए कि प्रबन्धकों द्वारा दोनों में से किस परियोजना के पक्ष में निर्णय लिया जाये जिससे कि वे स्वामियों के आर्थिक हित (Economic Interest of Owners) में वृद्धि कर सकें।

Solution -

Project A

End of the Year	1	2	3	4	5
Cash flows (Rs.)	6,000	6,000	6,000	6,000	6,000
Present Value @ 10%	$\frac{6,000}{(1+.10)}$	$+\frac{6,000}{(1+10)^2}$	$+\frac{6,000}{(1+.10)^3}$	$+\frac{6,000}{(1+.10)^4}$	$+\frac{6,000}{(1+.10)^5}$
अथवा	0.909	0.826	0.751	0.683	0.620

Gross Present Value Rs. = 5454 + 4956 + 4506 + 4098 + 3720 = Rs. 22734

Less : Initial Investment = Rs. 24,000

Net Present Value (NPV) = Rs. (-) 1266

Project B

End of the Year	1	2	3	4	5
Cashflows (Rs.)	10,000	8,000	6,000	4,000	2,000
Present Value @10%	$\frac{10,000}{(1+.10)}$	$+\frac{8,000}{(1+.10)^2}$	$+\frac{6,000}{(1+.10)^3}$	$+\frac{4,000}{(1+.10)^4}$	$+\frac{2,000}{(1+.10)^5}+$
	0.909	0.826	0.751	0.683	0.620

Gross Present Value Rs. = 9090 + 6608 + 4506 + 2732 + 1240 = Rs. 24176

Less : Initial Investment = Rs. 24000

Net Present Value (NPV) = Rs. (+) 176

निश्चय ही प्रबन्धकों का निर्णय परियोजना B के पक्ष में होगा क्योंकि ऐसा करके ही वे स्वामियों के आर्थिक हितों या उनकी सम्पत्ति में वृद्धि के उद्देश्य को पूरा कर सकेंगे। यदि वे परियोजना A के पक्ष में निर्णय लेते हैं तो इससे सम्पत्ति में वृद्धि के बजाय कमी होगी। अतः शुद्ध वर्तमान मूल्य (NPV) की अवधारणा निश्चयीकरण के एक मापदण्ड (Decision criteria) के रूप में उपयोगी सिद्ध हुई है। सम्पत्ति में अधिकतम वृद्धि (Wealthy maximisation) का उद्देश्य लाभ में अधिकतम वृद्धि (Profit maximisation) के उद्देश्य से अधिक उत्तम माना गया है। इसके तीन प्रमुख कारण हैं जो निम्नलिखित हैं –

(1) यह इक्विटी अंशधारियों या स्वामियों की इस अपेक्षा पर खरा उतरता है कि उन्हें उनकी विनियोजित पूँजी पर पर्याप्त दर से लाभांश के साथ-साथ उनके अंशों के बाजार मूल्य में वृद्धि के रूप में पूँजी अभिवृद्धि (Capital appreciation) का लाभ भी उन्हें निरन्तर प्राप्त होता रहे।

(2) पूँजी निवेश की दीर्घकालीन योजनाओं में निहित जोखिम (Risk) तथा अनिश्चितता (Uncertainty) को दृष्टिगत रखते हुए इसके अन्तर्गत भविष्य में प्राप्त होने वाले नकद प्रवाहों (Cashflows) को उपर्युक्त दर से कटौती करके उनके वर्तमान मूल्य पर ही विचार किया जाता है।

(3) यह रुपये के **समय-मूल्य** को मान्यता देता है। यह कहा जा सकता है कि विभिन्न वर्षों में प्राप्त होने वाले **नकद-प्रवाहों** (Cashflows) को **समान-भार** (Equal weightage) नहीं दिया जाता है; जैसा कि अधिकतम लाभ के उद्देश्य के अन्तर्गत किया जाता है।

दोष –

इस उद्देश्य में कतिपय कमियाँ भी हैं। **प्रथम,** पूँजी निवेश को किसी दीर्घकालीन परियोजना से होने वाले नकद-प्रवाहों (Cashflows) का सही पूर्वानुमान अत्यन्त कठिन कार्य है। **द्वितीय,** कटौती की उपयुक्त दर (Appropriate rate of discount) क्या निर्धारित की जाये ? यह भी अत्यन्त कठिन कार्य है, क्योंकि फर्म की औसत पूँजी लागत (Average cost of capital) एवं बाजार में पूँजीकरण की दर (Market rate of capitalisation) दोनों ही दीर्घकाल में परिवर्तनशील होते हैं।

यदि यह मान लिया जाये कि कम्पनियों के अंशों के बाजार-मूल्य अंशधारियों द्वारा अंशों में विनियोजित पूँजी के वर्तमान-मूल्य के प्रतीक हैं तो यह कहा जा सकता है कि वित्तीय निर्णयन का मापदण्ड इस प्रकार का होना चाहिए जिससे कि अंशधारियों के अंशों के बाजार-मूल्यों में अधिकतम वृद्धि होती रहे। अंशों के बाजार मूल्य में होने वाली वृद्धि या कमी से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जाना चाहिए कि यह प्रबन्धकों की नीतियों का ही परिणाम है। यह कहा जा सकता है कि "अंशों पर प्राप्य लाभांशों एवं अंशों के सम्भावित मूल्यों में वृद्धि की सम्भावनाएँ यदि अधिक हैं तो कम्पनी के अंश अधिक मूल्यवान होंगे और कम्पनी के अंशधारी अधिक सन्तुष्ट बने रहेंगे। वस्तुतः कम्पनी के अंशों का बाजार-मूल्य वह मूल्य है जो विनियोजक ऐसे अंशों में पूँजी विनियोग करने के फलस्वरूप भविष्य में होने वाले लाभों के लिए देने को तत्पर है।"

अधिकतम लाभ (Profit maximisation) अथवा **सम्पत्ति में अधिकतम वृद्धि** (Wealth maximisation) - वित्तीय निर्णयन के ऐसे मापदण्ड हैं जिन्हें प्रबन्धकों द्वारा व्यवसाय के मूल उद्देश्यों को प्राप्त करने हेतु प्रयोग में लाया जाना चाहिए। उत्तम किस्म एवं उचित मूल्य पर अधिकतम वस्तुओं और सेवाओं का लाभ समाज को प्रदान करना ही किसी व्यवसाय का मूल उद्देश्य होना चाहिए। किसी व्यवसाय का संचालन समाज में रहते हुए एवं समाज के लिए ही किया जाता है अन्यथा व्यावसायिक फर्म न तो अपना अस्तित्व ही बनाये रख सकते हैं और न अपना विकास या विस्तार ही कर सकते हैं। केवल मात्र स्वामियों के हितों में वृद्धि ही पर्याप्त नहीं होती है। अपितु अन्य अनेक सम्बद्ध पक्षों के हितों में वृद्धि की ओर ध्यान देना भी उतना ही आवश्यक हो जाता है।

अन्य सम्बद्ध पक्षों के हितों की प्रकृति परस्पर विरोधी है और इसलिए एक पक्ष के हित में वृद्धि किसी अन्य पक्ष के हित में कमी का कारण बन सकती है। इनमें से अनेक पक्षों के हितों में वृद्धि अथवा उनके हितों की सुरक्षा के लिए सरकार द्वारा अनेक प्रकार के नियन्त्रण एवं प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं जो व्यवसाय की लागतों में वृद्धि करके लाभ में कमी कर देते हैं। बोनस अधिनियम, मूल्य नियन्त्रण, प्रदूषण नियन्त्रण अधिनियम, उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम आदि राजकीय नियमन एवं नियन्त्रण के कतिपय प्रमुख उदाहरण हैं। इनका परिपालन न चाहते हुए भी प्रबन्धकों को व्यापक सामाजिक हित के लिए करना होता है। अतः प्रबन्धक 'अधिकतम लाभ' अथवा 'सम्पत्ति में अधिकतम वृद्धि' के उद्देश्यों की पूर्ति परस्पर विरोधी विभिन्न हितों में सामंजस्य स्थापित करके ही कर सकते हैं।

संघर्षात्मक हित

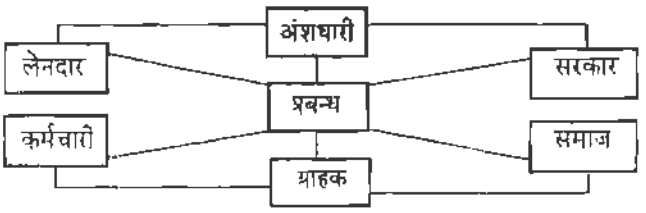

अंशधारियों का प्रमुख हित स्वामी पूँजी पर लाभ की दर में तथा अंशों के बाजार मूल्यों में अधिकाधिक वृद्धि में निहित होता है। ऋणदाताओं की रुचि कम्पनी की लाभोपार्जन क्षमता एवं संचित-कोषों में वृद्धि में होती है, क्योंकि इससे उनके जोखिम में कमी होती है तथा उनके नियमित ब्याज की अदायगी और परिपक्वता पर मूल राशि के भुगतान के लिए अधिक सुरक्षा प्राप्त होती है। कर्मचारियों की रुचि उनके वेतनों एवं भत्तों तथा अन्य सुविधाओं (मौद्रिक एवं अमौद्रिक) में वृद्धि से होती है जिसके लिए वे संगठित होकर प्रयास करते हैं। इसके विपरीत ग्राहकों की रुचि उचित

मूल्य पर किस्म की वस्तु या सेवा प्राप्त करने में होती है। सरकार का हित व्यवसायियों को सामाजिक दायित्वों की पूर्ति के प्रति प्रेरित करने में नया समाज और राष्ट्र के विकास के लिए आवश्यक राजस्व की मात्रा में वृद्धि करने में होता है। सरकार इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अनेक नियन्त्रणों एवं प्रतिबन्धों को लागू करती है तथा यदा-कदा करों की दरों में वृद्धि करके अपने राजस्व में वृद्धि करती है।

यह कहना उचित होगा कि व्यवसाय के लक्ष्यों एवं उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए विद्यमान परिस्थितियों के अन्तर्गत ही कम्पनी-प्रबन्धकों द्वारा स्वयं निश्चयीकरण के मापदण्डों एवं व्यावसायिक-व्यूह रचना का प्रतिपादन करना होगा।

अल्पकालीन दृष्टि से **अधिकतम लाभोपार्जन** का उद्देश्य उचित प्रतीत होता है, क्योंकि कम्पनी से सम्बद्ध विभिन्न पक्षकारों की परस्पर विरोधी अपेक्षाओं की तुष्टि करके ही व्यवसायों को अनुकूलतम स्तर पर बनाये रखा जा सकता है। वह प्रक्रिया लागतों को बढ़ा देती है तथा लाभोपार्जन की मात्रा को परिसीमित करती है।

वित्तीय-निर्णय
(Financial-Decisions)

बदलते हुए परिवेश में प्रत्येक व्यवसाय द्वारा वित्तीय-निर्णय इस प्रकार से लिये जाने चाहिए कि जिससे व्यवसाय के मूल्य में निरन्तर वृद्धि होती रहे। यदि ऐसा नहीं होता है तो विकास करना तो दूर, फर्म के लिए अपना अस्तित्व बनाये रखना भी कठिन होगा। वित्तीय-निर्णय तीन प्रकार के होते हैं– (i) **विनियोग-निर्णय** (Investment-decisions) तथा (ii) **वित्त-पूर्ति निर्णय** (Financing -decision), (iii) **लाभांश-निर्णय** (Dividend-decisions)।

वित्तीय निर्णय

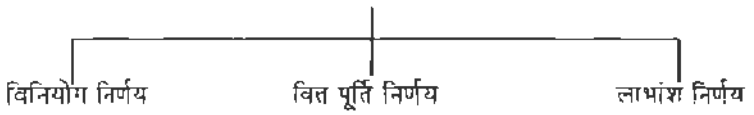

(I) विनियोग निर्णय
(Investment Decision)

विनियोग निर्णयों का सम्बन्ध कोषों के विनियोग से है। वित्तीय प्रबन्ध को किसी भी व्यावसायिक संस्था से लाभ को अधिकतम करना तथा सम्पत्ति मूल्य को अधिकतम करना होता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अनेक विनियोग निर्णय करने होते हैं। **वित्तीय प्रबन्धकों** को विनियोग निर्णय के सम्बन्ध में निम्न कार्य करने होते हैं।

(i) **स्थायी सम्पत्तियों में विनियोग निर्धारण** (Determination of Investment in Fixed Assets)– स्थिर सम्पत्तियों में कोषों का विनियोग लम्बी अवधि के लिए होता है। अतः इनमें **अनिश्चितता** एवं **जोखिम** की मात्रा अधिक होती है। ऐसे निर्णय कोषों के विनियोग में भावी वर्षों में प्राप्त होने वाले सम्भावित लाभों तथा निहित जोखिम को ध्यान में रखकर ही किये जाने चाहिए।

(ii) **चल सम्पत्तियों में विनियोग निर्धारण** (Determination of Investment in Current Assets)–**चल सम्पत्तियों में विनियोग निर्णय लाभदायकता, तरलता तथा जोखिम को प्रभावित करते हैं।** चल सम्पत्तियों में आवश्यकता से अधिक कोषों का विनियोग तरलता एवं जोखिम की स्थिति में तो सुधार ला देगा किन्तु साथ ही लाभदायकता की मात्रा में कमी का कारण बनेगा। दूसरी ओर आवश्यकता से कम विनियोग, लाभदायकता की सीमा में तो वृद्धि कर देगा, किन्तु जोखिम एवं तरलता की स्थिति को प्रतिकूल बना देगा।

(II) वित्त पूर्ति निर्णय
(Finance Decision)

ऐसे निर्णयों का सम्बन्ध पूँजी ढाँचे के निर्माण से है। वित्त पूर्ति निर्णय के सम्बन्ध में प्रबन्धक को निम्न कार्य करने पड़ते हैं–

(i) **वित्तीय नियोजन** (Financial Planning)– एक वित्त प्रबन्धक को विनियोग निर्णयों के अनुरूप वित्तीय नियोजन करना होता है। दोषपूर्ण वित्तीय नियोजन प्रबन्धकों की सारी आशाओं पर पानी फेर देता है। वित्तीय नियोजन समय व काल के आधार पर अल्पकालीन व दीर्घकालीन हो सकता है।

(ii) **वित्तीय साधनों की व्यवस्था** (Financing)– वित्त प्रबन्धक को वित्तीय योजना के बाद वित्तीय साधनों की व्यवस्था करनी होती है। एक संस्था ऋण-पत्रों, पूर्वाधिकार अंशों, समता अंशों आदि से वित्त प्राप्त कर सकती है, परन्तु इस सम्बन्ध में अनुकूलतम पूँजी ढाँचे पर जोर दिया जाता है।

(iii) **वित्तीय नियन्त्रण** (Finance Control)–वित्त पूर्ति निर्णय के सम्बन्ध में वित्तीय प्रबन्धक को वित्तीय नियन्त्रण के कार्य पर भी ध्यान देना होता है। इसके लिए विभिन्न प्रकार के बजटों और प्रमापों का निर्धारण करके वास्तविक स्थिति को बजट स्थिति के अनुरूप रखने का प्रयास करना चाहिए।

(III) लाभांश निर्णय
(Dividend Decision)

विनोग निर्णयों में लाभांश निर्णयों का स्थान भी अब अत्यन्त महत्वपूर्ण बन गया है। इनके अन्तर्गत यह निर्णय करना होता है कि व्यवसाय के **खरे लाभों** (Net Profits) का कितना भाग नकद लाभांश के रूप में अंशधारियों को वितरित किया जाये ? तथा कितना भाग व्यवसाय में ही प्रतिधारित किया जाये ? मूल समस्या उचित भुगतान-अनुपात बनाये रखते हुए एक सुदृढ़ लाभाश नीति को प्रतिपादित करने की है जिससे कि अंशधारियों द्वारा कम्पनी के अंशों में किये गये पूँजी विनियोग के बाजार मूल्य को अधिकतम किया जा सके।

लाभांश निर्णय के सम्बन्ध में वित्त प्रबन्धक को निम्न के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण निर्धारण सुनिश्चित करना होता है-

(i) लाभांश वारंटों का निर्माण तथा उनका प्रेषण आदि।

(ii) लाभांश की घोषणा तथा उसका अनुमोदन सुनिश्चित करना।

(iii) संस्था के पास लाभांश के लिए उपलब्ध साधनों का निर्धारण।

(iv) सुस्थिर एवं सुदृढ़ लाभांश नीति का निर्धारण।

वित्तीय-निर्णयों का महत्व
(Importance of Financial Decisions)

यदि कम्पनी का वित्तीय प्रबन्ध दोषपूर्ण है तो अन्य विभागों में भी उच्चकोटि की प्रबन्ध कुशलता बनाये रखना सम्भव नहीं होगा। उदाहरण के लिए उत्पादन कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए यह आवश्यक है कि कच्चे माल के क्रय एवं अन्य चालू व्ययों की पूर्ति के लिए पर्याप्त मात्रा में यथासमय वित्त की व्यवस्था होती रहे। यदि वित्त-विभाग इस दायित्व का निर्वाह नहीं कर पाता है तो माल के उत्पादन एवं विक्रय में गत्यावरोध उत्पन्न हो जायेगा, आय में गिरावट आ जायेगी और ऐसी दशा में विनियोजित पूँजी पर अपेक्षित लाभ की दर प्राप्त करने में कम्पनी सफल नहीं हो सकेगी।

वित्त ही वह साधन है जो संगठन में पूर्ण समन्वय एवं सम्प्रेषण की स्थिति स्थापित करता है और इस प्रकार संगठन के विभिन्न विभागों को एक सूत्र में बाँधकर उन्हें सम्पूर्ण संगठन के सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति की दिशा में कार्य करने के लिए प्रेरित करता है। वित्तीय प्रबन्ध की यह **केन्द्रीयकृत प्रकृति** ही प्रबन्ध के इस क्षेत्र को उच्चस्तरीय दर्जा प्रदान करती है तथा इसे प्रबन्धकीय नियोजन एवं नियन्त्रण का एक साधन बना देती है। प्रत्येक विभाग में वित्त से सम्बद्ध कतिपय नाड़ी केन्द्रों की स्थापना करना अत्यन्त आवश्यक है जहाँ से आवश्यक तथ्यों एवं आँकड़ों को प्रेषण उच्चस्तरीय प्रबन्ध केन्द्र को निरन्तर होता रहे। **"आधुनिक औद्योगिक उपक्रम में विपणन एवं उत्पादन के कार्यों का विकेन्द्रीकरण तो सम्भव है, किन्तु वित्तीय समन्वय एवं नियत्रण की स्थिति केन्द्रीयकरण के द्वारा ही स्थापित की जा सकती है।"**

व्यावसायिक प्रबन्ध वह कला है जिसके लिए उच्चकोटि की **बुद्धिमत्ता**, चतुराई, सूझबूझ, मानव प्रकृति की सूक्ष्म जानकारी एवं तत्काल निर्णय करने की **क्षमता के साथ-साथ एक ऐसे चुम्बकीय व्यक्तित्व** (Magnetic Personality) की अपेक्षा होती है जो सहज ही अन्य व्यक्तियों को अपनी ओर आकर्षित करके उन पर अपने व्यक्तित्व एवं विचारों की अनुकूल छाप डाल सके। इस विचारधारा के समर्थकों का तर्क यह है कि ये मूलभूत गुण जन्मजात होते हैं और वंशक्रम में कुछ बिरले सौभाग्यशाली व्यक्तियों को ही उत्तराधिकार में प्राप्त होते हैं, इसलिए व्यावसायिक प्रबन्ध प्रत्येक व्यक्ति के वश की बात नहीं। व्यक्तित्व के निखार के लिए आवश्यक वंशानुगत गुणों की धरोहर व्यावसायिक प्रबन्ध में किसी भी व्यक्ति की स्थिति को उस व्यक्ति की तुलना में उत्तम बना देती है, जिसमें आधारभूत गुणों का अभाव हो, किन्तु साथ ही यह कहना भी उचित होगा कि आधुनिक वैज्ञानिक प्रबन्ध की जटिलता एवं व्यापकता को देखते हुए कुशल प्रबन्धक बनाने के लिए उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त प्रबन्ध-विज्ञान के नियमित प्रशिक्षण की भी आवश्यकता होती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रबन्ध के इस क्षेत्र के संचालन के लिए विशेषज्ञों की सेवाएँ आवश्यक हो गयी हैं। वैसे भी अब अनेक **सलाहकारी** (Consultancy Services) का विकास हो चुका है जो छोटे एवं मध्यम उपक्रमों को उनकी समस्याओं का उचित विश्लेषण करके वित्तीय परामर्श देती है जिसके आधार पर वित्तीय-नियन्त्रण की प्रक्रिया में सुधार लाया जा सकता है।

प्रबन्ध कला है तथा विज्ञान है। यही नहीं, **प्राविधिक जटिलता के अधिकाधिक पुट के कारण अब यह कला की अपेक्षा विज्ञान अधिक होता जा रहा है।** प्रजातान्त्रिक समाजवाद के इस युग में व्यावहारिक प्रबन्ध अब कुछ विशिष्ट वर्णों का एकाधिकार नहीं रह गया है। अब इसके द्वारा समाज के सभी वर्गों के ऐसे व्यक्तियों के लिए खुल गये हैं जिनमें उपर्युक्त मौलिक गुण विद्यमान हों।

NOTES

प्रश्न
(QUESTIONS)

1. लाभांश निर्णय क्या है ?
2. विनियोग-निर्णयों से आप क्या तात्पर्य समझते हैं ?
3. 'वित्तीय निर्णय' कितने प्रकार के होते हैं ?
4. वित्तीय प्रबन्ध क्या है ? वित्तीय प्रबन्ध के उद्देश्यों को समझाइये।
5. "वित्तीय प्रबन्ध के 'अधिकतम-लाभ' के उद्देश्य की तुलना में सम्पत्ति के मूल्य में अधिकतम वृद्धि का उद्देश्य अधिक उपयुक्त है।"कारणों सहित उपर्युक्त कथन को समीक्षा कीजिए।
6. वित्त-पूर्ति के निर्णयों से आप क्या समझते हैं ? वित्त-पूर्ति के दीर्घकालीन एवं अल्पकालीन निर्णयों में क्या अंतर है ? विवेचना कीजिए।
7. व्यावसायिक प्रबन्ध में वित्तीय-निर्णयों का क्या महत्व है ? कारणों सहित उत्तर दीजिए तथा लाभांश-निर्णयों पर प्रकाश डालिए।
8. विनियोग-निर्णयों से आप क्या समझते हैं ? किसी व्यावसायिक संगठन के उद्देश्य से ऐसे निर्णयों का क्या सम्बन्ध है ?

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

4

वित्तीय नियोजन
(FINANCIAL PLANNING)

वित्तीय नियोजन से आशय - कोई भी व्यवसाय व उद्योग चाहे छोटा हो या बड़ा बिना नियोजन के सफल नहीं हो सकता। संस्थाओं के संगठन व संचालन में बहुत अधिक मात्रा में वित्तीय साधनों की आवश्यकता होती है। अतः वित्तीय नियोजन का आशय किसी व्यावसायिक संस्था हेतु पूँजी की कुल राशि का पूर्वानुमान लगाना तथा उसके स्वरूप के सम्बन्ध में निर्णय लेने की प्रक्रिया से है।

परिभाषाएँ – वित्तीय नियोजन के सम्बन्ध में निम्न परिभाषायें महत्वपूर्ण हैं–

(1) **जे.एच.बीनाविले** के अनुसार, "निगम की वित्तीय योजना के दो पहलू होते हैं, यह न केवल निगम के पूँजी-ढाँचे की ओर संकेत करती है, बल्कि यह निगम द्वारा अपनायी गयी अथवा अपनायी जाने वाली वित्तीय नीतियों को भी स्पष्ट करती है।" ("The Financial Plan of a corporation has a two fold aspect, it refers not only to the capital structure of the corporation but also to the financial policies which the corporation has adopted or interest to adopt.")

(2) **आर.एम. श्रीवास्तव** के अनुसार, "वित्तीय योजना, पूँजीगत आवश्यकताओं एवं उसके स्वरूपों को अग्रिम में निश्चित करने का कार्य है।" ("Financial Plan is the act of deciding in advance the quantum of capital requirements and its forms.")

(3) **वॉकर एवं बॉन** के अनुसार – "वित्तीय आयोजन का सम्बन्ध केवल वित्त कार्य से होता है, जिसके अन्तर्गत फर्म के लिए वित्तीय उद्देश्यों, वित्तीय नीतियों, वित्तीय प्रक्रियाओं का निर्धारण किया जाता है।" ("Financial Planning pertains to the function of finance and includes the determination of the firm's financial objectives, financial policies and financial procedure.")

वित्तीय नियोजन के प्रकार
(Types of Financial Planning)

समय अथवा काल के आधार पर वित्तीय नियोजन निम्न तीन प्रकार का होता है–

(1) **दीर्घकालीन वित्तीय नियोजन** (Long-term Financial Planning)–दीर्घकालीन वित्तीय नियोजन 5 वर्ष या उससे अधिक अवधि के लिए होता है। इसके अन्तर्गत प्रबन्धकों द्वारा उद्देश्यों तथा नीतियों का निर्धारण, कार्यशीलधियों का निर्माण आदि बातों पर विचार करके, पूँजीकरण की मात्रा, भावी विस्तार योजना व पुनर्गठन हेतु अतिरिक्त पूँजी की व्यवस्था करना आदि शामिल करते हैं

(2) **मध्यकालीन वित्तीय नियोजन** (Medium-term Financial Planning)– मध्यकालीन वित्तीय नियोजन की अवधि सामान्यतः 1 वर्ष से अधिक तथा 5 वर्ष से कम होती है। कार्यशील पूँजी की विशिष्ट आवश्यकताओं, सम्पत्तियों के रख-रखाव व उनका प्रतिस्थापन, शोध्य एवं विकास कार्यों के लिये बनायी गयी योजनाओं को शामिल करते हैं।

(3) **अल्पकालीन वित्तीय नियोजन** (Short-term Financial Planning)– अल्पकालीन वित्तीय नियोजन की अवधि 1 वर्ष अथवा इससे भी कम (छः माह, तीन माह या एक माह) होती है। इसका सम्बन्ध मुख्यतः कार्यशील पूँजी के प्रबन्ध से होता है।

वित्तीय नियोजन का महत्व
(Importance of Financial Planning)

उत्तम वित्तीय नियोजन के महत्व को निम्न शीर्षकों में व्यक्त किया जा सकता है -

(1) **भावी विकास** (Future Development)–कुशल एवं सुदृढ़ संरचना, किसी भी व्यवसाय के भावी विकास के लिए आवश्यक होती है। भविष्य में वित्त की समस्या उत्पन्न न हो, इसके लिए श्रेष्ठ वित्तीय संरचना महत्वपूर्ण है।

(2) **विनियोजित पूँजी पर उचित प्रत्यय** (Adequate Return on Capital Employed)- कुशल वित्तीय नियोजन द्वारा अनुकूलतम पूँजी मात्रा व्यवसाय को प्राप्त होती है जिससे व्यवसाय में विनियोजित पूँजी पर उचित प्रत्याय प्राप्त होता है।

(3) **व्यवसाय में पर्याप्त तरलता** (Adequate Liquidity in Business)–श्रेष्ठ वित्तीय नियोजन के द्वारा व्यवसाय में तरलता की स्थिति बनायी जा सकती है। व्यवसायी देनदारियों का समय पर भुगतान करने तथा अपनी शोधन क्षमता बनाये रखने में सफल होता है।

(4) **व्यवसाय का विस्तार एवं विकास** (Expansion and Development of Business)– व्यवसाय की स्थापना के बाद, उसके विकास और विस्तार हेतु श्रेष्ठ वित्तीय नियोजन का महत्व देखा जा सकता है। कुशल वित्तीय नियोजन करने पर व्यवसाय के विकास और विस्तार में वित्तीय कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

(5) **व्यवसाय का योग्य संचालन** (Efficient Direction of the Business)–उद्योग और व्यवसाय की प्रत्येक क्रिया के लिए वित्त महत्वपूर्ण है। व्यवसाय की स्थापना, सम्पत्तियों और सामग्रियों का क्रय आदि सभी कार्यों में वित्त की आवश्यकता होती है। इन सभी कार्यों के लिए उपयुक्त समय पर पर्याप्त वित्त की उपलब्धि कुशल वित्तीय नियोजन पर ही निर्भर करती है।

(6) **व्यवसाय का सफल प्रवर्तन** (Successful Promotion of Business)–व्यवसाय प्रवर्तन के पूर्व एक श्रेष्ठ वित्तीय योजना बनाकर एक व्यवसाय में सफलता प्राप्त की जा सकती है। वास्तव में, एक पूर्व नियोजित वित्तीय योजना से प्रवर्तन की विभिन्न क्रियाओं के अर्थ-प्रबन्धन में किसी भी कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता है।

किसी श्रेष्ठ वित्तीय योजना के लक्षण
(Characterisitics of a good Financial Plan)

वित्तीय योजना व्यवसाय के लिए वरदान सिद्ध हो, उसमें निम्नलिखित गुणों का होना आवश्यक है–

(1) **अधिकतम नियन्त्रण** (Maximum Control)–कम्पनी का नियन्त्रण साधारण अंशधारियों (Equity Shareholders) के हाथों में रहता है, क्योंकि मतदान का अधिकार इनको ही प्राप्त होता है। अधिमान्य अंशधारियों एवं ऋणपत्रधारियों को ऐसा कोई अधिकार सामान्यतः प्राप्त नहीं होता है।

(2) **व्यवसाय में जोखिम** (Risks in the Business)–व्यवसाय में अनेक प्रकार के जोखिम सदैव विद्यमान रहते हैं, जैसे–करों में वृद्धि, लागतों में वृद्धि, मूल्यों में कमी, ब्याज की दरों में वृद्धि आदि। इन जोखिमों का कम्पनी की आय पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। अतः कम्पनी का पूँजी-ढाँचा इस प्रकार का होना चाहिए कि जिससे इन जोखिमों के बोझ को सहजता से सहन किया जा सके। विशेष रूप से व्यावसायिक जोखिम (Business Risk) एवं वित्तीय जोखिम (Financial Risk) से बचाव के लिए पूँजी-ढाँचे में समुचित व्यवस्था की जानी चाहिए।

(3) **अधिकतम लाभ** (Maximisation of Return)–किसी कम्पनी के लिए सर्वोत्तम या आदर्श पूँजी-ढाँचा वह होगा जिसके आधार पर कम्पनी की लाभदायकता (Profitability) में अधिकतम वृद्धि होती हो। वैसे, लाभदायकता का सम्बन्ध पूँजी-ढाँचे का सम्बन्ध है। न्यूनतम लागत पर प्राप्त की गयी पूँजी लाभ में वृद्धि कर देगी, साथ ही समय पर पर्याप्त पूँजी साधनों की सुविधा अनेक प्रकार के अपव्ययों को रोककर बचत में वृद्धि कर सकेगी।

(4) **न्यूनतम लागत** (Minimisation of Cost)–पूँजी उपलब्धि के विभिन्न साधनों की लागत समान नहीं होती है। कुछ साधनों से पूँजी प्राप्त करने में अधिक एवं अन्य साधनों से पूँजी प्राप्त करने में कम लागत होती है, अतः पूँजी मिश्रण (Capital Mix) ऐसा होना चाहिए जिसे प्राप्त करने और व्यवसाय में प्रयोग में लाने की लागत न्यूनतम हो। **पूँजी की भारयुक्त औसत लागत** (Weighted Average Cost of Capital) के आधार पर इसे निर्धारित किया जा सकता है।

(5) **तरलता** (Liquidity)– स्थिर सम्पत्ति एवं तरल सम्पत्तियों में क्या अनुपात रखा जाये, यह प्रत्येक व्यवसाय की प्रकृति एवं प्रत्येक कम्पनी के आकार आदि कई परिवर्तनशील तत्वों पर निर्भर होता है। तरल सम्पत्तियों से यहाँ आशय चल-सम्पत्तियों से है, किन्तु सही अर्थों में तरल सम्पत्तियों में रोकड़, बैंक में जमा राशियाँ, चालू विनियोग तथा प्राप्तियाँ (Receivables) को सम्मिलित किया जाता है। आवश्यकता से अधिक **तरलता** (Liquidity), **शोधनक्षमता** (Solvency) में वृद्धि करके जोखिम (Risk) को कम कर सकती है किन्तु साथ ही इससे लाभदायकता (Profitability) में कमी हो जायेगी।

(6) **पूर्ण उपयोगिता** (Full Utilisation)–पूँजी की मात्रा एवं वित्तीय आवश्यकताओं में पूर्ण सामंजस्य होने पर ही पूँजी का अधिकतम उपयोग सम्भव हो सकता है। अपर्याप्त पूँजीकरण अथवा आवश्यकता से अधिक पूँजीकरण दोनों ही अवांछनीय हैं। पूँजीकरण के जलयुक्त (Watered) हो जाने पर उनकी उपयोगिता कम हो जाती है।

(7) **लोचशीलता** (Flexibility)- वित्तीय योजनाकरण एक तात्कालिक व्यवस्था न होकर एक दीर्घकालीन व्यवस्था है। अतः कम्पनी के सीमानियमों के उद्देश्य खण्ड में उल्लिखित विभिन्न उद्देश्यों को ध्यान में रखकर ही उसे अन्तिम रूप दिया जाना चाहिए। तात्कालिक आवश्यकताओं की लोचपूर्णता का अभिप्राय, यहाँ दीर्घकाल में व्यवसाय को बढ़ती अथवा घटती हुई आवश्यकताओं के अनुरूप पूँजी-ढाँचे में समायोजन से है अर्थात् यदि कुछ वर्षों बाद व्यवसाय के विस्तार के लिए पूँजी की आवश्यकता हो तो उसे सुविधापूर्वक उपलब्ध करने की सम्भावनाओं का वित्तीय-योजना में समावेश हो।

(8) **सरलता** (Simplicity)–प्रबन्ध की सुविधा को ध्यान में रखते हुए वित्तीय ढाँचे को सरल रूप दिया जाना चाहिए। प्रारम्भ में ही योजना जटिल होगी तो भविष्य में अतिरिक्त पूँजी की व्यवस्था सरलता से नहीं की जा सकेगी। यदि आरम्भ में ही कई प्रकार की प्रतिभूतियों को निर्गमित करके पूँजी की व्यवस्था की जाती है तो इससे विनियोक्ताओं में प्रस्तावित योजना के प्रति सन्देह हो सकता है। अतः आरम्भ में **केवल सामान्य अंशों** (Equity Shares) और यदि आवश्यक हो तो उनके साथ-साथ **अधिमान्य अंशों** (Preference Shares) का निर्गमन उचित होगा।

वित्तीय योजना को निर्धारित करने वाले घटक
(Factors Determining Financial Planning)

वित्तीय योजना का निर्धारण करते समय विभिन्न घटकों का ध्यान रखना आवश्यक है, ये घटक निम्न हैं–

(1) **विनियोजकों का मनोविज्ञान** (Psychology of Investors)–सब विनियोक्ता समान नहीं होते। कुछ लोगों के पास विनियोग के लिए अधिक पूँजी होती है, जबकि कुछ के पास कम। फिर सबकी प्रकृति एवं धारणाएँ भी समान नहीं होतीं। कुछ विनियोक्ता साहसी होते हैं जोखिम उठाने को तत्पर हो जाते हैं, जबकि अन्य सतर्क होते हैं तथा धन की सुरक्षा एवं निश्चित गारण्टी चाहते हैं। अतः विभिन्न विनियोक्ताओं की माँग के स्वरूप में भी भिन्नता होती है।

(2) **पूँजी बाजार की दशाएँ** (Capital Market Conditions)–मन्दी की दशाओं में जब लाभांश की दरें कम होती हैं तो लाभ की सम्भावनाएँ अनिश्चित होती हैं, तब साधारण अंशों की अपेक्षा ऋणपत्र अधिक लोकप्रिय होते हैं। यह समय ऋणपत्रों के निर्गमन के लिए अनुकूल होता है। इसके विपरीत, तेजी के काल में जब लाभ की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं तो ऋणपत्रों के बजाय साधारण अंशों की माँग अधिक बढ़ जाती है।

(3) **सरकारी नियन्त्रण** (Government Control)–वित्तीय योजना को तैयार करते समय सरकारी नीतियों, वित्त नियन्त्रणों तथा अन्य अधिनियमों का ध्यान रखना चाहिए।

(4) **प्रबन्धकों का दृष्टिकोण** (Attitude of Managers)–यदि प्रबन्धक संस्था का नियन्त्रण अपने हाथों में केन्द्रित करना चाहता है तो समता अंश जनता को कम से कम निर्गमित करेगा अथवा अंशों को निर्गमित करने के बाद उन्हें स्वयं क्रय कर लेगा और बाद में विस्तार आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ऋण लेगा या लाभों का पुनर्विनियोजन करेगा।

(5) **व्यवसाय की आय** (Income of Business)–सभी व्यवसायों में आय की सम्भावना एक जैसे नहीं होती। कुछ व्यवसाय में आय की सम्भावना निश्चित, नियमित एवं स्पष्ट होती है, जबकि कुछ अन्य व्यवसायों में आय की सम्भावनाएँ अनिश्चित एवं अनियमित होती हैं।

(6) **पूँजी की लागत** (Cost of Capital)–पूँजी ढाँचे के निर्माण में पूँजी की लागत पर विचार करना बहुत आवश्यक होता है। पूँजी के सभी साधनों की लागत समान नहीं है। कुछ साधन अपेक्षाकृत सस्ते होते हैं तो कुछ साधन महँगे होते हैं। अतः पूँजी-ढाँचे का निर्माण करते समय पूँजी के सस्ते एवं महँगे साधनों का ऐसा मिश्रण (mix) बनाया जाता है जिससे कि कुल पूँजी की औसत लागत एक निश्चित काट-बिन्दु से अधिक न बढ़े।

(7) **जोखिम की मात्रा** (Amount of Risks)–व्यवसाय की अनिश्चितता व जोखिम भी वित्तीय योजना के प्रारूप को प्रभावित करती है। अधिक जोखिम वाले व्यवसाय, स्वामी पूँजी (Owner's Capital) पर अधिक आश्रित रहते हैं। इसके विपरीत कम पूँजी वाले व्यवसाय, ऋणपूँजी (Loan Capital) पर निर्भर करते हैं।

(8) **व्यवसाय की प्रतिष्ठा एवं आकार** (Status and Size of Business)–व्यवसाय के आकार पर पूँजी की मात्रा निर्भर करती है। छोटे आकार वाले व्यवसाय में कम पूँजी की आवश्यकता होती है, जबकि बड़े आकार वाले व्यवसाय में अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है। अच्छी साख एवं अच्छे संगठन वाले व्यवसाय को आसानी से वित्तीय साधन उपलब्ध हो जाते हैं।

(9) **व्यवसाय की प्रकृति** (Nature of Business)–किसी नवीन प्रवर्तित उपक्रम में पूँजी के स्वरूप को निर्धारित करने पर व्यवसाय की प्रकृति का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। कुछ व्यवसाय ऐसे होते हैं जिनमें उत्पादन एवं विक्रय निरन्तर वर्ष पर्यन्त होता रहता है। इसके विपरीत, कतिपय अन्य व्यवसाय मौसमी प्रकृति (Seasonal Nature)

NOTES

के होते हैं। अतः पूँजी ढ़ाचा इस प्रकार का होना चाहिये कि मौसम के अनुसार पूँजी में आवश्यक नियोजन किया जा सके।

(10) **लोच** (Flexibility)–वित्तीय योजनाओं में पर्याप्त लोच रखी जानी चाहिए। वित्तीय योजना का निर्माण केवल वर्तमान आवश्यकताओं को ही ध्यान में रखकर नहीं किया जाता, बल्कि इसमें भविष्य की विस्तार योजनाओं का भी ध्यान रखा जाता है।

वित्तीय नियोजन की सीमायें
(Limitations of Financial Planning)

अनेक कारणों से वित्तीय नियोजन की सफलता एवं सुदृढ़ता में कुछ कमियाँ रह जाती हैं। इसकी प्रमुख सीमायें निम्न प्रकार हैं:

1. **पूर्वानुमानों पर आधारित-** वित्तीय नियोजन भावी आवश्यकताओं, भावी दशाओं तथा पूर्वानुमानों पर आधारित होता है। किन्तु कई बार भविष्य की अनिश्चितता के कारण वित्तीय योजनायें गलत सिद्ध हो जाती हैं।

2. **समन्वय का अभाव-** अनेक बार संस्था के वित्तीय एवं गैर-वित्तीय कार्यों में परस्पर समन्वय न होने के कारण भी वित्तीय योजना असफल हो जाती है।

3. **परिवर्तित दशायें-** कई बार तेजी से बदलती हुई बाह्य एवं बाजार दशाओं के कारण वित्तीय योजना की मान्यतायें एवं पूर्वानुमान भंग हो जाते हैं। उनमें समयानुसार परिवर्तन न होने के कारण वित्तीय योजना असफल हो जाती है।

4. **कठोर दृष्टिकोण-** कई बार प्रबन्धकों के कठोर एवं जड़ दृष्टिकोण के कारण भी वित्तीय योजना प्रभावहीन हो जाती है, क्योंकि वे योजना में सामयिक परिवर्तन के लिए तैयार नहीं होते हैं।

5. **आकस्मिक घटनाएँ- कई बार** अप्रत्याशित घटनाएँ पूर्व-निर्धारित योजनाओं को निष्फल बना देती हैं। आकस्मिक घटनाओं के लिए पहले से कोई व्यवस्था करना भी सम्भव नहीं होता है।

6. **प्रशासकीय जड़ता-** नियोजन से प्रबन्धकीय कार्यों में लोच समाप्त हो जाती है। प्रबन्धक एवं कर्मचारी बदली हुई परिस्थितियों के अनुरूप निर्णय नहीं ले पाते हैं। न्यूमेन के अनुसार, **"योजना जितनी व्यापक होगी, प्रशासन उतना ही अधिक लोचहीन होगा।"**

7. **पहलपन की समाप्ति-** नियोजन से पहलपन में भी कमी आ जाती है। प्रबन्धकों को अपने विवेक से नये विकल्प उपयोग में लाने की स्वतन्त्रता नहीं होती है। कर्मचारियों को योजना से अलग कार्य करने की छूट नहीं होती।

8. **खर्चीली-** कई बार वित्तीय योजना की लागतें उससे प्राप्त होने वाले लाभों से अधिक होती हैं। योजना विशेषज्ञों की सहायता से तैयार करने हेतु धन खर्च करना पड़ता है।

9. **समय-** अच्छी वित्तीय योजना पर्याप्त जाँच-पड़ताल एवं विश्लेषण के बाद बनाई जाती है, जिसमें अत्यधिक समय लग जाता है। तत्काल किये जाने वाले कार्यों में वित्तीय नियोजन नहीं किया जा सकता।

10. **मानसिक सीमायें-** वित्तीय योजना बौद्धिक श्रेष्ठता पर निर्भर करती है। अतः वित्तीय प्रबन्धकों में अपेक्षित योग्यता न होने पर योजना का रूपांकन सही नहीं हो पाता है।

वित्तीय आवश्यकताओं का अनुमान लगाना
(Estimating Financial Requirements)

वित्तीय आवश्यकताओं का अनुमान लगाना वित्तीय नियोजन की प्राथमिक सीढ़ी है। प्रत्येक व्यवसाय की प्रकृति, उत्पादन का प्रारूप व पैमाना, वितरण प्रणाली भिन्न-भिन्न होती है। परिणामस्वरूप प्रत्येक संस्था की वित्तीय जरूरतें भी भिन्न-भिन्न हो जाती हैं। अतः प्रत्येक संस्था की वित्तीय आवश्यकताओं का पृथक-पृथक्अनुमान किया जाना जरूरी होता है। उपयुक्त अनुमान के आधार पर पर्याप्त पूँजी की आसानी से व्यवस्था की जा सकती है। वित्तीय आवश्यकताओं को अनुमान करके अति-पूँजीकरण तथा न्यून-पूँजीकरण की समस्या को भी दूर कि जा सकता है। वित्त की आवश्यकता का अनुमान संस्था की स्थापना के समय ही नहीं वरन् संस्था के विकास, विस्तार, नवीनीकरण, वस्तु विविधिकरण नई परियोजनाओं के प्रारम्भ आदि के समय भी लगाया जाता है। सामान्यतः एक नवीन व्यवसाय के लिये वित्तीय अनुमान लगाने में निम्न बातों पर ध्यान दिया जाता है:-

1. **प्रवर्तन के खर्चे** (Promotion Expenses)- एक व्यवसाय का प्रवर्तन करते समय अनेक प्रकार के खर्चे करने होते हैं। किसी व्यवसाय के विचार को खोजने, उस पर प्रारम्भिक शोध करने, समामेलन व पंजीयन की प्रक्रियाओं को पूरा करवाने, सीमानियम व अन्तर्नियम छपवाने, प्रवर्तकों को विभिन्न भुगतान करने, पंजीयन करवाने आदि कार्यों में बहुत धनराशि की जरूरत होती है। अतः इन सभी व्ययों के लिए सावधानीपूर्वक वित्तीय अनुमान लगाना चाहिए।

2. **संस्थापना व्यय** (Establishment Expenses)- व्यवसाय के प्रवर्तन के बाद उसके कार्यालय की स्थापना तथा संगठन सम्बन्धी कई कार्य करने होते हैं। इस हेतु भवन किराये पर लेने या खरीदने, कर्मचारियों की नियुक्तियाँ करने, फर्नीचर, अन्य साजो-सामान, कार्यालय स्टेशनरी, आलमारियों, कार्यालय यंत्र व उपकरण आदि खरीदने में भारी धन का विनियोजन करना पड़ता है। अतः इन सभी संस्थापना व्ययों के लिए वित्तीय अनुमान तैयार करने होते हैं।

3. **वित्त प्राप्ति की लागतें** (Costs of Financing)- संस्था को वित्त प्राप्त करने के लिए भी अनेक कार्य करने होते हैं जैसे- अंश पूँजी प्राप्त करने के लिए प्रविवरण एवं आवेदन तत्र तैयार करवाने, अंश निर्गमन के विज्ञापन देने, आवश्यक स्टेशनरी तैयार करवाने, दलालों, अभिगोपकों, मर्चेन्ट, बैंकर, रजिस्ट्रार, आवेदन-पत्र व राशि संग्रह करने वाले बैंक आदि को कमीशन व दलाली का भुगतान में करने में बहुत राशि की आवश्यकता होती है। इन सभी खर्चों को ध्यान में रखते हुए वित्तीय आवश्यकताओं का अनुमान करना होता है।

4. **स्थायी सम्पत्तियों की लागतें** (Cost of Fixed Assets)- एक नयी संस्था के लिए स्थायी सम्पत्तियों जैसे भूमि, भवन, संयन्त्र, उपकरण आदि को भी व्यवस्था करनी होती है। इन सम्पत्तियों को क्रय करने या किराये पर लेने या पट्टे पर लेने की लागतों का अनुमान करना पड़ता है। इन सम्पत्तियों के विभिन्न विकल्पों (जैसे क्रय, किराये पर या पट्टे पर आदि) पर विचार करते हुए वित्तीय अनुमान तैयार करना चाहिए।

5. **अमूर्त सम्पत्तियों की लागतें** (Cost of Intangible Assets)- व्यवसाय की अमूर्त सम्पत्तियों में पेटेण्ट, ट्रेडमार्क, ब्राण्ड आदि को शामिल किया जाता है। एक संस्था में इन अमूर्त सम्पत्तियों का प्रबन्ध एवं क्रय करने की लागतों का भी वित्तीय आवश्यकताओं का अनुमान करते समय ध्यान रखना चाहिए।

6. **चालू सम्पत्तियों की लागतें** (Cost of Current Assets)- व्यवसाय में चालू सम्पत्तियों की व्यवस्था भी करनी होती है। इनमें कच्चा माल, स्टॉक, ऋण, प्राप्य बिल, नकद शेष आदि शामिल हैं। चालू सम्पत्तियों के लिए आवश्यक धनराशि को ही 'कार्यशील पूँजी' माना जाता है। कार्यशील पूँजी की आवश्यकता व्यवसाय की प्रकृति, आकार, उत्पाद की प्रकृति, उत्पादन प्रक्रिया, विक्रय शर्तें, प्रबन्धकीय नीतियाँ, सामान्य व्यावसायिक कीमत स्तर आदि पर निर्भर करती है।

7. **व्यवसाय विकास की लागतें** (Cost of Developing Business)- व्यवसाय द्वारा लाभ अर्जित करने में कुछ समय लगता है। प्रारम्भिक वर्षों में व्यवसाय में कुछ हानियाँ भी हो सकती हैं। व्यवसाय में ह्रास तथा अन्य आकस्मिकताओं के लिए संचयों को भी आवश्यकता होती है। इनके लिए भी लाभों की जरूरत होती है। दूसरे शब्दों में, जब तक एक संस्था शुद्ध लाभ अर्जित करना प्रारम्भ नहीं कर देती है तब तक अतिरिक्त धनराशि की जरूरत व्यवसाय में होती है। अतः वित्तीय आवश्यकताओं का अनुमान लगाते समय इन सभी बातों पर विचार करना चाहिए।

8. **संवर्द्धनात्मक लागतें** (Promotional Costs)- आज व्यवसाय प्रतिस्पर्द्धा हो गया है। कटु प्रतिस्पर्द्धा में अधिक विक्रय करने के लिए संस्था को निरन्तर प्रचार-प्रसार, विज्ञापन, जन सम्पर्क, विक्रय संवर्द्धन, आकर्षिक पैकेजिंग, थोक वितरकों को प्रेरणायें, विक्रयकर्ताओं को अधिक लाभ व पुरस्कार आदि के लिए भारी धनराशि की आवश्यकता होती है, यद्यपि यह एक दीर्घकालीन विनियोग होता है। अतः वित्तीय आवश्यकताओं का निर्धारण करते समय संस्था की संवर्द्धनात्मक लागतों पर भी विचार किया जाना चाहिए।

प्रश्न
(Questions)

अति लघुत्तरात्मक प्रश्न (Very Short Answer type Questions):

1. 'वित्तीय नियोजन' का अर्थ बताइए।
2. वित्तीय योजना क्या है?
3. विनियोग प्रस्ताव क्या है?

लघुत्तरात्मक प्रश्न (Short Answer Type Questions):

1. वित्तीय नियोजन की अवधारणा को समझाइए।
2. वित्तीय नियोजन के प्रमुख तत्व क्या हैं?
3. वित्तीय नियोजन की सीमाएँ बताइए।

NOTES

निबन्धात्मक प्रश्न (Essay Type Questions)

1. 'वित्तीय नियोजन' को परिभाषित कीजिए। एक सुदृढ़ वित्तीय योजना के लक्षण बताइए।
2. वित्तीय योजना से क्या तात्पर्य है ? एक व्यावसायिक उपक्रम के लिए इसका क्या महत्व है ?
3. वित्तीय योजना तैयार करते समय किन बातों का ध्यान रखा जाना चाहिए ? क्या वित्तीय नियोजन की कुछ सीमायें हैं ?
4. 'वित्तीय योजना' का अर्थ बताइए। एक श्रेष्ठ वित्तीय योजना के लक्षणों का वर्णन कीजिए। इसकी सीमायें क्या हैं ?
5. एक नवीन संस्था की वित्तीय आवश्यकताओं का अनुमान करते समय किन लागतों पर विचार किया जाना चाहिए।

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

5

पूँजीकरण
(CAPITALISATION)

पूँजीकरण
(Capitalisation)

"पूँजीकरण पूँजी की वह मात्रा है जिसका प्रतिनिधित्व अंशधारियों द्वारा धारित कुल अंशों तथा निर्गमित ऋणपत्रों या बन्धपत्रों द्वारा होता है।" इसके अनुसार कम्पनी द्वारा निर्गमित तथा अंशधारियों द्वारा अभिदत्त एवं धारित समस्त अंशा-पूँजी, ऋणपत्रों और बन्धपत्रों के आधार पर कम्पनी द्वारा प्राप्त दीर्घकालीन ऋण की कुल राशि पूँजीकरण में सम्मिलित की जाती है, किन्तु पूँजीकरण की यह व्याख्या में पूर्ण नहीं है क्योंकि अंश-पूँजी एवं दीर्घकालीन ऋणों के अतिरिक्त कम्पनी में लाभ के पुनर्विनियोजन के द्वारा एकत्रित कोष एवं अधिशेष की राशि भी होती है। अधिशेष दो प्रकार का हो सकता है–पूँजीगत अधिशेष तथा लागत अधिशेष। दोनों ही प्रकार के अधिशेषों के लिए यदि कम्पनी के संचालकों का अभिप्राय नियमित रूप से उन्हें संस्था के लाभोपार्जन के लिए प्रयुक्त करना है तो यह पूँजीकरण का ही एक भाग समझा जाना चाहिए। वैसे बोनस अंश (Bonus shares) के रूप में इनका पूँजीकरण प्रायः किया ही जाता है। अतः पूँजीकरण के निर्धारण में निम्न तीन तत्व सम्मिलित किये जाने चाहिए-

(क) स्वामिगत पूँजी (Owned Capital) अथवा अंश पूँजी।

(ख) स्वामिगत कोष (Proprietory Reserves)।

(ग) ऋणगत पूँजी (Borrowed Capital)।

प्रवर्तन की दशा में किसी प्रस्तावित कम्पनी के पूँजीकरण का अर्थ उन सब स्वामित्व एवं ऋणगत प्रतिभूतियों की राशि से है जिनका निर्गमित किया जाना कम्पनी के सफल कार्य संचालन के लिए आवश्यक समझा जाये।

कुछ लोगों की यह धारणा है कि पूँजीकरण का महत्व कम्पनी के प्रवर्तन के समय ही होता है, किन्तु यह धारणा गलत है। इस अर्थ में, "पूँजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा किसी कम्पनी की सम्भावित आय के वर्तमान मूल्यांकन के आधार पर उसकी कुल सम्पत्ति के वर्तमान विनियोग मूल्य का अनुमान लगाया जाता है।"[1]

इसी कारण अति पूँजीकरण (Over-capitalisation) एवं अल्प-पूँजीकरण (Under- capitalisation) की समस्याएँ उत्पन्न होती हैं।

पूँजीकरण के सिद्धान्त
(Theories of Capitalisation)

आधुनिक विचारधारा के अनुसार पूँजीकरण का अर्थ व्यवसाय में नियमित रूप से विनियोजित कुल पूँजी की मात्रा से ही है और उसमें अंश-पूँजी, दीर्घकालीन ऋण एवं अधिशेष (Surplus) और संचित-कोष (Reserves) आदि सभी सम्मिलित किये जाते हैं। इसके विपरीत पूँजी-ढाँचे (Capital Structure) से तात्पर्य, कम्पनी द्वारा निर्गमित विभिन्न ऐसी प्रतिभूतियों की प्रकृति एवं पारस्परिक अनुपात से है जिसके द्वारा कम्पनी के पूँजीकरण का निर्माण किया गया हो। पूँजीकरण की कुल राशि का निर्धारण प्रायः दो सिद्धान्तों के आधार पर किया जाता है। ये सिद्धांत हैं - (1) पूँजीकरण का लागत सिद्धान्त, तथा (2) आय का पूँजीकृत मूल्य सिद्धान्त।

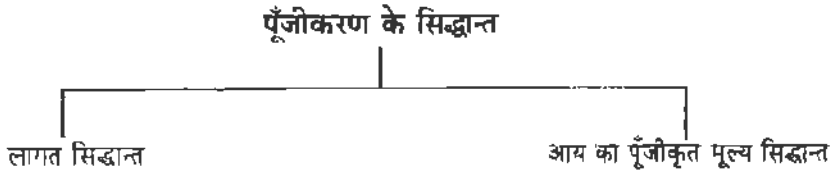

NOTES

(1) पूँजीकरण का लागत सिद्धान्त
(Cost Theory of Capitalisation)

इस सिद्धान्त के अनुसार पूँजीकरण की कुल राशि का अनुमान परियोजना (Project) के विभिन्न अंगों की लागत से आँका जाता है, जैसे--प्रवर्तक एवं संगठनात्मक व्यय, स्थायी सम्पत्ति एवं कार्यशील पूँजी की लागत और व्यवसाय को सफलतापूर्वक संस्थापित करने का व्यय आदि। नयी कम्पनी की स्थापना के समय लागत सिद्धान्त के आधार पर कुल पूँजीकरण की मात्रा निर्धारित की जा सकती है। इस सिद्धान्त के अनुसार कुल पूँजीकरण की मात्रा एक निर्धारित स्थापित क्षमता के लिए व्यवसाय को स्थापित करने के समय प्रारम्भिक व्ययों, व्यवसाय के लिए आवश्यक स्थिर सम्पत्तियों को उपलब्ध करने की समस्त लागतों तथा कार्य-संचालन के लिए आवश्यक न्यूनतम कार्यशील पूँजी की लागतों के योग के बराबर होती है।

पूँजीकरण का लागत-सिद्धान्त एक परम्परागत सिद्धान्त है। इसके पक्ष में सबसे बड़ा तर्क यही दिया जा सकता है कि यह एक सरल एवं सुविधाजनक सिद्धान्त है। नयी प्रस्तावित परियोजनाओं की दशा में विभिन्न प्रकार की स्थिर एवं चल-सम्पत्तियों की पूँजी लागतें उनके मूल्य के पूर्वानुमानों के आधार पर आकलित की जाती हैं। यदि आवश्यक हो तो साख (Goodwill), ट्रेडमार्क, पेटेण्ट आदि की लागतों की तथा व्यावसायिक व्ययों के विषय में भी सही पूर्वानुमानों के आकलन की समस्या सामने आती है।

किन्तु इस प्रकार निर्धारित पूँजीकरण की मात्रा एक सामय-बिन्दु पर व्यवसाय अथवा कम्पनी के चालू विनियोग मूल्य को प्रदर्शित नहीं करती है। अतः विद्यमान अथवा कार्यरत निगमों या कम्पनियों की दशा में पूँजीकरण का लागत सिद्धान्त सही नहीं होगा, क्योंकि **प्रारम्भिक लागतें** बहुत कुछ अपरिवर्तनशील रहती हैं।

परिणाम यह होगा कि उसके लागत मूल्य से उसका तात्कालिक, वास्तविक या प्राप्तव्य मूल्य कम हो जायेगा। लागत सिद्धान्त उन्हीं व्यवसायों के लिए उपयुक्त कहा जा सकता है जिनमें स्थिर पूँजी की मात्रा अधिक होती है और आय नियमित एवं निरन्तर रूप से होती रहती है। इन व्यवसायों को प्रायः कई प्रकार के एकाधिकार या पूर्वाधिकार प्राप्त होते हैं। अतः इनमें लागत के आधार पर पूँजीकरण की राशि पहले निर्धारित कर लेते हैं और उसके बाद माल या सेवा के लिए प्रति इकाई दर (Rate) निश्चित करते हैं। आय नियमित एवं निश्चित नहीं होती और इसलिए पूँजीकरण का लागत सिद्धान्त उपयुक्त नहीं माना जा सकता।

(2) आय का पूँजीकृत मूल्य सिद्धान्त
(Capitalised Value of Earnings Theory)

किसी भी उद्योग या व्यवसाय का प्रमुख उद्देश्य लाभ प्राप्त करना है। अतः व्यवसाय से इतनी आय अवश्य प्राप्त होनी चाहिए जिसमें से परिचालन व्यय आदि घटाने के बाद इतनी राशि अवश्य शेष रह जाये कि जो ऋणों के ब्याज और सदस्यों द्वारा विनियोजित पूँजी पर उचित लाभांश चुकाने के लिए पर्याप्त मानी जा सके। यदि कोई व्यवसाय इस मूलभूत उद्देश्य की पूर्ति नहीं करता तो लागत के आधार पर विनियोजित पूँजी के मूल्य का अवमूल्यन हो जायेगा।

इसके विपरीत यदि उसकी शुद्ध आय अधिक बढ़ जाती है तो उसका वास्तविक मूल्य लागत से भी अधिक हो जायेगा। कम्पनी की आय का उसके पूँजीकरण की मात्रा से निकट का सम्बन्ध है तथा किसी भी **कम्पनी का पूँजीकरण उसकी आय उपार्जित करने की योग्यता के आधार पर किया जा सकता है।** आय सिद्धान्त के अनुसार पूँजीकरण की मात्रा निर्धारित करने के लिए निम्नलिखित दो बातों का ज्ञान होना आवश्यक है –

(क) कम्पनी की आय का अनुमान (Estimate of Company's Earnings),

(ख) पूँजीकरण की दर (Rate of Capitalisation)।

(क) **कम्पनी की आय का अनुमान** (Estimate of Company's Earnings)– कार्यरत कम्पनी में यदि वर्तमान पूँजीकरण की मात्रा निश्चित की जानी है तो सम्भावित आय का अनुमान लगाना सरल है। कम्पनियों के पुनर्संगठन (Re-organisation), **पुनर्निर्माण** (Reconstruction) या अन्य प्रकार के संयोजनों के समय विभिन्न इकाइयों की सम्भावित आय का अनुमान इसी प्रकार लगाया जाता है तथा इसके बाद उचित दर पर प्रत्येक के लिए पूँजीकरण की मात्रा निश्चित की जाती है। अतः आय का अनुमान लगाते समय इन सब पर विचार कर लेना चाहिए।

यदि नयी कम्पनी प्रवर्तित की जा रही है तो उसमें भावी आय का अनुमान लगाना कठिन होता है। इसके लिए उसी प्रकार के व्यवसाय में समान आकार-प्रकार की कार्यरत कम्पनियों की आय की तुलना करके प्रस्तावित कम्पनी की सम्भावित आय का अनुमान लगाया जाता है। इसके लिए सर्वप्रथम कुल माँग का अनुमान लगाना होगा और एक निश्चित मूल्य-स्तर के आधार पर कुल बिक्री की राशि का अनुमान लगाया जायेगा। इसमें से परिचालन व्ययों एवं अन्य खर्चों को निकालने के बाद निबल आय (Net Income) ज्ञात कर ली जायेगी।

(ख) **पूँजीकरण की दर** (Rate of Capitalisation)– यह दर अलग-अलग उद्योगों एवं क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न हो सकती है। प्राय: समान व्यवसाय में संलग्न कम्पनियों द्वारा पूँजी पर उपार्जित लाभ की औसत दर के आधार पर पूँजीकरण की प्रचलित दर का अनुमान लगा लिया जाता है। मान लीजिए कि किसी व्यवसाय में अधिकतर कम्पनियाँ विनियोजित पूँजी पर आठ प्रतिशत आय (ब्याज एवं कर घटाने से पूर्व) उपार्जित कर रही हैं तो ऐसी दशा में पूँजीकरण की प्रचलित दर आठ प्रतिशत मानी जा सकती है, क्योंकि आठ रुपये की आय को यदि इस दर से पूँजीकृत किया जाये तो पूँजीकरण की राशि सौ रुपये होगी। इस प्रकार यदि सकल बाजार में उस वर्ग की कम्पनियों के साधारण अंश उन पर प्राप्त आय के साढ़े बारह गुने मूल्य पर बिक रहे हैं तो भी पूँजीकरण की दर आठ प्रतिशत ही मानी जायेगी, अर्थात् ऐसी कम्पनी का कुल पूँजीकरण उसकी सम्भावित आय की साढ़े बारह गुनी रकम पर किया जायेगा। निम्नलिखित उदाहरण से इसे और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है -

उदाहरण – माना कि किसी कम्पनी की सम्भावित औसत आय 80,000 रुपये वार्षिक है और उसी प्रकार की दूसरी कम्पनियों में विनियोजित पूँजी पर 8 प्रतिशत की दर से आय उपार्जित की जाती है तो पूँजीकरण की दर 8 प्रतिशत हुई तथा इस दशा में कुल पूँजीकरण आय का $12\frac{1}{2}$ गुना अर्थात् 10,00,000 रुपये हुआ। इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि यदि प्रस्तावित कम्पनी का पूँजीकरण 10 लाख रुपये पर किया जाये तो पूँजीकरण की प्रचलित आठ प्रतिशत की दर से उस पर लाभ उपार्जित करने के लिए कम्पनी की शुद्ध आय कम से कम 80,000 रुपये अवश्य होनी चाहिए।

पूँजीकरण की मात्रा ज्ञात करने के लिए निम्न सूत्र का उपयोग भी किया जा सकता है –

$$\text{Amount of Capitalisation} = \frac{\text{Average Estimated Annual Income After Tax} \times 100}{\text{Rate of Return}}$$

$$= \frac{80,000 \times 100}{8} = \text{Rs.}10,00,000$$

वैकल्पिक सूत्र: $C = \frac{100 \times i}{r}$

Where, C = Amount of Capitalisation

i = Estimated Income

r = Current Rate of Capitalisation

उपर्युक्त दशा में पूँजीकरण की राशि निम्न होगी -

$$C = \frac{100 \times 80,000}{8} = 10,00,000$$

एक बार पूँजीकरण की मात्रा निर्धारित करने के बाद यदि कम्पनी भविष्य में पूर्वानुमानित आय उपार्जित करने में सफल होती है तो कहा जायेगा कि कम्पनी में **उचित पूँजीकरण** किया गया, किन्तु पूँजीकरण एवं आय का यह सम्बन्ध सदैव स्थिर नहीं रह सकता है, क्योंकि उपार्जित आय अनेक परिवर्तनशील तत्वों पर निर्भर होती है और उनमें उतार-चढ़ाव हो सकते हैं। इसके विपरीत एक बार पूँजीकरण की मात्रा निर्धारित कर देने और पूँजी-ढाँचे का निर्माण कर लेने के पश्चात् घटती अथवा बढ़ती आय के अनुसार पूँजीकरण को सरलतापूर्वक घटाना अथवा बढ़ाना कठिन होता है। यदि आय पूँजीकरण की प्रचलित दर (आठ प्रतिशत) प्रदान करने के लिए अपर्याप्त हो तो ऐसी स्थिति को **अति-पूँजीकरण** (Over-capitalisation) कहा जायेगा जिसका आशय केवल यही है कि आय की तुलना में पूँजीकरण की मात्रा अधिक है।

इसके विपरीत, मान लीजिए कि कम्पनी 10 लाख रुपये के पूँजीकरण पर 80 हजार रुपये की पूर्वानुमानित आय के बजाय 1 लाख रुपये की उपार्जित आय प्राप्त करती है तो उपार्जित लाभ की दर दस प्रतिशत होगी, जो कि बाजार में प्रचलित दर (आठ प्रतिशत) से अधिक होगी, इस स्थिति को **अल्प-पूँजीकरण** (Under-capitalisation) की संज्ञा दी जाती है। यह स्थिति कम्पनी की लाभोपार्जन कुशलता की प्रतीक है।

अति-पूँजीकरण एवं अल्प-पूँजीकरण
(Over and Under Capitalisation)

अति-पूँजीकरण का तात्पर्य पूँजी की अधिकता से नहीं है और न ही अल्प-पूँजीकरण का आशय पूँजी की कमी से है। यही नहीं, वस्तुस्थिति इसके बिल्कुल विपरीत हो सकती है अर्थात् अति पूँजीकृत कम्पनी में धन की कमी एवं अल्प-पूँजीकृत कम्पनी में धन की प्रचुरता प्रतीत होने लगे, अत: समग्र रूप में दोनों शब्दों का कोई व्यावहारिक अर्थ नहीं

है, जब तक कि इसका सम्बन्ध कम्पनी की आय एवं प्रचलित पूँजीकरण की दर से स्थापित किया जाये। यह जानने के लिए कोई कम्पनी अति-पूँजीकृत है या अल्प-पूँजीकृत, हमें इस बात की छानबीन करनी होगी कि उस कम्पनी की आय को देखते हुए उसके पूँजीकरण की मात्रा उचित है अथवा अनुचित। यदि यह मात्रा उचित है तो इसे उचित पूँजीकरण कहा जायेगा अन्यथा अति-पूँजीकरण या अल्प-पूँजीकरण दोनों में से कोई एक स्थिति हो सकती है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि क्या कम्पनी वर्तमान पूँजीकरण की कुल राशि के द्वारा इतनी आय प्राप्त करने में सफल है कि उसमें से आवश्यक व्यय और ऋणों का ब्याज चुकाने के बाद इतनी आय शेष रह जाती है कि वह साधारण अंश-पूँजी पर प्रचलित दर से उचित लाभांश दे सके। यदि कम्पनी निरन्तर प्रचलित दर से कम दर पर ही लाभांश देने की स्थिति में रहती है तो अति-पूँजीकरण और **लाभांश की दर** यदि निरन्तर अधिक रहती है तो **अल्प-पूँजीकरण** माना जायेगा।

अति अथवा अल्प-पूँजीकरण का निश्चय एक दीर्घकालीन के पश्चात् ही किया जाना चाहिए और इसके बाद यदि यह पूरी तौर से ज्ञात हो जाये कि पूँजीकरण की प्रचलित दर को देखते हुए कम्पनी की आय निरन्तर अधिक या कम रहती है, तभी किसी अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचना युक्तिसंगत होगा।

अति-पूँजीकरण
(Over-Capitalisation)

ऐसी स्थिति में जब कोई फर्म या कम्पनी कुल विनियोजित पूँजी द्वारा इतनी आय प्राप्त करने में निरन्तर असफल रहती है जिससे कि वह साधारण अंश-पूँजी पर उचित दर से लाभांश नहीं दे पाती तो ऐसी दशा को अति-पूँजीकरण कहते हैं। ऐसे में यह कहा जायेगा कि कम्पनी की औसत आय की तुलना में उसके पूँजीकरण की राशि अधिक है। इस स्थिति के निरन्तर चालू रहने पर कम्पनी में विनियोजित कुल सम्पत्ति का वास्तविक मूल्य (Real Value) उसके लेख-मूल्य (Book Value) या पुस्तकों में दिखाये गये मूल्य से कम हो जायेगा।"

गेस्टर्नबर्ग के अनुसार "किसी कम्पनी को अति-पूँजीकरण उस समय कहा जायेगा जब उसकी आय निर्गमित प्रतिभूतियों पर उचित दर से प्रत्याय देने के लिए अपर्याप्त हो, अथवा जब उसकी देय प्रतिभूतियों का लेख-मूल्य (Book Value) उसकी सम्पत्तियों के वर्तमान मूल्य (Current Value) से अधिक हो।"[1]

इस प्रकार सम्पत्तियों के वर्तमान-मूल्य एवं देय प्रतिभूतियों (अंश एवं ऋणपत्रों) के लेख-मूल्य में तुलना करके अति-पूँजीकरण की स्थिति ज्ञात की जा सकती है। **हॉगलैण्ड** के अनुसार, "जब किसी कम्पनी में स्थायी सम्पत्तियों का वास्तविक मूल्य (True Value), निर्गमित अंशों एवं बाण्डों के सम-मूल्य (Par-Value) के योग से कम होता हो तो ऐसी दशा में वह कम्पनी अति-पूँजीकृत मानी जायेगी।"[2] **गिलबर्ट** के अनुसार, "यदि कोई कम्पनी अपनी देय प्रतिभूतियों पर (उसी उद्योग में कार्यरत समान कम्पनियों के लाभोपार्जन एवं निहित जोखिम की मात्रा को ध्यान में रखते हुए) बाजार में प्रचलित वर्तमान दर से प्रत्याय अर्जित करने में निरन्तर असमर्थ रहती है, तो उसे अति-पूँजीकृत कहा जायेगा।"[3]

निष्कर्ष – प्रथम, यह है कि अति-पूँजीकृत कम्पनी अपनी पूँजी पर प्रचलित दर से लाभ उपार्जित नहीं कर पाती है। द्वितीय, यह है कि ऐसी कम्पनी के अंशों का लेख-मूल्य (Book Value) उनके वास्तविक मूल्य से अधिक हो जाता है। अंशों के लेख-मूल्य एवं वास्तविक मूल्य की गणना निम्न चिट्ठे के आधार पर की जा सकती है।

Balance Sheet of ABC Company Ltd.
(As on 31st December, 2008)

	Liabilities	*Amount Rs.*	*Assets*	*Amount Rs.*
1.	Equity Share Capital (4,000 fully paid up shares of Rs. 100 each)	4,00,000	Sundry Assets	6,50,000
2.	Reserves	1,50,000		
3.	Loans & Current Liabilities	1,00,000		
	Total	6,50,000	Total	6,50,000

बुक-मूल्य (Book Value)

अंशों का लेख-मूल्य स्वामि-पूँजी (Owned Capital) अथवा स्वामिहित (Equity) में कुल निर्गमित अंशों का भाग देकर ज्ञात किया जाता है। 'स्वामि-पूँजी' अथवा 'इक्विटी' चुकता अंश-पूँजी एवं संचित-कोषों के योग के बराबर होती है। उपर्युक्त उदाहरण में स्वामि-पूँजी 5,50,000 रुपये (4,00,000 + 1,50,000) है तथा निर्गमित अंशों की संख्या 4,000 है। अतः प्रत्येक अंश का लेख-मूल्य $\frac{4,50,000}{2,000}$ = 275 रुपये हुआ जबकि उनका सम-मूल्य (Par-Value) 100 रुपये है।

वास्तविक मूल्य (Real-Value)– व्यवसाय का वास्तविक मूल्य प्रचलित दर से व्यवसाय की औसत आय को पूँजीकृत करके ज्ञात किया जायेगा। इसके लिए कम्पनी की औसत आय एवं उसी प्रकार की अन्य कम्पनियों में प्रचलित **पूँजीकरण की दर** इन दो तत्वों का जानना बड़ा आवश्यक है। मान लीजिए कि उपर्युक्त कम्पनी की औसत आय 27,500 रुपये है एवं पूँजीकरण की प्रचलित दर 10 प्रतिशत है तो 10 प्रतिशत की दर से 27,500 रुपये की आय को पूँजीकृत करने पर पूँजीकरण की राशि 2,75,000 रुपये होती है और यही व्यवसाय का वास्तविक मूल्य है। इसमें यदि अंशों की संख्या का भाग दें तो प्रत्येक अंश का वास्तविक मूल्य लेख-मूल्य के बराबर है।

NOTES

अब मान लीजिए कि कम्पनी की औसत आय 27,500 रुपये के बजाय केवल 21,500 रुपये ही है और पूँजीकरण की दर वही 10 प्रतिशत है। इस दर से यदि 21,500 रुपये की आय को पूँजीकृत करें तो व्यवसाय का वास्तविक मूल्य 2,15,000 रुपये ही हुआ तथा प्रत्येक अंश का वास्तविक मूल्य 107 रुपये 50 पैसे हुआ। यहाँ वास्तविक-मूल्य लेख-मूल्य से कम है और यह अति-पूँजीकरण का प्रतीक है। इसी प्रकार यदि आय में परिवर्तन न हो अर्थात् वह 27,500 रुपये ही रहे किन्तु पूँजीकरण की दर 10 प्रतिशत के स्थान पर $12\frac{1}{2}$ प्रतिशत हो जाये तो पूँजीकरण की कुल मात्रा 2,20,000 रुपये होगी और इस दशा में प्रत्येक अंश का वास्तविक मूल्य 110 रुपये होगा। दोनों ही दशाओं में वास्तविक मूल्य लेख-मूल्य से कम है, इसलिए कहा जाएगा कि उक्त कम्पनी में अति-पूँजीकरण है।

अति-पूँजीकरण का परीक्षण
(Test of Over-Capitalisation)

व्यवसाय के लेख मूल्य एवं उसके वास्तविक मूल्य की तुलना करके ही ज्ञात होता है कि कम्पनी अति-पूँजीकृत है या नहीं। लेख मूल्य वास्तविक मूल्य से अधिक पाये जाने पर ही अति पूँजीकरण की स्थिति पायी जाती है। **लेख-मूल्य** (Book Value) वस्तुतः विनियोजित-पूँजी का लेखों में दर्शाया गया मूल्य है, जबकि वास्तविक-मूल्य का सम्बन्ध व्यवसाय की लाभोपार्जन क्षमता से होता है, जिसे कम्पनी की औसत आय को बाजार में प्रचलित पूँजीकरण की दर पर पूँजीकृत करके ज्ञात किया जाता है।

इसे एक उदाहरण लेकर और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है।

उदाहरण– कम्पनी की कुल पूँजीकरण 30 लाख रुपये है (चुकता पूँजी 20 लाख रुपये, संचित कोष 5 लाख रुपये एवं ऋणपत्र 5 लाख रुपये) कम्पनी की पिछले वर्षों की वार्षिक औसत आय (EBIT) 3 लाख रुपये रही है।

कम्पनी के विनियोगकर्ता (अंशधारी एवं ऋणपत्रधारी) विनियोजित पूँजी पर कम से कम 15 प्रतिशत की दर से आय उपार्जित किये जाने की अपेक्षा रखते हैं, क्योंकि उस उद्योग समूह की अन्य कम्पनियाँ ब्याज एवं कर घटाने से पूर्व इसी दर से पूँजी पर प्रत्याय (Return) प्राप्त कर रही हैं।

उपर्युक्त दशा में बतलाइए कि (a) क्या कम्पनी अति-पूँजीकृत है? (b) यदि है तो अति-पूँजीकरण की मात्रा क्या है? तथा (c) उचित पूँजीकरण की स्थिति के लिए प्रबन्धकों द्वारा कितनी औसत वार्षिक आय उपार्जित की जानी चाहिए?

हल–

(a) Is the Company Over-capitalised?

Yes, because its Book-Value is more than its Real Value as shown below:

$$\textit{Real Value} = \frac{i}{r} \times 100 = \frac{3,00,000}{15\%} = \text{Rs. } 20,00,000$$

Book Value = Rs. 30,00,000 (given in the example)

∴ Book Value > Real value

(b) The extent of Over-capitalisation

(Book Value – Real Value)

30,00,000 – 20,00,000 = Rs. 10,00,000

(c) Level of income required for Fair Capitalisation

Capital employed × Current Rate of Capitalisation

$$= \frac{30,00,000 \times 15}{100} = \text{Rs. } 4,50,000$$

NOTES

अति-पूँजीकरण के कारण
(Causes of Over-Capitalisation)

अति-पूँजीकरण के कारण निम्नलिखित हैं –

(1) **तेजी के काल में स्थापित कम्पनियाँ** – तेजी के समय (Boom Period) मूल्य स्तर ऊँचा होता है तथा मुद्रा-स्फीति और क्रय-शक्ति की प्रचुरता के कारण माँग अधिक होने से आय भी अधिक होती है। स्वाभाविक है कि तेजी के काल में स्थापित कम्पनियों में पूँजीकरण की मात्रा का निर्धारण अधिक ऊँचे बिन्दु पर किया जायेगा। जब तक तेजी रहती है, ऊँचे पूँजीकरण के औचित्य को स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु जैसे ही तेजी-चक्र आरम्भ होता है, परिस्थितियाँ बदल जाती हैं, मूल्य गिरने लगते हैं और क्रय-शक्ति में कमी हो जाती है।

(2) **दोषपूर्ण अवक्षयण (ह्रास) नीति** – कुछ कम्पनियाँ लाभ को अधिक दिखलाने के उद्देश्य से अवक्षयण (Depreciation), प्रतिस्थापन (Replacement) एवं अप्रचलन (Obsolescence) के लिए पर्याप्त व्यवस्था नहीं कर पातीं। अतः कुछ काल के बाद स्थिर सम्पत्ति की उपयोगिता एवं उनके वास्तविक मूल्य में कमी हो जाती है तथा वह अपने लेख-मूल्य के अनुपात में आय उपार्जित करने में सहायक नहीं होती। लेख-मूल्य की तुलना में वास्तविक मूल्य कम हो जाने के कारण अति पूँजीकरण की अवस्था उत्पन्न हो जाती है।

(3) **उदार लाभांश नीति** – कुछ कम्पनियों में अपनी साख जमाने के उद्देश्य से यह प्रवृत्ति पायी जाती है कि वे आरम्भ में ऊँची दर से लाभांश घोषित करती हैं और इस कारण ह्रास एवं सुरक्षित कोषों को मदों में समुचित प्रावधान नहीं किया जाता। फलतः कुछ काल के बाद ही कम्पनी में अति-पूँजीकरण के लक्षण दिखाई देने लगते हैं।

(4) **प्रवर्तन की ऊँची लागत** – यदि प्रवर्तकों द्वारा प्रवर्तन सम्बन्धी कार्यों में आवश्यकता से अधिक व्यय किया गया है तो इसका परिणाम यह होगा कि निर्मित कम्पनी की बैलेन्स शीट में आस्तियों (Assets) की ओर प्रारम्भिक व्यय, साख, ट्रेडमार्क, पेटेण्ट या कॉपीराइट के रूप में कई अमूर्त (Intangible) सम्पत्तियों को दिखाया जायेगा। इन्हें धीरे-धीरे प्रतिवर्ष कम्पनी के लाभ में से अपलिखित (Write-off) किया जायेगा। इस प्रकार आय का महत्वपूर्ण भाग इन्हें अपलिखित करने में प्रयुक्त हो जायेगा तथा कम्पनी कुछ वर्षों तक प्रचलित दर से लाभांश घोषित कर सकेगी।

(5) **सम्पत्ति का बढ़े हुए मूल्य पर हस्तान्तरण** – प्रायः यह देखने में आता है कि प्रवर्तन के समय प्रवर्तकों अथवा विक्रेताओं (Vendors) द्वारा प्रस्तावित कम्पनी को हस्तान्तरित की जाने वाली सम्पत्ति का मूल्यांकन उसके वास्तविक मूल्य से अधिक राशि पर किया जाता है, फलतः आरम्भ से ही कम्पनी की पूँजी जलयुक्त (Watered) हो जाती है और उसकी आय उपार्जन करने की क्षमता दिखाये गये मूल्य का लेख-मूल्य के अनुपात में बहुत कम होती है।

(6) **निम्न दर पर पूँजीकरण** – यदि आय का अनुमान तो ठीक निकलता है किन्तु जिस दर से उसे पूँजीकृत किया गया, वह प्रचलित दर से कम थी तो भी अति-पूँजीकरण की दर 10 प्रतिशत न होकर $12\frac{1}{2}$ प्रतिशत होनी चाहिए थी।

(7) **आय के प्रारम्भिक अनुमान में त्रुटि** – मान लीजिए कि आरम्भ में आय का अनुमान 27,500 रुपये आँका गया जिसे 10 प्रतिशत की प्रचलित दर से पूँजीकृत करके पूँजीकरण की कुल मात्रा 2,75,000 रुपये निश्चित की गयी। बाद में यह ज्ञात हुआ कि आय अनुमान के विपरीत केवल 21,500 रुपये ही है। अतः पूँजीकरण की मात्रा 10 प्रतिशत से केवल 2,15,000 रुपये ही होनी चाहिए थी। ऐसी त्रुटि का फल यह होगा कि कम्पनी 60,000 रुपये से अति-पूँजीकृत हो जायेगी।

अति-पूँजीकरण का प्रभाव
(Effects of Over-Capitalisation)

अति-पूँजीकरण के प्रभाव को निम्न प्रकार से रखा जा सकता है।

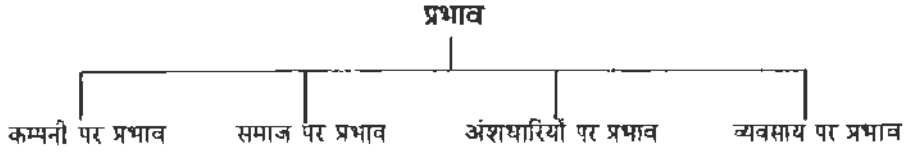

(क) कम्पनी पर प्रभाव (Effects on the Company)

(i) कम्पनी सदैव वित्तीय संकट से ग्रसित रहती है और उसके समाप्त होने की सम्भावना सदैव बनी रहती है। अनिश्चितता की यह स्थिति प्रबन्धकों एवं संचालकों के लिए दुःखदायी होती है।

(ii) आवश्यकता से अधिक पूँजीकरण के फलस्वरूप कम्पनी को भारी संगठनात्मक-कर एवं शुल्क चुकाने होते हैं।

(iii) ऐसी कम्पनियों में अनुपार्जित लाभांश (Unearned Dividends) घोषित करने की प्रवृत्ति पायी जाती है, यद्यपि ऐसा करना कम्पनी अधिनियम द्वारा वर्जित या निषिद्ध है, फिर भी लेखों में धपला (Manipulation) करके प्रबन्धक इसमें सफल हो सकते हैं।

(iv) अति-पूँजीकृत कम्पनी में दैनिक कार्यों के लिए कार्यशील पूँजी की कमी प्रतीत हो सकती है जिसे पूरा करने के लिए भारी ब्याज दर पर अल्पकालीन ऋणों की व्यवस्था की जाती है। ऋणों के भार के कारण लाभांश की दर और कम हो जाती है।

(v) आय कम होने के कारण अवक्षयण (Depreciation) एवं सुरक्षित कोषों के निर्माण पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जा सकता और इससे कम्पनी के लाभोपार्जन की योग्यता और कम होती चली जाती है :

(vi) विस्तार एवं विकास के लिए नये अंशों के निर्गमन द्वारा पूँजी प्राप्त करना कठिन हो जाता है।

(vii) जलयुक्त पूँजी एवं बाजार में अंशों का मूल्य कम हो जाने के कारण कम्पनी की ऋण प्राप्त करने की क्षमता पर प्रभाव पड़ता है।

(ख) समाज पर प्रभाव (Effects on Society)-

(i) अति-पूँजीकरण, पूँजी निर्माण एवं पूँजी की गतिशीलता को ठेस पहुंचाता है, क्योंकि अंशों के गिरते हुए मूल्यों के कारण विनियोक्ताओं की आस्था में कमी होती है तथा वे नयी कम्पनियों में पूँजी का विनियोग करने से कतराने लगते हैं।

(ii) अति-पूँजीकृत कम्पनियों के अंशों में निरर्थक परिकल्पना (Wasteful Speculation in Shares) बढ़ जाती है जिससे वास्तविक विनियोक्ताओं के हितों को हानि होती है और समाज के बहुमूल्य साधनों का दुरुपयोग होता है।

(iii) अंशों का बाजार-मूल्य गिर जाता है, वे बट्टे पर बिकने लगते हैं। इससे समस्त अर्थव्यवस्था पर निराशाजनक प्रभाव पड़ता है।

(iv) असफलता की सम्भावनाओं के कारण अति-पूँजीकृत कम्पनी के ऋणदाता अपने हितों की सुरक्षा के लिए सदैव चिन्तित रहते हैं।

(v) व्यय को कम करने एवं लाभ की मात्रा को बढ़ाने के उद्देश्य से वेतन एवं मजदूरी को कम करने के लिए प्रयत्न किये जाते हैं अथवा बढ़ते हुए मूल्य-स्तर के साथ-साथ मजदूरी बढ़ाने में आनाकानी की जाती है। इससे श्रमिकों में असन्तोष उत्पन्न होता है।

(vi) अति-पूँजीकरण उत्पादित माल के स्तर और किस्म में कमी एवं मूल्य में वृद्धि को प्रोत्साहित करता है।

(ग) अंशधारियों पर प्रभाव (Effects on Shareholders)

(i) पुनर्संगठन या अवसायन की दशा में अंशधारियों को भारी हानि सहन करनी होती है क्योंकि अति-पूँजीकृत कम्पनियों में अन्य देनदारियों का भुगतान करने के बाद बहुत कम राशि अंशधारियों में वितरण के वास्ते बच पाती है और कभी-कभी कुछ भी नहीं बचता।

(ii) समपार्श्विक प्रतिभूति (Collateral Security) के रूप में अंशों की उपयोगिता कम हो जाती है और उनकी जमानत पर अंशधारियों को ऋण प्राप्त करने में कठिनाई होती है। बैंक एवं वित्तीय संस्थाओं द्वारा यदि अति-पूँजीकृत कम्पनियों के अंशों की जमानत पर ऋण दिया भी जाता है तो उस पर पर्याप्त मार्जिन (Margin) रखा जाता है क्योंकि वित्तीय विशेषज्ञ ऐसे अंशों के जोखिम (Rick) के विरुद्ध पर्याप्त सुरक्षा की व्यवस्था किये बिना धन उधार देना उचित नहीं समझते।

(iii) लाभांश की दर कम हो जाने से उनकी आय में कमी (Revenue Loss) हो जाती है तथा आय अनिश्चित एवं अनियमित हो जाती है।

(iv) अंशों के मूल्य गिर जाने से यह पूँजीगत हानि (Capital Loss) होती है।

(घ) व्यवसाय पर प्रभाव (Effects on Business)

उपर्युक्त के अतिरिक्त व्यापार पर भी अति-पूँजीकरण का विपरीत प्रभाव पड़ता है। व्यवसाय में अनावश्यक पूँजी का विनियोग व्यवसाय के संतुलन को बिगाड़ देता है। उत्पादन क्षमता में कमी होती है, धन का अपव्यय होता है और लाभ की मात्रा में कमी आ जाती है तथा ऐसे व्यवसाय के प्रति विनियोजकों की निष्ठा में भी कमी आ जाती है।

NOTES

अति-पूँजीकरण का उपचार
(Remedy for Over-Capitalisation)

किसी कम्पनी के जीवन-काल के प्रारम्भिक वर्षों में लाभ का कम होना एक स्वाभाविक बात है और अति-पूँजीकरण का लक्षण नहीं माना जाना चाहिए। ऐसी कम्पनियाँ कुछ वर्षों की प्रगति के बाद ही अपनी आय बढ़ा लेती हैं तथा आय एवं पूँजी की मात्रा में सामंजस्य स्थापित कर लेती हैं। इसके लिए कई उपचारों का सहारा लेना होगा और उसके बाद भी आवश्यक नहीं कि मुक्ति मिल ही जाये। अनेक कम्पनियाँ अति-पूँजीकरण के उपचार की प्रक्रिया में असफल रहती हैं और बाध्य होकर उन्हें या तो समापित कर दिया जाता है अथवा उन्हें पुनर्संगठन या समामेलन का सहारा लेना पड़ता है। यदि अति-पूँजीकरण असाध्य प्रतीत होता है तो ऐसी दशा में पुनरपूँजीकरण (Recapitalisation) अथवा अवपूँजीकरण (Decapitalisation) के तरीकों को काम में लाना होगा, जिसके लिए अंशधारी एवं ऋणदाता दोनों ही इसके लिए सरलता से सहमत नहीं होते। अधिक लाभांश एवं बोनस अंशों को पाकर अंशधारी जितने प्रसन्न होते हैं, इतने ही दुःखी वे अवपूँजीकरण से होते हैं। अवपूँजीकरण पूँजी के उस भाग को कम करने की प्रक्रिया है जिसका पहले से ही अवमूल्यन हो चुका है, किन्तु जो लेखों में अब भी बढ़े हुए मूल्य पर दिखाया जा रहा है तथा जिस पर कम्पनी उचित दर से लाभांश देने की स्थिति में नहीं है। अवपूँजीकरण (Decapitalisation) कम वास्तविक मूल्य की, किन्तु लेखों में बढ़े हुए मूल्य पर दिखाई गयी परिसम्पत्तियों को पुनः उनके वास्तविक मूल्य के बराबर लाने की एक सफल प्रक्रिया से हो सकती है। यह उसी प्रकार होता है जैसे कि सम्पूर्ण शरीर की रक्षा के लिए किसी सड़े हुए या अनावश्यक अंग को काटकर अलग कर दिया जाये। यह प्रक्रिया दुःखदायी अवश्य है। किन्तु यह स्वयं कम्पनी, अंशधारी एवं ऋणदाता आदि निहित वर्गों के हितों के अनुकूल है।

कम्पनी का पुनरपूँजीकरण
(Recapitalisation of Company)

कम्पनी का पुनरपूँजीकरण (Recapitalisation) निम्नलिखित में से एक या अधिक रीतियों द्वारा किया जा सकता है–

(1) साधारण अंश-पूँजी में कमी करके।

(2) अंशों के सम-मूल्य (Par-Value) में परिवर्तन करके।

(3) अधिक दर वाले अधिमान्य अंशों (Preference Shares) का निष्क्रियण (Redemption) करके।

(4) अधिक ब्याज वाले ऋणपत्रों या बन्धपत्रों का कम ब्याज वाले ऋणपत्रों या बन्धपत्रों में परिवर्तन (Conversion) करके और

(5) निधित-ऋण (Funded-debt) की राशि को कम करके।

अति-पूँजीकरण को करने के उद्देश्य से निधित-ऋण (Funded-debt) का भुगतान करना प्रायः ऐसी स्थिति में सम्भव नहीं होता, क्योंकि लाभ की अपर्याप्तता ऋण-निष्क्रियण कोष (Debt Redemption Find) के निर्माण में बाधक होती है। यदि निष्क्रियण नये अंशों के निर्गमन के द्वारा किया जाता है तो भी समस्या हल नहीं होती क्योंकि अति-पूँजीकरण कम्पनी को नये अंश बेचने में कठिनाई होगी और यदि वे बिकेंगे भी तो उन पर बट्टा (Discount) देना होगा।

अब दो ही उपाय रह जाते हैं – अंशों के सम-मूल्य में परिवर्तन एवं अंश पूँजी की राशि में कमी। यह बड़ा ही दुःखदायी एवं कठिन कार्य है। अंशधारियों को यदि कम सम-मूल्य के अंशों के बदले में अधिक सम-मूल्य के अंश दे दिये जाते हैं तो इससे पूँजीकरण की मात्रा में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा, किन्तु अंशों की कुल संख्या में कमी हो जायेगी। इसे विपरीत अंश-विभाजन (Reverse Share Split) कहते हैं। इसका केवल मनोवैज्ञानिक प्रभाव होगा, अर्थात् लाभांश की दर तो वही रहेगी किन्तु प्रत्येक अंश पर देय लाभांश की मात्रा अवश्य बढ़ जायेगी। अंश-पूँजी में कमी दो प्रकार से की जा सकती है अर्थात् अंशों की संख्या में परिवर्तन न करके प्रत्येक अंश के सम-मूल्य में कमी करके, अथवा सम-मूल्य को वहीं रखकर अंशों की संख्या में कमी करके।[2] दीर्घकाल तक यदि अति-पूँजीकरण की स्थिति बनी रहती है तो अन्ततोगत्वा फर्म औद्योगिक रुग्णता (Industrial Sickness) की स्थिति में आ जायेगी।[3]

अल्प-पूँजीकरण
(Under-Capitalisation)

यदि किसी व्यवसाय का वास्तविक मूल्य (Real Value) उसके लेख-मूल्य (Book-Value) से अधिक हो जाये तो इस अवस्था को अल्प-पूँजीकरण का द्योतक माना जायेगा। इस दशा में कम्पनी की परिसम्पत्ति का वास्तविक मूल्यांकन चिट्ठे में दिखाये गये उसके लेख-मूल्य से अधिक होगा। ऐसी दशा में पूँजीकरण की मात्रा को देखते हुए कम्पनी की आय अधिक होगी। यह निरन्तर प्रचलित दर से ऊँची दर पर लाभांश देने की स्थिति में होगी। कम्पनी का

वास्तविक मूल्य एवं लेख-मूल्य क्या है और यह कैसे मालूम किया जाता है ? उसी बैलेन्स शीट के अनुसार, यदि मान लीजिए कि उस कम्पनी की औसत आय 27,500 रुपये के बजाय 37,500 रुपये है और पूँजीकरण की दर वही 10 प्रतिशत है तो इस आय का पूँजीकरण 3,75,000 रुपये पर हुआ जो इस दशा में कम्पनी का वास्तविक मूल्य होगा। यहाँ लेख-मूल्य को देखते हुए वास्तविक मूल्य अधिक है और यह अल्प-पूँजीकरण का चिह्न है। इस आधार पर यदि कम्पनी के प्रत्येक अंश का वास्तविक मूल्य निकालें तो वह 187.50 रु होगा, जबकि प्रत्येक अंश का लेख-मूल्य केवल 137.50 रुपये ही है। यदि यह कम्पनी अपनी अंश-पूँजी को 2,75,000 रुपये बढ़ाकर 3,75,000 रुपये भी कर लेती है तो ऐसी दशा में भी प्रचलित दर से लाभांश वितरित करने में समर्थ हो सकेगी।

अल्प-पूँजीकरण का परीक्षण
(Test of Under-capitalisation)

यह परीक्षण भी लेख-मूल्य (Book Value) का वास्तविक मूल्य (Real Value) की तुलना करके किया जा सकता है। यदि लेख-मूल्य व्यवसाय के वास्तविक मूल्य से कम है तो यह स्थिति अल्प-पूँजीकरण का परिचायक होगी। इसे निम्न उदाहरण के द्वारा भली प्रकार समझा जा सकता है।

उदाहरण 2.

उदाहरण 1 में दिये गये पूँजीकरण के आँकड़ों को लेते हुए मान लीजिए कि बाजार में पूँजीकरण की प्रचलित दर $12\frac{1}{2}$ प्रतिशत है। कम्पनी की औसत वार्षिक आय (ब्याज एवं कर घटाने से पूर्व) तीन लाख रुपये के स्थान पर साढ़े चार लाख रुपये है। ऐसी स्थिति में बतलाइए कि (a) क्या कम्पनी अल्प-पूँजीकृत (Under-capitalised) है ? तथा (b) अल्प-पूँजीकरण की मात्रा क्या है ?

Solution :

(a) Is the company Under-capitalised?

Yes, the company is under-capitalised because its Real Value > Book Value as shown below:

$$\text{वास्तविक मूल्य} = \frac{i \times 100}{r} = \frac{4,50,000 \times 100}{12.5}$$

$$= \text{Rs. } 36,00,000$$

$$\text{पुस्तक मूल्य} = \text{Rs. } 30,00,000 \text{ (as given)}$$

(b) अल्प-पूँजीकरण की मात्रा

(Real Value – Book Value)

(36,00,000 – 30,00,000) = Rs. 6,00,000

उल्लेखनीय है कि यह एक अनुकूल स्थिति है क्योंकि प्रबन्धक अपेक्षाकृत कम पूँजी का विनियोग करके परिचालन लाभ की अपेक्षा ऊँची दर प्राप्त कर रहे हैं। दूसरे शब्दों में, पूँजी-विनियोग पर उपार्जित लाभ की दर बाजार में प्रचलित पूँजीकरण की दर (उसी समूह की समान जोखिम वाली कम्पनियों के लिए) से अधिक है। निश्चित ही ऐसी कम्पनी के अंशों के बाजार-मूल्य उनके सम-मूल्य से अधिक होंगे। अंशधारी इससे लाभांशों (Dividends) के रूप में तथा पूँजी-विनियोग के बाजार मूल्यों में निरन्तर होनी वाली वृद्धि से लाभान्वित होते रहेंगे।

अल्प-पूँजीकरण का तात्पर्य कम्पनी में धनराशि या कोषों की कमी से नहीं है। वस्तुत: ऐसी कम्पनी में लाभ अधिक होता है तथा लाभ के पर्याप्त भाग का पुनर्विनियोजन व्यवसाय में ही कर लिया जाता है। अत: दैनिक कार्यकलापों के लिए कोषों की प्रचुरता ही रहती है। प्राय: ऐसी कम्पनियों के अंशों का बाजार मूल्य उनके सम-मूल्य से बहुत अधिक हो जाता है इसलिए कुछ लोग सम-मूल्य एवं बाजार मूल्य का अन्तर देखते हुए अल्प-पूँजीकरण सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। यदि बाजार मूल्य में वृद्धि वास्तविक मूल्य में हुई वृद्धि पर आधारित एवं उसके कारण है तो इस सीमा तक ऐसा प्रयत्न कुछ युक्तिसंगत माना जा सकता है, किन्तु ऐसा सदैव नहीं होता। अनेक बार वास्तविक मूल्य स्थिर रहते हुए भी बाह्य कारणों से बाजार मूल्य में वृद्धि हो जाती है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि बाजार मूल्य अत्यन्त परिवर्तनशील मूल्य है। अत: ऐसा करते समय हमें लेख-मूल्य एवं वास्तविक मूल्य की ही तुलना करके किसी निष्कर्ष पर पहुँचना होगा।

NOTES

अल्प-पूँजीकरण के कारण
(Causes of Under-Capitalisation)

(i) मन्दी के काल में निर्मित कम्पनियाँ तेजी का चक्र आरम्भ होने के पश्चात् अपने को अल्प पूँजीकृत महसूस करने लगती हैं।

(ii) प्रबन्धकों या संचालकों द्वारा साधारण अंशों पर व्यापार (Trading on Equity) की नीति को अपनाना। ट्रेडिंग-ऑन-इक्विटी का आशय, कम साधारण पूँजी रखकर अधिकतर ऋणगत पूँजी द्वारा व्यवसाय संचालित करके अधिक लाभ कमाने की नीति से है जिसकी विस्तृत व्याख्या अगले अध्याय में की गयी है।

(iii) कम्पनी की सम्पत्ति के विषय में पूँजी लाभ का उपार्जन।

(iv) कम्पनी द्वारा अंश-पूँजी के कुल या कुछ भाग को सम-मूल्य से अधिक मूल्य पर बेचना।

(v) लगातार कुछ वर्षों तक कम्पनी द्वारा प्रति वर्ष लाभ के एक महत्वपूर्ण भाग का व्यवसाय में पुनर्विनियोग (Ploughing Back of Profits)।

(vi) सामान्यतः प्रचलित दर से ऊँची दर पर कम्पनी का पूँजीकरण अथवा बाद में पूँजीकरण की दर में कमी हो जाना।

(vii) प्रवर्तकों द्वारा आरम्भ में सम्भावित आय का न्यून अनुपात अथवा बाद में वास्तविक आय में नियमित वृद्धि।

अल्प-पूँजीकरण का प्रभाव
(Effects of Under-Capitalisation)

(1) अल्प-पूँजीकरण कुछ वर्षों के बाद अति-पूँजीकरण को प्रोत्साहित करता है– इसे हम दो प्रकार से सिद्ध कर सकते हैं, **प्रथम,** अल्प-पूँजीकरण कम्पनी अत्यधिक लाभ का उपार्जन करती है, किन्तु वह सारा ही अंशधारियों को वितरित नहीं किया जाता, बल्कि प्रतिवर्ष उसका एक महत्वपूर्ण भाग व्यवसाय में ही प्रतिधारित (Retain) कर लिया जाता है। यह राशि पूँजीकरण का अंग मानी जाती है और व्यवसाय का **लेख-मूल्य** (Book Value) ज्ञात करने के लिए इसे पूँजी में जोड़ा जाता है। कुछ वर्षों में यह इतनी अधिक बढ़ जाती है कि कम्पनी के **वास्तविक मूल्य** (Real Value) से उसका **लेख मूल्य अधिक** हो जाता है और इस प्रकार कम्पनी अति-पूँजीकृत हो जाती है। **द्वितीय,** अल्प-पूँजीकृत कम्पनी में अंश-पूँजी की मात्रा कम होती है और विस्तार व विकास कार्यों के लिए उसे दीर्घकालीन ऋणों का सहारा लेना पड़ता है। अतः लाभ में से चुकायी जाने वाली ब्याज की रकम बढ़ती चली जाती है। फलतः इसके अंशों के बाजार मूल्य गिर जाते हैं। धीरे-धीरे व्यवसाय का वास्तविक मूल्य (Real Value) उसके लेख-मूल्य (Book Value) के बराबर होकर कुछ वर्षों में नीचे गिर जाता है।

(2) अंश-पूँजी की मात्रा को कम रखकर दीर्घकालीन ऋण पर निर्भर रहने की नीति सदैव उत्तम नहीं कही जा सकती, क्योंकि इसमें ऋणदाताओं (Creditors) का प्रभाव एवं हस्तक्षेप बढ़ जाता है।

(3) अल्प-पूँजीकरण की प्रतिक्रिया विभिन्न वर्गों पर भिन्न-भिन्न प्रकार से होती है। श्रमिकों को यह भ्रम हो सकता है कि कम्पनी अधिक लाभ कमा करके भी कम वेतन देती है। उपभोक्ता माल के मूल्यों में और अधिक कमी की आशा करने लगते हैं। अंशधारी लाभ की अधिकता के कारण और अधिक लाभांश घोषित किये जाने की आशा करने लगते हैं। लाभांशों की अधिकता सरकार को निगम-कर (Corporation Tax) की दर में वृद्धि की प्रेरणा दे सकती है।

(4) अत्यधिक मूल्य के कारण ऐसी कम्पनी के अंशों की माँग का क्षेत्र सीमित हो जाता है। सटोरिये (Speculators) इस स्थिति में अनुचित लाभ उठाते हैं।

(5) अंशों पर लाभांश की दर बहुत अधिक दी जा सकती है।

(6) अंशों के बाजार-मूल्य में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है क्योंकि उसका वास्तविक मूल्य उनके सम मूल्य से कहीं अधिक होता है।

अल्प-पूँजीकरण का उपचार
(Remedy for Under-Capitalisation)

इसके लिए प्रायः दो ही उपाय काम में लाये जाते हैं–**प्रथम,** अंश-विभाजन एवं **द्वितीय,** बोनस अंशों का वितरण।

(1) **अंश-विभाजन** - इसमें प्रत्येक अंश के सम-मूल्य को कम करके उसी अनुपात में अंशों की संख्या को बढ़ा दिया जाता है। कुल अंश-पूँजी की राशि पर इससे कोई प्रभाव नहीं पड़ता और वह उसकी ही रहती है जितनी अंश

विभाजन से पूर्व थी। छोटे मूल्यों के अंशों के कारण बाजार का मूल्य ऊंचा होगा और छोटी पूँजी के लगाने वाले विनियोक्ता भी उन्हें खरीद सकेंगे।

(2) **बोनस अंशों का वितरण** - पिछले वर्षों में उपार्जित समस्त लाभ को लाभांश के रूप में वितरित न करके, यदि कम्पनी ने उसके कुछ भाग को सुरक्षित कोषों एवं अधिशेष (Surplus) के रूप में संचित कर रखा है, अर्थात् लाभ का व्यवसाय में पुनर्विनियोग किया है तो कम्पनी इसे पूँजीकृत (Capitalise) कर सकती है। ऐसा करने के लिए कम्पनी प्रत्येक अंशधारी को उसके द्वारा पहले से धारित अंशों के अनुपात में बोनस अंश (Bonus Share) दिये जाने की व्यवस्था कर सकती है।

अल्प-पूँजीकृत कम्पनियों के लिए सर्वोत्तम उपाय यह होगा कि वे अपने उत्पादन में विविधीकरण (Diversification) लाकर नवीन परियोजनाओं में अपनी संचित पूँजी का उपयोग करें। ऐसी कम्पनियाँ पूँजी बाजार से भी अनुकूल शर्तों पर सरलता से नयी योजनाओं के लिए आवश्यक अतिरिक्त पूँजी प्राप्त कर सकती हैं। ऐसी कम्पनियाँ वस्तुतः **वृद्धि परक** (Growth Oriented) कम्पनियों की श्रेणी में आती हैं तथा विकास एवं विस्तार के द्वारा सतत् परिवर्तनशील परिवेश के साथ अपना तालमेल बैठा सकती हैं।

किसी कम्पनी के लिए अल्प-पूँजीकरण की तुलना में अति-पूँजीकरण की दशा अधिक कष्टदायक होती है। अति-पूँजीकरण यदि स्थिर सम्पत्ति के जलयुक्त[1] (Watered) हो जाने के कारण है तो उसके जलीय अंश को निकालकर उसे वास्तविक मूल्य प्रदान करने की क्रिया में कई वर्षों तक कम्पनी अंशधारियों को उचित लाभांश घोषित नहीं कर पाती जो कम्पनी के सदस्यों के लिए अत्यंत दुःखदायी होता है। अल्प-पूँजीकरण अपेक्षाकृत कम संकटपूर्ण है। **भारत में प्रायः अनेक कम्पनियाँ अल्प-पूँजीकरण के आधार पर अच्छा लाभ उपार्जित करके ऊँचे लाभांश घोषित करती हैं।**

अतः **अति-पूँजीकरण एवं अल्प-पूँजीकरण दोनों ही अवांछनीय हैं।** संचालकों को यथासम्भव इन दोनों स्थितियों से बचने का प्रयत्न करना चाहिए एवं अपना लक्ष्य उचित पूँजीकरण बनाना चाहिए। उचित पूँजीकरण एक आदर्श स्थिति है जो शायद व्यवहारिक रूप में पूर्णतः दिखाई नहीं देती।

अन्त में यह कहना उचित होगा कि प्रयुक्त पूँजी की तुलना में उपार्जित आय की सीमा में कमी अथवा अधिकता ही अति-पूँजीकरण अथवा अल्प-पूँजीकरण की स्थितियों को जन्म देती है। अतः पूँजीकरण एवं आय की पारस्परिक स्थिति में उचित सन्तुलन बनाये रखना ही वांछनीय होता। यदि अंशों के बाजार मूल्यों को पूँजीकरण की सीमा का परिचायक माना जाये तो मूल्य-आय अनुपात (Price-earnings Ratio) इस सन्तुलन की स्थिति के आकलन का एक उचित मापदण्ड माना जा सकता है। यह अनुपात प्रति अंश बाजार-मूल्य में प्रति अंश आय का भाग देकर प्राप्त किया जा सकता है।

पूँजीकरण से सम्बन्धित क्रियात्मक प्रश्न हल सहित
(Numerical Questions with Solutions Relation of Capitalisation)

पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है कि पूँजीकरण के सम्बन्ध में तीन प्रकार की स्थिति हो सकती है–अनुकूलतम पूँजीकरण, अति-पूँजीकरण तथा अल्प-पूँजीकरण। प्रश्नों में पूँजीकरण की स्थिति का पता लगाने के ये निम्न मदों की गणना करनी पड़ती है।

(i) Actual Rate of Return $= \frac{\text{Actual Profit} \times 100}{\text{Capital employed}}$

Capital employed = Total Assets–Current Liabilities
(कृत्रिम सम्पत्तियों को छोड़कर)

(ii) Current Rate of Return = यह प्रश्न में दिया होगा अन्यथा निम्न सूत्र से गणना की जा सकती है –

Current Rate of Earnings $= \frac{\text{Dividend Rate}}{\text{Market price Per Share}} \times 100$

(iii) Book Value per Share $= \frac{\text{Book Value of Business}}{\text{No. of Share}}$

(iv) Real Value per Share $= \frac{\text{Real Value of Business}}{\text{No. of Share}}$

(v) Book Value of Business = Total Assets–Outside Liabilities

(vi) Real Value of Business $= \frac{\text{Average Profit}}{\text{Current Rate}} \times 100$

(i) Fictitious Assets- 1. Preliminary Exp.
2. P/L (Debt balance)
3. Discount on Shares and Debentures
4. Underwriting Commission
5. Development Expenses
6. Advertisment Expenses

(ii) Current Liabilities :1. Creditors
2. B/P
3. Out/s, Exp
4. Bank Overdraft
5 Unclaimed Dividend

पूँजीकरण की स्थिति का निर्धारण
(Determination of Situation of Capitalisation)

(A) **अति-पूँजीकरण की स्थिति** (Situation of Over-Capitalisation)
(1) Actual Rate of Return <Current Rate
(2) Real Value of the Business < Book Value of the Business
(3) Real Value of the Share < Book Value of the share

(B) **अल्प-पूँजीकरण की स्थिति** (Situation of Under-Capitalisation)
(1) Actual Rate of Return > Current Rate
(2) Real Value of the Business > Book Value of the Business
(3) Real Value of the Share > Book Value of the Share

(C) **उचित पूँजीकरण की स्थिति** (Situation of Fair Capitalisation)
(1) Actual Rate of Return = Current Rate
(2) Real Value of the Business = Book Value of the Business
(3) Real Value of the share = Book Value of the Share

Illustration 1.

प्रवर्तकों द्वारा नई स्थापित कम्पनी के लिए कुल पूँजीकरण की राशि 60 लाख रु. की निर्धारित की गयी है। बाजार में उसी प्रकार की कम्पनियों के लिए पूँजीकरण की दर 15% है, तो बतलाइए कि कम्पनी के प्रबन्धकों द्वारा कितनी आय प्रतिवर्ष उपार्जित की जाये कि वे विनियोजकों को बाजार में प्रचलित दर से प्रत्याय दे सके?

The total amount of capitalisation of a newly set up company has been fixed at Rs. 60,00,000 by the promoters. The current of capitalisation in the market for similar companies is 15%. What level of income in rupees should the management of the company earn so as to give to the investors the benefit of the current rate of return (Prevalent in the market) on capital employed?

Solution :

$$\frac{\text{Average Estimated Annual Income} \times 100}{\text{Rate of Return}} = \text{Amount of Capitalisation}$$

$$\frac{\text{Average Estimated Annual Income} \times 100}{15} = 60,00,000$$

$$\text{Average Estimated Annual Income} = \frac{60,00,000 \times 15}{100} = \text{Rs. } 9,00,000$$

NOTES

$$C = \frac{i}{r}$$

where, C = Total Capitalisation

i = Annual Income of Earnings

r = Current rate of Capitalisation

$$60,00,000 = \frac{i}{15\%}$$

$$60,00,000 \times 15\% = i$$

i = Rs. 9,00,000

Illustration 2.

प्रस्तावित कम्पनी की सम्भावित वार्षिक आय का पूर्वानुमान 90,000 रु. का लगाया गया है। बाजार में उसी प्रकार की अन्य विद्यमान कम्पनियों में पूँजीकरण की दर 12.5 प्रतिशत है, तो बतलाइए कि प्रस्तावित कम्पनी की पूँजीकरण किस राशि पर किया जाना चाहिए ?

The probable annual earnings of a proposed company have been estimated to be Rs. 90,000. The rate of capitalisation for similar existing companies in the market is 12.5%. What should be the total amount of capitalisation for the proposed company?

Solution :

Amount of Capitalisation

$$= \frac{\text{Average Estimated Annual Income (After Tax)} \times 100}{\text{Rate of Return}}$$

$$= \frac{90,000 \times 100}{12.5}$$

= Rs. 7,20,000

वैकल्पिक सूत्र :

$$C = \frac{i}{r}$$

where, C = Total Capitalisation

i = Annual Income of Earnings

r = Percentage Rate of Capitalisation in the Market.

$$C = \frac{90,000}{\frac{12.5}{100}} = \frac{90,000 \times 100}{12.5} = \text{Rs. } 7,20,000$$

Illustration 3.

एक कम्पनी ने पिछले 5 वर्षों में कुल लाभ निम्न प्रकार अर्जित किया–

A company have earned the following total profit in the last five years :

	Rs.
2001	25,000
2002	15,000
2003	10,000
2004	40,000
2005	50,000

व्यापारिक लाभ पर 40% कर काटा जाता है। पूँजीकरण की राशि ज्ञात कीजिये यदि इसी प्रकार की अन्य संस्थाओं में $12\frac{1}{2}\%$ प्रत्याय प्राप्त हो रहा है।

Tax is deducted @ 40% on trading profit. Find out the amount of capitalization, if the rate of return earned on investment by the similar type of companies is $12\frac{1}{2}\%$.

Solution :

प्रश्न में 2001 से 2003 तक कमी की प्रवृत्ति रही है तथा 2004 से वृद्धि की प्रवृत्ति बनी है। अत: इसका औसत निकालना उपयुक्त नहीं रहेगा। अत: वृद्धि की प्रवृत्ति मानते हुए 2004 एवं 2005 को ध्यान में रखते हुए 45,000 रु. कुल औसत लाभ माना जा सकता है। अत:

$$\text{Estimated Average Annual Income (after tax)} = \frac{45,000 \times 60}{100}$$
$$= \text{Rs. } 27,000$$

Amount of Capitalization

$$= \frac{\text{Estimated Average Annual Income (after tax)} \times 100}{\text{Rate of Return}}$$
$$= \frac{27,000 \times 100 \times 2}{25} = \text{Rs. } 2,16,000$$

Illustration 4.

एक्स कम्पनी लिमिटेड ने पिछले 6 वर्षों में क्रमश: 26,000 रु., 25,000 रु., 27,000 रु. 25,750 रु., 26,500 रु. एवं 15,000 रु. का लाभ अर्जित किया है। प्रत्येक वर्ष के लाभ पर कम्पनी 30% कर का भुगतान करती है। तृतीय वर्ष के लाभ में 500 रु. विनियोगों की बिक्री से प्राप्त लाभ के शामिल हैं, जबकि छठवें वर्ष में तालाबन्दी के कारण 8 माह तक व्यापार बन्द रहा।

पूँजीकरण की राशि ज्ञात कीजिये यदि इसी प्रकार की अन्य संस्थाओं में 10% प्रत्याय प्राप्त होता रहा है।

X Co. Ltd. has earned the profit in the last six years Rs. 26,000, Rs. 25,000, Rs. 27,000, Rs. 25,750, Rs. 26,500, Rs. 15,000 respectively. Company pays 30% tax on the profit of each year. A Sum of Rs. 500 as profit on the sale of investment included in the profit of 3rd year, while in the sixth year the business remain closed till 8 months due to lock out.

Find out amount of capitalisation, if the rate of return earned on investment by the similar type of companies in 10%.

Solution :

Total Trading Profit before tax :

	Rs.
First year	26,000
Second year	25,000
Third year	26,500 (500 रु. पूँजीगत आय घटाने के पश्चात)
Fourth year	25,750
Fifth year	26,500
Sixth year	(चूँकि इस वर्ष हड़ताल होने के कारण इस वर्ष के लाभ को शामिल नहीं करेंगे)
Total Profit	**1,29,750**

$$\text{Average Profit} = \frac{1,29,750}{5} = \text{Rs. } 25,950$$

$$\text{Profit after Tax} = 25,950 - \left(\frac{25,950 \times 30}{100}\right)$$

$$25,950\text{-}7,785 = \text{Rs. } 18,165$$

$$\text{Amount of Capitalisation} = \text{Average Estimated Annual Income}$$
$$= \frac{\text{(After tax)} \times 100}{\text{Rate of Return}}$$
$$= \frac{18,165 \times 100}{10} = \text{Rs. } 1,81,650$$

Illustration 5. मैक्स लि. ने 31 दिसम्बर, 2008 को निम्न आर्थिक चिट्ठा प्रस्तुत किया–

Max. Ltd. has presented the following Balance Sheet as on 31 Dec., 2008.

	Rs.		Rs.
Share Capital (3,000 shares of Rs. 10 each)	3,00,000	Premises	2,00,000
		Machinery	80,000
General Reserve	20,000	Furniture	20,000
Surplus	10,000	Debtors	50,000
6% Debentures	12,000	Stock	40,000
Bank Loan	40,000	Cash at Bank	20,000
Creditors	20,000	Debenture Discount	2,000
B/P		10,000	
	4,12,000		**4,12,000**

कम्पनी के पूँजीकरण की चालू दर 10% है तथा तीन वर्ष का लाभ निम्न है–

The current capitalisation rate of the company is 10% and the profits for three years were as follows.

वर्ष (Year)	2006	2007	2008
लाभ रुपये (Profits Rs.)	10,000	20,000	30,000

कम्पनी की पूँजीकरण की स्थिति पर टिप्पणी कीजिए।

Comment upon the situation of capitalisation of the company.

Solution :

(i) Current Rate of Earning = 10%

(ii) Actual Rate of Earning $= \frac{\text{Actual Profit} \times 100}{\text{Capital Employed}}$

$= \frac{30,000 \times 100}{3,80,000} = 7.89\%$

Capital Employed = Total Assets – Current Liabilities

= Rs. 4,10,000 – Rs. 30,000 = Rs. 3,80,000

(iii) Book Value of the Business = Total Assets – Outside Debts

= Rs. 4,10,1000 – Rs. 82,000 = Rs. 3,28,000

(iv) Real Value of the Business $= \frac{\text{Average Profit} \times 100}{\text{Current Rate}}$

$= \frac{20,000 \times 100}{10}$ = Rs. 2,00,000

Average Profit $= \frac{10,000 + 20,000 + 30,000}{3}$

$= \frac{60,000}{3}$ = Rs. 20,000

(v) Book Value per Share $= \frac{\text{Book Value of the Business}}{\text{No. of Shares}}$

$= \frac{3,28,000}{30,000}$ = Rs. 10.93

(vi) Real Value per Share $= \frac{\text{Real Value of the Business}}{\text{No. of Shares}}$

$= \frac{2,00,000}{30,000}$ = Rs. 6.67

Current Rate of Earning 10% > Actual Rate of Earning 7.89%

Book Value of the Business > Real Value of the Business

Rs 3,28,000 Rs. 2,00,000

Book Value per share Rs. 10.93 > Real Value per share Rs. 6.67

Thus, there is Over-capitalisation in the Company.

नोट- ऋणपत्रों पर बट्टा (Debenture Discount) को कृत्रिम सम्पत्ति के कारण कुल सम्पत्तियों व विनियोजित पूँजी की गणना में शामिल नहीं किया जाता है।

Illustration 6.

कम्पनी का कुल पूँजीकरण 40 लाख रु. पर किया गया है। कम्पनी की औसत वार्षिक आय 6 लाख रु. है। बाजार में इसी प्रकार की अन्य कम्पनियों के लिए पूँजीकरण की दर 20% है। कम्पनी के विनियोगकर्ता प्रबन्धकों से यह अपेक्षा करते हैं कि वे उनकी पूँजी पर कम से कम बाजार में प्रचलित दर के बराबर प्रत्याय उपार्जित करें। उपर्युक्त दशा में बतलाइए- (i) कि क्या कम्पनी अति-पूँजीकृत है? (ii) यदि है, तो अति-पूँजीकरण की मात्रा क्या है? तथा (iii) उचित पूँजीकरण की स्थिति में लाने के लिए प्रबन्धकों द्वारा आय में कितनी वृद्धि की जानी चाहिए?

The total amount of capitalisation of the company has been fixed at Rs. 40,00,000. The average annual income of the company is Rs. 6,00,000. The rate of capitalisation in the market (for similar companies) is 20%. The investors expect a rate of return on their capital atleast equal to the market rate of capitalisation. Considering the above facts you have to answer :

(i) Is the company over-capitalised?

(ii) If so, then what is the extent of over-capitalisation?

(iii) In order to bring a state of fair-capitalisation how much increase in the annual income of the company should be aimed by the management?

Solution :

(i) Yes, the company is over-capitalised because its *real value is less than its book-value as shown below:*

$$\text{Real Value} = \frac{\text{Average Profit} \times 100}{\text{Current Rate}} = \frac{6,00,000 \times 100}{20} = \text{Rs. } 30,00,000$$

Book Value = Rs. 40,00,000 (given in the example)

There is over-capitalisation because

Real Value < Book Value

(ii) *The extent of Over-capitalisation*

Book Value - Real Value

40,00,000 – 30,00,000 = Rs. 10,00,000

(iii) *Level of income required for fair capitalisation*

$$C = \frac{i}{r}$$

$$C \times r = i$$

$$i = 40,00,000 \times 20\% = \text{Rs } 8,00,000$$

Increase to be made in existing income

= Rs. 8,00,000 – Rs. 6,00,000 = Rs. 2,00,000

Illustration 7.

कम्पनी का पूँजीकरण 80 लाख रु. पर किया गया है। कम्पनी की औसत वार्षिक आय 20 लाख रु. है। बाजार में उसी प्रकार की कम्पनियों के लिए पूँजीकरण की प्रचलित दर 20% है। ऐसी स्थिति में बतलाइए कि-

(a) क्या कम्पनी अल्प-पूँजीकृत है और यदि है तो क्यों?

(b) यदि कम्पनी अल्प-पूँजीकृत है, तो अल्प-पूँजीकरण की मात्रा क्या है ? तथा

(c) यदि कम्पनी की वित्तीय कार्य-निष्पत्ति भविष्य में भी इसी स्तर की बनी रहने की निश्चित सम्भावनाएँ हों, तो उपर्युक्त स्थिति का कम्पनी के अंशों के बाजार-मूल्यों पर क्या प्रभाव पड़ेगा ?

NOTES

The total capitalisation of the company has been made at Rs. 80 lakhs. The company's average annual earnings (before interest & tax) are Rs. 20 lakhs. The market rate of capitalisation for similar companies is 20%. Considering the above facts you have to answer:

(a) Whether the Company is under-capitalised? (giving reasons for your answer)

(b) If so what is the extent of under-capitalisation? and

(c) In case the company is sure to maintain the existing level of its financial performance in future also, then what will be the impact of the above condition on the market value of its shares?

Solution :

(a) *Is the company under-capitalised?*

Yes, the company is under-capitalised because its Real Value > Book Value as shown below :

$$\text{Real Value} = \frac{\text{Average Profit} \times 100}{\text{Current Rate}} = \frac{20,00,000 \times 100}{20}$$

$$= \text{Rs. } 100,00,000$$

Book Value = Rs. 80,00,000 (as given)

∴ The company is under-capitalised.

(b) *The extent of Under-capitalisation*

Real Value	1,00,00,000
Book Value	80,00,000
	Rs. 20,00,000

(c) *In case the future grwoth prospects of the company seem to be good, its shares will sell in the market much above their par values.*

Illustration 8.

सिंह मेटल लि. का 31 मार्च, 2008 को निम्न आर्थिक चिट्ठा प्रस्तुत कीजिए–

Singh Metal Ltd. has presented the following Balance Sheet as on 31st March, 2008.

Share capital		Goodwill	1,00,000
(50,000 Shares of		Building	2,50,000
Rs. 10 each)	5,00,000	Machinery	1,55,000
General Reserve	1,00,000	Furniture	25,000
Profit and Loss A/c	90,000	Stock	77,000
8% Debentures	65,000	Debtors	45,000
Bank Loan	50,000	Cash at Bank	1,87,000
Creditors	10,000	Cash in hand	24,000
Bills Payable	35,000	Underwriting Commission	7,000
Outstanding Wages	15,000	Preliminary Expenses	5,000
Tax Liability	10,000	Discount on Issue of Debentures	25,000
Managing Director's Remuneration	25,000		
	9,00,000		**9,00,000**

कम्पनी के पूँजीकरण की दर 10% है तथा तीन वर्षों का लाभ निम्न है–

The current capitalisation rate of the company is 10% and the profits for 3 years were as follows :

वर्ष (Year)	2006	2007	2008
लाभ (रुपये में) (Profits in Rs.)	50,000	75,000	1,00,000

कम्पनी की पूँजीकरण की स्थिति बताइये।

Comment on capitalisation of the company

Solution :

(i) Actual Rate of Return $= \frac{\text{Actual Profit} \times 100}{\text{Capital Employed}}$

$= \frac{1,00,000 \times 100}{7,68,000} = 13.02\%$

Capital Employed = Total Assets – Current Liabilities

= 8,63,000 – 95,000 = Rs. 7,68,000

(ii) Current Rate of Return = 10%

(iii) Real Value of Business $= \frac{\text{Average Profit} \times 100}{\text{Current Rate}}$

$= \frac{75,000 \times 100}{10} = \text{Rs. } 7,50,000$

Average Profit $= \frac{50,000 + 75,000 + 1,00,000}{3} = \text{Rs. } 75,000$

(iv) Book Value of Business = Total Assets – Outside Liabilities

= 8,63,000 - 2,10,000 = Rs. 6,53,000

Total Asset 9,00,000 – (7,000 + 5,000 + 25,000) = 8,63,000

Current Liabilities = 10,000 + 35,000 + 15,000 + 10,000 + 25,000 = 95,000

Outside Liabilities

= 65,000 + 50,000 + 10,000 + 35,000 + 15,000 + 10,000 + 25,000

= 2,10,000

(v) Real Value per Share $= \frac{\text{Real Value of Business}}{\text{No. of Shares}}$

$= \frac{7,50,000}{50,000} = \text{Rs. } 15$

(vi) Book Value per Share $= \frac{\text{Book Value of Business}}{\text{No. of Shares}}$

$= \frac{6,53,000}{50,000} = \text{Rs. } 13.06$

(i) Actual Rate of Return (ii) Current Rate of Return

13.02% > 10%

(iii) Real Value of Business (iv) Book Value of the Business

Rs. 7,50,000 > Rs. 6,53,000

(v) Real Value per Share (vi) Book Value per Share

Rs. 15 > Rs. 13.06

Comments : Thus, there is under-capitalisation in the company.

Illustration 9.

नर्मदा लि. का 31 दिसम्बर 2008 को निम्न चिट्ठा है–

The Balance Sheet of Narmada Ltd. as on 31st Dec., 2008 is given below

	Rs.		Rs.
Share Capital		Cash in hand	2,000
(300 Shares of Rs. 100 each)	30,000	Building	11,000
Reserve and Surplus	2,000	Debtors	27,000
Bank Overdraft	8,000	Preliminary Expenses	2,000
Current Obligations	10,000	Goodwill	8,000
	50,000		**50,000**

यदि नर्मदा लि. का औसत लाभ 4,000 रुपये है तथा चालू प्रत्याय दर 8% है, तो बताइए कि पूँजीकरण की क्या स्थिति है ?

If the average profit of Narmada Ltd. is Rs. 4,000 and current rate of return is 8%, comment upon the situation of capitalisation.

Solution :

(i) Current Rate of Return = 8%

(ii) Actual Rate of Return $= \frac{\text{Average Profit} \times 100}{\text{Capital Employed}}$

Actual Rate of Return $= \frac{4,000 \times 100}{30,000} = 13.33\%$

Capital Employed = Total Assets – Current Liabilities

= Rs. 48,000 – Rs. 18,000 = Rs. 30,000

(iii) Book Value of the Business = Total Assets - Outside Liabilities

= Rs. 48,000 – Rs. 18,000 = Rs. 30,000

(iv) Real Value of the Business $= \frac{\text{Average Profit} \times 100}{\text{Current Rate}}$

$= \frac{4,000 \times 100}{8}$ Rs. 50,000

(v) Book Value per Share $= \frac{\text{Book Value of the Business}}{\text{No. of Shares}}$

$= \frac{30,000}{300} =$ Rs. 100

(iv) Real Value per Share $= \frac{\text{Real Value of the Business}}{\text{No. of Shares}}$

$= \frac{50,000}{300} =$ Rs. 166.66

Current Rate of Return 8% < Actual Rate of Return 13.33%

Book Value of the Business < Real Value of the Business

Rs. 30,000 Rs. 50,000

Book Value per share Rs. 100 < Real Value per share Rs. 166.7

Thus, there is under-capitalisation in the Narmada Ltd.

Illustration : 10.

तीन कम्पनियाँ जिनके चिट्ठे निम्न प्रकार दिये गये हैं, एक समान व्यापार करती हैं। आप प्रत्येक कम्पनी की पूँजीकरण की स्थिति के बारे में अपना मत प्रकट कीजिए।

Three companies, whose Balance Sheet are summarised below; are engaged in a similar business. Comment upon the capitalisation of each company:

	Company x	Company y	Company z
Share Capital (Rs. 10 each)	6,00,000	10,00,000	12,60,000
Reserves and surplus	3,00,000	2,00,000	3,00,000
Current Liabilities	1,80,000	1,50,000	2,40,000
	10,80,000	**13,50,000**	**17,40,000**
Sundry Assets	10,80,000	13,50,000	17,40,000
Average Profit	1,08,000	1,35,000	1,89,000
Current Rate	12%	12%	12%

Solution : **Statement**

	Company x	*Company y*	*Company z*
1. Actual Rate of Return	$\frac{10,80,000 \times 100}{9,00,000}$ = 12%	$\frac{1,35,000 \times 100}{12,00,000}$ = 11.25%	$\frac{1,89,000 \times 100}{15,00,000}$ = 12.6%
2. Current Rate of Return	12%	12%	12%
3. Real Value of Business	$\frac{108,000 \times 100}{12}$ = Rs. 9,00,000	$\frac{1,35,000 \times 100}{12}$ = Rs. 11,25,000	$\frac{1,89,000 \times 100}{12}$ = Rs. 15,75,000
4. Book Value of Business	9,00,000	12,00,000	15,00,000
5. Real Value per Share	$\frac{9,00,000}{60,000}$ = Rs. 15	$\frac{11,25,000}{1,00,000}$ = Rs. 11.25	$\frac{15,75,000}{1,20,000}$ = Rs. 13.125
6. Book Value per Share	$\frac{9,00,000}{60,000}$ = Rs. 15	$\frac{12,00,000}{1,00,000}$ = Rs. 12.00	$\frac{15,00,000}{1,20,000}$ = Rs. 12.50
Capitalisation Situation	Fair Capitalisation	Over-capitalisation	Under-capitalisation

Illustration 11. गुप्ता तथा शर्मा की कम्पनियों का चिट्ठा निम्न प्रकार से दिया है जो समान व्यवसाय करती हैं। इन कम्पनियों के पूँजीकरण की स्थिति बताइये–

The Balance Sheet of Gupta Co. and Sharma Co. are given below which are engaged in similar business. Comment upon the capitalisation of each company:

Balance Sheet (as on 30th June, 2008)

	Gupta Rs.	*Sharma Rs.*		*Gupta Rs.*	*Sharma Rs.*
Share Capital	6,00,000	9,00,000	Premises	4,00,000	6,00,000
Reserve & Surplus	1,80,000	1,60,000	Plant & Machinery	1,50,000	1,50,000
Creditors	80,00	1,00,000	Debtors	1,10,000	1,50,000
B/P	25,000	20,000	Stock	90,000	1,60,000
Outstanding Exp.	15,000	20,000	Cash at Bank	1,20,000	1,00,000
			Preliminary Exp.	30,000	40,000
	9,00,000	**12,00,000**		**9,00,000**	**12,00,000**

अन्य सूचनाएँ–गुप्ता कम्पनी की औसत वार्षिक आय 75,000 रुपये तथा प्रत्याय की सामान्य दर 8% है तथा शर्मा कम्पनी की औसत वार्षिक आय 1,50,000 रुपये तथा प्रत्याय की सामान्य दर 5% है।

Other Informations- The average annual earning of Gupta Company is Rs. 75,000 and normal rate of return is 8% and Sharma Co. Rs. 1,50,000 and 15% respectively.

Solution .

NOTES

(i) Normal Rate (Current Rate)

Gupta Co. = 8%

Sharma Co. = 15%

(ii) Actual Rate of Return $= \frac{\text{Average Profit} \times 100}{\text{Capital Employed}}$

Gupta Co. $= \frac{75{,}000 \times 100}{7{,}50{,}000} = 10\%$

Sharma Co. $= \frac{1{,}50{,}000 \times 100}{10{,}20{,}000} = 14.7\%$

Capital Employed = Total Assets - Current Liabilities

Gupta Co. = Rs. 8,70,000 - Rs. 1,20,000

= Rs. 7,50,000

Sharma Co. = Rs. 11,60,000 – Rs. 1,40,000

= Rs. 10,20,000

(iii) Book value of the Business = Total Assets – Outside Debts

Gupta Co. = Rs. 8,70,000 – Rs. 1,20,000

= Rs. 7,50,000

Sharma Co. = Rs. 11,60,000 – Rs. 1,40,000

= Rs. 10,20,000

(iv) Real Value of the Business $= \frac{\text{Average Profit} \times 100}{\text{Current Rate}}$

Gupta Co. $= \frac{75{,}000 \times 100}{8} = 9{,}37{,}500$

Sharma Co. $= \frac{1{,}50{,}000 \times 100}{15} =$ Rs. 10,00,000

In Case of Gupta Co.

Normal Rate 8% < Actual Rate of Return 10%

Book Value of Business Rs. 7,50,000 < Real Value of Business Rs. 9,37,500

Thus, there is under-capitalisation in Gupta Co.

In Case of Sharma Co.

Normal Rate 15% > Actual Rate of Return 14.7%

Book Value of Business Rs. 10,20,000 > Real Value of Business Rs. 10,00,000

Thus there is over-capitalisation in Sharma Co.

प्रश्न
(QUESTIONS)

1. उचित पूँजीकरण से क्या आशय है ?
2. अति पूँजीकरण से क्या आशय है ?
3. अल्प पूँजीकरण क्या है ?
4. पूँजीकरण क्या है ?
5. सुदृढ़ वित्तीय नियोजन की दो प्रमुख विशेषताएँ क्या हैं ?

6. वित्तीय नियोजन को परिभाषा दीजिए
7. एक सुदृढ़ वित्तीय योजना की प्रमुख विशेषताएँ क्या हैं ? इसे प्रभावित करने वाले प्रमुख तत्व बताइए।
8. पूँजीकरण के लागत सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए। किन परिस्थितियों में यह सिद्धान्त अधिक उपयोगी होता है ?
9. "अति-पूँजीकरण' एवं 'अल्प-पूँजीकरण' दोनों ही अवांछनीय हैं, किन्तु इन दोनों में अति-पूँजीकरण की स्थिति अधिक घातक एवं जोखिमपूर्ण होती है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।
10. 'पूँजीकरण' शब्द से आप क्या समझते हैं ? किसी नयी स्थापित की जाने वाली कम्पनी के लिए पूँजीकरण का निर्धारण आप किस प्रकार करेंगे।
11. "अल्प-पूँजीकरण, अति-पूँजीकरण की ओर ले जाता है।" क्या आप इस कथन से सहमत हैं ? कारण सहित लिखिए
12. किसी प्रस्तावित कम्पनी की कुल पूँजीकरण की सीमा किस प्रकार निर्धारित करेंगे ? इस सन्दर्भ में पूँजीकरण के पूँजीकृत आय के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।

व्यावहारिक प्रश्न
(Practical Questions)

1. एक्स लि. द्वारा दिसम्बर 2008 को निम्न चिट्ठा प्रस्तुत किया गया है–

	Rs.		Rs.
अंश पूँजी (Share Capital)		विविध सम्पत्तियाँ	
20 रु. प्रत्येक के 10,000 अंश	2,00,000	(Sundry Assets)	4,00,000
(10,000 Share of Rs. 20 each)			
संचय तथा बचत	1,50,000		
(Reserves & Surplus)			
चालू बन्धन (Current obligation)	50,000		
Rs. (रु.)	4,00,000	Rs. (रु.)	4,00,000

यदि एक्स लि. का औसत लाभ 40,000 रु. है और पूँजीकरण की चालू दर 8% हो तो पूँजीकरण की स्थिति क्या है ?

(Ans. Actual Rate of Return = 11.4%, Capital Employed/Book Value of Business Rs. 3,50,000, Real Value of Business = Rs. 5,00,000, Book Value of Share = Rs. 35; Real Value per share = Rs. 50 Hence under-capitalisation)

2. विजय कं. लिमिटेड का 31 मार्च, 2008 को चिट्ठा निम्न प्रकार था–

Balance Sheet (as on 31st March, 2008)

	Rs.		Rs.
Equity Share Capital		Goodwill	75,000
(1,00,000 Share @		Machinery	65,000
Rs. 10 each)	10,00,000	Furniture	4,35,000
Reserves and Surplus	85,000	Debtors	3,75,000
Bank Loan	80,000	Bills Receivable	50,000
Creditors	14,500	Closing Stock	1,50,000
Bills Payable	7,500	Preliminary Expenses	43,200
Unclaimed Dividend	5,000		
Outstanding Salaries	1,200		
	11,93,200		11,93,200

कम्पनी का औसत लाभ 2,00,000 रु. है तथा इसी प्रकार की अन्य कम्पनियाँ अपनी विनियोजित पूँजी पर लाभ प्राप्त करती हैं तो बताइये कि क्या यह कम्पनी अति-पूँजीकरण की स्थिति में है ?

(Ans. There is over capitalisation in the company)

3. 31 दिसम्बर 2008 को संजय कम्पनी का चिट्ठा निम्न प्रकार है–

	Rs.		Rs.
Share Capital		Sundry Assets	30,00,000
20,000 Shares of Rs. 100 each	20,00,000		
Reserves and Surplus	7,00,000		
Current Liabilities	3,00,000		
	30,00,000		**30,00,000**

यदि संजय कम्पनी का औसत लाभ 20,000 रु. वार्षिक है तथा इसी प्रकार की अन्य कम्पनियाँ अपनी विनियोजित पूँजी पर 10% लाभ प्राप्त करती हैं, तो बताइए कि क्या यह कम्पनी अति-पूँजीकरण की स्थिति में है ?

(**Ans.** There is over capitalisation in the company)

: **Balance Sheet of Agarwal & Co.**

(as on 31st March, 2008)

Liabilities	*Amount*	*Assets*	*Amount*
Share Capital (paid up)		Fixed Assets	2,00,000
20,000 Equity Shares of Rs. 10 each	2,00,000	Debtors	60,000
Reserves and Surplus	1,06,000	Stock	50,000
Creditors	16,000	Cash at Bank	30,000
Bills Payable	20,000	Preliminary Expenses	6,000
Unclaimed Dividend	4,000		
	3,46,000		**3,46,000**

यदि कम्पनी का पिछले 10 वर्षों का औसत लाभ 20,000 रुपये है तो इसी तरह के व्यवसाय में औसत वार्षिक प्रत्याय की दर 8% है, तो पूँजीकरण की स्थिति बताइये।

(**Ans.** There is over capitalisation in the company)

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

NOTES

6

पूँजी ढाँचा
(CAPITAL STRUCTURE)

पूँजी ढाँचा से आशय (Meaning of Capital Structure) - पूँजीकरण मे आशय पूँजी की मात्रा को निश्चित करने से है, जबकि पूँजी संरचना से आशय पूँजी के विभिन्न स्वरूपों को निश्चित करने से है। पूँजीकरण एवं पूँजी संरचना दोनों ही वित्तीय योजना के दो अंग हैं।

प्रायः कम्पनियों में साधारण अंश पूँजी, पूर्वाधिकार अंशों एवं ऋणपत्रों के आधार पर दीर्घकालीन पूँजी की व्यवस्था की जाती है। पूँजी की रचना किस अनुपात में की जानी चाहिए इसी का पूँजी ढाँचे में अध्ययन किया जाता है।

पूँजी ढाँचे में स्वामित्व पूँजी, पूर्वाधिकार अंशपूँजी तथा दीर्घकालीन ऋण-पूँजी सम्मिलित की जाती है। इसमें यह ज्ञात किया जाता है कि दीर्घकालीन पूँजी किन-किन साधनों के द्वारा तथा किस-किस अनुपात में प्राप्त की गयी है।

परिभाषाएँ –

(1) **आई.एम.पाण्डे** – पूँजी संरचना में दीर्घकालीन वित्तीय साधन जैसे ऋणपत्रों, दीर्घकालीन ऋण, पूर्वाधिकार अंश पूँजी, आरक्षित राशि एवं अधिशेषों को सम्मिलित किया जाता है।[1]

(2) **आर.एच.वैसिल** – "पूँजी संरचना का प्रयोग एक व्यावसायिक उपक्रम में विनियोजित कोषों के दीर्घकालीन स्रोतों को इंगित करने में किया जाता है।"[2]

(3) **वैस्टन व ब्राइघम** – "पूँजी संरचना किसी फर्म का स्थायी वित्त प्रावधान है जो दीर्घकालीन ऋणों, पूर्वाधिकार अंशों एवं शुद्ध मूल्य से प्रदर्शित होता है।"[3]

अनुकूलतम पूँजी के गुण
(Optimum Capital Structure)

अनुकूलतम पूँजी ढाँचे में निम्नलिखित गुणों का होना आवश्यक है –

(1) **अधिकतम नियन्त्रण** (Maximisation of Control) – कम्पनी का नियन्त्रण साधारण अंशधारियों (Equity Shareholders) के हाथों में रहता है क्योंकि मतदान का अधिकार इनको ही प्राप्त होता है। अधिमान्य अंशधारियों एवं ऋणपत्रधारियों को ऐसा कोई अधिकार सामान्यतः प्राप्त नहीं होता है। यही कारण है कि नये इक्विटी-अंशों का निर्गमन **राइट्स अंशों** (Right Shares) के आधार पर पुराने अंशधारियों को उनके द्वारा धारित अंशों के अनुपात में किया जाता है जिससे कि उनकी **मतदान शक्ति** (Voting Power) यथावत बनी रहे।

(2) **न्यूनतम जोखिम** (Minimisation of Risks) – व्यवसाय में अनेक प्रकार के जोखिम सदैव विद्यमान रहते हैं, जैसे - करों में वृद्धि, मूल्यों में कमी, ब्याज की दरों में वृद्धि आदि। इन जोखिमों का कम्पनी की आय पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। अतः कम्पनी का पूँजी-ढाँचा इस प्रकार का होना चाहिए जिससे इन जोखिमों के बोझ को सहजता से सहन किया जा सके। विशेष रूप से व्यावसायिक जोखिम (Business Risk) एवं वित्तीय जोखिम (Financial Risk) से बचाव के लिए पूँजी-ढाँचे में समुचित व्यवस्था की जानी चाहिए।

(3) **अधिकतम लाभ** (Maximisation of Return) - किसी कम्पनी के लिए सर्वोत्तम या आदर्श पूँजी-ढाँचा वह होगा जिसके आधार पर कम्पनी को लाभदायकता (Profitability) में अधिकतम वृद्धि होती हो। वैसे लाभदायकता का सम्बन्ध पूँजी-ढाँचे का सम्बन्ध है न्यूनतम लागत पर प्राप्त की गयी पूँजी लाभ में वृद्धि कर देगी, साथ ही समय पर पर्याप्त पूँजी साधनों की सुविधा अनेक प्रकार के अपव्ययों को रोककर बचत में वृद्धि कर सकेगी।

(4) **न्यूनतम लागत** (Minimisation of Costs) – पूँजी उपलब्धि के विभिन्न साधनों की लागत समान नहीं होती है। कुछ साधनों से पूँजी प्राप्त करने में लागत अधिक एवं अन्य साधनों से पूँजी प्राप्त करने में कम लागत होती है, अतः पूँजी मिश्रण (Capital Mix) ऐसा होना चाहिए जिसे प्राप्त करने और व्यवसाय में प्रयोग में लाने की लागत न्यूनतम हो। **पूँजी की भारयुक्त औसत लागत** (Weighted Average Cost of Capital) के आधार पर इसे निर्धारित

किया जा सकता है। यह लागत वस्तुतः पूँजी के महँगे एवं सस्ते साधनों की एक औसत लागत का परिचायक होती है।

NOTES

(5) **तरलता** (Liquidity) - स्थिर सम्पत्ति एवं तरल सम्पत्तियों में क्या अनुपात रखा जाये, यह प्रत्येक व्यवसाय की प्रकृति एवं प्रत्येक कम्पनी के आकार आदि कई परिवर्तनशील तत्वों पर निर्भर होता है। तरल सम्पत्तियों से यहाँ आशय चल-सम्पत्तियों से है किन्तु सही अर्थों में तरल सम्पत्तियों में रोकड़, बैंक में जमा राशियाँ, चालू विनियोग तथा प्राप्तियों (Receivables) को सम्मिलित किया जाता है। आवश्यकता से अधिक तरलता (Liquidity), शोधनक्षमता (Solvency) में वृद्धि करके जोखिम (Risk) को कम करती है किन्तु साथ ही इससे लाभदायक (Profitability) में कमी हो जायेगी। इसके विपरीत, आवश्यकता से कम तरलता शोधनक्षमता कम करके जोखिम को बढ़ा देती है किन्तु साथ ही यह लाभदायकता में वृद्धि कर सकती है। अतः तरल साधनों में कोषों के विनियोग को उचित सीमा में बनाये रखना आवश्यक होता है।

(6) **पूर्ण उपयोगिता** (Full Utilisation) – पूँजी की मात्रा एवं वित्तीय आवश्यकताओं में पूर्ण सामंजस्य होने पर ही पूँजी का अधिकतम उपयोग सम्भव हो सकता है। अपर्याप्त पूँजीकरण अथवा आवश्यकता से अधिक पूँजीकरण दोनों ही अवांछनीय हैं। पूँजी के जलयुक्त (Watered) हो जाने पर भी उसकी उपयोगिता कम हो जाती है। अतः पूर्ण उपयोगिता के लिए उचित पूँजीकरण (Fair Capitalisation) अनिवार्य है। इस विषय को पिछले अध्याय में विस्तार से समझाया जा चुका है।

(7) **लोचपूर्णता** (Flexibility) – वित्तीय योजनाकरण एक तात्कालिक व्यवस्था न होकर एक दीर्घकालीन व्यवस्था है। अतः कम्पनी के सीमानियमों के उद्देश्य खण्ड (Objects Clause) में उल्लिखित विभिन्न उद्देश्यों को ध्यान में रखकर ही इसे अन्तिम रूप दिया जाना चाहिए। तात्कालिक आवश्यकताओं को लोचपूर्णता का अभिप्राय यहाँ दीर्घकाल में व्यवसाय की बढ़ती अथवा घटती हुई आवश्यकताओं के अनुरूप पूँजी-ढाँचे में समायोजन से है अर्थात् यदि कुछ वर्षों बाद व्यवसाय के विस्तार के लिए पूँजी की आवश्यकता हो तो उसे सुविधापूर्वक उपलब्ध करने की सम्भावनाओं का वित्तीय योजना में समावेश हो अथवा यदि कम पूँजी की आवश्यकता प्रतीत हो तो वित्तीय-योजना ऐसी हो कि उसे घटाया जा सके।

(8) **सरलता** (Simplicity) – प्रबन्ध की सुविधा को ध्यान में रखते हुए वित्तीय ढाँचे को सरल रूप दिया जाना चाहिए। प्रारम्भ से ही यदि योजना जटिल होगी तो भविष्य में अतिरिक्त पूँजी की व्यवस्था सरलता से न की जा सकेगी। यदि आरम्भ में ही कई प्रकार की प्रतिभूतियों को निर्गमित करके पूँजी की व्यवस्था की जाती है, तो इससे विनियोक्ताओं में प्रस्तावित योजना के प्रति सन्देह उत्पन्न हो जाता है। अतः आरम्भ में केवल सामान्य अंशों (Equity Shares) और यदि आवश्यक हो तो उनके साथ-साथ अधिमान्य अंशों (Preference Shares) का निर्गमन उचित होगा। ऋणपत्रों या बन्धपत्रों के निर्गमन को आगे आवश्यकतानुसार सुरक्षित रखा जाना उचित हो सकता है।

पूँजी संरचना को प्रभावित करने वाले तत्व
(Factors Affecting Capital Structure)

एक कम्पनी की पूँजी संरचना को प्रभावित करने वाले तत्व निम्नलिखित हो सकते हैं -

(1) **विनियोजकों की प्रकृति मनोविज्ञान** (Psychology of Investors) – सब विनियोक्ता समान नहीं होते। कुछ लोगों के पास विनियोग के लिए अधिक पूँजी होती है, जबकि कुछ के पास कम। फिर सब की प्रकृति एवं धारणाएँ भी समान नहीं होतीं। कुछ विनियोक्ता साहसी होते हैं एवं जोखिम उठाने को तत्पर हो जाते हैं, जबकि अन्य सतर्क होते हैं तथा धन की सुरक्षा एवं निश्चित गारण्टी चाहते हैं। अतः विभिन्न विनियोक्ताओं की माँग के स्वरूप में भी भिन्नता होती है।

(2) **पूँजी बाजार की दशाएँ** (Capital Market Conditions) – मन्दी की दशाओं में जब लाभांश की दरें कम होती हैं तो लाभ की सम्भावनाएँ अनिश्चित होती हैं, तब साधारण अंशों की अपेक्षा ऋणपत्र अधिक लोकप्रिय होते हैं। यह समय ऋणपत्रों के निर्गमन के लिए अनुकूल होता है। इसके विपरीत, तेजी के काल में जब लाभ की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं तो ऋणपत्रों के बजाय साधारण अंशों की माँग अधिक बढ़ जाती है।

(3) **सरकारी नीति** (Government Policy) – वित्तीय योजना को तैयार करते समय सरकारी नीतियों, वित्त नियन्त्रणों तथा अन्य अधिनियमों का ध्यान रखना चाहिए।

(4) **प्रबन्धकों का दृष्टिकोण** (Attitude of Managers) – यदि प्रबन्धक संस्था का नियन्त्रण अपने हाथों में केन्द्रित करना चाहता है तो समता अंश जनता को कम-से-कम निर्गमित करेगा अथवा अंशों को निर्गमित करने के बाद उन्हें स्वयं क्रय कर लेगा और बाद में विस्तार आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ऋण लेगा या लाभों का पुनर्विनियोजन करेगा।

(5) **लोच** (Flexibility) – वित्तीय योजनाओं में पर्याप्त लोच रखी जानी चाहिए। वित्तीय योजना का निर्माण केवल वर्तमान आवश्यकताओं को ही ध्यान में रखकर नहीं किया जाता। इसमें भविष्य की विस्तार योजनाओं का भी ध्यान रखा जाता है।

(6) **व्यवसाय की आय** (Income of Business) – सभी व्यवसायों में आय की सम्भावना एक जैसी नहीं होती। कुछ व्यवसायों में आय की सम्भावना निश्चित, नियमित एवं स्पष्ट होती है जबकि कुछ अन्य व्यवसायों में आय की सम्भावनायें अनिश्चित एवं अनियमित होती हैं।

(7) **पूँजी की लागत** (Cost of Capital) - पूँजी-ढाँचे के निर्माण में पूँजी की लागत पर विचार करना बहुत आवश्यक होता है। पूँजी के सभी साधनों की लागत समान नहीं होती है। कुछ साधन अपेक्षाकृत सस्ते होते हैं तो कुछ साधन महँगे होते हैं। अतः पूँजी-ढाँचे का निर्माण करते समय पूँजी के सस्ते एवं महँगे साधनों का ऐसा मिश्रण (Mix) अपनाया जाता है जिससे कि कुल पूँजी की औसत लागत (Average Cost of Capital) एक निश्चित काट-बिन्दु (Cut-off Point) से अधिक न बढ़े।

(8) **जोखिम की मात्रा** (Amount of Risks) – व्यवसाय की अनिश्चितता व जोखिम भी वित्तीय योजना के प्रारूप को प्रभावित करती है। अधिक जोखिम वाले व्यवसाय स्वामी पूँजी पर अधिक आश्रित रहते हैं। इसके विपरीत कम पूँजी वाले व्यवसाय ऋण पूँजी पर निर्भर करते हैं।

(9) **व्यवसाय की स्थिति एवं आकार** (Status and Size of Business) – व्यवसाय के आकार पर पूँजी की मात्रा निर्भर करती है। छोटे आकार वाले व्यवसाय में कम पूँजी की आवश्यकता होती है, जबकि बड़े आकार वाले व्यवसाय में अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है।

(10) **व्यवसाय की प्रकृति** (Nature of Business) – किसी नवीन प्रवर्तित उपक्रम में पूँजी के स्वरूप को निर्धारित करने पर व्यवसाय की प्रकृति का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। कुछ व्यवसाय ऐसे होते हैं जिनमें उत्पादन एवं विक्रय निरन्तर वर्षपर्यन्त होता रहता है। इसके विपरीत, कतिपय अन्य व्यवसाय मौसमी प्रकृति (Seasonal Nature) के होते हैं। अतः पूँजी-ढाँचा इस प्रकार का होना चाहिए कि मौसम के अनुसार पूँजी में आवश्यक नियोजन किया जा सके।

पूँजी-ढाँचा एवं प्रबन्धकीय नीतियाँ
(Capital Structure and Managerial Policies)

पूँजी-ढाँचे के निर्माण में सबसे महत्वपूर्ण निर्णय स्वामी पूँजी (Owned Capital) तथा ऋण पूँजी (Debt Capital) के पारस्परिक अनुपात को निर्धारित करने के बारे में होता है। इस सम्बन्ध में निर्णय लेने के लिये मुख्य रूप से प्रबन्धकों को निम्न बातों पर ध्यान रखना चाहिए-

(1) समता पर व्यापार (Trading on Equity),

(2) पूँजी मिलान अथवा पूँजी दन्तिकरण (Capital Gearing),

(3) ऋण पूँजी अनुपात (Debt Equity Ratio),

(4) पूँजी की लागत (Cost of Capital)

(1) **समता पर व्यापार** (Trading on Equity) – जब किसी व्यवसाय का संचालन स्वामि-पूँजी (Owned Capital) की अपेक्षा अधिक अनुपात में ऋण-पूँजी (Borrowed Capital) के आधार पर किया जाता है तो इस क्रिया को ट्रेडिंग ऑन इक्विटी (Trading of Equity) कहा जाता है। कई कम्पनियों के संस्थापक वित्तीय ढाँचे का गठन इस प्रकार से करते हैं कि उसमें सामान्य अंश-पूँजी (Equity Capital) का अनुपात कुल पूँजीकरण की तुलना में बहुत कम होता है। यह नीति मुख्यतः निम्नलिखित तीन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अपनायी जाती है –

(i) न्यूनतम स्वामि-पूँजी के सहारे यथासम्भव अधिक ऋण लेकर अधिक वित्तीय साधनों पर नियन्त्रण प्राप्त करना;

(ii) साधारण अंश-पूँजी पर लाभांश की दर में वृद्धि के लिए और

(iii) स्वयं तथा अपने मित्रों के एक छोटे समूह के हाथों में मतदान शक्ति को केन्द्रित रखने के लिए, ताकि व्यवसाय का सामान्य नियन्त्रण उनके हाथों में रहे।

एकाकी व्यापारी, साझेदारी एवं कम्पनी संगठन तीनों में ही निजी पूँजी के साथ-साथ ऋणों के सहारे भी व्यापार संचालित किया जाता है किन्तु स्वयं की थोड़ी पूँजी का निवेश करके पूँजीकरण का शेष भाग दीर्घकालीन ऋणों द्वारा पूरा किये जाने का उद्देश्य साधारण अंश-पूँजी पर लाभांश की दर में वृद्धि करना हो तो इस नीति को ट्रेडिंग ऑन इक्विटी (Trading on Equity) ही कहा जायेगा।

Illustration 1.

NOTES

मान लीजिए कि 'अ' एवं 'ब' कम्पनियाँ हैं। दोनों में पूँजीकरण की मात्रा समान है किन्तु उनके पूँजी-ढाँचे भिन्न हैं। 'अ' कम्पनी में दस-दस रुपये मूल्य के (पूर्णतः चुकता) एक लाख इक्विटी अंश हैं तथा ऋण-पूँजी नहीं है। 'ब' कम्पनी में दस-दस रुपये मूल्य के (पूर्णतः चुकता) चालीस हजार इक्विटी अंश तथा सौ-सौ रुपये मूल्य के छह हजार ऋणपत्र हैं जिन पर 15 प्रतिशत ब्याज प्रतिवर्ष देय है। कुल पूँजी पर दोनों कम्पनियाँ ब्याज एवं कर घटाने से पूर्व (Before Interest & Tax) बीस प्रतिशत आय उपार्जित करती हैं। कर की दर दोनों कम्पनियों के लिए 50 प्रतिशत है। स्वामि-पूँजी पर विशुद्ध-लाभ की दर दोनों कम्पनियों में क्या होगी ?

		'अ' कम्पनी	'ब' कम्पनी
1.	Equity Capital	10,00,000	4,00,000
2.	Debentures	Nil	6,00,000
3.	Total Capitalisation Rs.	**10,00,000**	**10,00,000**
4.	Earnings before Interest & Tax (EBIT) [1] @20%	2,00,000	2,00,000
5.	*Less* : Interest on Debentures@15%	**Nil**	**90,000**
6.	Profits before Tax (PBT) [1]	2,00,000	1,10,000
7.	Less : Tax @ 50%	1,00,000	55,00
8.	Profits after Tax (PAT) [2]	**1,00,000**	**55,000**
9.	Return on Equity Capital	10%	13.75%

स्पष्ट है कि 'ब' कम्पनी में स्वामि-पूँजी पर प्रत्याय की दर (Rate of Return) 'अ' कम्पनी की तुलना में अधिक है। ऐसा इसलिए है कि 'ब' कम्पनी ट्रेडिंग ऑन इक्विटी की नीति का अनुसरण कर रही है। इसके पूँजी-ढाँचे में ऋण-पूँजी का अनुपात $1\frac{1}{2}:1$ का है जिसका लाभ इक्विटी अंशधारियों को मिल रहा है।

परिसीमाएँ (Limitations) – समता पर व्यापार (Trading on Equity) की नीति का पालन करते समय निम्नलिखित परिसीमाओं पर विचार करना होगा–

(1) अधिक ऋणों के साथ-साथ ऋणदाताओं का प्रभाव एवं हस्तक्षेप बढ़ जाता है और व्यवसाय को भविष्य में अतिरिक्त पूँजी की आवश्यकता होने पर कठिनाई होती है। अतिरिक्त पूँजी जुटाने की प्रत्येक योजना के लिए ऋणदाताओं को अनुमोदन लेना होता है।

(2) उचित सीमा के बाद उधार के बल पर व्यवसाय को संचालित करना असम्भव हो जाता है, क्योंकि निश्चित ब्याज दर के कारण व्ययों का बोझ इतना बढ़ जाता है कि कालान्तर में व्यवसाय अति-पूँजीकरण का शिकार हो जाता है।

(3) ऐसे व्यवसायों में जहाँ आय नियमित एवं निरन्तर रूप से होती रहती है, 'सामान्य अंशों पर व्यापार' (Trading on Equity) की नीति सफल रहती है। इसके विपरीत, अनिश्चित एवं अनियमित आय वाले व्यवसायों के लिए यह नीति उपर्युक्त नहीं है।

(4) ऋणों पर देय कुल ब्याज की राशि यदि ब्याज एवं कर चुकाने से पूर्व आय (EBIT) के बराबर हो जाये तो फिर कर सहित लाभ (Profits before tax) शून्य होगा और यदि ब्याज एवं कर चुकाने से पूर्व आय (EBIT) शून्य है तो जो हानि व्यवसाय को होगी वह देय-ब्याज (Interest Payable) की राशि के बराबर होगी।

(5) ऋणों पर देय ब्याज की दर में प्रत्येक अनुवर्ती (Subsequent) ऋण के साथ वृद्धि होती जाती है। इसका कारण एक ऋण के बाद दूसरे ऋण के लिए जोखिम की मात्रा में वृद्धि हो जाना है। पूर्व ऋणदाताओं (Creditors) का कम्पनी की सम्पत्ति पर अग्रिम ग्रहणाधिकार (Prior-lien) होता है। अतः बाद के ऋणदाताओं की स्थिति उनकी तुलना में कम उत्तम होती है और उनसे ऋण प्राप्त करने के लिए उन्हें अधिक ब्याज दर का आकर्षण देना आवश्यक हो जाता है।

(6) उधार लेने के लिए कम्पनी सीमानियमों एवं अन्तर्नियमों द्वारा निर्धारित सीमाएँ।

(ख) पूँजी का दन्तिकरण या गीयरिंग (Gearing of Capital) – पूँजी-दन्तिकरण (Capital Gearing) का आशय कुल पूँजीकरण में विभिन्न साधनों से उपलब्ध की जाने वाली पूँजी के अनुपात के विषय में निर्णय लेने से है। यदि कुल पूँजीकरण में स्थिर ब्याज एवं स्थिर लाभांश के दायित्व वाली पूँजी का अनुपात कम है तो यह स्थिति पूँजी के निम्न दन्तिकरण (Low Gearing of Capital) की परिचायक होगी। ऐसी दशा में इक्विटी-पूँजी अपेक्षाकृत अधिक एवं ऋण-पूँजी तथा अधिमान्य पूँजी कम होगी। इसके विपरीत, यदि कुल पूँजीकरण में स्थिर ब्याज एवं स्थिर लाभांश के दायित्व वाली पूँजी का अनुपात स्वामि-पूँजी की तुलना में अधिक है तो ऐसी स्थिति पूँजी के उच्च दन्तिकरण (High Gearing of Capital) की प्रतीक होगी।

जिस प्रकार एक इंजन (Engine) की गति बढ़ने के साथ गीयर (Gear) बदलना आवश्यक होता है, उसी प्रकार व्यवसाय की प्रगति तथा आय में वृद्धि के साथ-साथ पूँजीकरण में 'उच्च गीयरिंग' का सहारा लिया जा सकता है और ऐसा करके स्वामि-पूँजी पर लाभ की दर में वृद्धि की जा सकती है। जैसा कि पहले कहा गया कि पूँजी का 'उच्च-गीयरिंग' पूँजी के उच्च-लीवरेज का ही प्रतीक है जिसके आधार पर वित्तीय लीवरेज (Financial Leverage) का लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

दन्ति-अनुपात (Gear Ratio) – यह वह अनुपात है जो एक ओर स्वामि-पूँजी (Owned Capital) तथा दूसरी ओर निश्चित या स्थिर दायित्व वाली पूँजी के मध्य होता है। निश्चित या स्थिर दायित्व वाली पूँजी से आशय, ऐसी पूँजी से है जिस पर निश्चित दर से लाभांश (जैसे अधिमान्य अंशों की दशा में) अथवा निश्चित दर से ब्याज (जैसे ऋण-पत्रों, बॉण्ड अथवा दीर्घकालीन ऋणों की दशा में) का भुगतान करने के लिए कम्पनी बाध्य होती है। इसे निम्न सूत्र के आधार पर ज्ञात किया जा सकता है–

$$\text{Capital Gearing Ratio} = \frac{\text{Equity Capital}}{\text{Preference Capital + Borrowed Capital}}$$

Illustration 2.

मान लिजिए कि 'अ' एवं 'ब' दो कम्पनियों का पूँजी-ढाँचा निम्न प्रकार है –

'अ' कम्पनी		'ब' कम्पनी	
पूँजी साधन	(लाख रुपए)	**पूँजी साधन**	(लाख रुपये)
चुकता अंश-पूँजी	5	चुकता अंश पूँजी	1
संचित कोष	3	संचित कोष	1
अधिमान्य अंश-पूँजी (9%)	1	अधिमान्य अंश-पूँजी (9%)	1
ऋण-पत्र (8%)	1	ऋण-पत्र (8%)	7
Total	10	**Total**	10

उपर्युक्त के आधार पर दोनों कम्पनियों के पूँजी मिलान अनुपातों (Capital Gear Ratios) की गणना कीजिए।

'अ' कम्पनी

$$\text{Gear Ratio} = \frac{5+3}{1+1} = \frac{8}{2}$$

$$= 4 : 1$$

or 80% : 20%

'ब' कम्पनी

$$\text{Gear Ratio} = \frac{1+1}{1+7} = \frac{2}{8}$$

$$= 1 : 4$$

or 20% : 80%

अत: 'अ' कम्पनी में निम्न दन्ति अनुपात (Low Gear Ratio) है जो 4 : 1 है। प्रतिशत के रूप में कहेंगे कि 'अ' कम्पनी में दन्ति-अनुपात केवल 20 प्रतिशत है। 'ब' कम्पनी में उच्च दन्ति-अनुपात (High Gear Ratio) है, जो 1:4 है। प्रतिशत के रूप में यह कहा जाएगा कि 'ब' कम्पनी की कुल पूँजी में दन्ति अनुपात 80 प्रतिशत है। दोनों दशाएँ कम्पनी के पूँजी-ढाँचे में एक विशेष स्थिति की द्योतक हैं जिसका कम्पनी की आय में उतार-चढ़ाव से गहरा सम्बन्ध हो सकता है। 'अ' कम्पनी 'ब' कम्पनी की तुलना में आय के उच्चावचनों (Income Fluctuations) को अधिक सरलता से सहन कर सकती है क्योंकि इसमें स्थिर दायित्वों का आय पर प्रभाव केवल 17,000 रुपयों (8,000 रुपये ऋण-पत्रों पर ब्याज + 9,000 रुपये अधिमान्य अंशों पर लाभांश) का है। इसके विपरीत, 'ब' कम्पनी के आय पर स्थिर दायित्वों का प्रभाव 65,000 रुपयों (56,000 रुपये ऋण-पत्रों पर ब्याज + 9,000 रुपये अधिमान्य अंशों का लाभांश) का है। ये दोनों दशाएँ इक्विटी अंशधारियों की भिन्न सापेक्ष स्थितियों की परिचायक हैं। अत: 'अ' कम्पनी (जिसमें दन्ति-अनुपात निम्न है) में इक्विटी अंशधारियों के लिए जोखिम कम है; क्योंकि आय पर स्थिर दायित्व का प्रभार कम है, किन्तु 'ब' कम्पनी में इनके लिए जोखिम की मात्रा अधिक है।

NOTES

Illustration -3.

एक कम्पनी के समक्ष 10,00,000 रुपये की पूँजी के तीन निम्न विकल्प हैं –

	विकल्प (Alternatives)		
	I	II	III
समता अंश (Equity Shares)	Rs. 3,50,000	Rs. 7,00,000	Rs. 9,50,000
संचय (Reserves)	50,000	–	50,000
पूर्वाधिकारी अंश (7% Preference Shares)	2,00,000	3,00,000	–
8% ऋणपत्र (8% Debentures)	4,00,000	–	–
	10,00,000	10,00,000	10,00,000

कर व ऋणपत्रों पर ब्याज लगाने से पूर्व लाभांश 1,50,000 रुपये वार्षिक तथा कर दर 50% मानते हुए समता पर व्यापार व पूँजी मिलान अनुपात पर अपनी टिप्पणी दीजिए।

Solution :

Trading on Equity

	I Rs.	II Rs.	III Rs.
Profit before tax and interest	1,50,000	1,50,000	1,50,000
Less : Debentures Interest@8%	32,000	–	–
Profit before tax	1,18,000	1,50,000	1,50,000
Less : Income tax (assumed 50%)	59,000	75,000	75,000
Profit after tax	59,000	75,000	75,000
Less : Pref : Share Dividend @7%	14,000	21,000	–
Profit available for equity share -holders	45,000	54,000	75,000
Equity Share Capital	3,50,000	7,00,000	9,50,000
Rate of Dividend	$\frac{45}{350} \times 100$ = 12.86%	$\frac{54}{700} \times 100$ = 7.71%	$\frac{75}{950} \times 100$ = 7.89%

Capital Gearing Ratio

$$= \frac{\text{Equity Share Capital + Reserves}}{\text{Pref. Share Capital + Interest bearing Finance}}$$

$$\text{I} = \frac{3,50,000 + 50,000}{2,00,000 + 4,00,000} = \frac{4,00,000}{6,00,000} = 0.67:1$$

$$\text{II} = \frac{7,00,000}{3,00,000} = 2.33:1$$

$$\text{III} = \frac{9,50,000 + 50,000}{\text{Nil}} = \infty$$

उपर्युक्त परिणाम से स्पष्ट होता है कि जिस विकल्प का Capital Gearing Ratio कम है, उसके समता अंशों पर लाभांश की दर अधिक है। विकल्प I की Capital Gearing Ratio सबसे कम अर्थात् 0.67:1 है तथा समता अंशों पर लाभांश की दर सबसे अधिक अर्थात् 12.86% है। विकल्प I ही सर्वोत्तम है।

Illustration - 4.

राजा कं लिमिटेड व रमन कं लिमिटेड की पूँजी मिलान पर अपनी टिप्पणी दीजिए। दोनों कम्पनियों की पूँजी निम्न प्रकार है–

NOTES

Raja Co. Ltd.

	Rs.
500, 8% Pref. Shares of Rs. 1,000 each	5,00,000
100 Equity Shares of Rs.1,000 each	1,00,000
Reserves	50,000
500, 10% Debentures of Rs. 100 each	50,000
	Rs. **7,00,000**

Raman Co. Ltd.

	Rs.
500, 8% Pref. Shares of Rs. 1,000 each	5,00,000
150 Equity Shares of Rs. 1,000 each	1,50,000
Reserves	10,000
400, 10% Debentures of Rs. 100 each	40,000
	Rs. **7,00,000**

दोनों कम्पनियों का लाभ कर व ब्याज से पूर्व निम्न प्रकार है, कर दर 50% है –

	Rs.
2004	2,00,000
2005	1,80,000

Solution :

	Raja Ltd.		Raman Ltd.	
	2008	**2009**	**2008**	**2009**
	Rs.	**Rs.**	**Rs.**	**Rs.**
Profits	2,00,000	1,80,000	2,00,000	1,80,000
Less: Interest on Debentures@ 10%	5,000	5,000	4,000	4,000
Profit before tax	1,95,00	1,75,000	1,96,000	1,76,000
Less : Income tax@50%	97,500	87,500	98,000	88,000
Profit before tax	97,500	87,500	98,000	88,000
Less : Pref. Share Dividend	40,000	40,000	40,000	40,000
Profit available for Equity Share holders	57,500	47,500	58,000	48,000
Equity Share Capital	1,00,000	1,00,000	1,50,000	1,50,000
Rate of Dividend on Equity Shares	57.5%	47.5%	33.6%	32%

$$\text{Capital Gearing Ratio} = \frac{\text{Equity Share Capital + Reserve and Surplus}}{\text{Pref. Share Capital + Interest bearing Finance}}$$

$$\text{Raja Co. Ltd.} = \frac{1,00,000 + 50,000}{5,00,000 + 50,000}$$

$$= \frac{1,50,000}{5,50,000} = .273$$

$$\text{Raman Co. Ltd.} = \frac{1,60,000}{5,40,000} = .296$$

यह स्पष्ट है कि दोनों कम्पनियों में लाभ एवं पूँजी की रकम समान होते हुए भी दोनों में काफी अन्तर है। राजा लि. जिसका पूँजी मिलान अनुपात कम है, उसकी लाभांश दर क्रमशः 2008 में 57.5% तथा 2009 में 47.5% है,

जबकि रमन लि. जिसका पूँजी मिलान अनुपात राजा लि. की तुलना में अधिक है, उसको लाभांश दर क्रमशः 2008 में 38.6% तथा 2009 में 32% है।राजा लि. के समता अंशों का बाजार मूल्य रमन लि. की तुलना में अधिक होगा।

Illustration - 5.

NOTES

गुप्ता लि. और सुरेश लि की पूँजी संरचना निम्न प्रकार है–

	Gupta Ltd.	Suresh Ltd.
	Rs.	Rs.
Paid up Equity Capital	2,00,000	40,000
Reserves	1,20,000	40,000
10% Pref. Share Capital	40,000	40,000
5% Debentures	40,000	280,000
Total	**4,00,000**	**4,00,000**

Solution :

दोनों कम्पनियों की पूँजी संरचना पर अपनी टिप्पणी दीजिये।

$$\text{Capital Gearing Ratio} = \frac{\text{EquitCapital + Reserves and Surplus}}{\text{Preference Capital + Interst Bearing Finance}}$$

$$\text{Gupta Ltd.} = \frac{2,00,000 + 1,20,000}{40,000 + 40,000}$$

$$= \frac{3,20,000}{80,000} = 4:1$$

$$\text{Suresh Ltd.} = \frac{40,000 + 40,000}{40,000 + 2,80,000}$$

$$= \frac{80,000}{3,20,000} = 1:4$$

गुप्ता लिमिटेड का पूँजी मिलान कम है और सुरेश लिमिटेड का पूँजी मिलान ऊँचा है। गुप्ता लिमिटेड को तुलना में आय के उच्चावचनों को अधिक सरलता से सहन कर सकती है, क्योंकि स्थिर ब्याज व स्थिर लाभांश का भार अपेक्षाकृत कम है। यही नहीं, गुप्ता लिमिटेड की दशा में समता अंशधारियों को कम जोखिम का सामना करना पड़ेगा क्योंकि स्थिर ब्याज व स्थिर लाभांश का भार कम है, जबकि सुरेश लिमिटेड के समता अंशधारियों के सामने जोखिम की मात्रा अधिक होगी।

Illustration - 6.

31 दिसम्बर, 2008 को टाटा लि. की पूँजी संरचना निम्न प्रकार थी –

	Rs.
10% Bank Loans	3,00,000
9% Debentures	11,00,000
11%Preference Shares (of Rs.100 each)	12,00,000
Equity Shares (of Rs.100 each)	20,00,000
Reserve Funds	14,00,000
	60,00,000

वर्तमान में कम्पनी की ब्याज तथा कर से पूर्व आय 9,60,000 रु. है। भविष्य में प्रत्याय की यह दर यथावत् बनी रहने की आशा है। कम्पनी को विस्तार कार्यक्रम हेतु 6,00,000 रु. की आवश्यकता है जिसके प्रबन्धन के लिए निम्नलिखित विकल्प उपलब्ध हैं–

(i) 20 रु. प्रति अंश प्रीमियम पर समता अंशों का निर्गमन।

(ii) 11% पूर्वाधिकार अंशों का सममूल्य पर निर्गमन।

(iii) 2,500 समता अंशों का 20 रु. प्रति प्रीमियम पर तथा शेष सममूल्य पर 11% पूर्वाधिकार अंशों का निर्गमन।

(iv) 10% ऋणपत्रों का सममूल्य पर निर्गमन।

NOTES

कर की दर 40% मानते हुए सर्वोत्तम विकल्प बताइये।

Solution :

Statement showing Earning per Share

Particulars	Present Position Rs.	I Rs.	II Rs.	III Rs.	IV Rs.
Earning before Interest and Tax	9,60,000	10,56,000	10,56,000	10,56,000	10,56,000
Less : Interst on Borrowed Capital					
9% Debentures	(–) 99,000	(–) 99,000	(–) 99,000	(–) 99,000	(–) 99,000
10% Bank Loan	30,000	30,000	30,000	30,000	30,000
10%Debentures (New)	–	–	–	–	60,000
Earnings before tax	8,31,000	9,27,000	9,27,000	9,27,000	8,67,000
Less : Tax@40%	3,32,400	3,70,800	3,70,800	3,70,800	3,46,800
Earnings before tax	4,98,600	5,56,200	5,56,200	5,56,200	5,20,200
Less : Preference Dividend	1,32,000	1,32,000	1,98,000	1,65,000	1,32,000
Earnings for Equity Shares	3,66,600	4,24,200	3,58,200	3,91,200	3,88,200
No.of Equity Shares	20,000	25,000	20,000	22,500	20,000
Earning per Equity Share	Rs.18.33	Rs.16.97	Rs.17.91	Rs.17.39	Rs.19.41
% Change in E.P.S.	–	(-) 7.42	(–)2.29	(–)5.13	(+)5.89

Illustration - 7.

एक कम्पनी कुल विनियोजित पूँजी 20,00,000 रु.रखती है जिसमें 10,00,000 रु.समता अंशों में तथा शेष 10,00,000 रु. 5% ऋणपत्रों में विभाजित है। अगले 5 वर्षों में कम्पनी को ब्याज व कर से पूर्व क्रमशः 1,80,000 रु., 2,40,000 रु., 4,00,000 रु., 50,000 व 20,000 रु. लाभ की आशा है। निगम आयकर की दर 50% है। समता अंशधारियों की आय पर टिप्पणी कीजिए।

Solution :

Particulars	Year				
	1	2	3	4	5.
Profit before tax and interest	Rs. 1,80,000	Rs 2,40,000	Rs. 4,00,000	Rs. 50,000	Rs . 20,000
Less : Interest on debentures@5%	50,000	50,000	50,000	50,000	50,000
Profit before tax	1,30,000	1,90,000	3,50,000	NIL	-30,000
Less : Income tax @50%	65,000	95,000	1,75,000	NIL	NIL
Profit available for Equity Shareholders	65,000	95,000	1,75,000	NIL	-30,000
Earnings on Equity share Capital (%)	$\frac{65,000 \times 100}{10,00,000}$ =6.5%	$\frac{95,000 \times 100}{10,00,000}$ =9.5%	$\frac{1,75,000 \times 100}{10,00,000}$ = 17.5%	–	–

अग्रवाल लिमिटेड 5,00,000 रु. जो कि 5,000 सामान्य अंशों में प्रत्येक 100 रु. में विभाजित है, से पूँजीकृत है। प्रबन्धक निम्न चार वित्तीय योजनाओं में से किसी एक के द्वारा एक बड़े विस्तार कार्यक्रम के लिये 5,00,000 रु. की अतिरिक्त व्यवस्था करना चाहते हैं। प्रबन्धक निम्न तरीके से वित्त व्यवस्था कर सकते हैं - (1) सभी सामान्य अंशों द्वारा, (2) 2,25,000 रु. सामान्य अंशों से एवं 2,50,000 रु 5% वार्षिक दर पर ऋण द्वारा, (3) सभी 6% वार्षिक दर पर ऋण द्वारा या (4) 2,50,000 रु. सामान्य अंश पूँजी से तथा 2,50,000रु. 5% पूर्वाधिकारी अंशों द्वारा।

कम्पनी का ब्याज एवं कर से पूर्व लाभ 60,000रु. है। आयकर की दर 50% मान ली गयी है। कम्पनी को कौन-सा प्रस्ताव स्वीकार करना चाहिए? इस पर टिप्पणी कीजिये।

Solution :

Particulars	Proposal I	Proposal II	Proposal III	Proposal IV
Profit before Interest and Tax	1,20,000	1,20,000	1,20,000	1,20,000
Less : Interest	–	12,500	30,000	–
Profit before Taxes	1,20,000	1,07,500	90,000	1,20,000
Less : Income Tax (50%)	60,000	53,750	45,000	60,000
Profit after Tax	60,000	53,750	45,000	60,000
Less : Dividend on Preference Shares	–	–	–	12,500
Profit for Equity shareholders	60,000	53,750	45,000	47,500
Equity Share Capital	10,00,000	7,50,000	5,00,000	7,50,000
Dividend on Equity Share Capital	6%	7.17%	9%	6.33%

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि जब कम्पनी अपनी पूँजी ऋण में विनियोजित करती है, तो समता अंशधारियों की आय अधिकतम 9% होती है। अतः कम्पनी को प्रस्ताव III चुनना चाहिए।

Illustration - 9.

राठी लि. 5,00,000 रु. के साधारण अंश अपनी पूँजी संरचना में रखती है। कम्पनी अपने विस्तार कार्यक्रमों के वित्त के लिये 5,00,000 रु. के अतिरिक्त कोषों को बढ़ाने की इच्छा प्रकट करती है। कम्पनी के पास चार विकल्प हैं–

(i) यह पूरी राशि समता अंशों के रूप में बढ़ा सकती है।

(ii) यह 50% समता अंशों के रूप में तथा 50%, 5% ऋणपत्रों के रूप में बढ़ा सकती है।

(iii) यह पूरी राशि 6% ऋणपत्रों के रूप में बढ़ा सकती है।

(iv) यह 50% समता अंशों के रूप में तथा 50%, 6% पूर्वाधिकार अंशों के रूप में बढ़ा सकती है।

कर व ब्याज से पूर्व का वर्तमान अर्जन 60,000 रु. है। कर दर 50% है। अदत्त साधारण अंशों की संख्या 5,000 तथा चारों विकल्पों में प्रति अंश बाजार मूल्य 100 रु. है। कौन सी वित्त योजना फर्म को चुननी चाहिए?

Solution:

The existing capital employed and EBIT are Rs. 5,00,000 and Rs. 60,000 respectively. The additianal funds will inerease the amount of capital employed to the tune of Rs.10,000. This will also increase EBIT as under:

$$= \frac{60,000}{5,00,000} \times 10,00,000 = \text{Rs.}1,20,000$$

Note : It is assumed that EBIT will increase at the same rate.

Financial Plans

	Proposal I[st]	Proposal II[nd]	Proposal III[rd]	Proposal IV[th]
Earnings before Interest and Tax	1,20,000	1,20,000	1,20,000	1,20,000
Less : Interest on Debentures	–	12,500	30,000	–
Earnings before Tax	1,20,000	1,07,500	90,000	1,20,000
Less : Income Tax @(50%)	60,000	53,750	45,000	60,000
Profit after Tax	60,000	53,750	45,000	60,000
Less : Dividend on Preference Shares	–	–	–	15,000
Profit for Equity shareholders	60,000	53,750	45,000	45,000
Equity Share Capital	10,00,000	7,50,000	5,00,000	7,50,000
Dividend on Equity Share Capital	$\frac{60,000 \times 100}{10,00,000}$ = 6%	$\frac{53,750 \times 100}{7,50,000}$ = 7.17%	$\frac{45,000 \times 100}{5,00,000}$ = 9%	$\frac{45,000 \times 100}{77,00,000}$ = 6%

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि योजना IIIrd फर्म को चुननी चाहिये क्योंकि इसमें प्रत्याय दर सबसे अधिक 9% है।

Illustration - 10.

आकाश लि.व विकास लि. नाम से दो कम्पनियाँ हैं। दोनों ही कम्पनियाँ एक सा व्यापार करती हैं तथा दोनों ही पूँजी के रूप में प्रत्येक 75,000 रु. विनियोजित की हुयी हैं। आकाश लि.की पूँजी 50,000 रु. के समता अंशों में प्रत्येक 10 रु. का तथा 25,000 रु. 100 रु. वाले 10% ऋणपत्रों में विभाजित है। विकास लि. की पूँजी सभी 10 रु. वाले समता अंशों में विभाजित है।

आकाश लि. द्वारा समता पर व्यापार नीति का अनुसरण करने पर अपनी टिप्पणी प्रस्तुत कीजिये यदि प्रत्येक कम्पनी का ऋणपत्रों पर ब्याज देने से पूर्व कर लाभ 10,000 रु. है।

Solution :

Trading on Equity

Particulars	Aakash Ltd.	Vikas Ltd.
Profit before Interest and tax	10,000	10,000
Less : Interest on Debentures	2,500	–
Profit before tax	7,500	10,000
Less : Income tax (50% assumed)	3,750	5,000
Profit for Equity Shareholders	3,750	5,000
Equity Share Capital	50,000	75,000
Dividend on Equity Share Capital	$\frac{3750 \times 100}{50,000}$ = 7.5%	$\frac{5,000 \times 100}{75,000}$ = 6.67%

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि Akash Ltd. समता पर व्यापार नीति का अनुसरण करके अपने समता अंशों की आय को बहुत अधिक बढ़ा सकी है।

Illustration - 11.

'अ' व 'द' दो कम्पनी हैं, दोनों की पूँजी 5,00,000 रुपये है। दोनों कम्पनी ब्याज व कर से पूर्व 80,000रु. आय अर्जित करती हैं। 'अ' कम्पनी की सम्पूर्ण पूँजी समता अंशों में विभाजित है, जबकि 'द' कम्पनी की पूँजी 2,00,000 रू. समता अंशों में, 1,00,000 रुपये 10% ऋणपत्र तथा 2,00,000 रु. 8% पूर्वाधिकार अंशों में विभाजित है।

'द' कम्पनी द्वारा समता पर व्यापार की नीति का अनुसरण करने पर अपनी टिप्पणी दीजिये।

Solution :

Particulars	A Co.	D Co.
Profit before Interest and tax *Less :* Interest on Debentures	Rs. 80,000 –	Rs. 80,000 10,000
Profit before tax *Less :* Income tax (50% assumed)	80,000 40,000	70,000 35,000
Profit after tax *Less :* Dividend of Preference Shares	40,000 –	35,000 16,000
Profit for Equity Shareholders	40,000	19,000
Equity Share Capital	5,00,000	2,00,000
Dividend on Equity Share Capital	$\frac{40,000 \times 100}{5,00,000} = 8\%$	$\frac{19,000 \times 100}{2,00,000} = 9.5\%$

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि 'द' कम्पनी समता पर व्यापार नीति का अनुसरण करके समता अंश की आय को बढ़ा सकती है क्योंकि 'द' कम्पनी में प्रत्याय की दर 9.5% है, जबकि 'अ' कम्पनी में 8%।

ऋण पूँजी अनुपात
(Debt Equity Ratio)

इसे ऋण समता अनुपात भी कहते हैं। ऋण समता अनुपात ऋण पूँजी तथा समता पूँजी के मध्य पाये जाने वाले सम्बन्ध को स्पष्ट करता है। कुल पूँजीकरण में कितनी धनराशि स्वामी द्वारा प्राप्त की गयी है और कितना धन बाहरी व्यक्तियों द्वारा दिया गया है, इसका गहरा प्रभाव संस्था की शोधन पर पड़ता है। अतः स्वामी पूँजी और ऋणदाताओं के हित की मात्राओं का अध्ययन करना आवश्यक है। इस हेतु ऋण पूँजी अनुपात ज्ञात किया जाता है।

सूत्रानुसार

$$\text{Debt Equity Ratio} = \frac{\text{Borrowed Capital}}{\text{Share Capital + Reserves and Surplus}}$$

or

$$\text{Debt Equity Ratio} = \frac{\text{External Liabilities/Outside Liabilities}}{\text{Owner Equity/Net Worth/Proprietor's Fund/Internal Liabilities}}$$

सामान्यतः 1:1 का ऋण समता अनुपात सन्तोषजनक माना जाता है। इस अनुपात में कमी ऋणदाताओं की सुरक्षा में वृद्धि करती है और अनुपात में वृद्धि समता अंशधारियों को अधिक EPS अर्जित करने में सहायता करती है।

Illustration.- 12. निम्न जानकारी से ऋण पूँजी अनुपात की गणना कीजिये –

Balance Sheet

	Rs.		Rs.
Share Capital	1,60,000	Fixed Assets	2,40,000
Reserves	1,60,000	Current Assets	1,60,000
Long-term Liabilities	60,000		
Current Liabilities	20,000		
	4,00,000		**4,00,000**

Solution:

$$\text{Debt Equity Ratio} = \frac{\text{Borrowed Capital}}{\text{Share Capital + Reserves and Surplus}}$$

$$= \frac{60,000 + 20,000}{1,60,000 + 1,60,000}$$

$$= \frac{80,000}{3,20,000} = 0.25:1$$

उपर्युक्त अनुपात से स्पष्ट होता है कि प्रत्येक 0.25 रुपये बाह्य दायित्व के लिये संस्था के पास 1 रुपया उपलब्ध है। इसलिए ऋणदाताओं का धन पूर्णत: सुरक्षित है।

Illustration -13.

हीरा सिल्क लि. का निम्न तुलन पत्र है –

	Rs.		Rs.
Equity Share Capital	1,00,000	Goodwill	60,000
Capital Reserve		Fixed Assets	1.40,000
Mortgage Loan	20,000	Stock	
Creditors	80,000	Debtors	30,000
Bank Owerdraft	40,000	Investments	30,000
	10,000		10,000
Taxation: Current 10,000		Cash in band	30,000
Future 10,000	20,000		
Profit and Loss appropration.	30,000		
	3,00,000		3,00,00

ऋण समता अनुपात निकालिये तथा टिप्पणी कीजिये।

Solution :

$$\text{Debt Equity Ratio} = \frac{\text{Borrowed Capital}}{\text{Proprietor's Fund}}$$

$$= \frac{1,50,000}{1,50,000}$$

$$= 1:1$$

Borrowed Capital = 80,000 + 40,000 + 10,000 + 20,000 = Rs.1,50,000

Proprietor's Fund = 1,00,000 + 20,000 + 30,000 = Rs.1,50,000

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि संस्था की कुल वित्तीय पूँजी में स्वामियों तथा बाह्य ऋणदाताओं का अंश बराबर-बराबर है। इस प्रकार यह दीर्घकालीन शोधनक्षमता की सुदृढ़ स्थिति का परिचायक है।

शोधनक्षमता अनुपात
(Solvency Ratio)

यह अनुपात संस्था की शोधनक्षमता की जानकारी प्रदान करता है। यह अनुपात यह भी बताता है कि कुल सम्पत्तियों का कितना हिस्सा बाह्य लेनदारों द्वारा दिया गया है। यदि कुल सम्पतियाँ कुल बाह्य दायित्वों से अधिक हैं तो इसका आशय यह है कि संस्था अपने ऋणों को चुकाने में समर्थ है।

$$\text{सूत्र - Solvency Ratio} = \frac{\text{Total Assets}}{\text{Total Outside Liabilities}}$$

Illustration -14.

कम्पनी के प्रबन्धकों के समक्ष ऋण-पूँजी मिश्रण के विषय में X, Y तथा Z तीन विकल्प विचाराधीन हैं जो क्रमश: 25:75, 50:50 तथा 75:25 के अनुपात में हैं। ऋण-पूँजी अनुपात के प्रत्येक विकल्प के लिए ऋण-पूँजी तथा इक्विटी पूँजी की कर रहित लागतों के विषय में निम्नलिखित अनुमान लगाये गये हैं.

Alternative	Debt as percentage of Capital	Cost of Debt (Ki Percentages)	Cost of Equity (Ke Percentage)
X	25	6.00	16.0
Y	50	7.00	18.0
Z	75	8.00	20.0

उपर्युक्त पूर्वानुमानों के आधार पर बतलाइए कि अनुकूलतम पूँजी-ढाँचे की दृष्टि से ऊपर दिये गये ऋण पूँजी मिश्रण के तीनों विकल्पों में से कौन-सा विकल्प अनुकूलतम सिद्ध होगा ?

Solution:

where, Ko = (ki × Ratio of Debt) + (Ke × Ratio of Equity)

Ko = Composite Cost of Capital

Ki = Cost of Debt

Ke = Cost of Equity

Composit Cost of Capital

Alternative	Debt as Percentage of Total Capital	Cost of Debt Percentage (Ki)	Cost of Equity Percentage (Ke)	Composite Cost of Capi- tal Percen- tage (Ko)
X	25	(25 × 0.06)	+(75 x 0.16) =	13.50
Y	50	(50 × 0.07)	+(50 x 0.18) =	12.50
Z	75	(75 × 0.08)	+(25 x 0.20) =	11.00

It is clear that alternative Z (Debt - Equity Mix of 75 : 25) will give the company an optimum capital-structure because the Ko (Composite Cost of Capital) will be minimum under this alternative.

Illustration -15.

दो कम्पनियाँ 'A' तथा 'B' समान प्रकार के व्यवसाय करती हैं। दोनों में से प्रत्येक कम्पनी में 25 लाख रुपयों की पूँजी विनियोजित है। कम्पनियों का पूँजी-ढाँचा निम्न प्रकार है–

Sources of Capital		Company 'A' Rs.	Company 'B' Rs.
1.	Equity Share Capital (divided in shares of Rs. 10 each)	15,00,000	8,00,000
2.	Reserves & Surplus	5,00,000	2,00,000
3.	Preference Share Capital (divided into Shares of Rs. 100 each, fixed dividend 12%)	2,00,000	5,00,000
4.	Debentures@14%	3,00,000	10,00,000
	Total	**25,00,000**	**25,00,000**

विनियोजित पूँजी पर प्रत्याय की दर (ब्याज एवं कर घटाने से पूर्व) दोनों कम्पनियों में 20% है। निगम-कर की दर प्रत्येक कम्पनी के लिए 50% है।

उपर्युक्त सूचनाओं के आधार पर निम्नलिखित की गणना प्रत्येक कम्पनी के लिए कीजिए–

(i) पूँजी-मिलान अनुपात (Capital Gear Ratio) तथा

यदि विनियोजित पूँजी पर प्रत्याय की दर (ब्याज एवं कर घटाने से पूर्व) 20 प्रतिशत के स्थान पर 15 प्रतिशत की रह जाती है, तो उपर्युक्त विश्लेषण करके कारण सहित बतलाइए कि इसका 'B' कम्पनी की वित्तीय स्थिति पर क्या प्रभाव पड़ेगा ?

Solution :

(i) Gear Ratio $= \frac{\text{Equity Share Capital + Reserves}}{\text{Preference Share Capital + Debentures}}$

Company 'A'	Company 'B'
$\frac{15,00,000 + 5,00,000}{2,00,000 + 3,00,000}$	$\frac{8,00,000 + 2,00,000}{5,00,000 + 10,00,000}$
or 80% : 20%	or 45% : 60%

From the above calculations it is clear that company 'A' has a low gear (only 20%) in its capital structure and on the contrary 'B' company has a high gear (60%) in its capital structures.

(ii) Existing positions when EBIT is 20% of capital employed.

	Particulars	Company 'A' Rs.	Company 'B' Rs.
1.	Earning Before interest & Tax (EBIT) @20%	5,00,000	5,00,000
2.	Less : Interest on Debentures @ 14%	42,000	1,40,000
3.	Profits Before Tax	4,58,000	3,60,000
4.	Less : Tax @ 50%	2,29,000	1,80,000
5.	Profit After Tax	2,29,000	1,80,000
6.	Less : Dividend on Preference Share Capital @ 12%	24,000	60,000
7.	Net Profit available to Equity Shareholder	2,05,000	25,00,00

	Company 'A'	Company 'B'
(a) Rate of Return on Owned Capital =	$\frac{2,05,000 \times 100}{20,00,000}$	$\frac{1,20,000 \times 100}{10,00,000}$
	10.25%	12%
(b) Earnings Per Share (E.P.S.)[1] =	$\frac{2,05,000}{1,50,000}$	$\frac{1,20,000}{80,000}$
	Rs. 1.37	Rs. 1.50

It is clear from the above calculations that the Rate of Return on owned capital as well as Earnings Per Share (EPS) are higher in Company 'B' because of higher Gear-Ratio in its capital structrues as compared to company 'A'.

(ii) Changed Position if EBIT declines to 15% (in place of 20%

Particulars	Company 'A' Rs.	Company 'B' Rs.
1. Earnings Before Intrests & Tax (EBIT)	3,75,000	3,75,000
@15% on capital employed	42,000	1,40,000
2. *Less* : Interest @ 14%		
3. Profit before Tax	3,33,000	2,35,000
4. *Less* : Tax @ 50%	1,66,500	1,17,500
5. Profit After Tax	1,66,500	1,17,500
6. *Less* : Divident on Preference Shares @12%	24,000	60,000
7. Earning available to Equity Shareholders	1,42,500	57,500
8. Rate of Return on owned Capital $= \frac{\text{Profits accuring Equ. Shareholders}}{\text{Paid up Equity Capital + Reserves}} \times 100$	$\frac{1,42,500 \times 100}{20,00,000} =$ 7.125%	$\frac{57,500 \times 100}{10,00,000} = 5.75\%$
9. Earnings Per Share (EPu) $\frac{\text{Profits accuring Eqn. Shareholders}}{\text{Number of Equity Shares}} =$	1,42,500 / 1,50,000 Re. 0.95	1,42,000 / 1,50,000 Re. 0.72

Thus it is clear that in case the rate of return (before interest & tax) on capital employed declines to 15%, the financial position of company 'A' will be better (as compared to that of company 'B') both in respect of Rates of Return on owners capital (Net-worth) as well as the Earnings Per Share (EPS). This verifies that the benefit of highly geared capital structure accrues only when the rate of return of capital employed is sufficiently high. If the rate of return on capital employed is inadequate (or low) then a high gear ratio in capital structure proves a heavy burden on the company's meagre earnings.

Illustration - 16.

कम्पनी के समक्ष ऋण-पूँजी मिश्रण में विषय में चार विकल्प हैं जो क्रमशः 20 : 80; 40 : 60; 60 : 40 तथा 80 : 20 के अनुपात में हैं। ऋण-पूँजी एवं इक्विटी-पूँजी की कर-रहित लागतों के विषय में ऋण-पूँजी अनुपात के प्रत्येक विकल्प के लिए निम्नलिखित अनुमान लगाये गये हैं–

Alternative (Debt Equity Mix)	Debt as percentage of capital employed	Cost of Debt% (Ki)	Cost of Equity% (Ke)
20:80	20%	5.0	12.5
40:60	40%	6.0	14.0
60:40	60%	7.0	20.0
80:20	80%	8.0	25.0

पूँजी की संयुक्त लागत के आधार पर ज्ञात कीजिए कि अनुकूलतम पूँजी-ढाँचे की दृष्टि से कम्पनी के लिए उपर्युक्त चारों विकल्पों में से कौन-सा ऋण-पूँजी मिश्रण सर्वोत्तम सिद्ध होगा।

Solution :

$$Ko = (Ki \times \text{Proportion of Debt}) + (Ke \times \text{Proportion of Equity})$$

Where, Ko = Composite Cost of Capital[1]

Ki = Cost of Dept or Borrowed Capital

Ke = Cost of Equity Capital

Calculation of Composite Cost of Capital

Alternative Debt Equity Mix	Debt as Percentage of Employed	Cost of Debt Percentage (Kd)	Cost of Equity Percentage (Ke)	Composite Cost of Capi- tal (Ko)
20 . 80	20	(20 × 0.50)	+ (80 × 0.125)	= 11.00
40 . 60	40	(40 × 0.06)	+ (60 × 0.14)	= 10.80
60 . 40	60	(60 × 0.07)	+ (40 × 0.20)	= 12.20
80 . 20	80	(80 × 0.08)	+ (20 × 0.25)	= 11.40

From the above calculation it is clear that alternative 2 i.e., a debt-equity mix of 40 : 60 will provide the optimum capital structure to the company because it will give the lowest composite cost of capital (Ko) as compared with other debt-equity patterns.

Illustration -17.

दो कम्पनियाँ 'P' तथा 'Q' एक ही प्रकार के व्यवसाय में संलग्न हैं। प्रत्येक कम्पनी में विनियोजित पूँजी की मात्रा एक करोड़ रुपये है। दोनों ही कम्पनियाँ विनियोजित पूँजी पर (ब्याज एवं कर घटाने से पूर्व) 20 प्रतिशत आय उपार्जित करती हैं। कम्पनियों का पूँजी-ढाँचा निम्न प्रकार है –

	Sources of Capital	**Company 'P' (Rs.)**	**Company 'Q' (Rs.)**
1.	Equity Share Capital (divided in shares of Rs. 10 each)	60,00,000	40,00,000
2.	Reserves & Surplus	20,00,000	10,00,000
3.	Debentures (14%)	20,00,000	50,00,000
	Total	**1,00,00,000**	**1,00,00,000**

निगम-कर की दर दोनों कम्पनियों के लिए 50% है। उपर्युक्त सूचनाओं के आधार पर निम्नलिखित की गणना दोनों कम्पनियों के लिए कीजिए–

(i) ऋण-पूँजी अनुपात (Debt-Equity Ratio),

(ii) स्वामि-पूँजी पर प्रत्याय की दर (Rate of Return on Owned Capital)

(iii) प्रति अंश आय (Earnings per Shate)

Solution :

(i) Debt Equity Ratio $= \frac{\text{Debt}}{\text{Paid up Capital + Reserves}}$

Company 'P'	**Company 'Q'**
$= \frac{20,00,000}{60,00,000 + 20,00,000}$	$\frac{50,00,000}{40,00,000 + 10,00,000}$
= 1:4	= 1:1
or 20% : 80%	or 50% : 50%

(ii) Rate of Return on Owned Capital (Amount in Rupees)

Particulars	Company 'P' Rs.	Company 'Q' s.
Earnings Before Intrests & Tax (EBIT)	20,00,000	20,00,000
@ 20% on total capital	2,80,000	7,00,000
Less : Interest on Debentures @ 14%		
Profit before Tax	17,20,000	13,00,000
Less : Tax @ 50%	8,60,000	6,50,000
Profit After Tax	8,60,000	6,50,000
ROI = $\frac{\text{Profit} \times 100}{\text{Owned Capital}}$	$\frac{8,60,000 \times 100}{80,00,000}$ = 10.75%	$\frac{6,50,000 \times 100}{50,00,000}$ = 13%
(iii) Earnings per Share (E.P.S.) = $\frac{\text{Profit after tax}}{\text{Number of Shares}}$	$\frac{8,60,000}{6,00,000}$ = Rs. 1.433	$\frac{6,50,000}{4,00,000}$ = Rs. 1.625

Illustration -18 सुरेन्द्र लिमिटेड का चिट्ठा निम्न प्रकार है –

Liabilities **Rs.**	**Amount**	**Assets** **Rs.**	**Amount**
Equity Share Capital	8,00,000	Fixed Assets	6,40,000
8% Debentures	6,00,000	Cash	72,000
Trade Creditors	80,000	Debtors	4,88,000
B/P	1,20,000	B/R	1,00,000
		Stock	1,28,000
		Investments	1,72,000
	16,00,000		**16,00,000**

उपर्युक्त चिट्ठे से निम्न अनुपातों की गणना कीजिए –

(i) पूँजी दन्तिकरण अनुपात (Capital Gearing Ratio),

(ii) ऋण-समता अनुपात (Debt Equity Ratio),

(iii) शोधनक्षमता अनुपात (Solvency Ratio) ।

Solution :

(i) Capital Gearing Ratio = $\frac{\text{Equity Capital + Reserves}}{\text{Pref.Capital + Interest Bearing Finance}}$

= $\frac{8,00,000 + Nil}{Nil + 6,00,000}$ = 1.33 : 1 (Low Gearing)

(ii) Debt Equity Ratio = $\frac{\text{Borrowed Capital}}{\text{Proprietor's Fund}}$

= $\frac{8,00,000}{8,00,000}$ = 1 : 1 (Fair)

(iii) Solvency Ratio = $\frac{\text{Total Assets}}{\text{Total Liabilities}}$

= $\frac{16,00,000}{8,00,000}$ = 2:1 (Perfect Solvency)

NOTES

प्रश्न
(QUESTIONS)

1. पूँजी संरचना क्या है ?
2. समता पर व्यापार से क्या आशय है ?
3. वित्तीय योजना से आप क्या समझते हैं ? यह किन दशाओं से प्रभावित होती है ?
4. एक कम्पनी की पूँजी संरचना का निर्धारण करते समय किन-किन तत्वों को ध्यान में रखना चाहिए ? व्याख्या कीजिए।
5. पूँजी दन्तिकरण अनुपात अथवा पूँजी मिलान अनुपात से आप क्या आशय समझते हैं ? यह अनुपात ऋण-पूँजी अनुपात से किस प्रकार भिन्न है ? उदाहरण देते हुए स्पष्ट कीजिए।
6. पूँजी-ढाँचे से आप क्या तात्पर्य समझते हैं तथा इसका निर्माण किस प्रकार किया जाता है ? किसी पूँजी-ढाँचे की प्रभावोत्पादकता का मापन आप किस प्रकार करेंगे ?

व्यावहारिक प्रश्न
(Practical Questions)

(1) नूतन इण्टरप्राइजेज लिमिटेड का पूँजी-ढाँचा निम्न प्रकार है–

Sources of Capital	Rs.
7% Debentures	12,00,000
8% Bank Loan (Long-term)	2,00,000
9% Preference Shares of Rs. 10 each	14,00,000
38,000 Equity Shares of Rs. 50 each	19,00,000
Retained Earnings	13,00,000
Total	**60,00,000**

ब्याज एवं कर घटाने से पूर्व कम्पनी की विद्यमान वार्षिक आय 9,00,000 रुपये है। कम्पनी द्वारा एक विकास कार्यक्रम की योजना विचाराधीन है जिस पर 10,00,000 रुपये पूँजी विनियोग की आवश्यकता होगी।

यह अपेक्षा की गयी है कि कम्पनी द्वारा विनियोजित पूँजी पर प्रत्याय की वही दर (ब्याज एवं करों से पूर्व) भविष्य में भी उपार्जित की जाती रहेगी जो इस समय है। निम्नलिखित तीन प्रस्ताव विचाराधीन हैं–

(a) 8 प्रतिशत ऋणपत्रों का निर्गमन

(b) 10 प्रतिशत पूर्वाधिकार अंशों का निर्गमन

(c) 30 रु. प्रति अंश प्रीमियम पर समता अंशों का निर्गमन

उपर्युक्त प्रस्तावों का विश्लेषण करते हुए कम्पनी को परामर्श दीजिए कि सर्वोत्तम विकल्प कौन-सा होगा ? कम्पनी के लिए कर की दर 50 प्रतिशत मान लीजिए।

(**Ans.** Earing E.P.S. = Rs. 7.21 (Approx), Variation = Rs. (+)0.92, (-)0.66, (-)0.30)

(2) मध्य भारत कम्पनी का पूँजी-ढाँचा निम्न प्रकार है–

Source of Capital	Rs.
10,000 Equity Shares of Rs. 100 each	10,00,000
Reserves & Surplus	5,00,000
5,00,000 Preference Shares of Rs.100 each (fixed dividend 10%)	5,00,000
5,000 Bonds (8%) of Rs. 100 each	5,00,000
Total	**25,00,000**

ब्याज एवं कर घटाने के पूर्व कम्पनी की आय विनियोजित पूँजी पर 8 प्रतिशत है। कम्पनी के लिए कर की दर 50 प्रतिशत है।

एक नवीन प्लाण्ट की स्थापना के लिए कम्पनी को 10 लाख रुपयों की अतिरिक्त पूँजी की आवश्यकता है। कम्पनी की योजना सौ-सौ रुपये मूल्य के 10,000 परिवर्तनीय ऋणपत्रों (9 प्रतिशत) के निर्गमन की है।

आपसे अपेक्षा की गयी है कि आप कम्पनी के संचालक मण्डल को परामर्श दें कि क्या कम्पनी द्वारा अतिरिक्त पूँजी की आवश्यकता की पूर्ति ऋणपत्रों के निर्गमन के द्वारा की जानी चाहिए?

यह माना गया है कि अतिरिक्त पूँजी पर भी कम्पनी द्वारा ब्याज एवं कर घटाने से पूर्व वही आय उपार्जित की जायेगी जो इस समय की जा रही है। कम्पनी के अंशों का इस समय बाजार मूल्य 75 रुपये प्रति अंश है।

(**Ans.** Existing E.P.S. = Rs. 3.00, Variation = Rs. (–)0.50)

(3) कम्पनी के प्रबन्धकों के समक्ष प्रस्तावित पूँजी-ढाँचे में ऋण-पूँजी अनुपात के बारे में तीन विकल्प विचाराधीन हैं जो क्रमशः 25:75, 50:50 तथा 75:25 प्रतिशत के अनुपात में हैं, ऋण-पूँजी एवं इक्विटी-पूँजी की कर रहित लागतें निम्न प्रकार हैं–

विकल्प	कुल-पूँजी के अनुपात में ऋण पूँजी	ऋण-पूँजी की लागत (%)	इक्विटी-पूँजी की लागत (%)
A	25%	6	15
B	50%	6	16
C	75%	7	25

पूँजी की संयुक्त-लागत के आधार पर ज्ञात कीजिए कि अनुकूलतम पूँजी-ढाँचे की दृष्टि से कम्पनी के लिए उपर्युक्त तीनों विकल्पों में से कौन-सा विकल्प सर्वोत्तम सिद्ध होगा और क्यों?

(**Ans.** It is clear from the above calculation that the Rate of Return on owned capital as well as Earnings per share (EPS) are higher in company 'XY' because of higher gear-Ratio in its capital structure as compared to company 'X' Change position is EBIT declines to 15% (in place of 20%))

(4) 'P' तथा 'Q' कम्पनी समान प्रकार के व्यवसाय में कार्यरत हैं। दोनों में से प्रत्येक कम्पनी में विनियोजित पूँजी की मात्रा 30 लाख रुपये है। दोनों ही कम्पनियों में विनियोजित पूँजी पर प्रत्याय की दर (ब्याज एवं कर घटाने से पूर्व) बीस प्रतिशत है। कम्पनियों के पूँजी-ढाँचे आगे दिये गये हैं–

पूँजी साधन	**कम्पनी 'P'** रु.	**कम्पनी 'Q'** रु.
इक्विटी अंश-पूँजी (दस-दस रुपयों के अंशों में विभाजित)	20,00,000	10,00,000
संचित कोष एवं अधिशेष	5,00,000	5,00,000
ऋण-पत्र@ $12\frac{1}{2}$%	3,00,000	12,00,000
दीर्घकालीन ऋण (@ 14%)	2,00,000	3,00,000
कुल पूँजी	30,00,000	30,00,000

दोनों कम्पनियों के लिए निगम कर की दर 40 प्रतिशत है। उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर दोनों कम्पनियों के विषय में (i) ऋण-पूँजी अनुपातों की गणना कीजिए, (ii) स्वामि-पूँजी पर प्रत्यय की दर ज्ञात कीजिए तथा (iii) प्रति अंश आय की गणना कीजिए।

(**Ans.** (i) Company 'P' = 1:5, Company 'Q' = 1 : 1, (ii) Company 'P' = 12.83%, Company 'Q' = 16.32%, (iii) Company 'P' = Rs.1.61, Company 'Q' = Rs. 2.45)

(5) गुप्ता लि. का चिट्ठा निम्न प्रकार है–

Liabilities	Amount Rs.	Assets	Amount Rs.
Equity Share Capital	2,00,000	Fixed Assets	1,75,000
8% Debentures	1,40,000	Cash	15,000
Trade creditors	1,50,000	Debtors	3,00,000
B/P	75,000	B/R	15,000
		Stock	20,000
		Investments	45,000
	5,70,000		**5,70,000**

उपर्युक्त चिट्ठे से निम्न अनुपात की गणना कीजिए–

(i) पूँजी दन्तिकरण अनुपात (Capital Gearing Ratio)

(ii) ऋण समता अनुपात (Debt Equity Ratio)

(iii) शोधन क्षमता अनुपात (Solvency Ratio)

(**Ans.** (i) 1.38:1 (Low Gearing), (ii) 1.85:1, (Bad), (iii) 1.54:1 (Good Solvency))

(6) शर्मा लि. का निम्न चिट्ठा है–

	Rs.		Rs.
Equity share Capital	2,50,000	Goodwill	1,50,000
Capital Reserve	70,000	Fixed Assets	2,75,000
Mortgage Loan	1,00,000	Stock	45,000
Creditors	60,000	Debtors	37,000
Bank Overdraft	25,000	Investment	42,000
Taxation:		Cash in hand	36,000
Current 15,000			
Future 15,000	30,000		
Profit and Loss Appropriation	50,000		
	5,85,000		**5,85,000**

ऋण समता अनुपात निकालिये तथा टिप्पणी कीजिये।

(**Ans.** उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि संस्था के बाहरी दायित्व पर्याप्त कोष से काफी कम हैं अर्थात् संस्था के पास 0.58 के ऋण के लिये 1 रुपया उपलब्ध है। अतः संस्था की स्थिति काफी सुदृढ है।)

(7) निम्न चिट्ठे से ऋण पूँजी अनुपात की गणना कीजिये–

Balance Sheet

	Rs.		Rs.
Share Capital	2,00,0000	Fixed Assets	2,50,000
Reserves	1,50,000	Current Assets	2,00,000

Long term Liabilities	75,000		
Current Liabilities	25,000		
	4,50,000		**4,50,000**

(**Ans.** उपर्युक्त अनुपात से स्पष्ट होता है कि प्रत्येक 0.29 बाह्य दायित्व के लिये संस्था के पास 1 रुपया उपलब्ध है। इसलिये ऋणदाताओं का धन पूर्णत: सुरक्षित है।)

(8) गोविन्द स्टील कम्पनी के समक्ष 5,00,000 रुपये की पूँजी के तीन विकल्प हैं-

विकल्प (Alternatives)

	I Rs.	II Rs.	III Rs.
समता अंश (Equity Shares)	1,75,000	3,50,000	4,75,000
संचय (Reserves)	25,000	-	25,000
पूर्वाधिकारी अंश (7% Preference Shares)	1,00,000	1,50,000	-
8% ऋण पत्र (8% Debentures)	2,00,000	-	-
	5,00,000	**5,00,000**	**5,00,000**

कर व ऋणपत्रों पर ब्याज लगाने से पूर्व लाभांश 75,000रु. वार्षिक तथा कर दर 50% मानते हुए समता पर व्यापार व पूँजी मिलान अनुपात पर अपनी टिप्पणी दीजिये।

(Ans. उपर्युक्त परिणाम से स्पष्ट होता है कि जिस विकल्प का Capital Gearing Ratio कम है उसके समता अंशों पर लाभांश की दर अधिक है। विकल्प I keder Capital Gearing Ratio सबसे कम अर्थात् 0.67:1 है तथा समता अंशों पर लाभांश की दर सबसे अधिक अर्थात् 12.86% है। विकल्प I ही सर्वोत्तम है।)

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

NOTES

7

पूँजी संरचना के सिद्धान्त
(THEORIES OF CAPITAL STRUCTURE)

प्रारम्भिक – किसी संस्था के कुल पूँजीकरण में ऋण एवं समता पूँजी का मिश्रण (अर्थात पूँजी संरचना) संस्था की पूँजी की लागत एवं संस्था के कुल मूल्य को प्रभावित करता है। किसी संस्था के प्रबन्ध को पूँजी संरचना के उस प्रारूप का चयन करना चाहिए जिसमें संस्था की समग्र पूँजी लागत न्यूनतम हो तथा संस्था का कुल मूल्य अधिकतम हो। किसी संस्था के पूँजी संरचना सम्बन्धी निर्णय संस्था की समता पूँजी पर प्रत्याय को प्रभावित करते हैं। अतः पूँजी संरचना सम्बन्धी निर्णय लेने से पूर्व पूँजी संरचना का संस्था की पूँजी की लागत एवं संस्था के मूल्य पर पड़ने वाले प्रभाव का ज्ञान होना आवश्यक है।

पूँजी संरचना के मुख्य चार सिद्धान्त निम्नलिखित हैं–

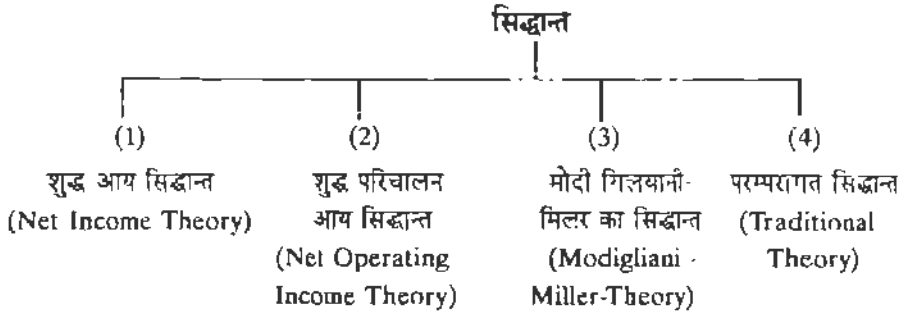

(1)**शुद्ध आय सिद्धान्त** (Net Income Theory) – शुद्ध आय सिद्धान्त का प्रतिपादन डेविड डूरन्ड द्वारा किया गया था। इस सिद्धान्त के अनुसार पूँजी संरचना में परिवर्तन से संस्था की पूँजी की लागत एवं संस्था का कुल मूल्य प्रभावित होता है। एक संस्था अपनी पूँजी संरचना में ऋण पूँजी के अनुपात में वृद्धि करके पूँजी की लागत में कमी एवं संस्था के कुल मूल्य में वृद्धि कर सकती है। इस सिद्धान्त के अनुसार एक संस्था को अपनी पूँजी संरचना में ऋण पूँजी का अधिकतम उपयोग करना चाहिए जिससे कि संस्था की पूँजी लागत न्यूनतम हो सके।

समता अंश पूँजी पर प्रत्याय में वृद्धि होने से संस्था के समता अंशों के बाजार मूल्य में वृद्धि होगी। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी संस्था की अनुकूलतम पूँजी संरचना (ऋण एवं समता पूँजी का मिश्रण) वह होगी जहाँ संस्था की पूँजी लागत न्यूनतम हो एवं संस्था का कुल मूल्य अधिकतम हो। शुद्ध आय सिद्धान्त को स्थिर समता पूँजी लागत सिद्धान्त भी कहा जाता है।

मान्यताएँ – शुद्ध आय सिद्धान्त निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है–

(i) ऋण पूँजी की लागत तथा समता पूँजी की लागत स्थिर रहेगी।

(ii) ऋण पूँजी की लागत समता पूँजी की लागत से कम है।

(iii) आयकर पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता है।

शुद्ध आय सिद्धान्त के अनुसार संस्था का कुल मूल्य समता अंशों के बाजार मूल्य एवं ऋण के बाजार मूल्य के योग के बराबर होता है। सूत्र रूप में–

$$\text{Total Value of Firm} = \text{Market Value of Equity} + \text{Market Value of Debt}$$

$$\text{Or } V = S + D$$

पूर्वोक्त सूत्र में समता के बाजार मूल्य का निर्धारण निम्न प्रकार किया जाता है–

$$\text{Market Value of Equity} = \frac{\text{Earnings available for Equity Shareholders}}{\text{Equity Capitalisation Rate or Cost of Equity Capital}}$$

$$\text{Or} \qquad S = \frac{E}{K_e} \text{ or } \frac{EBIT - I}{K_e}$$

शुद्ध आय सिद्धान्त के अनुसार संस्था की पूँजी की समग्र लागत (Overall Cost of Capital) का निर्धारण निम्न सूत्र द्वारा किया जाता है-

NOTES

$$\text{Overall Cost of Capital} = \frac{\text{Earning before Interest and Tax}}{\text{Value of the firm}}$$

$$\text{or} \qquad K_o = \frac{EBIT}{V}$$

Illustration 1:

मोहन लिमिटेड के पास 10% वाले 10,00,000 रु. के ऋणपत्र हैं। कम्पनी की सम्भावित शुद्ध वार्षिक आय कर एवं ब्याज पूर्व 4,00,000 रु. है। समता अंशों की पूँजीकरण दर 15% है। शुद्ध आय सिद्धान्त के अनुसार परिकलित कीजिए-

(अ) कम्पनी का वर्तमान कुल बाजार मूल्य और पूँजी की समग्र लागत;

(ब) यदि इक्विटी में कमी करके ऋण पत्रों में 6,00,000 रु. की कमी की जावे तो कम्पनी के कुल बाजार मूल्य तथा पूँजी की लागत पर प्रभाव, तथा

(स) यदि अंशों के निर्गमन द्वारा ऋण-पत्रों में 6,00,000 रु की कमी की जावे तो कम्पनी के कुल बाजार मूल्य तथा पूँजी की लागत पर प्रभाव।

Solution:

(A) (i) Calculation of existing total market value of the company:

	Rs.
Net Income (EBIT)	4,00,000
Less : Interest on 10% Debentures (I)	1,00,000
Profit available for Equity Shareholders (E)	3,00,000
Equity capitalisation rate (Ke)	15%
Market Value of Equity (S) $\left[S = \frac{E}{K_e} = \frac{\text{Rs. } 3,00,000}{15\%}\right]$	20,00,000
Market Value of Debentures (D)	10,00,000
Total Market Value of Company (V = S + D)	**30,00,000**

(ii) Calculation of existing Overall Cost of Capital :

$$K_o = \frac{EBIT}{V} \times 100 = \frac{\text{Rs. } 4,00,000}{30,00,000} \times 100 = 13.33\%$$

(B) Increase in Debentures in Total Capitalisation :

(i) Effect on Value of Company

Net Income (EBIT)	4,00,000
Less : 10% Interest on Debentures of Rs. 16,00,000	1,60,000
Profit available for Equity shareholders (E)	2,40,000
Equity capitalisation Rate (Ke)	15%
Market Value of Equity (S) = $\frac{E}{Ke} = \frac{\text{Rs.}2,40,000}{15\%}$	16,00,000
Market Value of Debentures	16,00,000
Market Value of Company (V = S + D)	30,00,000

(ii) **Effect on Overall Cost of Capital**

$$Ko = \frac{EBIT}{V} \times 100 = \frac{Rs.\ 4,00,000}{32,00,000} \times 100 = 12.50\%$$

उपर्युक्त गणना से यह स्पष्ट है कि यदि पूँजी-संरचना में ऋण पूँजी में वृद्धि की जाती है तो कम्पनी के कुल बाजार मूल्य में वृद्धि होगी तथा पूँजी की समस्त लागत में कमी होगी।

(C) **Decrease in Debentures in Total Capitalisation:**

(i) **Effect on Value of Compaoy–**	**Rs.**
Net Income (EBIT)	4,00,000
Less : 10% Interest on Debentures of Rs. 4,00,000 (I)	40,000
Profit available for Equity shareholders (E)	3,60,000
Equity Capitalisation Rate (Ke)	15%
Market Value of Equity (S) $(S = \frac{E}{Ke} = 3,60,000 \div 15\%)$	24,00,000
Market Value of Debentures (D)	4,00,000
Total Market Value of Company (V = S + D)	28,00,000

(ii) **Effect on Overall Cost of Capital**

$$Ko = \frac{EBIT}{V} \times 100 = Rs.\frac{4,00,000}{28,00,000} \times 100 = 14.29\%$$

स्पष्ट है कि यदि पूँजी संरचना में ऋण पूँजी में कमी की जाती है तो कम्पनी के कुल बाजार मूल्य में कमी होती है तथा पूँजी की समस्त लागत में वृद्धि होती है।

2. **शुद्ध परिचालन आय सिद्धान्त** (Net Operating Income Theory) – शुद्ध परिचालन आय सिद्धान्त का प्रतिपादन भी डेविड डूरन्ड द्वारा किया गया था। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी संस्था की पूँजी संरचना में परिवर्तन का संस्था के कुल मूल्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है तथा संस्था की पूँजी की समस्त लागत स्थिर रहती है। इस सिद्धान्त के अनुसार कोई पूँजी संरचना अनुकूलतम नहीं होती है क्योंकि यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि पूँजी संरचना संस्था की समस्त पूँजी लागत एवं संस्था के मूल्य पर कोई प्रभाव नहीं डालती है।

मान्यताएँ – शुद्ध परिचालन आय सिद्धान्त निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है–

(i) कम लागत वाली ऋण पूँजी के उपयोग में वृद्धि से समता अंशधारियों की वित्तीय जोखिम में वृद्धि होती है जिसमें समता पूँजी की पूँजीकरण दर (Ke) में वृद्धि होती है।

(ii) निगम कर अस्तित्व में नहीं होते हैं।

(iii) ऋण-पूँजीकरण दर स्थिर रहती है।

(iv) पूँजी संरचना के प्रत्येक स्तर पर व्यावसायिक जोखिम स्थिर रहती है। अतः समग्र पूँजीकरण दर भी स्थिर रहती है। (क्योंकि समग्र पूँजीकरण दर, व्यावसायिक जोखिम पर निर्भर करती है।)

(v) संस्था की कुल पूँजी को ऋण एवं समता में विभाजन करना महत्वहीन है क्योंकि विनियोजकों द्वारा संस्था का मूल्यांकन समग्र रूप से किया जाता है।

शुद्ध परिचालन आय सिद्धान्त के अनुसार संस्था का कुल मूल्य शुद्ध परिचालन आय को समग्र पूँजीकरण दर से पूँजीकृत करके ज्ञात किया जा सकता है–

$$\text{Value of firm} = \frac{\text{Earnings before Interest \& Tax}}{\text{Overall Cost of Capital}}$$

$$\text{Or} \qquad V = \frac{EBIT}{K_o}$$

फर्म के कुल मूल्य (V) में से ऋण के बाजार मूल्य (D) को घटाकर समता पूँजी का बाजार मूल्य (S) ज्ञात किया जाता है –

Market Value of Equity = Total Value of firm – Market Value of Debt

$$\text{Or } S = V - D$$

समता पूँजी की लागत (Ke) की गणना निम्न सूत्र द्वारा की जाती है -

Cost of Equity Capital

$$= \frac{\text{Earnings available for Equity Shareholders}}{\text{Value of Equity}}$$

Or $$Kc = \frac{EBIT - I}{S = V - D}$$

NOTES

Illustration 2:

प्रमोद लिमिटेड की सम्भावित वार्षिक शुद्ध परिचालन आय ब्याज एवं कर पूर्व 3,00,000 रु. है। ऋण की लागत 12% है तथा बकाया ऋण की राशि 10,00,000 रु. है। कम्पनी की समग्र पूँजीकरण दर 15% है। शुद्ध परिचालन आय सिद्धान्त के अनुसार कम्पनी के कुल बाजार मूल्य तथा समता पूँजीकरण दर की गणना कीजिए-

(अ) वर्तमान पूँजी-संरचना के लिए;

(ब) यदि कम्पनी निर्णय करती है कि 12% लागत वाला ऋण जारी करके 5,00,000 रु. प्राप्त किये जायें तथा प्राप्ति राशि से समता अंशधारियों को भुगतान कर दिया जाये; तथा

(स) यदि कम्पनी समस्त अंशों के निर्गमन द्वारा 5,00,000 रु. के ऋण के शोधन का निर्णय करती है।

Solution :

(A) (i) Calculation of Total Market Value of the Company for existing Capital Structure :

	Rs.
Net Operating Income (EBIT)	3,00,000
Overall Capitalisation Rate (Ko)	15%
Total Market Value of the Company (V) $= \frac{EBIT}{Ko} = Rs. \frac{3,00,000}{15\%}$	20,00,000

(ii) Calculation of Equity Capitalisation rate (Ke) for existing Capital Structure :

Total Market value of the company (V)	20,00,000
Less : Total Market Value of Debt (D)	10,00,000
Total Market value of Equity (S = V – D)	10,00,000

Equity Capitalisation rate (Ke)

$$= \frac{\text{Profit available equity shareholders}}{\text{Market Value of Equity(S)}} \times 100$$

$$= \frac{Rs.3,00,000 - 12\% \text{ of } Rs.10,00,000}{Rs.\ 10,00,000} \times 100$$

$$= \frac{Rs.\ 3,00,000 - Rs.\ 1,20,000}{Rs.10,00,00} \times 100$$

$$= \frac{Rs.\ 1,80,000}{10,00,000} \times 100 = 18\%$$

(B) Increase in debt and decrease in equity :

(i) Calculation of Total Market Value of the Company:

	Rs.
Net Operating Income (EBIT)	3,00,000
Overall Capitalisation rate (Ko)	15%

Total Market Value of the Company (V) $= \frac{EBIT}{Ko}$

$$= \text{Rs.}\frac{3,00,000}{15\%} = 20,00,000$$

(ii) Calculation of Equity Capitalisation Rate (Ke)

	Rs.
Total Market value of the Company (V)	20,00,000
Less : Total value of debt (D)	15,00,000
Total Market Value of equity (S = V – D)	5,00,000

Equity Capitalisation rate (Ke)

$$= \frac{\text{EBIT} - \text{I}}{\text{S}} \times 100 = \frac{\text{Rs. } 3,00,000 - 12\% \text{ of Rs.}15,00,000}{\text{Rs.}5,00,000} \times 100$$

$$= \frac{\text{Rs. } 3,00,000 - \text{Rs. } 1,80,000}{\text{Rs. } 5,00,000} \times 100$$

$$= \frac{\text{Rs. } 1.20,000}{\text{Rs. } 5,00,000} \times 100 = 24\%$$

(C) Decrease in debt and increase in equity :

(i) Calculation of Total Market Value of the Company:

	Rs.
Net Operating Income (EBIT)	3,00,000
Overall Capitalisation rate (Ko)	15%

Total Market Value of the Company (V) = $\frac{\text{EBIT}}{\text{Ko}}$

$$= \frac{\text{Rs. } 3,00,000}{15\%} = 20,00,000$$

(ii) Calculation of Equity Capitalisation rate (Ke) :

	Rs.
Total Market Value of the Company (V)	20,00,000
Less : Total Value of debt (D)	5,00,000
Total Market Value of equity (S = V – D)	15,00,000

Equity capitalisation rate (Ke)

$$\frac{\text{EBIT} - \text{I}}{\text{S}} \times 100 = \frac{\text{Rs. } 3,00,000 - 12\% \text{ of Rs.}5,00,000}{\text{Rs.}15,00,000} \times 100$$

$$= \frac{\text{Rs. } 3,00,000 - \text{Rs. } 60,000}{\text{Rs. } 15,00,000}$$

$$= \text{Rs.}\frac{2,40,000}{15,00,000} \times 100 = 16\%$$

3. **मोदी गिलयानी मिलर सिद्धान्त** (Modigliani-Miller Theory) – मोदी गिलयानी-मिलर सिद्धान्त में निगम करों को ध्यान में नहीं रखा जाता है और यह शुद्ध परिचालन आय सिद्धान्त के समान होता है। इन दोनों सिद्धान्तों के अनुसार ही पूँजी संरचना में परिवर्तन का संस्था की समस्त पूँजी लागत एवं संस्था के कुल मूल्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

मोदी गिलयानी-मिलर सिद्धान्त में जब निगम-करों को ध्यान में रखा जाता है तब यह सिद्धान्त शुद्ध आय सिद्धान्त के समान होता है।

(अ) **मोदी गिलयानी मिलर सिद्धान्त निगम करों की अनुपस्थिति में** (Modigliani Miller Theory in the Absence of Corporate Taxes) – इस सिद्धान्त के अनुसार संस्था की पूँजी संरचना में परिवर्तन से संस्था की समस्त पूँजी लागत एवं संस्था का कुल मूल्य अप्रभावित रहता है। इसका कारण यह है कि ऋण पूँजी समता पूँजी से सस्ती होती है तथा पूँजी संरचना में ऋण के अधिक उपयोग से समता अंशधारियों की प्रत्याशा में वृद्धि के कारण समता पूँजी की लागत में वृद्धि होती है तथा इससे ऋण की कम लागत का लाभ समता पूँजी की अधिक लागत में वृद्धि से प्रतिसंतुलित (offset) हो जाता है। इस प्रकार पूँजी संरचना में ऋण पूँजी का अधिक उपयोग समता पूँजी की लागत को प्रभावित करता है। किसी संस्था की पूँजी संरचना में ऋण पूँजी का एक निश्चित सीमा से ज्यादा उपभोग करने पर संस्था की वित्तीय जोखिम बढ़ जाती है तथा इससे ऋण पूँजी की लागत बढ़ती है व समता पूँजी की लागत घटती है

और इस प्रकार ऋण एवं समता पूँजी की लागतों का पुनः सन्तुलन हो जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार पूँजी संरचना के अलावा अन्य दृष्टि से समान दो संस्थाओं की समस्त पूँजी लागत एवं संस्था का मूल्य अन्तरपणन प्रक्रिया (Abitrage Process) के कारण अलग-अलग नहीं हो सकते हैं।

मान्यताएँ – मोदी गिलयानी मिलर का यह सिद्धान्त निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है–

(i) व्यक्तिगत विनियोजकों को भी बिना किसी के उन्हीं शर्तों पर ऋण प्राप्त होता है जिन शर्तों पर किसी संस्था को प्राप्त होता है।

(ii) समस्त लाभों का वितरण अर्थात् संस्था अपने समस्त लाभों का वितरण अंशधारियों को कर देती है। संस्था का लाभांश भुगतान अनुपात 100% है।

(iii) निगम करों की अनुपस्थिति अर्थात् संस्था को कोई निगम कर नहीं देना पड़ता है।

(iv) संस्था का मूल्यांकन करने हेतु सभी विनियोजकों की शुद्ध परिचालन आय के सम्बन्ध में प्रत्याशा (Expectation) समान है।

(v) सभी संस्थाओं को सजातीय जोखिम वर्गों (Homogeneous risk class) में विभाजित किया जा सकता है अर्थात् सभी संस्थाएँ अर्जनों के अनुसार विभिन्न वर्गों में विभाजित की जा सकती हैं।

(vi) व्यवहार लागत (Transaction cost) नहीं है अर्थात् पूँजी बाजार में प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय करने पर कोई लागत नहीं आती है।

(vii) पूँजी बाजार पूर्ण है। अर्थात् विनियोजक प्रतिभूतियों का क्रय एवं विक्रय करने के लिए पूर्ण स्वतंत्र है तथा विवेकशील है।

(ब) मोदी गिलयानी मिलर सिद्धान्त निगम करों की उपस्थिति में (Modigliani Miller Theory in the Presence of Corparate Taxes) – मोदी गिलयानी मिलर का मूल सिद्धान्त (निगम करों की अनुपस्थिति में) कि संस्था की पूँजी संरचना में परिवर्तन से संस्था की समस्त पूँजी लागत एवं संस्था का कुल मूल्य अप्रभावित रहता है, निगम करों की उपस्थिति में सही नहीं है। यदि कोई संस्था अपनी पूँजी संरचना में ऋण का उपयोग करती है तो संस्था की समस्त पूँजी लागत कम होती है तथा संस्था का कुल मूल्य बढ़ता है। उन्होंने स्वीकार किया कि उत्तोलक (Levered) वाली संस्था का कुल मूल्य बिना उत्तोलक (unlevered) वाली संस्था के कुल मूल्य से अधिक होगा।

निगम करों की उप-स्थिति में किसी संस्था का कुल मूल्य निम्न प्रकार ज्ञात किया जा सकता है–

Value of Unlevered firm (Vu) :

$$Vu = \frac{\text{Profits Available for Equity Shareholders}}{\text{Equity Capitalisation Rate}}$$

or

$$Vu = \frac{EBIT\,(I - T)}{Ke}$$

Value of Levered Firm (Vl) :

$$Vl = V + DT$$

यहाँ – Vu = Value of Unlevered firm

Vl = Value of Levered Firm

EBIT = Earnings before intexest & tax

T = Tax Rate

D = Amount of Debt

Illustration 3 :

दो फर्म R एवं S जो सभी दृष्टियों से समान हैं सिवाय इसके कि फर्म R अपनी पूँजी संरचना में किसी ऋण का उपयोग नहीं करती है; जबकि फर्म S की पूँजी संरचना में 10% वाले 5,00,000 रु. के ऋण पत्र हैं। दोनों फर्मों की ब्याज व कर से पूर्व अर्जनें 2,00,000 रु. वार्षिक हैं और समता पूँजीकरण दर 12% है। निगम कर की दर 40% मानते हुए मोदी गिलयानी मिलर सिद्धान्त द्वारा इन फर्मों का मूल्य ज्ञात कीजिए।

Solution :

The market value of firm R (unlevered) which does not use any debt

$$Vu = \frac{EBIT\,(1-T)}{Ke}$$

$$= \frac{Rs.2,00,000\,(1-40)}{12\%}$$

$$= Rs.\ 2,00,000 \times \frac{0.6}{0.12} = Rs.\ 10,00,000$$

The market value of firm S (levered) which use debt of Rs. 5,00,000

$$Vl = Va + DT$$

$$= Rs.\ 10,00,000 + 5,00,000 \times 0.4$$

$$= Rs.\ 10,00,000 + 2,00,000$$

$$= Rs.\ 12,00,000$$

4. **परम्परागत सिद्धान्त** (Traditional Theory) – परम्परागत सिद्धान्त शुद्ध आय सिद्धान्त तथा शुद्ध परिचालन आय सिद्धान्त का मध्यमार्गी है। ऋण पूँजी की लागत समता पूँजी की लागत से कम होती है, अतः इस सिद्धान्त के अनुसार एक संस्था अपनी पूँजी संरचना में एक सीमा तक ऋण पूँजी में वृद्धि करके अपनी समस्त पूँजी की लागत को कम कर सकती है एवं संस्था के कुल मूल्य को बढ़ा सकती है, किन्तु पूँजी संरचना में एक सीमा से ज्यादा ऋण की मात्रा बढ़ाने पर संस्था की समस्त पूँजी लागत में वृद्धि होती है एवं संस्था का कुल मूल्य कम होता है। अतः ऋण पूँजी एवं समता पूँजी के विवेकपूर्ण मिश्रण द्वारा एक संस्था अपनी समस्त पूँजी लागत को कम कर सकती है तथा अपने कुल मूल्य को बढ़ा सकती है।

इस सिद्धान्त के अनुसार किसी संस्था की पूँजी संरचना में परिवर्तन का संस्था की समस्त पूँजी की लागत तथा संस्था के कुल मूल्य पर पड़ने वाले प्रभाव को निम्नलिखित तीन चरणों में विभक्त करके स्पष्ट किया जा सकता है –

प्रथम चरण (First Stage) – शुरू में किसी संस्था द्वारा पूँजी संरचना में ऋण पूँजी का उपयोग संस्था की समस्त पूँजी लागत में कमी करता है एवं संस्था के कुल मूल्य को बढ़ाता है। इसका कारण यह है कि प्रथम चरण में समता पूँजी की लागत स्थिर रहती है एवं दूसरी ओर इस दौरान ऋण की लागत भी स्थिर रहती है।

द्वितीय चरण (Second Stage) – किसी संस्था की पूँजी संरचना में ऋण पूँजी की मात्रा एक निश्चित सीमा से अधिक उपयोग नहीं करने पर संस्था की समस्त पूँजी की लागत एवं संस्था के कुल मूल्य पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं डालता है। इसलिए द्वितीय चरण में मध्यम विस्तार सीमा के अन्दर एक विशिष्ट बिन्दु पर संस्था की समस्त पूँजी की लागत न्यूनतम एवं संस्था का मूल्य अधिकतम होता है और इस विशिष्ट बिन्दु पर संस्था की पूँजी संरचना अनुकूलतम होती है।

तृतीय चरण (Third Stage) – किसी संस्था की पूँजी संरचना में ऋण पूँजी की स्वीकार्य मात्रा के पश्चात् और अधिक ऋण पूँजी का उपयोग करने पर संस्था की समस्त पूँजी की लागत में वृद्धि होती है तथा संस्था के कुल मूल्य में कमी होती है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि पूँजी संरचना में ऋण पूँजी की स्वीकार्य मात्रा के पश्चात् और अधिक ऋण पूँजी में वृद्धि करने पर समता अंशधारियों की दृष्टि में वित्तीय जोखिम बढ़ जाती है।

Illustration 4

फर्म अ तथा ब सभी तरह से समान हैं सिवाय इसके कि पहली फर्म बिना उत्तोलक वाली है जबकि बाद वाली फर्म उत्तोलक वाली है। (i) फर्म ब में मोदी गिलयानी-मिलर की सभी मान्यताओं की पूर्ति होती है; (ii) कर की दर 50 प्रतिशत है; (iii) शुद्ध परिचालन आय (EBIT) 6 लाख रु. है तथा फर्म अ की समता पूँजीकरण दर 12 प्रतिशत है।

M - M विचारधारा के अनुसार प्रत्येक फर्म का मूल्य क्या होगा ?

Solution :

$$Vu = \frac{EBIT\,(1-T)}{Kc}$$

$$= \frac{Rs.\ 6,00,000\,(1-0.50)}{12\%}$$

$$= \frac{Rs.\ 6,00,000 \times 0.50}{0.12} = Rs.\ 25,00,000$$

Value of firm B (levered)

= Vu + DT

= Rs. 25,00,000 + Rs. 20,00,000 × 0.50

= Rs. 25,00,000 + Rs. 10,00,000

= Rs. 35,00,000

Illustration 5.

आनन्द लिमिटेड की शुद्ध परिचालन आय 3,00,000 रु. है। कम्पनी के पास 5,00,000 रु के 15% ब्याज दर पर ऋण हैं। निगम कर को अनुपस्थित मानिए।

(i) शुद्ध आय विचारधारा तथा समता पूँजीकरण दर 15% का उपयोग करते हुए फर्म का कुल मूल्य तथा पूँजी की समग्र लागत की गणना कीजिए।

(ii) शुद्ध परिचालन आय विचारधारा तथा समग्र पूँजीकरण दर 10% का उपयोग करते हुए फर्म का कुल मूल्य, समता का बाजार मूल्य तथा समता पूँजी की लागत की गणना कीजिए।

Solution :

(i) Net Income Approach

(a) Calculation of Total Value of the firm :

	Rs.
Net Operating Income (EBIT)	3,00,000
Less : Interest on debt of Rs. 5,00,000 @ 12% (1)	60,000
Profit available for equity shareholders (E)	2,40,000
Equity capitalisation rate (Ke)	15%
Market Value of Equity (S) $\left[S = \frac{E}{Ke} = \frac{Rs.\ 2,40,000}{15\%}\right]$	16,00,000
Market Value of Debt (D)	5,00,000
Total Value of the firm (V = S + D)	**21,00,000**

(b) Calculation of Overall Cost of Capital (Ko) :

$$Ko = \frac{EBIT}{V} \times 100 = \frac{Rs.\ 3,00,000}{21,00,000} \times 100 = 14.28\%$$

(ii) Net Operating Income Approach

(a) Calculation of Total Value of the firm :

	Rs.
Net Operating Income (EBIT)	3,00,000
Overall Capitalisation Rate (Ko)	10%
Total Value of the firm (V) $= \frac{EBIT}{Ko} = \frac{Rs.\ 3,00,000}{10\%}$	30,00,000

(b) Calculation of Market Value of Equity (S) :

Total Value of the firm (v)	30,00,000
Less : Total Value of Debt (D)	5,00,000
Market Value of Equity (S = V - D)	**25,00,000**

(c) Calculation of Cost of Equity Capital (Ke) :

$$Ke = \frac{EBIT - I}{S} \times 100 = \frac{Rs.\ 2,40,000}{Rs.\ 25,00,000} \times 100 = 9.60\%$$

Illustration 6.

एक कम्पनी के लिए अनुकूलतम पूँजी-संरचना का विचार करते समय, ऋण-समता मिश्रण के विभिन्न स्तरों पर ऋण तथा समता पूँजी की लागत के निम्नलिखित अनुमान लगाये गये हैं-

Debt as percentage of total capital employed	Cost of debt (%)	Cost of Equity (%)
0	6	13
10	6	13
20	6	13.5
30	7	14
40	8	16
50	9	18
60	10	21

आपको पूँजी की समस्त लागत की गणना करके कम्पनी के लिए अनुकूलतम ऋण समता मिश्रण का निर्धारण करना है।

Solution : Statement Showing Composite Cost of Capital

Debt as percentage of total capital employed	Cost of debt (%)	Cost of Equity (%)	Composite cost of capital (%)
0	6	13	(6×0) + (13×1) = 13.0
10	6	13	(6×0.10) + (13× 0.90) = 12.3
20	6	13.5	(6×0.20) + (13.5×0.80) = 12.0
30	7	14	(7 × 0.30) + (14× 0.70) = 11.9
40	8	16	(8 × 0.40) + (16 × 0.60) = 12.8
50	9	18	(9 × 0.50) + (18 × 0.50) = 13.5
60	10	21	(10×0.60) + (21 × 0.40) = 14.4

निष्कर्ष – 30% ऋण एवं 70% समता का मिश्रण कम्पनी के लिए अनुकूलतम ऋण-समता मिश्रण है, क्योंकि इस मिश्रण की समग्र पूँजी लागत 11.9% न्यूनतम है।

Illustration 7

एक कम्पनी की चालू परिचालन आय 6,00,000 रु. है। कम्पनी के पास 12% वाले 15 लाख रु. के बकाया ऋण हैं। इसकी समता पूँजी की लागत 15 प्रतिशत होने का अनुमान है। कम्पनी 10,00,000 रु. के अतिरिक्त ऋण की प्राप्ति से उत्तोलक में वृद्धि करने पर विचार कर रही है तथा इस राशि का उपयोग समता पूँजी को कम करने में करती है। इस बढ़ी हुई वित्तीय जोखिम के फलस्वरूप ऋण की लागत 15 प्रतिशत तक तथा समता पूँजी की लागत 20 प्रतिशत तक बढ़ने की सम्भावना है।

आपको परम्परागत प्रतिमान का उपयोग करते हुए कम्पनी के चालू मूल्य का निर्धारण करना है। कम्पनी द्वारा अपने उत्तोलक में वृद्धि करने के प्रस्ताव के बारे में अपनी अनुशंसा दीजिये।

Solution : Computation of Current Value of The Company

	Rs.
Net Operating Income (EBIT)	6,00,000
Less : Interest on debt of Rs. 15,00,000 @ 12% (1)	1,80,000
Earnings for equity shareholders (E)	4,20,000
Equity Capitalisation Rate (Ke)	15% or 0.15
Market Value of Equity (S) $S = \frac{E}{Ke} = Rs.\frac{4,20,000}{0.15}$	28,00,000
Market Value of Debt (D)	15,00,000
Total Market value of Company (V = S + D)	43,00,000

Effect of Increasing debt by Rs 10,00,000

	Rs.
Net Operating Income (EBIT)	6,00,000
Less : Interest on debt of Rs. 25,00,000 @ 15% (I)	3,75,000
Earnings for equity shareholders (E)	2,25,000
Equity Capitalisation Rate (Ke)	20% or 0.20
Market Value of Equity (S)$S = \frac{E}{Ke} = Rs.\frac{2,25,000}{0.20}$	11,25,000
Market Value of Debt (D)	25,00,000
Total Market Value of Company (V = S + D)	36,25,000

टिप्पणी - प्रस्तावित योजना की अनुशंसा नहीं की जायेगी क्योंकि ऋण अनुपात में वृद्धि से कम्पनी का मूल्य (V) कम (43,00,000 रु. से घटकर 36,25,000) हो जायेगा।

Illustration 8.

निम्नलिखित सूचना से माहेश्वरी लिमिटेड का कुल मूल्य, समता अंशों का मूल्य तथा पूँजी की समग्र लागत का परिकलन कीजिये

	Rs.
Net Operating Income	3,30,000
Total Investment	20,00,000
Equity Capitalisation Rate -	
(a) If the company uses no debt	11%
(b) If the company uses Rs. 10,00,000 debentures	12%
(c) If the company uses Rs. 15,00,000 debentures	15%

यह मानिए कि 10,00,000 रु. के ऋणपत्र 6% ब्याज दर पर जारी किये जा सकते हैं तथा 15,00,000 रु. के ऋणपत्र 8% ब्याज दर पर जारी किये जा सकते हैं।

Solution :

Computation of Market Value and Cost of Capital

	No Debt.	Rs. 10,00,000 6% Debt.	Rs. 15,00,000 8% Debt.
	Rs.	Rs.	Rs.
Net Operating Income (EBIT)	3,30,000	3,30,000	3,30,000
Less : Interest on debt	–	60,000	1,20,000
Net Income (E)	3,30,000	2,70,000	2,10,000
Equity capitalisation rate (Ke)	11%	12%	15%
(i) Market Value of Equity Share (S) $[S = \frac{E}{Ke}]$	30,00,000	22,25,000	14,00,000
Market Value of Debt (D)	–	10,00,000	15,00,000
(ii) Total Market Value of the Company (V = S + D)	30,00,000	32,50,000	29,00,000
(iii) Overall Cost of Capital (Ko) $[Ko = \frac{EBIT}{V} \times 100]$	11%	10.15%	11.38%

NOTES

प्रश्न
(QUESTIONS)

1. पूँजी संरचना के मोदी गिलयानी मिलर सिद्धान्त की कोई दो मान्यताएँ बताइये।
2. पूँजी संरचना के परम्परागत सिद्धान्त से आप क्या समझते हैं?
3. पूँजी संरचना के शुद्ध परिचालन आय सिद्धान्त से आप क्या समझते हैं?
4. पूँजी संरचना के शुद्ध आय सिद्धान्त से आप क्या समझते हैं?
5. पूँजी ढाँचे की असम्बद्ध अवधारणा को उपर्युक्त उदाहरणों की सहायता से समझाइये।

क्रियात्मक प्रश्न (Practical Problems)

1. एक कम्पनी के लिए अनुकूलतम पूँजी संरचना का विचार करते समय, ऋण-समता मिश्रण के विभिन्न स्तरों पर ऋण तथा समता पूँजी की लागत के लिए निम्नलिखित अनुमान लगाये गये हैं।

Debt as a percetage of total Capital employed	Cost of debt (5%)	Cost of equity (%)
0	8	15
10	8	15
20	8	16
30	9	16
40	10	17
50	11	19
60	12	20

आपको पूँजी की समग्र लागत की गणना करके कम्पनी के लिए अनुकूलतम ऋणसमता मिश्रण का निर्धारण करना है।

(Ans. Optiumum Debt Equity mix is 30 : 70, Ko = 13.9%)

2. कृष्णा लिमिटेड की चालू परिचालन आय 8 लाख रु. है। इसके पास 20 लाख रु. के 10 प्रतिशत ऋण बकाया है। कम्पनी की अनुमानित समता पूँजी लागत 15% है। कम्पनी 10,00,000 रु. के ऋणपत्र जारी करके उत्तोलक में वृद्धि करने पर विचार कर रही है तथा इस राशि से समता पूँजी को क्रय करना चाहती है। इस बढ़ी हुई वित्तीय जोखिम के फलस्वरूप ऋण लागत 12% तक तथा समता पूँजी लागत (Ke) 20% तक हो जायेगी।

आपको परम्परागत प्रतिमान का उपयोग करते हुये कृष्णा लिमिटेड के चालू मूल्य का निर्धारण करना है। कम्पनी के अपने उत्तोलक में वृद्धि के प्रस्ताव के सम्बन्ध में भी अपनी अनुशंसा दीजिए।

(Ans : V = Rs. 60,00,000 and Rs. 52,00,000. Proposal is not recommended).

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

3. गुप्ता एण्ड कम्पनी से आपको निम्नलिखित सूचनाएँ उपलब्ध हैं–

Overall cost of capital (Ko)	15%
Cost of debt capital	12%
Net Operating Income (EBIT)	Rs. 3,00,000

आपके शुद्ध परिचालन आय (NOI) विचारधारा के अनुसार कम्पनी की समता पूँजी की लागत तथा कम्पनी का मूल्य ज्ञात करना है, यदि कम्पनी की कुल पूँजी-संरचना मूल्य में ऋण पूँजी (i) 5,00,000, (ii) 10,00,000 रु. हो। **(Ans. : Ke = 16% and 18%; V = Rs. 20,00,000 in each case)**

4. एक कम्पनी की सम्भावित शुद्ध आय 2,00,000 रु. है। इसके पास 5,00,000 रु. के 8 प्रतिशत ब्याज दर वाले ऋणपत्र है। कम्पनी की समता पूँजीकरण दर 10% है। आयकर का ध्यान न रखते हुए शुद्ध आय विचारधारा के अनुसार कम्पनी का मूल्य एवं समग्र पूँजीकरण दर की गणना कीजिए।

(Ans. : V = Rs. 21,00,000; Ko = 9.5%)

8

परिचालन एवं वित्तीय उत्तोलक
(OPERATING AND FINANCIAL LEVERAGES)

'लीवरेज' शब्द इंजीनियरिंग विज्ञान से लिया गया है। यह लीवर (Lever) की क्रिया के कारण प्राप्त यांत्रिक लाभ तथा प्रभावोत्पादकता को बतलाता है। जिस प्रकार 'लीवर' की क्रिया भारी से भारी मशीनों में गति उत्पन्न कर देती है, उसी प्रकार लीवरेज (Leverage) में 'वृद्धि' अथवा 'कमी' कम्पनी की लाभदायकता (Profitability) में अनुपात से अधिक वृद्धि या कमी उत्पन्न कर सकती है। **'लीवरेज'**, **'अनुकूलता'** अथवा **'प्रतिकूलता'** की उस सीमा को व्यक्त करता है जिसके कारण विक्रय की मात्रा (Volume of Sales) अथवा ऋण-पूँजी में की गयी थोड़ी-सी वृद्धि अथवा कमी से कम्पनी के लाभों में अनुपात से अधिक वृद्धि अथवा कमी उत्पन्न होती है। ऊँची स्थिर लागतों अथवा अधिक ऋण-पूँजी के प्रयोग के कारण उत्पन्न जोखिम की सीमा का आकलन करने के अभिप्राय से लीवरेज की विचारधारा का उपयोग किया जाता है। कुल लागतों के अनुपात में ऊँची स्थिर लागतों अथवा कुल-पूँजी के अनुपात में अपेक्षाकृत अधिक ऋण-पूँजी का व्यवसाय में उपयोग व्यावसायिक जोखिम अथवा वित्तीय-जोखिम की मात्रा में वृद्धि कर देता है, किन्तु एक उत्तम लाभ उपार्जित करने वाली कम्पनी की दशा में 'ऊँचा-लीवरेज' विनियोजित पूँजी पर प्रत्याय में वृद्धि करने का अवसर भी प्रदान करता है।

एम.सी.कुच्छल के शब्दों में, "उत्तोलक का अभिप्राय वित्त प्रबन्धन में स्थायी पूँजी लागत की पूर्ति अथवा भुगतान करने से होता है।"

("Leverage may be defined as meeting a fixed cost or playing a fixed return for employing resources or funds.")

"लीवरेज" एक ऐसे उपकरण के समान है जो दुतरफा काट करता है। दूसरे शब्दों में, यह एक ओर जोखिम में वृद्धि करता है तो दूसरी ओर विनियोजित पूँजी पर प्रत्याय की दर में भी वृद्धि करने का अवसर प्रदान करता है। जब तक विक्रय से प्राप्त होने वाली आय का स्तर ऊँचा रहता है, ऊँचा लीवरेज स्वामि-पूँजी पर अनुपात से अधिक लाभ प्रदान करने में सफल होता है। इसी प्रकार थोड़ी-सी 'प्रतिकूलता' लाभों में अनुपात से अधिक 'कमी' उत्पन्न कर सकती है। अतः यह कहना उचित होगा कि ऊँचे लीवरेज के आधार पर व्यवसाय संचालन के लिये ऊँचे स्तर की दक्षता एवं सतर्कता की अपेक्षा होती है। केवल एक ही ऊँचे लीवरेज के साथ व्यवसाय का संचालन सफलतापूर्वक किया जा सकता है।

लीवरेज के प्रकार
(Kinds of Leverage)

लीवरेज तीन प्रकार के होते हैं–

1. वित्तीय लीवरेज (Financial Leverage),
2. परिचालन लीवरेज (Operating Leverage),
3. संयुक्त लीवरेज (Combined Leverage)।

1. वित्तीय लीवरेज
(Financial Leverage)

वित्तीय लीवरेज वस्तुतः ट्रेडिंग ऑन इक्विटी का ही समानार्थी है। इन दोनों विचारों में कोई अन्तर नहीं है। वित्तीय लीवरेज का सिद्धान्त ट्रेडिंग ऑन इक्विटी के सिद्धान्त की ही एक परिष्कृत व्याख्या है जिसका प्रस्तुतीकरण कुछ अधिक स्पष्टता एवं युक्तिपूर्ण रीति से किया गया है। दोनों विचारों का उद्देश्य समान है। यह पूँजी-ढाँचे के स्वरूप के बारे में उचित निर्णय लेने में सहायक होता है।

इजरा सोलोमन के अनुसार, "वित्तीय उत्तोलक संस्था के वित्त में ऋण और समता के मिश्रण को बताता है।" (Financial leverage refers to the mix of debt and equity used to finance the firm)। **वेस्टन होस्ट** के शब्दों में - "वित्तीय लीवरेज को कुल पूँजी के साथ कुल ऋण पूँजी के अनुपात या कुल सम्पत्तियों में ऋण पूँजी के

अनुपात के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।" ("Financial leverage is defined either the ratio of total debt to net worth or by the ratio of total debt to total assets.")

"वित्तीय लीवरेज" का सिद्धान्त पूँजी-ढाँचे में स्थिर दायित्व उत्पन्न करने वाले पूँजी-साधनों (जैसे - ऋण पूँजी) के उपयोग के कारण कम्पनी के लाभों पर पड़ने वाले प्रभाव की विवेचना करता है। वित्तीय लीवरेज की सीमा को उस अनुपात के द्वारा नापा जा सकता है जो एक ओर EBIT (Earnings before Interest & Taxes) और दूसरी ओर PBT (Profits before tax) में होता है।

सूत्र-

$$FL = \frac{EBIT}{EBIT - INT} = \frac{EBIT}{PBT}$$

Where, FL = Financial Leverage

EBIT = Earnings Before Interest & Taxes

INT = Interest

PBT = Profits Before Tax

पूँजी-ढाँचे में ऊँचा वित्तीय लीवरेज परिचालन लाभ पर ब्याज के भारी प्रभार को उत्पन्न करता है जिसे तब तक भली प्रकार पूरा किया जा सकता है जब तक फर्म की आय उच्च स्तर पर बनी रहती है। जैसे ही विक्रय आय में कमी होती है ऊँचा वित्तीय लीवरेज फर्म के समक्ष वित्तीय-संकट उपस्थित कर देता है। फलस्वरूप कर-सहित लाभों में कमी हो जाती है। ऊँचे वित्तीय लीवरेज के कारण पर्याप्त आय वाले वर्षों में लाभ में अनुपात से अधिक वृद्धि तथा कम आय वाले वर्षों में लाभ में अनुपात से अधिक कमी हो जाती है। इस प्रकार वित्तीय लीवरेज भी एक ओर यदि लाभ को बढ़ा-चढ़ा देता है तो दूसरी ओर हानि को भी बढ़ा-चढ़ा देता है।

वित्तीय लीवरेज की सीमा की गणना निम्न सूत्र के आधार पर की जाती है -

$$DFL = \frac{\% \text{ Change in PBT or EBT}}{\% \text{ Change in EBIT}}$$

where, DFL = Degree of Financial Leverage

PBT = Profits Before Tax

EBIT = Earnings Before Interest & Tax

वित्तीय लीवरेज को मात्रा को कर व ब्याज से पूर्व लाभ (EBIT) और प्रति अंश आय (EPS) के बीच सम्बन्ध के रूप में भी परिभाषित किया जाता है। गिटमैन का मत है, "वित्तीय लीवरेज एक फर्म द्वारा स्थायी वित्तीय चार्ज के प्रयोग की योग्यता है जिसमें परिचालन लाभ में परिवर्तन द्वारा प्रति अंश आय में वृद्धि का प्रयास किया जाता है।"

$$\text{वित्तीय लीवरेज या DEL} = \frac{\% \text{ Change in EPS}}{\% \text{ Change in EBIT}}$$

Illustration 1.

एवर ग्रीन कम्पनी को अतिरिक्त 50 लाख रु. की राशि प्राप्त करने हेतु 10% ऋणपत्रों की बिक्री या 50 रु. प्रति अंश समता अंशों को बेचने का विकल्प है।कम्पनी के वर्तमान पूँजी ढाँचे में 10 लाख समता अंश है और कोई ऋण नहीं है। नवीन पूँजी के बाद ब्याज व कर से पूर्व आय का स्तर क्या होगा। क्या समता अंशों या ऋणपत्रों के निर्गमन के बाद प्रति अंश आय (EPS) समान होगी। यदि प्रति अंश आय समान रहे, तो EBIT का स्तर निर्धारित कीजिए, यदि सिंकिंग फण्ड से प्रतिवर्ष 5 लाख रु. प्राप्त होते हों। कर की दर 50% है।

Solution :

Alternative I : 10% debentures of Rs. 50 Lakhs

Alternative II : Equity Shares of Rs. 50 Lakhs.

Existing Capital Structure : 10,00,000 Equity Shares of Rs. 50 each and no debt.

Proposed I : Rs. 50 Lakhs Equity Shares. Capital + Rs. 50 Lakhs debentures

II : Rs. 500 + 50 = Rs. 550 Lakhs. equity Share capital.

पूँजी संरचना के दोनों स्तरों पर EPS समान हों –

$$\frac{(X - i_1)(1 - T)}{S_1} = \frac{(X - i_2)(1 - T)}{S_2}$$

or $$\frac{(X - 5{,}00{,}000)(1 - .5)}{10{,}00{,}000} = \frac{(X - 0)(1 - .5)}{11{,}00{,}000}$$

or $$\frac{(X - 5{,}00{,}000) \times .5}{10{,}00{,}000} = \frac{(X)(.5)}{11{,}00{,}000}$$

or $$\frac{5X - 2{,}50{,}000}{10{,}00{,}000} = \frac{.5X}{11{,}00{,}000}$$

or $5{,}50{,}000X - 275{,}00{,}00{,}00{,}000 = -50{,}000X$

or $50{,}000X = 275{,}00{,}00{,}00{,}000$

or $X = \text{Rs. } 55{,}00{,}000$

अतः EBIT = Rs. 55,00,00,000 दोनों विकल्पों में EPS समान होगा।

Illustration 2.

किसी कम्पनी की पूँजी संरचना निम्न प्रकार है–

2,00,000 Equity Shares of Rs. 10 each = Rs. 20,00,000

40,000 10% Pref. Shares of Rs. 100 each = Rs. 40,00,000

40,000 10% Debentures of Rs. 100 each = Rs. 40,00,000

ब्याज एवं कर से पूर्व आय के निम्न प्रत्येक स्तर के लिए प्रति अंश अर्जन ज्ञात कीजिए–

(i) 20,00,000 रु., (ii) 12,00,000 रु., (iii) 28,00,000 रु.

कम्पनी के लिए आय कर की दर 50% है।

उपर्युक्त स्थिति में 20,00,000 रु. ब्याज एवं कर से पूर्व आय को आधार लेते हुए वित्तीय उत्तोलक की भी गणना कीजिए।

Solution :

Calculation of Earnings per Share

Items	(i) (Base) Rs.	(ii) Rs.	(iii) Rs.
Earnings before Interest and Tax	20,00,000	12,00,000	28,00,000
Less : Interest on Debentures @ 10%	4,00,000	4,00,000	4,00,000
Earnings before tax (EBT)	16,00,000	8,00,000	24,00,000
Less : Income-Tax @ 50%	8,00,000	4,00,000	12,00,000
Earnings after Tax	8,00,000	4,00,000	12,00,000
Less : Dividend on Preference Share	4,00,000	4,00,000	4,00,000
Earnings for Equity Shareholders	4,00,000	–	8,00,000
Earnings per Share (EPS)	Rs. 2.00	Nil	Rs.400

Calculation of financial Leverage

$$\text{Financial Leverage} = \frac{\text{Percentage Change in EPS}}{\text{Percentage Change in EBIT}}$$

(अ) स्थिति (i) एवं (ii) के मध्य EPS 100% (2 रु. से शून्य) घटी है, जबकि EBIT 40% (20,00,000 रु. से 12,00,000 रु.) घटी है।

$\therefore$ Financial Leverage $= \frac{100\%}{40\%} = 2.5$

(ब) स्थिति (i) एवं (iii) के मध्य EPS 100% (2 रु. से 4 रु.) बढ़ी है जबकि EBIT 40% (20,00,000 रु. से 28,00,000 रु.) बढ़ी है।

$$\text{Financial Leverage} = \frac{100\%}{40\%} = 2.5$$

इस सूत्र के आधार पर वित्तीय उत्तोलक की मात्रा 2.5 यह बताती है कि EBIT में 1% का परिवर्तन होने पर EPS में 2.5% का परिवर्तन उसी दिशा में होगा। स्थिति (ii) में EBIT के 40% घटने पर EPS 100% (40 × 2.5) घट जाता है अर्थात् EPS 2 रु. से शून्य रह जाता है। इसी प्रकार स्थिति (iii) में EBIT के 40% बढ़ने पर EPS 100% (40 × 2.5) बढ़ जाता है अर्थात् EPS 2 रु. से 4 रु. हो जाता है।

Illustration 3. मेहता लि. की पूँजी संरचना निम्न है –

	रु.
समता अंश पूँजी	2,00,000
10% पूर्वाधिकार अंश पूँजी	2,00,000
8% ऋण पत्र	2,50,000

कम्पनी का वर्तमान परिचालन लाभ 1,00,000 रु. है। कम्पनी को 50% कर सीमा में मानकर वित्तीय लीवरेज की गणना कीजिए। यदि परिचालन लाभ बढ़कर 1,50,000 रु. हो जाये तो नया वित्तीय लीवरेज क्या होगा ?

Solution :

Computation of Financial Leverage

		Rs.
Operating Profit (OP)		1,00,000
Less : Interest on Debentures @ 8%	20,000	
Preference Dividend (Pre. Tax basis) $\left(\frac{20,000}{1-0.50}\right)$	40,000	60,000
Profit before Tax (PBT)		40,000
Financial Leverage $= \frac{\text{OP or EBIT}}{\text{EBT}}$		$= \frac{1,00,000}{40,000} = 2.5$

Note – पूर्वाधिकार लाभांश की वास्तविक राशि $\frac{PD}{1-t}$ की सहायता से ज्ञात की जाती है। यहाँ t = कर की दर, PD = पूर्वाधिकार लाभांश की पूर्व रकम।

If Operating Profit Increases to Rs. 1,50,000 :

Computation of Financial Leverage

		Rs.
Operating Profit (OP)		1,50,000
Less : Interest on Debentures @ 8%	20,000	
Preference Dividend (Pre. Tax basis) $\left(\frac{20,000}{1-0.50}\right)$	40,000	60,000
Profit before Tax (PBT or EBT)		90,000
Financial Leverage $= \frac{\text{OP or EBIT}}{\text{EBT}}$		$= \frac{1,50,000}{90,000} = 1.67$

NOTES

शर्मा एंड कम्पनी के पास चुनाव हेतु निम्न तीन योजनाएँ हैं। प्रत्येक दशा में आप वित्तीय लीवरेज की गणना कीजिए और इसका विवेचन कीजिए :

	A	B	C
	Rs.	Rs.	Rs.
Equity Capital	40,000	20,000	60,000
Debt.@10%	40,000	60,000	20,000
Operating Profit (EBIT)	8,000	8,000	8,000

Solution :

Calculation of Financial Leverage

Particulars	A	B	C
	Rs.	Rs.	Rs.
Operating Profits (EBIT or OP)	8,000	8,000	8,000
Less : Interest on Debt @ 10%	4,000	6,000	2,000
Earnings before tax (EBT)	4,000	2,000	6,000
Financial Leverage $= \frac{\text{OP or EBIT}}{\text{EBT}}$	$= \frac{8,000}{4,000}$ $= 2$	$= \frac{8,000}{2,000}$ $= 4$	$= \frac{8,000}{6,000}$ $= 1.33$

उपर्युक्त उदाहरण में वित्तीय उत्तोलक की मात्रा तीनों योजनायों की क्रमशः 2, 4, 1.33 है।

2. परिचालन लीवरेज
(Operating Leverage)

जब किसी फर्म की कुल लागतों में उसकी स्थिर-लागतों (Fixed costs) का अनुपात ऊँचा होता है तब यह माना जाता है कि वह ऊँचे परिचालन लीवरेज के आधार पर व्यवसाय का संचालन कर रहा है। कुल लागतों की तुलना में अपेक्षाकृत ऊँची स्थिर लागतों का उपयोग फर्म के विक्रय की मात्रा में होने वाली वृद्धि अथवा कमी के कारण उसके लाभों में अनुपात से अधिक वृद्धि अथवा कमी उत्पन्न कर देता है। ऐसी दशा में विक्रय से प्राप्त होने वाली आय जब तक ऊँचे स्तर पर बनी रहती है, ऊँचे परिचालन लीवरेज के आधार पर व्यवसाय करने वाले फर्म की स्थिति अन्य ऐसे फर्म की तुलना में अधिक उत्तम बनी रहती है जिसका परिचालन लीवरेज नीचा है किन्तु जैसे ही विक्रय से प्राप्त होने वाली आय के स्तर में कमी होती है तो जोखिम अथवा प्रतिकूलता की मात्रा दूसरे फर्म की तुलना में पहले फर्म के लिए अनुपात से अधिक बढ़ जाती है।

सभी व्यावसायिक फर्मों के समक्ष यह विकल्प होता है कि वे ऊँची स्थिर-लागतों (High Costs) के आधार पर; अथवा ऊँची परिवर्तनशील लागतों के आधार पर अपने व्यवसाय का संचालन करें। जहाँ तक प्रथम विकल्प का प्रश्न है, उसमें निहित जोखिम की मात्रा अधिक है; यद्यपि इसमें लाभदायकता की सम्भावनाएँ भी अधिक हैं। दूसरी ओर यदि विक्रय-आय में कमी होती है तो प्रथम विकल्प के अन्तर्गत स्थिर लागतों में तत्काल कमी करना सम्भव नहीं होता है। इस प्रकार प्रथम विकल्प में लाभदायकता की उत्तम सम्भावनाओं के साथ जोखिम की ऊँची मात्रा भी संलग्न होती है, जहाँ तक दूसरे विकल्प का सम्बन्ध है उसमें जोखिम की मात्रा यद्यपि कम है, किन्तु साथ ही ऐसे विकल्प में लाभ की सम्भावनाएँ भी सीमित होती हैं।

सोलोमन इजरा के शब्दों में, "विक्रय के परिचालन के लाभ में विषम रूप में परिवर्तन की प्रवृत्ति परिचालन उत्तोलक कहलाती है।" ("Operating leverage is the tendency of the operating profit to vary disproportionately with sales")

परिचालन लीवरेज की सीमा (Degree of Operating Leverage) :

विक्रय में एक निर्धारित परिवर्तन के कारण परिचालन लाभ पर पड़ने वाले प्रभाव को परिचालन लीवरेज की सीमा के आधार पर नापा जा सकता है। इस सम्बन्ध में विभिन्न सूत्र निम्न प्रकार हैं–

$$\text{Degree of Operating Leverage} = \frac{\text{\% Change in Operating Profits or EBIT}}{\text{\% Change in Sales}}$$

Or

$$\text{Operating Leverage} = \frac{\text{Contribution}}{\text{Operating Profit Or EBIT}}$$

Or

$$\text{Operating Leverage} = \frac{N\,(SP - VC)}{N\,(SP - VC) - FC}$$

Here, Contribution (C) = Sales - Variable Cost

EBIT = Earning before Interest & Tax

OP = Operating Profit

N = Number of units sold

SP = Selling Price per unit

VC = Variable Cost per unit

FC = Total Fixed Cost

परिचालन लीवरेज विक्रय में होने वाली प्रतिशत वृद्धि या कमी के कारण परिचालन लाभों में होने वाली प्रतिशत वृद्धि या कमी की सीमा को नापता है।

Illustration 5.

शर्मा मशीन कम्पनी की स्थापित क्षमता 1,600 इकाइयाँ हैं। वास्तव में उपयोग की गयी क्षमता 800 इकाइयाँ हैं। प्रति इकाई विक्रय मूल्य 10 रुपये है और परिवर्तनशील लागत 6 रु. प्रति इकाई है। निम्न स्थिति में परिचालन अनुपात की गणना कीजिए–

(1) जब स्थायी लागत 800 रुपये है।

(2) जब स्थायी लागत 2,000 रुपये है।

(3) जब स्थायी लागत 2,400 रुपये है।

Solution:

Statement showing Operating Leverage

	Situation I	Situation II	Situation III
	Rs.	Rs.	Rs.
Sales Revenues	8,000	8,000	8,000
Less : Variable Cost	4,800	4,800	4,800
Contribution	3,200	3,200	3,200
Less : Fixed Cost	800	2,000	2,400
Operating Profit or EBIT	2,400	1,200	800
Operating Leverage $\left(\frac{C}{OP}\right)$	$\frac{3,200}{2,400}$ = 1.33	$\frac{3200}{1,200}$ = 2.67	$\frac{3,200}{800}$ = 4

Illustration 6.

स्टार कम्पनी लि. का अनुमान है कि उसके उत्पादन का विक्रय मूल्य 28 रु. प्रति इकाई, परिवर्तनशील लागत 18 रु. प्रति इकाई और स्थाई लागत 20,000 रुपये है। संचालन लीवरेज की गणना कीजिए, यदि बिक्री की मात्रा 6,000 इकाइयाँ तथा 8,000 इकाइयाँ हैं।

Solution : Calculation of Operating Leverage

Particulars	*Per unit*	*6,000 Units*	*8,000 Units*
	Rs.	Rs.	Rs.
Sales Revenues	28	1,68,000	2,24,000
Less : Variable Cost	18	1,08,000	1,44,000
Contribution	10	60,000	80,000
Less : Fixed Cost		20,000	20,000
Operating Profit (OP)		40,000	60,000
Operating Leverage or EBT (OL) = $\frac{C}{OP}$		$\frac{60,000}{40,000}$ = 1.50	$\frac{80,000}{60,000}$ = 1.33

नोट : परिचालन लीवरेज 8,000 इकाइयों की अपेक्षा 6,000 इकाइयों की बिक्री पर अधिक है। इसका तात्पर्य यह है कि बिक्री की परिवर्तन की तुलना में परिचालन लाभ में परिवर्तन 6,000 इकाइयों की दशा में 1.5 गुना और 8,000 इकाइयों की दशा में 1.33 गुना होगा।

Verification :

Let sales increases at 6,000 units with 10%, then units = 6,600

So,		Rs.
Sales Revenues	(6,600 × 28)	1,84,800
Less : Variable Cost	(6,600 × 18)	1,18,800
		66,000
Less : Fixed Cost		20,000
	Operating Profit	46,000

Increase in Operating Profit = 46,000 – 40,000 = Rs.6,000

$$\% \text{ Increase} = \frac{6,000 \times 100}{40,000} = 15\%$$

So Change in Operating Profit is 1.5 times of change in sales.

Illustration 7.

माहेश्वरी प्लास्टिक कम्पनी अपने उत्पाद को 100 रु. प्रति इकाई की दर से बेचती है। इसकी परिवर्तनशील लागत 50 रु. प्रति इकाई और स्थिर लागत 25,000 रु. प्रति वर्ष है। कर व ब्याज से पूर्व लाभ का विभिन्न स्तर दर्शाइये जो (i) 1,000 इकाई, (ii) 1,250 इकाई तथा (iii) 750 इकाई की बिक्री में उत्पन्न होगा। परिचालन लीवरेज की भी गणना कीजिए।

Solution : **EBIT from Various Levels of Sales**

	Case I Normal	Case II 25% Decrease	Case III 25% Increase
Sales	1,000 Units	750 Units	1,250 Units
	Rs.	Rs.	Rs.
Sales Revenues	1,00,000	75,000	1,25,000
Less : Variable Costs	50,000	37,500	62,500
Contribution	50,000	37,500	62,500
Less : Fixed Costs	25,000	25,000	25,000
EBIT	25,000	12,500	37,500
Change in EBIT		-50%	+ 50%

बिक्री में 25% की वृद्धि (1,000 से 1,250 इकाई) कर व ब्याज से पूर्व लाभ में 50% की वृद्धि लाती है। इसके विपरीत, बिक्री में 25% की कमी (1,000 से 750 इकाई) कर व ब्याज से पूर्व लाभ में 50% की कमी ला रही है।

परिचालन लीवरेज की गणना निम्न रूप से की जा सकती है-

$$\text{Operating Leverage (OL)} = \frac{C}{EBIT} \text{ where, } C = \text{Contribution (अंशदान)}$$

EBIT = Earnings before Interest and Tax (कर व ब्याज से पूर्व का लाभ) गत उदाहरण में परिचालन लीवरेज इस प्रकार निकाला जा सकता है –

$$\text{Case I} \qquad OL = \frac{50,000}{25,000} = 2$$

$$\text{Case II} \qquad OL = \frac{37,000}{12,500} = 3$$

$$\text{Case III} \qquad OL = \frac{62,500}{37,500} = 1.67$$

परिचालन लीवरेज की मात्रा (Degree of Operating Leverage) – विक्रय में एक निर्धारित परिवर्तन के कारण परिचालन लाभ पर पड़ने वाले प्रभाव को परिचालन लीवरेज की सीमा के आधार पर नापा जा सकता है। इसे निम्न प्रकार से व्यक्त किया जाता है-

$$\text{Degree of Operating Leverage (DOL)} = \frac{\% \text{ Change in EBIT}}{\% \text{ Change in Sales}}$$

परिचालन लीवरेज विक्रय में होने वाली प्रतिशत वृद्धि या कमी के कारण परिचालन लाभों में होने वाली प्रतिशत वृद्धि या कमी की सीमा को नापता है।

अतः परिचालन लीवरेज की मात्रा =

$$\text{Case II} \qquad DOL = \frac{-50\%}{-25\%} = 2$$

$$\text{Case III} \qquad DOL = \frac{+50\%}{+25\%} = 2$$

चूँकि परिचालन लीवरेज की मात्रा एक से अधिक है, अतः परिचालन लीवरेज की विद्यमानता है।

यहाँ नोट करें कि परिचालन लीवरेज की विद्यमानता तभी होगी जब स्थिर लागत होती है। यदि स्थिर लागत नहीं है अर्थात् लागत में केवल परिवर्तनशील लागत ही है तो उस दशा में परिचालन लीवरेज नहीं होगा।

3. संयुक्त लीवरेज
(Combined Leverage)

ऊँचा परिचालन लीवरेज व्यावसायिक जोखिम (Business Risk) दर्शाता है क्योंकि इससे फर्म की विनियोजित पूँजी पर लाभ की दर में अनुपात से अधिक वृद्धि या कमी होती है। ऊँचा वित्तीय लीवरेज वित्तीय जोखिम का परिचायक है; क्योंकि इसके कारण कर सहित लाभों में (परिचालन-लाभ में होने वाली वृद्धि या कमी की तुलना में) अनुपात से अधिक वृद्धि या कमी हो जाती है। यदि दोनों ही प्रकार के लीवरेज ऊँचे हों तो उनका संयुक्त प्रभाव बहुत अधिक बढ़ जाता है। संयुक्त लीवरेज की सीमा निम्नानुसार ज्ञात की जाती है –

$$DCL = \frac{(S - VC)}{(S - VC) - FC} \times \frac{(S - VC) - FC}{(S - VC - FC - INT)}$$

$$= \frac{C}{EBIT} \times \frac{EBIT}{PBT}$$

$$= \frac{C}{PBT}$$

Where,

DCL = Degree of Combined Leverage

S = Sales

VC = Variable Costs

FC = Fixed Costs

INT = Interest on Debt Capital

C = Contribution

EBIT = Earnings Before Interest & Taxes

EBIT or PBT = Profits Before Tax or Earnings before Interest and tax

वैकल्पिक रूप में संयुक्त लीवरेज की गणना परिचालन लीवरेज तथा वित्तीय-लीवरेज को गुणा करके ज्ञात की जा सकती है।

$$DCL = OL \times FL$$

where,

DCL = Degree of Combined Leverage

OL = Operating Leverage

FL = Financial Leverage

Illustration 8.

चावला लि. की बिक्री 50,00,000 रुपये है। स्थायी लागत 8,00,000 रु. तथा परिवर्तनशील लागत 34,00,000 रुपये है। कम्पनी 20,00,000 रुपये ऋण का 12% ब्याज दर पर उपयोग करती है।

उपलब्ध समंकों से वित्तीय, परिचालन एवं मिश्रित लीवरेज की गणना कीजिए।

Solution :

Statement showing computation of Financial, Operating and Combined leverages

Particulars	*Amount*
Sales	50,00,000
Less : Variable Costs	34,00,000
Contribution	16,00,000
Less : Fixed Costs	8,00,000
Operating Profit (EBIT)	8,00,000
Less : Interest on Debts @ 12%	2,40,000
Profit before tax (EBT)	5,60,000

$$\text{Financial Leverage (FL)} = \frac{EBIT}{EBT} = \frac{8,00,000}{5,56,000} = 1.43$$

$$\text{Operating Leverage (OL)} = \frac{C}{EBIT} = \frac{16,00,000}{8,00,000} = 2$$

$$\text{Combined Leverage (CL)} = FL \times OL$$

$$= 1.43 \times 2 = 2.86$$

Illustration 9.

निम्नलिखित समंकों से परिचालन लीवरेज, वित्तीय लीवरेज एवं मिश्रित लीवरेज की गणना कीजिए :-

	रु.
बिक्री 2,00,000 इकाइयाँ, 2रु. प्रति इकाई	4,00,000
परिवर्तनशील लागत 0.70 प्रति इकाई	-
स्थायी लागत	2,00,000
ऋण पूँजी पर ब्याज	7,336

NOTES

Solution:

	Rs.
Sales revenues	4,00,000
Less : Variable Cost	1,40,000
Contribution	2,60,000
Less : Fixed Costs	2,00,000
EBIT	60,000
Less : Interest Charges	7,336
EBT	52,664

$$\text{Operating Leverage} = \frac{\text{Contribution}}{\text{EBIT}} = \frac{2,60,000}{60,000} = 4.33$$

$$\text{Financial Leverage} = \frac{\text{EBIT}}{\text{EBT}} = \frac{60,000}{52,664} = 1.14$$

$$\text{Combined Leverage} = \frac{\text{Contribution}}{\text{EBT}} = \frac{2,60,000}{52,664} = 4.94$$

Illustration 10.

निम्न समंक एक कम्पनी से सम्बन्धित है–

	रु.
बिक्री	4,00,000
घटाया - परिवर्तनशील लागत	1,20,000
अंशदान	2,80,000
घटाया - स्थायी परिचालन लागत	2,00,000
ब्याज एवं कर से पूर्व आय	80,000
घटाया - ब्याज	10,000
कर योग्य आय (EBT)	70,000

(1) परिचालन लीवरेज के विचार का प्रयोग करके बताइये कि बिक्री में 10% वृद्धि होने से EBIT में कितने प्रतिशत वृद्धि होगी ?

(2) वित्तीय लीवरेज का प्रयोग करके बताइये कि (EBIT) में 6% वृद्धि होने से कर योग्य आय (EBT) में कितने प्रतिशत वृद्धि होगी ?

(3) मिश्रित लीवरेज का प्रयोग करते हुए बताइये कि बिक्री में 6% वृद्धि होने से कर योग्य आय (EBT) में कितने प्रतिशत वृद्धि होगी ?

Solution :

(1) Degree of Operating Leverage of Sales increases by 10%

$$\text{Operating Leverage} = \frac{C}{\text{OP or EBIT}} = \frac{2,80,000}{80,000} = 3.5$$

$$\text{Degree of Operating Leverage} = \frac{\text{\% Change in OP or EBIT or x}}{\text{\% Change in Sales}}$$

$$x = 3.5 \times 10 = 35\% \qquad \frac{x}{10\%}$$

Therefore, if Sales increase by 10%, EBIT will increase by 35%

(2) Degree of Financial leverage if EBIT increases by 6%

$$\text{Financial Leverage} = \frac{\text{EBIT}}{\text{Taxable Income (EBT)}}$$

$$= \frac{80,000}{70,000}$$

$$= 1.143$$

$$\text{Degree of Financial Leverage} = \frac{\text{\% Change in EBT or x}}{\text{\% Change in EBIT}}$$

$$1.143 = \frac{x}{6\%}$$

$$x = 1.143 \times 6 = 6.86\% \text{ or } 6.9\%$$

Therefore, if EBIT increase by 6% taxable Income (EBT) will increase by 6.9%.

(3) Degree of composite leverage if Sales increase by 6%

Composite Leverage = FL × OL = 1.143 × 3.5 = 4

$$= \frac{EBIT}{EBT} \times \frac{C}{EBIT} = \frac{C}{EBT}$$

$$= \frac{80,000}{70,000} \times \frac{2,80,000}{80,000} = \frac{2,80,000}{70,000} = 4$$

$$\text{Degree of composite Leverage} = \frac{\text{\% Change in EBT or x}}{\text{\% Change in Sales}}$$

$$4 = \frac{x}{6}$$

$$x = 4 \times 6 = 24\%$$

Therefore, if Sales increase by 6% the taxable Income (EBT) will increase by 24%.

Illustration 11.

निम्न पूर्वानुमान A तथा B कम्पनियों से सम्बन्धित हैं–

	A	B
	Rs.	Rs.
Output and sales (Units)	80,000	1,00,000
variable Costs per Unit	4	3
Fixed Costs	2,40,000	2,50,000
Interest burden on Debt	1,20,000	50,000
Selling Price per unit	10	8

उक्त समंकों के आधार पर (i) परिचालन लीवरेज, (ii) वित्तीय लीवरेज, (iii) संयुक्त लीवरेज की गणना कीजिए।

Solution:

	A Co.	*B Co.*
	Rs.	Rs.
Sales Revenues	8,00,000	8,00,000
Less : Variable Costs	3,20,000	3,00,000
Contribution (C)	4,80,000	5,00,000
Less : Fixed Costs	2,40,000	2,50,000
EBIT	2,40,000	2,50,000
Less : Interest burden	1,20,000	50,000
EBIT	1,20,000	2,00,000
$OL = \frac{C}{EBIT}$	$\frac{4,80,000}{2,40,000} = 2$	$\frac{5,00,000}{2,50,000} = 2$
$FL = \frac{EBIT}{EBT}$	$\frac{2,40,000}{1,20,000} = 2$	$\frac{2,50,000}{2,00,000} = 1.25$
CL = OL× FL	2 × 2 = 4	2 × 1.25 = 2.50

Illustration 12.

मधुर लि. की बिक्री 5,00,000 रुपये है। परिवर्तनशील लागत बिक्री का 40% है, जबकि स्थायी परिचालन लागत 1,50,000 रुपये है। दीर्घकालीन ऋण पर ब्याज 50,000 रु है।

वित्तीय, संचालन तथा मिश्रित लीवरेज की गणना कीजिए और इसका प्रभाव उदाहरण सहित समझाइए यदि बिक्री में 5% की वृद्धि होगी।

Solution :

Profitability Statement

		Rs.
	Sales Revenue	5,00,000
Less :	Variable Cost (40% of Sales)	2,00,000
	Contribution (C)	3,00,000
Less :	Fixed Operating Cost	1,50,000
	Operating Profit (EBIT)	1,50,000
Less :	Interest on Long-term Debt	50,000
	Profit before Tax (EBIT or PBT)	1,00,000

Financial Leverage (FL) $= \frac{EBIT}{EBT}$ or $\frac{OP}{PBT} = \frac{1,50,000}{1,00,000} = 1.5$

Operating Leverage (OL) $= \frac{C}{EBIT}$ or $\frac{C}{OP} = \frac{3,00,000}{1,50,000} = 2$

Composite or Combined Leverage (CL)

$$= FL \times OL = 1.5 \times 2 = 3$$

Or $$CL = \frac{C}{PBT} = \frac{3,00,000}{1,00,000} = 3$$

The composite leverage of 3 indicates that with every 1% increase in sales, the profit before tax will increase by 3%.

This can be verified by the following computation when the sales increase by 5%

		Rs.
	Sales	5,25,000
Less :	Variable Cost (40% of Sales)	2,10,000
	Contribution (C)	3,15,000
Less :	Fixed Operating Cost	1,50,000
	EBIT or OP	1,65,000
Less :	Interest on Long-term Debt	50,000
	Profit before Tax (PBT or EBT)	1,15,000

Illustration **13.**

निम्नलिखित से संचालन लीवरेज की डिग्री (DOL) वित्तीय लीवरेज की डिग्री (DFL) एवं संयुक्त लीवरेज (DCL) ज्ञात करके उसके परिणाम की विवेचना कीजिए–

Firm	A	B	C
output (in units)	60,000	15,00,000	1,00,000
Fixed cost (Rs.)	7000	14,000	1,500
Variable cost per unit (Rs.)	0.20	1.50	0.02
Interest on borrowed capital	4,000	8,000	NIL
Selling price per unit (Rs.)	0.60	5.00	0.10

(IC WA Final Dec 1985)

Solution:

	A	B	C
Output in units	60,000	15,000	1,00,000
	Rs.	Rs.	Rs.
Selling price per unit	0.60	5.00	0.10
Variable cost per unit	0.20	1.50	0.02
Contribution per units.	0.40	3.50	0.08
Total contribution 60000×0.40	24,000	52,500	8,000
Less : Fixed costs	7,000	14,000	1,500
Operating profits	17,000	38,500	6,500
Less : Interest	4,000	8,000	Nil
Profit before Tax (PBT)	13,000	30,500	6,500
Degree of operating Leverage $= \frac{C}{EBIT}$	$\frac{24,000}{17,000}$	$\frac{52,500}{38,500}$	$\frac{8,000}{6,500}$
	= 1.41	= 1.36	= 1.23
Degree of Financial Leverage $= \frac{EBIT}{PBT}$	$\frac{17,000}{13,000}$	$\frac{38,500}{30,500}$	$\frac{6,500}{6,500}$
	= 1.31	= 1.26	= 1.00
Degree of combined Leverage $= \frac{C}{PBT}$	$\frac{24,000}{13,000}$	$\frac{52,500}{30,500}$	$\frac{8,000}{6,500}$
	= 1.85	= 1.72	= 1.23

'स' आदर्श स्थित है।

***Illustration* 14.**

सुभाष काटन लि. ने अनुमान लगाया कि किसी नवीन उत्पाद के लिए उसका समविच्छेद बिन्दु 2000 इकाइयाँ हैं, यदि वह वस्तु 14 रु. प्रति इकाई से बेची जाए, उसकी लागत में लेखांकन विभाग ने 9 रु. प्रति इकाई चल लागत बताया है। 2,500 इकाइयों व 3000 इकाइयों की बिक्री पर परिचालक लीवरेज की डिग्री की गणना कीजिए।

Solution:

Statement of Operating Leverage

	Per unit	2000 units	2,500 units	3,000 units
Particulars	Rs.	Rs.	Rs.	Rs.
Sales	14	28,000	35,000	42,000
Variable cost		18,000	22,500	27,000
Contribution (C)	5	10,000	12,500	15,000
Fixed cost		10,000	10,000	10,000
Operating Profit (EBIT)		Nil	2,500	5,000
		BEP		
Operating Leverage $= \frac{C}{EBIT} =$			$\frac{12,500}{2,500}$	$\frac{15,000}{5,000}$
			= 5	= 3

Illustration 15.

शान्ति स्टील के की बिक्री 10,00,000 रु. है जबकि उसकी चल लागत 7,00,000 रु. तथा स्थिर लागत 2,00,000 रु. है तथा 10% ब्याज की दर पर ऋण राशि 5,00,000 रु. है। इसका संचालन, वित्तीय एवं संयुक्त लीवरेज क्या है ? यदि फर्म ब्याज व कर से पूर्व (EBIT) अपनी आय को दुगना करना चाहे, तो प्रतिशत आधार पर बिक्री में कितनी वृद्धि करनी होगी ?

Solution :

Present Profit

	Rs.
Sales	10,00,000
Variable cost	7,00,000
Contribution (c)	3,00,000
Fixed cost	2,00,000
Operating profits (EBIT)	1,00,000
Less: Interest at 10% on Rs. 5,00,000	50,000
Profit before Tax (PBT)	50,000

Calculation of Leverages

$$\text{Operating Leverage} = \frac{C}{OP} = \frac{3,00,000}{1,00,000} = 3$$

$$\text{Financial Leverage} = \frac{OP}{PBT} = \frac{1,00,000}{50,000} = 2$$

Combined Leverage = $3 \times 2 = 6$

EBT को दुगुना करने हेतु बिक्री-

$100 + 33\frac{1}{3} = 133\text{-}1/3\%$ वृद्धि से आय में 100% वृद्धि होगी।

अतः कुल बिक्री = 10,00,000 + 3,33,333 = Rs. 13,33,333-

Illustration 16.

संजय स्टील ट्रेडिंग कम्पनी का विक्रय स्तर 8,40,000 रु. है और उस पर ब्याज व कर देने से पूर्व 10% का लाभ होता है। अपने व्यवसाय को बचाने हेतु फर्म ने 3,00,000 रु. की स्थायी सम्पत्ति व 1,50,000 रु. चल सम्पत्ति में विनियोजित किए हैं।

(i) फर्म का सम्पत्ति पर बिक्री ज्ञात कीजिए।

(ii) विनियोग पर EBIT प्रतिशत में क्या है ?

(iii) यदि चालू सम्पत्ति 1,50,000 रु. से बढ़ा दी जाए तो आय का प्रतिशत क्या होगा ?

(iv) चालू सम्पत्ति 75,000 रु. से घटाने पर आय की दर क्या होगी ?

Solution :

(i) Total Assets = FA + CA

$$3,00,000 + 1,50,000 = 4,50,000$$

$$\text{Asset Turnover} = \frac{\text{Sales}}{\text{Total assets}} = \frac{8,40,000}{4,50,000} \times 100 = 1.87$$

(ii) EBIT = 10% of 8,40,000 = Rs. 84,000

$$\text{Percent of EBIT on investment} = \frac{84,000}{4,50,000} \times 100 = 18.67$$

(iii) Rate of return, if current assets are increased by Rs. 1,50,000

$$= \frac{84,000}{6,00,000} \times 100 = 14\%$$

(iv) Rate of return of current assets are decreased by Rs. 75,000

$$\frac{84,000}{3,75,000} \times 100 = 22.4\%$$

***Illustration* 17.**

महेन्द्र सीमेन्ट लि. ने अपनी सम्पतियों में 50% से वृद्धि करने का विचार किया है, वित्त के विस्तार करने हेतु उसने 12% ऋण निर्गमन व साधारण अंश के मध्य चुनाव करना है। उसका चिट्ठा व लाभ हानि खाता निम्न प्रकार है:-

चिट्ठा- 31 दिसम्बर 2005

दायित्व	Rs.	सम्पत्ति	Rs.
11% ऋणपत्र	40,00,000	सम्पत्तियाँ	2,00,00,000
समता अंशपूँजी	1,00,00,000		
(10,00,000 अंश 10 रु. वाले)			
अर्जित आय	60,00,000		
	2,00,00,000		2,00,00,000

लाभ-हानि खाता- 31 दिसम्बर 2005

	Rs.
	6,00,00,000
कुल लागत (ब्याज रहित)	5,40,00,000
EBIT	60,00,000
ऋणपत्रों पर ब्याज @ 11%	4,40,000
कर से पूर्व आय	55,60,000
कर @ 50%	27,80,000
कर के बाद आय	27,80,000
प्रति अंश आय 27,80,000/10,00,000	Rs. 278
मूल/आय अनुपात	7.5 गुना
बाजार मूल्य	Rs. 20.85

कम्पनी ने ऋण के साथ 1 करोड़ रु. का विस्तार किया है तथा बढ़े हुए ऋण की दर 12% होगी तथा समता अंशों का अर्जित अनुपात 5 गुना होगा। यदि यह विस्तार समता से वित्त प्रदान करना हो तो नवीन समता अंश 12 रु. प्रति अंश की दर से बेचे जाएँगे तथा मूल्य/अर्जित अनुपात 7.5 गुना ही बना रहेगा।

(अ) माना ब्याज व कर से पूर्व शुद्ध आय बिक्री पर 10% हो, तो 4 करोड़ रु., 8 करोड़ रु. व 10 करोड़ रु पर विक्रय पर प्रति अंश विक्रय स्तर की गणना कीजिए यदि वित्तीय व्यवस्था (i) समता अंशों एवं (ii) ऋण द्वारा की गयी हो।

(ब) नवीन पूँजी प्राप्त करने के बाद ब्याज व कर से पूर्व (EBIT) किस स्तर पर होगी तथा प्राप्त अंश आय कया होगी, यदि नवीन कोषों को अंशों द्वारा या ऋण के द्वारा प्राप्त किया गया हो।

(स) EBIT का स्तर का निर्धारण कीजिए जो कि प्रति अंश असंचित रूप में हो यदि सिंकिंग फण्ड की राशि 5 लाख रुपए प्रति वर्ष हो।

(द) मूल्य/अर्जित अनुपात का प्रयोग करते हुए प्रत्येक विक्रय स्तर पर ऋण तथा समता वित्त दोनों ही परिस्थितियों में प्रति अंश मूल्य की गणना कीजिए।

Solution :

New shares to be issued = 1,00,00,000/12 = 8,33,334

Total shares 10,00,000 + 8,33,334 = 18,33,334

12% debt = Rs. 1,00,00,000

(A) Calculation on Earnings Per share (EPS)

Particulars	(i) ordinary shares (Rs. in lakhs)			(ii) Debt		
Sales	400	800	1000	400	800	1000
EBIT 10% of sales	40	80	100	40	80	100
Less: Interest :						
11% debentures	4.40	4.40	4.40	4.40	4.40	4.40
12% Debt	–	–	–	12.00	12.00	12.00
Profit before tax (PBT)	35.60	75.60	95.60	23.60	63.60	83.60
Less: Tax at 50%	17.80	37.80	47.80	11.80	31.80	41.80
Profit after tax (PAT)	17.80	37.80	47.80	11.80	31.80	41.80
Earnings per share (EPS) Rs.	0.97	2.06	2.61	1.18	3.18	4.18

Note: $\frac{\text{Rs.17,80,000}}{\text{18,33,334 shares}}$ = Rs. 0.97 and so on

$\frac{\text{Rs.11,80,000}}{\text{10,00,000shares}}$ = Rs. 1.18 and so on

(B) **Formula :** $\frac{(EBIT-I_1)(1-T)}{N_2} = \frac{(EBIT-I)_2(1-50)}{N_1}$

I_1 = Int. when financed by ordinary shares

I_2 = Int. when financed by Debt.

N_1 = No. of existing ordinary shares.

N_2 = No. ordinary shares after issue of Rs. 1 crore.

$$\frac{(EBIT-4.40)(1-0.50)}{181/3 \text{ lakhs shares}} = \frac{(EBIT-16.40)(1-0.50)}{10 \text{ lakhs shares}}$$

OR $$\frac{(EBIT-4.40)}{181/3} = \frac{EBIT-16.40}{10.00}$$

By cross multiplication : 10.00 (EBIT) – 4.40 = 18 1/3 (EBIT - 16.40)

10 EBIT - 44 = 18 1/2 EBIT - 300 2/3

8.1/3 EBIT = 300/2/2.44 = 356 2/3

i.e. Rs. 30,80,000 $\frac{EBIT=256\ 2/3}{8.1/3}$ = Rs. 30.80 lakhs

(Rs. in lakhs)

	Ordinary Shares	Debt
Reconciliation:		
EBIT	30,80	30,80
Interest	4.40	16.40
PBT	26.40	14.40

Tax at 50%	13.20	7.20
PAT	13.20	7.20
No. of shares	18,33,334	10,00,000
EPS (Rs.)	0.72	0.72

(C) (EBIT- 4.40) (1-0.5)

$$181/3 \text{ lakhs shares} = \frac{(EBIT - 16.40)(1 - 0.5) - 5.00(\text{Sinking fund})}{(10.00 \text{ lakh shares})}$$

$$\frac{0.50\,EBIT - 2.20}{18.1/3} = \frac{0.50\,EBIT - 8.20 - 5.00}{10.00}$$

By Cross multiplication:

$$5\,EBIT - 22.00 = 9\frac{1}{6}\,EBIT - 150\frac{1}{3} - 91\frac{2}{3} - 4\frac{1}{6}\,EBIT = 220$$

$$\therefore EBIT = 220/4\frac{1}{6} = 52.80 \text{ i.e. Rs. } 52,80,000$$

(Rs. in lakhs)

	Ordinary Shares	Debt
Reconciliation :		
EBIT	52.80	52.80
Interest	4.00	16.40
PBT	48.40	36.40
Tax at 50%	24.20	18.20
PAT :	24.20	18.20
Sinking fund obligation	-	5.00
Profit available ot ordinary share-holders :	24.20	13.20
No. of shres	18,33,334	10,00,000
EPS (Rs.)	1.32	1.32

(D) (i)If the expansion is financed by equity, P/E ratio will be 7.5 times (as given in the question) then the market value per share will be as follows :

(Rs. in lakhs)

sales level	400	800	100
EPS	0.97	2.06	2.61
Market value per share			
EPS × P/E ratio = 0.97 × 7.5 =	7.27	15.47	19.57

(ii) If the expansion is financed by Debt. P/E ratio will be 5 times (as given in the question). Tben the market valuc per share will be as follows :

(Rs. in lakhs)

Sales level	400	800	1000
EPS	1.18	3.18	4.18
Market value per share	5.90	15.90	20.90

Illustration 18

'P' तथा 'Q' दो कम्पनियों के बारे में निम्नलिखित सूचनाएँ दी गयी हैं–

Details	Company 'P' (Rs.)	Company 'Q' (Rs.)
Equity Share Capital (Divided into shares of Rs. 10 each)	20,00,000	10,00,000
Debentures (14%)	5,00,000	15,00,000
Total Capital	25,00,000	25,00,000
Earnings Before Interest & Tax	5,00,000	5,00,000
Rate of Returns on Capital Employed	20%	20%
Tax Rate Applicable	40%	40%

उपर्युक्त आँकड़ों के आधार पर दोनों कम्पनियों के लिए निम्नलिखित गणनाएँ कीजिए। साथ ही समीक्षा कीजिए कि कौन-सी कम्पनी के अंशधारी वित्तीय दृष्टि से उत्तम स्थिति में हैं।

(i) वित्तीय लीवरेज (Financial Leverage),

(ii) इक्विटी पूँजी पर प्रत्याय की दर (Rate of Return on Equity Capital),

(iii) प्रति अंश आय (Earnings Per Share (E.P.S.)।

Solution :

(Amount in Rupees)

Particulars	Company P	Company Q
Earnings Before Interest & Tax (EBIT)	5,00,000	5,00,000
Less : Interest @ 14%	70,000	2,10,000
Profits Before Tax (PBI)	4,30,000	2,90,000
Less : Tax @ 40%	1,75,000	1,16,000
Profits After Tax (PAT)	2,55,000	1,74,000

	Particulars	Company P	Company Q
(i)	$FL = \frac{EBIT}{PBT} =$	$\frac{5,00,000}{4,30,000}$ = 1.16	$\frac{5,00,000}{2,90,000}$ = 1.72
(ii)	ROI on Equity Capital $= \frac{\text{Profits after Tax}}{\text{Equity Capital}} \times 100 =$	$\frac{2,55,000}{20,00,000} \times 100$ = 12.75%	$\frac{1,74,000}{10,00,000} \times 100$ = 17.4%
(iii)	Earnings Per Share (EPS) $= \frac{\text{Profits after Tax}}{\text{Number of Shares}}$	$= \frac{2,55,000}{20,00,000}$ = Rs. 1.275	$= \frac{1,74,000}{1,00,000}$ = Rs. 1.74

Comments :

Naturally the shareholders of company 'Q' are financially in a better position, because their earnings per share (EPS) are higher as compared to those of company 'P'. Despite equal rate of return on total capital (i.e., 20% for both the companies) company Q is earning 17.4% return as against only 12.75% earned by company P on its equity capital. This is

because company Q is getting the benefit of a higher favourable financial leverage in its capital structure.

Illustration 19.

ABC मशीन टूल्स के विषय में निम्नलिखित सूचनाएँ दी गयी हैं–

	Particulars	Rs.
1	Equity Share Capital (divided into shares of Rs. 10 each)	10,00,000
2.	Debentures (14%)	30,00,000
3.	Selling Price per unit	50
4.	Variable Cost per unit	30
5.	Fixed Costs	12,00,000

कम्पनी द्वारा वर्तमान में 1,00,000 इकाइयों का उत्पादन किया जाता है। अब प्रबन्धकों की योजना है कि उत्पादन में 25% की वृद्धि कर दी जाये। कम्पनी के लिए कर की दर 40% है।

उपर्युक्त सूचनाओं के आधार पर निम्नलिखित गणनाएँ कीजिए-

(a) परिचालन लीवरेज (Operating Leverage)

(b) वित्तीय लीवरेज (Financial Leverage)

(c) प्रति अंश आय (Earnings per Share)

Solution :

(1) At the existing level of output & sales (1,00,000 units)

(a) $$OL = \frac{N(P - VC)}{N(P - VC) - FC} = \frac{1,00,000(50 - 30)}{1,00,000(50 - 30) - 12,00,000}$$

$$= \frac{20,00,000}{20,00,000 - 12,00,000} = \frac{20,00,000}{8,00,000} = 2.5$$

(b) $$FL = \frac{N(P - VC) - FC}{N(P - VC) - FC - Interest} \text{ or } \frac{EBIT}{PBT}$$

$$= \frac{1,00,000(50 - 30) - 12,00,000}{1,00,000(50 - 30) - 12,00,000 - 4,20,000}$$

$$= \frac{8,00,000}{3,80,000} = 2.1$$

(c) $$\text{Earnings Per Share (EPS)} = \frac{\text{Profits After Tax}}{\text{Number of Equity Shares}}$$

$$= \frac{2,28,000}{1,00,000} = \text{Rs. } 2.28$$

Working Note :

Profit after Tax = EBIT – interest – Tax

= 8,00,000 - 4,20,000 - 1,52,000

= Rs. 2,28,000

(2) At the planned level of Output & Sales (1,00,000 + 25% = 1,25,000 units)

(a) $$OL = \frac{N(P - VC)}{N(P - VC) - FC} = \frac{1,25,000(50 - 30)}{1,25,000(50 - 30) - 12,00,000}$$

$$\frac{25,00,000}{25,00,000 - 12,00,000} = \frac{25,00,000}{13,00,000} = 1.92$$

(b) $FL = \frac{N(P - VC) - FC}{N(P - VC) - FC - Interest}$ Or $\frac{EBIT}{PBT}$

$= \frac{1,25,000\,(50 - 30) - 12,00,000}{1,25,000\,(50 - 30) - 12,00,000 - 4,20,000}$

$= \frac{13,00,000}{8,80,000} = 1.47$

(c) Earnings per Share (EPS) $= \frac{\text{Profit After Tax}^1}{\text{Number of Equity Shares}}$

$= \frac{5,28,000}{1,00,000} = \text{Rs. } 5.28$

Working Note :

1 profit after Tax = EBIT - Interest - Tax

= 13,00,000 - 4,20,000 - 3,52,000

= Rs. 5,28,000

Illustration 20.

ओम ट्रेडिंग कम्पनी की कुल बिक्री 25 लाख रुपयों की है। परिवर्तनशील लागतें 17 लाख रुपये तथा स्थिर लागतें 4 लाख रुपयों की हैं। फर्म द्वारा 10 लाख रुपयों का ऋण 15% वार्षिक ब्याज पर लिया हुआ है।

उपर्युक्त सूचनाओं के आधार पर निम्नलिखित ज्ञात कीजिए–

(a) परिचालन लीवरेज (Operating Leverage),

(b) वित्तीय लीवरेज (Financial Leverage),

(c) संयुक्त लीवरेज (Combined Leverage),

एवं फर्म द्वारा ब्याज एवं कर से पूर्व आय में 20 प्रतिशत की वृद्धि प्रस्तावित है तो इसके लिए उसे बिक्री में कितने प्रतिशत वृद्धि करने की आवश्यकता होगी ?

Solution :

Existing Position	**Rs.**
Sales	
Less : Variable Costs (VC)	25,00,000
Contribution (C)	17,00,000
Less : Fixed Costs (FC)	8,00,000
EBIT	4,00,000
Less : Interest @ 15%	4,00,000
Profits Before Tax (PBT)	1,50,000
	2,50,000

(a) $OL = \frac{C}{EBIT} = \frac{8,00,000}{4,00,000} = 2$

(b) $FL = \frac{EBIT}{PBT} = \frac{4,00,000}{2,50,000} = 1.6$

(c) CL = (OL × FL)

= (2 × 1.6 = 3.2)

(d) As the firm's operating leverage is 2, the firm will have to increase its sales by 10% if it proposes to achieve an increase of 20% in its EBIT (Earnings Before Interest & Tax). This can be verified as follows.

NOTES

Particulars	Rs.
Existing Sales	25,00,000
Add : 10%	2,50,000
Total Sales	27,50,000
Less : Variable Costs	18,70,000
Contribution (C)	8,80,000
Less : Fixed Costs	4,00,000
Earnings Before Interest & Tax (EBIT)	4,80,000
Less : Existing EBIT	4,00,000
Increase	80,000
Percentage increase over existing EBIT	20%

Illustration 21

एक नये विकसित उत्पाद (केलकुलेटर) के विषय में निम्नलिखित पूर्वानुमान दिये गये हैं–

Break Even Point	10,000 units
Variable Costs	Rs. 45 per unit
Selling Price	Rs. 70 per unit

उपर्युक्त पूर्वानुमानों के आधार पर 12,500 इकाइयों तथा 15,000 इकाइयों के लिए परिचालन लीवरेज ज्ञात कीजिए तथा उत्पादन एवं विक्रय के दोनों स्तरों के लीवरेज के अन्तर से उपयुक्त निष्कर्ष निकालिए।

Solution :

$$OL = \frac{N(P-VC)}{N(P-VC)-FC} \text{ or } \frac{C}{EBIT}$$

where,

OL = Operating Leverage
N = Number of units sold
VC = Variable Cost per unit
P = Price per unit
FC = Fixed Costs (total)
C = Contribution
EBIT = Earnings before Interest & Tax

(a) OL for a volume of 12,500 units :

$$OL = \frac{12,500(70-45)}{12,500(70-45)-2,50,000} = \frac{3,12,500}{62,500} = 5$$

(b) OL for a volume of 15,000 units :

$$OL = \frac{15,000(70-45)}{15,000(70-45)-2,50,000} = \frac{3,75,000}{1,25,000} = 3$$

Working Note :

Fixed Costs = Contribution at B.E.P

Contribution = 10,000 × (70 – 45) = Rs. 2,50,000

Alternatively :

Particulars	Volume	Volume
Output & Sales *(units)	12,500	15,000
Selling Price (per unit) Rupees	70	70
Sales (Rupees)	8,75,000	10,50,000
Less : Variable Costs (Rupees)	5,62,500	6,75,000
Contribution	3,12,500	3 ,75,000
Less : Fixed Costs	2,50,000	2,50,000
EBIT (or operating Profit)	62,500	1,25,000
OL = Contribution / EBIT	= 3,12,500 / 62,500	= 3,75,000 / 1,25,000
	= 5	= 3

Inference- As the output and sales go up from a lowr level to a higher level (other variables remaining the same) the degree of operating leverage (OL) goes down as is verified by the difference in OL at the two given levels. Thus the advantage of operating leverage is higher if the volume is closer to B.E.P. As the volume moves away further from the B.E.P. the degree of operating leverage (DOL) continues to decline gradually.

Illustration 22.

शिवा एण्ड कम्पनी का वर्ष 2004 का लाभदायकता-विवरण (Profitability Statement) निम्न प्रकार है–

Particulars	*Rs.*
Sales	4,80,000
Variable Costs	2,80,000
Contribution	2,00,000
Fixed Costs	1,20,000
Operating Profit (EBIT)	80,000
Interest	30,000
Profits before Tax (PBI)	50,000

उपर्युक्त विवरण के आधार पर (i) परिचालन-लीवरेज की सीमा (Degree of Operating Leverage), (ii) वित्तीय लीवरेज की सीमा (Degree of Financial Leverage) तथा (iii) संयुक्त लीवरेज की सीमा (Degree of Combined Leverage) ज्ञात कीजिए।

Solution :

(i) $DOL = \frac{\text{Contribution}}{\text{EBIT}} = \frac{2,00,000}{80,000} = 2.5$

(ii) $DEL = \frac{\text{EBIT}}{\text{PBT}} \frac{80,000}{50,000}$

$= 1.6$

(iii) $DCL = \frac{\text{Contribution}}{\text{EBIT}} \times \frac{\text{EBIT}}{\text{PBT}}$

$= \frac{2,00,000}{80,000} \times \frac{80,000}{50,000} = 2.5 \times 1.6 = 4$

NOTES

प्रश्न
(QUESTIONS)

(1) 'उत्तोलक' से आप क्या समझते हैं ?

(2) परिचालन लीवरेज क्या है ?

(3) वित्तीय लीवरेज क्या है ?

(4) सयुक्त लीवरेज से आप क्या समझते हैं ?

(5) स्थायी लागतों और परिचालन उत्तोलक में क्या सम्बन्ध है ?

(6) तटस्थता बिन्दु से क्या अभिप्राय है ।

(7) वित्तीय सम-विच्छेद बिन्दु से आप क्या समझते हैं ?

(8) परिचालन एवं वित्तीय उत्तोलन में अंतर बताइये ।

(9) अनुकूल एवं प्रतिकूल वित्तीय उत्तोलक से क्या आशय है ?

(10) वित्तीय उत्तोलक से क्या अभिप्राय है ?

(11) वित्तीय लीवरेज किसे कहते हैं ? क्या सभी प्रकार की कम्पनियाँ अपने पूँजी-ढाँचे में ऊँचा वित्तीय लीवरेज कर सकने की क्षमता रखती हैं ? कारणों सहित स्पष्ट कीजिए ।

(12) "यदि एक संख्या में स्थायी परिचालन लागत विद्यमान नहीं है तो परिचालन उत्तोलक भी नहीं होगा ।" उदाहरण देकर समझाइये ।

(13) "संयुक्त लीवरेज' से आप क्या तात्पर्य समझते हैं ? संयुक्त लीवरेज की सीमा को आप किस प्रकार ज्ञात करेंगे ? उदाहरण देते हुए समझाइये ।

(14) परिचालन लीवरेज की अवधारणा की व्याख्या कीजिए । परिचालन लीवरेज की सीमा को आप किस प्रकार ज्ञात करेंगे ?

व्यावहारिक प्रश्न
(PRACTICAL QUESTIONS)
FINANCIAL LEVERAGE

1 विद्या इंडस्ट्री लि. की पूँजी संरचना निम्न प्रकार है–

50,0000 Equity Shares of Rs. 10 each	Rs. 5,00,000
10,000 10% Pref. Shares of Rs. 100 each	Rs. 10,00,000
10,000 10% Debentures of Rs. 100 each	Rs. 10,00,000

ब्याज एवं कर से पूर्व आय के निम्न प्रत्येक स्तर के लिए प्रति अंश अर्जन ज्ञात कीजिए ।

(i) Rs. 5,00,000, (ii) 3,00,000, (iii) Rs. 7,00,000

कम्पनी के लिए आय-कर की दर 50% है ।

उपर्युक्त स्थिति में 5,00,000 रु. ब्याज एवं कर से पूर्व आय को आधार लेते हुए वित्तीय उत्तोलक की भी गणना कीजिए ।

(Ans. EPS = Rs. 2, Nil, Rs. 4, FL Case I 2-5, Case II 2-5)

2 अशोक लि. की पूँजी संरचना निम्न है–

	रु.
समता अंश पूँजी	4,00,000
10% पूर्वाधिकार अंश पूँजी	4,00,000
8S ऋणपत्र	10,00,000

कम्पनी का वर्तमान परिचालन लाभ 2,00,000 रु. है । कम्पनी का 50% कर सीमा में मानकर वित्तीय लीवरेज की गणना कीजिए । यदि परिचालन लाभ बढ़कर 3,00,000 रु. हो जाये तो नया वित्तीय लीवरेज क्या होगा ?

(Ans 5.2-14)

3. गुप्ता लि. के पास चुनाव हेतु निम्न तीन योजनाएँ हैं । प्रत्येक दशा में आप वित्तीय लीवरेज की गणना कीजिए–

A	B	C
Rs.	Rs.	Rs.

Equity Capital	1,00,000	50,000	1,50,000	
Debt @ 10%	1,00,000	1,50,000	50,000	
Operating Profit (EBIT)	20,000	20,000	20,000	*(Ans. 2, 4, 1.33)*

4. एक फैक्ट्री की स्थापित क्षमता 8,000 इकाइयाँ हैं। वास्तव में उपयोग की गयी क्षमता 4,000 इकाइयाँ हैं। प्रति इकाई विक्रय मूल्य 50 रु. और परिवर्तनशील लागत 30 रु. प्रति इकाई है। निम्न तीन दशाओं में परिचालन अनुपात की गणना कीजिए–

   (i) जब स्थाई लागत 4,000 रुपये है।

   (ii) जब स्थायी लागत 10,000 है।

   (iii) जब स्थायी लागत 12,000 रुपये है। *(Ans. I 1.05, II. 1.14, II, 1.18)*

5. एक कम्पनी का अनुमान है कि उसके उत्पादन का विक्रय मूल्य 56 रु. प्रति इकाई, परिवर्तनशील लागत 36 रु. प्रति इकाई और स्थायी लागत 40,000 रु. है। संचालन लीवरेज की गणना कीजिए। यदि बिक्री की मात्रा 12,000 इकाइयाँ तथा 16,000 इकाइयाँ हैं। *(Ans. 12,000 Units 1.2, 16,000 Units 1.14)*

6. गंगा लि. अपने उत्पाद को 500 रु. प्रति इकाई की दर से बेचती है। इसकी परिवर्तनशील लागत 200 रु. प्रति इकाई है और स्थिर लागत 1,00,000 रु. प्रति वर्ष है। कर व ब्याज से पूर्व लाभ का विभिन्न स्तर दर्शाइये जो (i) 2,000 इकाई, (ii) 2,500 इकाई तथा (iii) 1,500 इकाई की बिक्री से उत्पन्न होगा। परिचालन लीवरेज की भी गणना कीजिए।

(Ans. Case I. 1.20, Case II 1.29, Case III 1.15)

7. कम्पनी के बारे में निम्नलिखित पूर्वानुमान उपलब्ध हैं–

Particulars	Amount Rs.
Sales	10,00,000
Less : Variable Costs (VC)	4,00,000
Contribution (C)	6,00,000
Less : Fixed Costs	4,00,000
Earning Before Interest & Tax (EBIT)	2,00,000
Less : Interest on Debt Capital	1,00,000
Profit Before Tax (PBT)	1,00,000

उपरोक्त पूर्वानुमानों के आधार पर निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए–

(a) यदि बिक्री में 10% की वृद्धि की जाती है तो परिचालन लीवरेज के फलस्वरूप ब्याज एवं कर घटाने से पूर्व आय (EBIT) में कितने प्रतिशत की वृद्धि होगी ?

(b) यदि ब्याज एवं करों से पूर्व आय (EBIT) में 10% की वृद्धि होती है तो वित्तीय लीवरेज के फलस्वरूप कर सहित लाभ में कितने प्रतिशत की वृद्धि होगी ?

(c) यदि बिक्री में 10% की वृद्धि होती है तो संयुक्त लीवरेज के फलस्वरूप कर सहित लाभ में कितने प्रतिशत वृद्धि होगी ? *(Ans. a = 30%, b = 20%, c = 60%)*

10. श्री राम उद्योग लिमिटेड की वार्षिक बिक्री 2,50,000 रुपयों, परिवर्तनीय लागतें, 1,70,000 रुपयों तथा स्थिर लागतें 40,000 रुपयों की हैं। फर्म की कुल ऋण पूँजी 1,00,000 रुपयों की है जिस पर 12% वार्षिक दर से ब्याज देय है।

    उपर्युक्त आँकड़ों के आधार पर (i) परिचालन लीवरेज, (ii) वित्तीय लीवरेज तथा (iii) संयुक्त लीवरेज की गणना कीजिए *(Ans. FL = 1.43, OL = 2, CL = 2.86)*

11. निम्नलिखित समंकों से परिचालन लीवरेज, वित्तीय लीवरेज एवं मिश्रित लीवरेज की गणना कीजिये।

	रु.
बिक्री 50,000 इकाइयाँ, 2 रु. प्रति इकाई	1,00,000
परिवर्तनशील लागत 1 रु. प्रति इकाई	-
स्थायी लागत	25,000
ऋण पूँजी पर ब्याज	1,834

Rs.

(Ans. OL = 2, FL = 1.08, CL = 2.16)

12 सुरेन्द्र इंजीनियरिंग कम्पनी के विषय में निम्नलिखित सूचनाएँ दी गयी हैं–

NOTES

	Particulars	Rs.
1.	Equity Share Capital (Rs. 10 per Share)	20,00,000
2.	Debentures (14%)	60,00,000
3.	Selling Price per unit	50
4.	Variable Cost per unit	30
5.	Fixed Costs	24,00,000

कम्पनी द्वारा वर्तमान में 2,00,000 इकाइयों का उत्पादन किया जाता है। अब प्रबन्धकों की योजना है कि उत्पादन में 25% की वृद्धि कर दी जाये। कम्पनी के लिए कर दर 40% है।

उपर्युक्त सूचनाओं के आधार पर निम्नलिखित गणनाएँ कीजिए

(a) परिचालन लीवरेज (Operating leverage),

(b) वित्तीय लीवरेज (Financial Leverage),

(c) प्रति अंश आय (Earnings per share)

(Ans. (i) OL = 2.5, FL = 2.1, EPS = Rs. 2.28, (ii) OL = 1.92, FL = 1.47, EPS = Rs. 5.28)

13. विजय प्लास्टिक की कुल बिक्री 50 लाख रुपयों की है। परिवर्तनशील लागतें 34 लाख रुपये तथा स्थिर लागतें 8 लाख रुपयों की है। फर्म द्वारा 20 लाख रुपयों का ऋण 15% वार्षिक ब्याज पर लिया हुआ है।

उपर्युक्त सूचनाओं के आधार पर निम्नलिखित ज्ञात कीजिए–

(a) परिचालन लीवरेज (Operating Leverage),

(b) वित्तीय लीवरेज (Financial Leverage),

(c) संयुक्त लीवरेज (Combined Leverage),

(d) यदि फर्म ब्याज एवं कर से पूर्व आय में 20% की वृद्धि प्रस्तावित है तो इसके लिए बिक्री में कितने प्रतिशत वृद्धि करने की आवश्यकता है?

(Ans. OL = 2, FL = 1.6, CL = 3.2% change in EBIT = 10%)

अपनी प्रगति की जाँच कर
Test your Progress

/RAVI/ENVIRONMENT/3108-5.PM5 FIRST PROOF DATE : 14.06.2016 (RAJAKS)

9

NOTES

विपणन प्रबन्ध : अवधारणा
[MARKETING MANAGEMENT : CONCEPT]

विपणन-प्रबन्ध (Marketing-Management)

प्राचीन समय में जब मानव की आवश्यकताएँ सीमित होती थी वह स्वयं के लिए खाद्यान्न, वस्त्र एवं शरण की प्रबन्ध व्यवस्था करता था, और सामान की कमी या वृद्धि होने के प्रश्न उपस्थित ही नही होते थे। सभ्यता के विकास के साथ-साथ वस्तुओ व सेवाओ के विनिमय की ओर अधिक ध्यान दिया गया। यद्यपि उत्पादन सीमित मात्रा में स्थानीय प्रकृति के आधार पर किया जाता था, परन्तु व्यापारिक वर्ग द्वारा उस माल को बिक्री दूर-दूर के बाजारो तक की जाती थी।

19वी शताब्दी मे औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप विपणन व्यवस्था मे अनेक परिवर्तन आये। उत्पादन कार्यों में श्रमिकों के स्थान पर मशीनो का प्रयोग किया गया तथा उत्पादन की नवीन विधियों को प्रयोग करके विपणन के क्षेत्र को विकसित किया। वर्तमान 20वीं शताब्दी में परिवहन एवं संचार व्यवस्था के विकास के फलस्वरूप एव औद्योगिक विकास में वृद्धि के साथ-साथ राष्ट्रीय, क्षेत्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय बाजारो का विकास हुआ। कारखाना पद्धति में सुधार करके उत्पादन में वृद्धि की गयी तथा श्रमविभाजन के महत्व को स्वीकार किया गया। कारखाने एक-दूसरे पर निर्भर रहने लगे तथा विपणन विचार को महत्व दिया जाने लगा। प्रथम व द्वितीय विश्व युद्ध से बाजार व्यवस्था में अनेक सुधार हुए तथा विपणन का क्षेत्र विस्तृत हो गया। इस प्रकर "विपणन प्रबन्ध व्यापारिक संस्थाओं द्वारा बाह्य अवसरों से साधनों एव उद्देश्यों को अच्छे ढंग से ग्रहण करने का अध्यन है।"[1] विपणन प्रबन्ध में वस्तुओं व सेवाओं की बिक्री करने के स्थान पर उन वस्तुओं के लिए ग्राहकों की खोज की जाती है। अल्पकाल में विद्यमान वस्तुओं के साथ ग्राहक की माँग को समायोजित किया गया है परन्तु दीर्घकाल में ग्राहकों की माँग से वस्तुओं के उत्पादन को समायोजित किया जाता है। पुरानी विचारधारा के अनुसार विपणन में विक्रय को ही सम्मिलित किया जाता है जिसमें स्वयं अनेक क्रियाओं का समावेश किया जाता है। कम्पनी को खोज के आधार पर सम्भावित ग्राहक की खोज करके उसे ग्राहकों के मस्तिष्क में विज्ञापन के आधार पर माँग उत्पन्न करना सम्मिलित था। वर्तमान समय में ग्राहकों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए लाभ के आधार पर उत्पादन किया जाता है।

विपणन प्रबन्ध अवधारणा
(MARKETING MANAGEMENT CONCEPT)

व्यवसाय के क्षेत्र में ग्राहक के निरन्तर बढ़ते हुए महत्व ने व्यवसाय में एक नवीन चिन्तन को जन्म दिया है जिसे 'विपणन अवधारणा'की संज्ञा दी जाती है। **श्री जान ई. वेकफील्ड** के अनुसार, "विपणन अवधारणा व्यवसाय का दर्शन है, "जो ग्राहकों की सन्तुष्टि के द्वारा उचित लाभ अर्जित करने पर बल देता है। यह ग्राहक की प्रभुसत्ता को सहर्ष स्वीकार करती है। सामान्यतया विपणन का अर्थ वस्तुओं के क्रय-विक्रय को माना जाता है परन्तु विपणन विशेषज्ञ सामाजिक दायित्व को भी विपणन का प्रमुख कार्य मानते है। विपणन अवधारणा के माध्यम से व्यवसायी ग्राहकों का सृजन कर, उन्हें सतुष्टी प्रदान कर उचित लाभ कमाता है।

विपणन प्रबन्ध अवधारणाओं का वर्गीकरण
(CLASSIFICATION OF MARKETING MANAGEMENT CONCPETS)

विपणन प्रबन्ध अवधारणाओं का विभाजन निम्न दो प्रकार से किया जा सकता है:

(I) सूक्ष्म अवधारणा (Micro Concept) एवं

(II) व्यापक अवधारणाएँ (Macro Concepts)

(I) विपणन की सूक्ष्म अवधारणा
(MICRO CONCPET OF MARKETING)

सामान्यत: विपणन की सूक्ष्म अथवा परम्परागत अवधारणा से आशय वस्तुओं के क्रय-विक्रय से लगाया जाता है। विपणन की सूक्ष्म अथवा परम्परागत अवधारणा ऐसी प्रक्रिया है जो किसी फर्म द्वारा ऐसी व्यूह रचनाओं का निर्माण एवं लागू करने के लिए की जाती है जो कि लाभ पर सन्तुष्टि देने वाले माल तथा सेवाओं के प्रवाह को चालू रखती है इसके अनुसार विपणन का मूलभूत कार्य वस्तुओं को उत्पादक अथवा निर्माता से उपभोक्ताओं तक पहुंचाना था। विपणन की सूक्ष्म अथवा परम्परागत अवधारणा में विपणन कार्यों में या तो कोई परस्पर सम्बन्ध ही नहीं था अथवा बहुत कम था। विपणन की सूक्ष्म अथवा परम्परागत अवधारणा में उपभोक्ता कल्याण, उपभोक्ता अनुसंधान अथवा सामाजिक उत्तरदायित्व आदि के लिए कोई स्थान नहीं था।

NOTES

(II) व्यापक अवधारणा
(MACRO CONCEPT)

व्यापक अथवा आधुनिक प्रबन्ध में विपणन की विशेष महत्ता है और यह प्रबन्ध की महत्वपूर्ण अवधारणाओं में से है। अतएव आधुनिक विपणन अवधारणा का अर्थ समझना एवं उसे व्यवहार में लाना परम आवश्यक है। यह निम्न तीन मूलभूत अवधारणाओं पर आधारित है - (i) कम्पनी की नीतियाँ एवं क्रियाएं ग्राहकोन्मुखी है। इस बात पर बल देना होगा कि समस्त व्यावसायिक क्रियाओं का प्राथमिक उद्देश्य ग्राहकों की इच्छाओं एवं आवश्यकताओं की प्रभावी ढंग से सन्तुष्टि करना है। (ii)व्यवसाय का लक्ष्य उचित लाभप्रद विक्रय करना है। आधुनिक विपणन अवधारणा मात्र एक क्रिया नहीं है अपितु इसमें वे सभी क्रियाएँ सन्निहित हैं जो कि उत्पाद को उसके उत्पत्ति के स्थान से उठाकर अन्तिम उपभोक्ताओं एवं उपयोगकर्ता उद्योगों के हाथों में सौंपती और उन्हें सन्तुष्टि प्रदान करती है। (iii) आधुनिक विपणन अवधारणा का प्रारम्भ उस समय से होता है जबकि किसी उत्पाद को निर्मित करने के विचार का सृजन होता है और उसका अन्त उस समय हो जाता है जबिक एक ओर ग्राहक को पूर्णत: सन्तुष्टि प्राप्त हो जाती हैं। **आर्थर पी. फेल्टन** (Arthur P. Felton) के शब्दों में, "आधुनिक विपणन अवधारणा एक ऐसी मानसिक अवस्था है जो समस्त विपणन कार्यों के एकीकरण और समन्वय पर बल देती है।" **दी जनरल इलैक्ट्रिक कम्पनी, अमेरिका के अध्यक्ष फ्रेड जे. बोर्च** (Fred J. Borch) के अनुसार, "आधुनिक विपणन अवधारणा एक आधारभूत व्यवसाय दर्शन है । इस दर्शन का पहला आधार व्यवसाय करने के ग्राहकोन्मुखी तरीके को स्वीकार करना एवं मान्यता देना है।"

निष्कर्ष-उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि **"व्यापक अथवा आधुनिक विपणन अवधारणा एक व्यापक व्यवसाय दर्शन है जिसके अन्तर्गत एक उत्पादक उपभोक्ताओं की आवश्यकतानुसार उत्पादन कर अपने उत्पाद को उपभोग हेतु उपभोक्ता को सौंपता है व उन्हें अधिकतम संतुष्टि प्रदान कर लाभ प्राप्त करता है।**

आधुनिक विपणन अवधारणा की परिभाषाएँ
(DEFINITIONS OF MODERN MARKETING CONCEPT)

प्रमुख विद्वानों द्वारा दी गयी परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं :

(1) **शोएल एवं गिल्टीनन** (Shoell and Guiltman) के अनुसार, "विपणन अवधारणा व्यवसाय का एक नवीन दर्शन है जो यह मानता है कि व्यवसाय अपने ग्राहकों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कार्य करता है, प्रबन्धकीय प्रणाली दृष्टिकोण के आधार पर निर्णय लेता है तथा अपने स्वामियों के विनियोग के प्रतिफल के रूप में उचित लाभार्जन करता है।"

(2) **ए. फेल्टन** (A Felton) के अनुसार, "विपणन अवधारणा एक दर्शन है जो कि व्यवसाय के संचालन में लागू की जाती है जिसमें ग्राहक एवं उपभोक्ता की आवश्यकताएँ सर्वाधिक महत्वपूर्ण होती है। यह आवश्यकताएं व्यवसाय के प्रत्येक कार्य तथा समस्त योजना के लिए पृथक नियोजन संचालित करेगी जिनका लक्ष्य पूर्व-निर्धारित लाभ उद्देश्यों को प्राप्त करना है।"

(3) **कण्डिफ, स्टिल एवं गोवोनी** के अनुसार, "मूलत:विपणन अवधारणा एक ऐसा प्रबन्ध-दर्शन है जो इस विचार को अपनाने वाली कम्पनियों के विपणन प्रयासों के प्रबन्ध को प्रभावी ढंग से प्रभावित करता है।"

(4) **फिलिप कोटलर** (Philip Kotler) के अनुसार, "विपणन अवधारणा उपभोक्ता-प्रधान है जो कि सुग्रथित विपणन द्वारा समर्थित होती है और जिसका लक्ष्य उपभोक्ता सन्तुष्टि उत्पन्न करना होता है जो कि संगठनात्मक लक्ष्यों की सन्तुष्टि का आधार है।"

NOTES

(5) **विलियम जे.स्टेण्टन** (William J. Stanton) के अनुसार, "अपने पूर्णतम भाव में विपणन अवधारणा एक व्यावसायिक दर्शन है जो यह बताता है कि ग्राहकों की आवश्यकता तथा सन्तुष्टि एक कम्पनी के अस्तित्व का आर्थिक व सामाजिक औचित्य है। परिणामस्वरूप उत्पादन, इन्जीनियरिंग एवं वित्त और विपणन में भी कम्पनी के सभी क्रिया-कलापों द्वारा सर्वप्रथम यह निर्धारण किया जाना चाहिए कि उपभोक्ताओं की आवश्यकताएँ क्या हैं और तत्पश्चात् उचित लाभ कमाते हुए उन आवश्यकताओं की सन्तुष्टि की ओर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए।"

उपरोक्त परिभाषाओं के अध्ययन उपरान्त विपणन प्रबन्ध को निम्न बिन्दुओं के अन्तर्गत प्रदर्शित किया जा सकता है -

(1) उपभोक्ताओं की विद्यमान एवं भावी आवश्यकताओं का अध्ययन,

(2) संभावित बाजार अवसरों का अध्ययन एवं निर्धारण,

(3) विपणन कार्यक्रमों का निर्माण,

(4) उत्पाद एवं सेवाओं का विपणन,

(5) ग्राहक सतुष्टि एवं उचित लाभार्जन।

विपणन अवधारणा की विशेषताएँ
(CHARACTERISTICS OF MARKETING CONCEPT)

विपणन अवधारणा की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

(1) **विपणन का केन्द्र**- विपणन अवधारणा समस्त विपणन क्रियाओं का सार एवं केन्द्र बिन्दु है।

(2) **व्यवसाय दर्शन** (Business Philosophy) - व्यवसाय का अस्तित्व ही सुदृढ़ विपणन व्यवस्था पर आधारित है। "विपणन ही व्यवसाय है।" '**बजाज समूह**' को ही लीजिए। यह समूह बहुत कम उत्पाद स्वयं निर्मित करता है। अधिकांश उत्पाद अन्य निर्माताओं से खरीदता है किन्तु अपनी सुदृढ़ विपणन व्यवस्था के कारण इसने बाजार पर नियन्त्रण स्थापित कर लिया है।

(3) **समन्वित या एकीकृत विपणन** (Integrated Marketing)- समन्वित या सुग्रथित विपणन व्यवस्था आधुनिक विचारधारा का महत्वपूर्ण आधार तथा तत्व होता है। इसके अन्तर्गत संस्था के विभिन्न विभागों का सम्बन्ध विपणन विभाग से होता है।

(4) **उचित लाभार्जन** - विपणन अवधारणा इस बात पर बल देती है कि उत्पादक/निर्माता को केवल उचित लाभ ही कमाना चाहिए। यदि वह अधिक लाभ कमाने पर बल देता है तो उसे कुछ ही दिनों में अपने व्यवसाय का शटर नीचे गिराना पड़ सकता है।

(5) **सन्तुष्टि से लाभ** (Profit through Satisfaction)- विपणन अवधारणा ग्राहकों की सन्तुष्टि से लाभ कमाती है। 'प्रथम ग्राहक सन्तुष्टि, द्वितीय लाभ।' ग्राहक यदि सन्तुष्ट हो जाता है तो उत्पाद का अधिक मूल्य भी सहर्ष देने को तत्पर हो जाता है।

(6) **बहिर्मुखी अवधारणा** (Multi Concept)- विपणन अवधारणा एक बहिर्मुखी अवधारणा है। यह संस्था के उपलब्ध साधनों एवं उत्पादों से प्रभावित नहीं होती।

(7) **विक्रय से अधिक व्यापक** (More Comprehensive than Sales)- विपणन अवधारणा विक्रय से अधिक व्यापक एवं विस्तृत दृष्टिकोण है। यदि देखा जाए तो विक्रय विपणन का ही एक अंग है।

(8) **बाजार सूचना** (Market Information)- विपणन अवधारणा के अनुसार विपणन का कार्य उत्पाद करने से पूर्व ही प्रारम्भ हो जाता है। उत्पादक/निर्माता उत्पाद का उत्पादन करने से पूर्व बाजार की दशाओं तथा ग्राहकों की रुचियों, फैशन, क्षेत्र, इच्छाओं, लागत, विद्यमान प्रतियोगी उत्पादों आदि का व्यापक अध्ययन करता है।

(9) **आवश्यकतानुसार उत्पादन** (Production according to Needs)- यह अवधारणा मानती है कि प्रत्येक संस्था को ग्राहक की आवश्यकता एवं इच्छा को ध्यान में रखकर ही उत्पाद करना चाहिए। स्टेण्टन एवं उनके सहलेखकों के अनुसार, "**सम्पूर्ण नियोजन एवं संचालन ग्राहक-प्रधान होना चाहिए।**"

(10) **ग्राहकोन्मुखी** (Customer-oriented) - विपणन अवधारणा ग्राहकोन्मुखी है अर्थात् यह ग्राहक को अपना केन्द्र बिन्दु मानती है । यह ऐसे विपणन कार्यक्रमों पर बल देती है जो ग्राहकों के हित की रक्षा करें एवं उन्हें अधिकतम सन्तुष्टि प्रदान करें।

मान्यताएँ:- फिलिप कोटलर के अनुसार विपणन अवधारणा की प्रमुख चार मान्यताएँ (Four Main Assumptions of Marketing Concept) -

(1) ग्राहकों की सन्तुष्टि के लिए सक्रिय विपणन कार्यक्रम की आवश्यकता होती है जो ग्राहकों की इच्छाओं के बारे में जानकारी करता रहता है।

(2) संगठन को एकीकृत विपणन नियन्त्रण की आवश्यकता होती है।

(3) जो संगठन ग्राहकों को सन्तुष्टि प्रदान करते है, उनकी ख्याति फैलती है।

(4) सगठन का प्रमुख कार्य किसी निश्चित ग्राहको के समूह की आवश्यकताओं तथा इच्छाओं की सन्तुष्टि करना होता है।

NOTES

विपणन अवधारणाओं के प्रकार
(FORMS OF CONCEPTS OF MARKETING)

विपणन अवधारणाओं के विभिन्न प्रकार निम्नानुसार है:-

(1) **सामाजिक विपणन अवधारणा** (Social Marketing Concept)- सामाजिक विपणन अवधारणा इस बात पर बल देती है कि विपणन संगठन का मूलभूत कार्य लक्ष्य आधारित बाजारों की आवश्यकताओं एवं हितों को ज्ञात करना है और प्रतियोगियों की तुलना में समाज को और अधिक प्रभावी ढग से सन्तुष्टि प्रदान करना है।

(2) **उत्पाद अवधारणा** (Product Concept)- उत्पाद अवधारणा उत्पाद की किस्म,आकार, रंग-रूप एवं डिजाइन आदि के सुधार पर बल देती है। यह अवधारणा इस मान्यता पर आधारित है कि यदि हमारा उत्पाद अच्छा होगा तो सात समुद्र पार से भी क्रेता खिचा-खिचा चला आयेगा।

(3) **विपणन अभिमुखीकरण** (Marketing Orientation)- तीव्र प्राविधिक और सामाजिक परिवर्तन, गहन प्रतिस्पर्द्धा और उच्च सन्तुष्ट उपभोक्ता आवश्यकताओं (Highly Satisified Consumer Wants) के समय में विक्रय अभिमुखीकरण के आधार पर व्यवसाय को लाभ पर नही चलाया जा सकता, अत: व्यावसायिक फर्मों का झुकाव अब विपणन अभिमुखीकरण की ओर है।

(4) **विक्रय अभिमुखीकरण** (Sales Orientation)- इस स्थिति में वस्तुओं के अभाव के स्थान पर ग्राहकों का अभाव महसूस किया गया । विज्ञापन बजटों में वृद्धि हुई, विक्रय शक्ति का विस्तार किया गया, ब्राण्डिग, पैकेजिंग एवं विक्रय संवर्द्धन महत्वपूर्ण औजार बन गये और विपणन अनुसंधान का प्रयोग किया जाने लगा।

(5) **वित्तीय अभिमुखीकरण** (Financial Orientation)- इस स्थिति में व्यावसयिक फर्मों ने अनुभव किया है कि लाभों के लिए मुख्य अवसर विलय और वित्तीय एकीकरण (Merger and Financial Consolidations) द्वारा औद्योगिक ढाँचे को विवेकपूर्ण बनाने पर निर्भर है।

(6) **उत्पादन अभिमुखीकरण** (Production Orientation) - इस स्थिति में वस्तुओं और सेवाओं का अभाव था। अत: मुख्य समस्या उत्पादन वृद्धि की थी, न कि विक्रय की। विक्रेता बाजार (Sellers' Market) की स्थिति थी। विक्रेता बाजार में जो भी वस्तु प्रस्तुत करता था, वह तुरन्त बिक जाती थी।

विपणन अवधारणा का उद्गम
(Evolution of Marketing Concept)

अध्ययन में सुविधा की दृष्टि से विपणन अवधारणा के उद्गम एवं विकास के इतिहास को निम्न अवस्था में बाँटा जा सकता है:-

(I) **विनिमय प्रणाली** - यह विपणन की सबसे प्रारम्भिक अवस्था है जबकि विपणन का उद्गम हुआ। इस अवस्था में लोगों ने खेती व उससे सम्बन्धित कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। एक समय ऐसा आया जबकि आवश्यकता से अधिक खेती की उपज पैदा करना शुरू हो गया । अतएव यह समस्या उत्पन्न हो गयी कि उत्पादन के आधिक्य को कैसे ठिकाने लगाया जाए। इस समस्या ने वाणिज्य एवं व्यापार को जन्म दिया जिसमें विनिमय की आवश्यकता पर बल दिया गया। यही से वस्तु विनिमय प्रथा का प्रारम्भ हुआ। इस अदल-बदल प्रणाली में धन का कोई स्थान नहीं था।

(II) **उत्पादोन्मुखी** (Production-oriented)- प्रारम्भ में औद्योगीकरण समाज में प्रबन्ध उत्पाद-अभिमुखी (Production-oriented) था। विपणन की आवश्यकता केवल उत्पादन क्षमता के वितरण के लिए होती थी। ग्राहक वस्तुओं की प्रतीक्षा किया करते थे। वस्तु के विक्रय की कोई समस्या उस समय नहीं थी। विपणन की इस अवस्था

NOTES

में व्यवसाय का प्रमुख उद्देश्य अधिकाधिक मात्रा में लाभ कमाना होता था व उपभोक्ता को सेवा अथवा सामाजिक दायित्वों पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था।

(III) **विक्रय अभिमुखी** (Sales-oriented)- उत्पादन वृद्धि के साथ-साथ प्रतिस्पर्द्धा में वृद्धि हुई। प्रभावशाली विक्रय शक्ति के अभाव में इस बढ़ती हुई प्रतिस्पर्द्धा के समय में उत्पादित माल का विक्रय करने में कठिनाई अनुभव की जाने लगी। आर्थिक जीवन के सभी क्षेत्रों में व्यापक परिवर्तन हुए जिसके फलस्वरूप विक्रय कला विपणन का मुख्य अंग बन गई।

(IV) **विपणनोन्मुखी** (Marketing-oriented)- विक्रयोन्मुखी अवस्था में उत्पादकों तथा ग्राहकों में प्रतिस्पर्द्धा होने लगी । यह प्रतिस्पर्द्धा दिनों-दिन कटु होती गयी। इसने प्रबन्ध को विपणन दर्शन पर पुन: विचार करने के लिए बाध्य किया। इस कटु प्रतिस्पर्द्धा ने उत्पादकों को यह सोचने के लिए बाध्य किया कि बिना शक्तिशाली एवं प्रभावी विक्रय शक्ति (Sales Force) के उत्पादन का अधिक मात्रा में विक्रय करना सम्भव नहीं है। यहीं से ग्राहक का महत्व अनुभव होने लगा।

(V) **उपभोक्ता अभिमुखी** (Customer-oriented)- तीव्र प्रतिस्पर्द्धा के कारण जब विपणनोन्मुखी अवस्था से उत्पादकों को लगातार हानियों का सामना करना पड़ा तो उपभोक्ता अभिमुखी व्यवस्था अपनाई गयी। इस अवस्था में उपभोक्ता की आवश्यकतानुसार उत्पादन किया जाने लगा व व्यवसाय का उद्देश्य कम लाभ परन्तु दीर्घकालीन लाभ बन गया।

आधुनिक विपणन अवधारणा के मुख्य आधारस्तम्भ
(FUNDAMENTALS OF MODERN MARKETING CONCEPT)

विभिन्न विद्वानों की परिभाषाओं एवं अन्य विचारों के आधार पर कहा जा सकता है कि आधुनिक विपणन अवधारणा के निम्नांकित चार आधारस्तम्भ हैं- (I) ग्राहक-अभिमुखीकरण (Customer-orientation), (II)सुप्रथित विपणन (Intergrated Marketing), (III) ग्राहक सन्तुष्टि (Customer Satisfaction), (IV)उपभोक्ता कल्याण (Consumer Welfare)।

(I)**ग्राहक-अभिमुखीकरण** (Customer-orientation)- इसके अन्तर्गत इस बात पर जोर दिया जाता है कि ग्राहक ही सर्वोपरि है, अत: कम्पनी को ग्राहक की दृष्टि से ही देखना चाहिए। ऐसी वस्तु जिसे आसानी से बनाया जा सके, का विपणन करने के बजाय हमें यह ज्ञात करना चाहिए कि ग्राहक क्या चीज खरीदने का इच्छा रखता है। वास्तव में, विपणन अवधारणा का आधार स्तम्भ ग्राहक है जिसके चारों ओर व्यावसायिक क्रियाएँ चक्कर काटती हैं। इसके अन्तर्गत ग्राहक को सर्वोपरि स्थान दिया जाता है। ग्राहक अभिमुखीकरण व्यवस्था के सफल संचालन हेतु निम्न बिंदुओ पर ध्यान देना आवश्यक है।

(1) **एक सामान्य आवश्यकता की परिभाषा** (A General-need Definition)- एक फर्म के लिए सबसे पहली आवश्यकता उन आधारभूत आवश्यकताओं (Basic Needs) की एक आधारभूत परिभाषा को अपनाना है जिसे वह पूरा करना चाहती है या सन्तुष्ट करना चाहती है।

(2) **लक्ष्य-समूहों की परिभाषा** (Target-groups Definition)- एक कम्पनी द्वारा सभी प्रकार की आवश्यकताओं को पूरा करना सम्भव नहीं होता। साथ ही सभी प्रकार के बाजारों में पहुँचना और लगातार सेवा करते रहना भी सम्भव नहीं होता । अत: कुछ बाजारों का चुनाव करके ही उसे अपनी क्रियाओं का विस्तार करना होता है।

(3) **विभिन्नात्मक उत्पाद और सन्देश** (Differentiated Products and Messages)- आधुनिक विपणन अवधारणा उत्पाद विभिन्नीकरण के सिद्धान्त को मान्यता देती है। हम जानते हैं कि उपभोक्ता अनेक प्रकार के होते है। इन सभी की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए वस्तु के आकार, रंग, डिजाइन आदि में परिवर्तन कर दिये जाते हैं।

(4) **उपभोक्ता अनुसंधान** (Consumer Research)- ग्राहक-अभिमुखीकरण के लिए यह आवश्यक है कि उपभोक्ता की बदलती हुई आवश्यकताओं पर निगाह रखी जाये। उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं में परिवर्तनों और नवीन आवश्यकताओं का पता लगाने के लिए उपभोक्ता अनुसंधान की सहायता ली जानी चाहिए।

ग्राहक-अभिमुखीकरण की अवधारणा से लाभ- ग्राहक-अभिमुखीकरण विचारधारा से निम्नांकित लाभों की प्राप्ति होती है

(1) समाज के हितों और संस्था के हितों में अधिक समानता आ जाती है। ग्राहक -अभिमुखीकरण का प्रयोग करने वाली कम्पनी का उद्देश्य मानवीय आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करने वाले उत्पादों की खोज करके उन्हें लाभ पर बेचना होता है।

(2) कम्पनी को यह ज्ञात हो जाता है कि विशिष्ट उत्पादों की बजाय ग्राहक की आवश्यकताएँ अधिक महत्वपूर्ण है।

(3) जब ग्राहकों द्वारा **उत्पाद मूल्य** को मान्यता दी जाती है तो उत्पाद अधिक प्रभावशाली बन जाता है।

(4) ग्राहकों की आवश्यकताओं की ओर ध्यान देने से नवीन उत्पादन की सम्भावनाओं का पता लगाने में सहायता मिलती है।

(II) **समग्र विपणन** (Integrated Marketing)-प्राय: सभी कम्पनियाँ **पीटर एफ.ड्रकर** (Peter F. Drucker) के इस कथन से सहमत है कि "कम्पनी का उद्देश्य ग्राहक उत्पन्न करना है।" परन्तु वे विपणन अवधारणा के क्रियान्वयन में आवश्यक संगठनात्मक कदमों को उठाने में असफल रहती है।

समग्र विपणन का अर्थ है कि व्यवसाय के विभिन्न विभाग मिलकर कार्य करें। सभी विभाग अलग-अलग समझे जाते थे और इनके प्रबन्धक भी अलग-अलग थे। आधुनिक विचारधारा के अन्तर्गत इन सभी विभागों में न केवल समन्वय रखा जाता है, बल्कि ये सभी विभाग एक ही व्यक्ति के कुशल नियंत्रण में रखे जाते है

विपणन की परम्परागत तथा आधुनिक अवधारणा में अन्तर
(DIFFERENCE BETWEEN TRADITIONAL AND MODERN CONCEPTS OF MARKETING)

विपणन की इन दोनों अवधारणाओं में प्रमुख भिन्नताओं को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है.

(1) **सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना** (Spirit of Social Responsibility)- विपणन की आधुनिक अवधारणा विक्रेता की समाज के प्रति उत्तरदायित्व की भावना पर बल देती है। इसके विपरीत, विपणन की परम्परागत अथवा पुरानी अवधारणा में विक्रेता की समाज के प्रति उत्तरदायित्व की भावना के लिए कोई स्थान नही है।

(2) **उपभोक्ता की प्रभुसत्ता** (Consumer's Soveregnity)- विपणन की आधुनिक अवधारणा 'उपभोक्ता की प्रभुसत्ता' में विश्वास रखती है। इसके विपरीत, विपणन की पुरानी अवधारणा उत्पादक की प्रभुसत्ता पर बल देती है।

(3) **क्रेता/विक्रेता सावधान रहें** (Buyer/Seller Be-aware)- विपणन की आधुनिक अवधारणा 'विक्रेता सावधान रहे'के सिद्धान्त का पालन करती है। इसके विपरीत,विपणन की पुरानी अवधारणा 'क्रेता सावधान रहे' के सिद्धान्त का पालन करती है।

(4) **विपणन क्रियाओं में पारस्परिक संबंध** (Mutual Relation between Marketing Activities) - विपणन की आधुनिक अवधारणा के अन्तर्गत विपणन विभाग का दायित्व कम्पनी के क्रेताओं से सम्पर्क करने वाले सभी क्रियाकलापों में समन्वय या सुसम्बद्धता (Integration) स्थापित करना भी है। इसके विपरीत, विपणन की पुरानी अवधारणा में विपणन के कार्यों में या तो सम्बन्ध हो नहीं अथवा बहुत ही कम था ।

(5) **उपभोक्ता सन्तुष्टि एवं कल्याण** (Consumer Satisfaction and Welfare)- विपणन की आधुनिक अवधारणा का उद्देश्य उपभोक्ता सन्तुष्टि एवं उपभोक्ता कल्याण है। आधुनिक समय में समाज के रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाने का दायित्व विपणन का है। जबकि परम्परागत अवधारणा में उपभोक्ता संतुष्टि का कोई स्थान नही था।

(6) **व्यापकता** (Comprehensive) - विपणन की पुरानी अवधारणा संकीर्ण अर्थ लिए हुए थी। इसके विपरीत आधुनिक अवधारणा का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है।

(7) **लाभ कमाना** (Profit Earning)- पुरानी अवधारणा का लक्ष्य विक्रय परिमाण में वृद्धि द्वारा लाभ कमाने का प्रयास किया जाना था, जबकि विपणन की आधुनिक अवधारणा ग्राहक सन्तुष्टि द्वारा लाभ कमाने पर बल देती है।

(8) **उत्पादनोन्मुखी बनाम् ग्राहकोन्मुखी** (Production-oriented Vs. Customer-oriented) - विपणन की पुरानी अवधारणा उत्पादन - अभिमुखी थी, जबकि आधुनिक अवधारणा ग्राहक-अभिमुखीकरण है।

NOTES

विपणन अवधारणा : एक दर्शन
(MARKETING CONCEPT : A PHILOSOPHY)

रिचर्ड पी. केल्हून (Richard P. Calhoon) के अनुसार, "एक सुस्थापित दर्शन प्रशासन को चिन्तन और व्यवहार की रूपरेखा प्रदान करने के लिए आवश्यक होता है। दर्शन किसी कार्य के निर्धारण तथा क्रियान्वयन हेतु आधारभूत मापदण्डों की स्थापना करता है।" विपणन दर्शन द्वारा ग्राहकों की असन्तुष्ट इच्छाओं का पता लगाया जाता है और इस जानकारी के आधार पर लाभ या उत्पादों या सेवाओं का निर्माण किया जाता है। विपणन दर्शन के अन्तर्गत एक उत्पाद को 'मनोवैज्ञानिक सन्तुष्टि का समूह' के रूप में परिभाषित किया जाता है।

यह सोचना शायद सही नहीं है कि विपणन और ग्राहक-अभिमुखीकरण (Customer-orientation) की विचारधारा सर्वथा नवीन है। वास्तव में, विपणन दर्शन विचारधारा काफी प्राचीन है। काफी समय पूर्व जबकि वर्तमान अर्थव्यवस्था का विकास नहीं हुआ था, उस समय भी 'ग्राहक-अभिमुखीकरण' व्यावसायिक उपक्रम की एक प्रमुख विशेषता थी। वृहत उत्पादन तथा राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों के प्रादुर्भाव से पूर्व भी व्यवसायी अपने ग्राहकों और बाजारों के प्रति सजग या सचेत थे। वे अपने ग्राहकों से परिचित थे और ये व्यक्तिगत ग्राहक ही अपने सामूहिक बाजार का निर्माण करते थे।

एफ.जे.बोर्च (F.J. Borch) के अनुसार, विपणन दर्शन को समझने के लिए दो आधारभूत बातों को समझना आवश्यक है जिन पर यह दर्शन आधारित है। ये दोनों आधारभूत बातें निम्न हैं-(1) ड्यूअल कोर जॉब ऑफ मार्केटिंग (Dual Core Job of Marketing) तथा (2) लाभ अवधारणा, न कि परिणाम अवधारणा (Profit Concept and not a Volume Concept)।

प्रथम सिद्धान्त के अनुसार विपणन दर्शन के अन्तर्गत व्यवसाय का केन्द्र-बिन्दु ग्राहकों की इच्छाएं तथा आवश्यकताएँ होनी चाहिए। इन आवश्यकताओं के ज्ञान के पश्चात् ही विपणनकर्ता इनकी सन्तुष्टि हेतु आवश्यक क्रियाएँ कर सकता है। **द्वितीय सिद्धान्त** के अनुसार विपणन दर्शन लाभ अवधारणा पर आधारित है, न कि परिमाण अवधारणा पर।

व्यवसायी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि उत्पादन या विक्रय - अभिमुखी दर्शन (Production or Sales-oriented Philosophy) की तुलना में विपणन प्रबन्ध दर्शन से विक्रय वृद्धि में अधिक सहायता मिलती है। विपणन प्रबन्ध दर्शन में मूल्यों या उपयोगिताओं के समूह का निर्माण किया जाता है जिससे अन्य फर्मों की तुलना में ग्राहक को अपने उत्पाद क्रय के लिए आकर्षित किया जा सके और साथ ही उत्पाद का निर्माण एवं विक्रय लाभ पर किया जा सके।

इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि हमारे समय की आर्थिक, सामाजिक अथवा राजनीतिक वातावरण सम्बन्धी शक्तियों ने ही आधुनिक विपणन दर्शन को जन्म दिया है। मुख्य रूप से निम्न शक्तियाँ विपणन दर्शन के तीव्र प्रादुर्भाव में सहायक रही हैं- (1) प्रतिस्पर्द्धा (Competition), (2) विशिष्टीकरण (Specialisation), (3) विभेदीकरण (Diversification), (4) जटिलता (Complexity), (5) स्वचालन (Automation) तथा (6) कुशलता की प्यास (The Efficiency Urge)।

उपर्युक्त सभी शक्तियों अथवा घटकों ने विपणन दर्शन के तीव्र विकास में सक्रिय सहयोग प्रदान किया है।

समाज के प्रति विपणन का उत्तरदायित्व
(RESPONSIBILITY OF MARKETING TO SOCIETY)

हमारे देश के व्यवसायी वर्ग की इस आधार पर काफी आलोचना भी की जाने लगी है कि वे अपने सामाजिक दायित्वों की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दे रहे है अपने विक्रय को बढ़ाकर या लाभों में वृद्धि करके ही वे अपने कार्य की इतिश्री समझ लेते हैं। वास्तव में विपणनकर्ताओं के भी अनेक सामाजिक दायित्व है जिनमें से मुख्य निम्न है- (1) उत्पाद लागतों को कम करना। (2) रोजगार प्रदान करना (3) उपभोक्ता सन्तुष्टि एवं (5) सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना।

(1) **उत्पाद लागतों को कम करना** (Reducing Product Cost)- आज के प्रतिस्पर्द्धात्मक युग में प्रत्येक व्यवसायी अपनी उत्पाद लागत में कमी का प्रयास करता है। उपभोक्ता भी चाहते हैं कि उन्हें कम कीमत पर उत्पाद प्राप्त हो जो उत्पाद लागत की कमी पर ही सम्भव है। यदि विपणनकर्ता संवर्द्धनात्मक एवं वितरण क्रियाओं के सुप्रभावी उपयोग द्वारा इकाई लागत को कम करने में सफल हो जाते है तो इससे समाज को आश्चर्यजनक लाभ मिलते हैं।

(2) **रोजगार सुविधा** (Providing Employment)- विपणनकर्ताओं का सामाजिक दायित्व लोगों के लिए अधिकाधिक रोजगार के अवसर उपलब्ध कराना भी है। हमारे देश के लिए इस दायित्व का विशेष महत्व है क्योंकि बेरोजगारी की समस्या विकट रूप धारण कर चुकी है। विपणन ही व्यवसाय मे सर्वाधिक रोजगार प्रदान करने वाला क्षेत्र होता है। विक्रेताओं, प्रवर्तकों, सुपुर्दगी देने वाले व्यक्तियों (Delivery Men), प्रतिनिधियों, स्टॉकिस्टों (Stockists) थोक व्यापारियों आदि की भारी संख्या इस तथ्य को स्पष्ट करती है।

(3) **उपभोक्ता सन्तुष्टि** (Consumer Satisfaction) - उपभोक्ता सन्तुष्टि आधुनिक विपणन विचार का एक प्रमुख आधारस्तम्भ है। आधुनिक समय में उपभोक्ता ही वह केन्द्र-बिन्दु है जिसके चारों ओर समस्त व्यावसायिक क्रियाएँ चक्कर लगाती है। विपणन का दायित्व न केवल उपभोक्ताओं की आवश्यकताओ का पता लगाना है अपितु उनकी सन्तुष्टि का दायित्व भी विपणन पर ही है।

(4) **सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना** (Metting Social Needs)-विपणन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण दायित्व सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना है। उत्पादनकर्ता और उपभोक्ताओं के मध्य पर्याप्त दूरी होती है, अत: समाज यह आशा करता है कि विपणन उपभोक्ता आवश्यकताओ की पूर्ति के कार्य की जिम्मेदारी उठाये.

उत्पादकों और उपभोक्ताओं के मध्य की दूरी के लिए भौतिक, सूचनात्मक, मौद्रिक, समय आदि कारण उत्तरदायी होते हैं। भारतीय विपणनकर्ताओ को इस प्रकार की दूरियों (Distances) को समझना है एवं इन्हे दूर करने का प्रयास करना है । इन दूरियो को कम करके वे सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा कर सकते हैं जिनके लिए समाज ने उन्हें उत्तरदायी ठहराया है। ऐसा करके न केवल वे अपने सामाजिक दायित्व को पूरा करेंगे अपितु देश के आर्थिक विकास कार्यक्रम के प्रभावी क्रियान्वयन में भी अमूल्य सहयोग देंगे जिसकी कि आज देश को सर्वाधिक आवश्यकता है।

विपणन अवधारणा को प्रभावित करने वाले तत्व
(FACTORS AFFECTING MARKETING CONCEPT)

विपणन अवधारणा को प्रभावित करने वाले प्रमुख तत्व निम्नलिखित हैं:

(1) **संचार साधन** (Means of Communication)- विकसित संचार साधनों ने विपणन अवधारणा पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाला है। वर्तमान में समाचार- पत्र, रेडियो, टेलीविजन, टेलैक्स,टेलीफोन,टेलीप्रिण्टर, ई.क्रम.आदि अनेक संचार साधन वस्तुओं और सेवाओं के बारे में दूर-दूर तक अतिशीघ्र संदेश भेजने मे विश्व के व्यक्तियों की सहायता कर रहे है।

(2) **उपभोक्ता संरक्षण आंदोलन** - आज के युग में उपभोक्ता संरक्षण (Organised Protection) आन्दोलन ने उपभोक्ताओं को संगठित करके उनको अपने अधिकारों के प्रति जागरुक कर दिया है। परिणामस्वरूप निर्माताओं को ग्राहकोन्मुखी विपणन अवधारणा की ओर आकर्षित किया है।

(3) **बाजारों का अन्तर्राष्ट्रीयकरण** - एक समय था जबकि बाजार का क्षेत्र केवल मात्र स्थानीय सीमाओं तक सीमित था । अब बाजार का क्षेत्र स्थानीय सीमाओं को पार करके राज्यीय तथा राज्यीय सीमाओं को पार करके राष्ट्रीय और राष्ट्रीय सीमाओं को पार करके अन्तर्राष्ट्रीय हो चुका है।

(4) **परिवर्तित बाजार** (Changed Market)- वर्तमान युग में बाजार तीव्र गति से बदल रहे हैं और विपणन अवधारणाओं को प्रभावित कर रहे है। जनसंख्या में वृद्धि, आय में वृद्धि तथा बचत में वृद्धि बाजारों को बदल रही है।

(5) **तकनीकी प्रगति** (Technical Progress)- सरकारी एवं निजी क्षेत्र मे तकनीकी प्रगति ने उत्पादों के प्रस्तुतीकरण (Introduction) तथ अप्रचलन (Decline) के बीच समयावधि (Period) को बहुत कम कर दिया है। आज प्रतिवर्ष हजारों नये उत्पादन बाजार मे बड़ी तेजी से आ रहे है। आज कोई भी उत्पादक यह दावा नहीं कर सकता कि उसके उत्पादों को तकनीकी प्रगति कभी भी अप्रचलित नहीं कर पायेगी।

आधुनिक विपणन अवधारणा का महत्व
(IMPORTANCE OF MODERN MARKETING CONCEPT)

आधुनिक विपणन की अवधारणा के महत्व का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है:

(I) **समाज के लिए विपणन का महत्व** (Importance of Marketing to Society) - (अ) **रोजगार की सुविधा**- विपणन रोजगार के अवसरों में वृद्धि करता है। विपणन क्रिया उत्पादन स्थल से प्रारम्भ होकर उपभोक्ता

NOTES

तक पूर्ण होती है। जैसे-जैसे विपणन क्रियाओं मे वृद्धि होती है उसी अनुपात मे रोजगार के अवसरों में भी वृद्धि होती है।

(ब) **रहन-सहन का उच्च स्तर प्रदान करना** - विपणन जनता को नयी-नयी वस्तुओं का परिचय देता है, उनकी रुचि, आवश्यकता एवं फैशन का ध्यान रखता है। उनके उपयोग की जानकारी उपलब्ध कराता है।

(स) **उत्पादन लागतों में कमी करना**- यदि विपणन व्यवस्था पर प्रभावशाली नियन्त्रण रखा जाए तो यह विभिन्न रूप से वस्तु की उत्पादन लागत में कमी करेगी जिससे समाज को कम कीमत पर वस्तु उपलब्ध हो जायेगी ।

(द) **राष्ट्रीय आय में वृद्धि** - यदि वस्तु एवं सेवाओं का उत्पादन जन-साधारण की रुचि एवं आवश्यकता के अनुसार किया जाता है तो उसकी माँग अधिक उत्पन्न होती है। जिससे राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है।

(II) **अर्थव्यवस्था में विपणन का महत्व** (Importance to Economy)- देश की अर्थव्यवस्था को सुधारने में विपणन का महत्वपूर्ण योगदान होता है। इसके महत्व को देखते हुए भारत सरकार ने कृषि विपणन सलाहकार की नियुक्ति के साथ ही भारत सरकार के कृषि मन्त्रालय में इस हेतु विपणन एवं निरीक्षण निदेशालय की स्थापना की है। जब निजि व्यवसायी उत्पादनों पर मनमानी कीमतें वसूलने लगते है तो सरकार विभिन्न कानूनो का सहारा लेकर जनता को जीवनपयोगी वस्तुएँ उचित मूल्यो पर उपलब्ध कराती है। जैसे-जैसे विकास होता है वैसे ही नई-नई समस्यों का जन्म होता है जिन्हें विपणन की सहायता से ही सुलझाया जाता है।

(III) **निर्माताओं के लिए विपणन का महत्व** (Importance of Marketing to Manufacturer)- एक निर्माता के लिए विपणन का महत्व निम्नलिखित कारणों से होता है-

(अ) **नियोजन एवं निर्णय लेने में सहायक**- एक उत्पादक को उपभोक्ताओं की रुचियों एवं आवश्यकताओं का ध्यान रखना अति आवश्यक है। इन्हीं को ध्यान मे रखकर ही उत्पादक निर्णय करता है कि किसी वस्तु का किस मात्रा में उत्पादन करे।

(ब) **सेवाओं और वस्तुओं के वितरण में सहायक**- विपणन का महत्व इसलिए भी आवश्यक है कि एक उत्पादक को यह देखना होता है कि उत्पादित वस्तु या सेवा उपभोक्ता तक न्यूनतम व्यय के साथ-साथ समय पर पहुँच रही अथवा नहीं।

(स) **आय प्राप्त करने में सहायक**- आधुनिक व्यवसाय के अन्तर्गत व्यवसाय का प्रत्येक विभाग विपणन विभाग पर निर्भर करता है क्योंकि यह विभाग ही वस्तु एवं सेवाओं का विक्रय करके लाभ का अर्जन करता है। विपणन विभाग द्वारा लिये गये निर्णय का प्रभाव पूरे व्यवसाय पर पड़ता है।

(द) **सम्प्रेषण में सहायक**- आधुनिक जगत में व्यवसाय स्थानीय एवं राष्ट्रीय न होकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का हो गया है और एक वृहत् स्तर के व्यवसाय के अन्तर्गत एक बड़ी संख्या में कर्मचारी, मध्यस्थ, एजेण्ट विपणन कार्य में लगे रहते हैं, वे वस्तु एवं सेवाओं के विक्रय में आने वाली विभिन्न समस्याओं से अपने उच्च पदाधिकारी अथवा स्वामी को अवगत कराते हैं, उनसे महत्वपूर्ण परामर्श एवं आदेश लेते हैं।

(IV) **उपभोक्ताओं के लिए महत्व** (Importance to Consumers)- विपणन ग्राहक सेवा, विज्ञापन की आधुनिक तकनीकें तथा विक्रय संवर्द्धन आदि की क्रियाओं के माध्यम से उपभोक्ताओं को उनकी आवश्यकताओं एवं रुचि की नाना प्रकार की वस्तुओं के बारे में व्यापक जानकारी प्रदान करता है।

विकासशील अर्थव्यवस्था में आधुनिक विपणन अवधारणा का महत्व
(IMPORTANCE OF MODERN MARKETING CONCEPT IN DEVELOPING ECONOMY)

विकासशील अर्थव्यवस्था का अर्थ (Meaning of Developing Economy)- अविकसित या विकसित अर्थव्यवस्था के मध्य की कड़ी विकासशील अर्थव्यवस्था कहलाती है। विकासशील अर्थव्यवस्था से आशय ऐसी अर्थव्यवस्था से है जिसमें जनशक्ति तथा प्राकृतिक संसाधनों का समुचित उपयोग नहीं हो पाता है। **भारतीय योजना आयोग** के अनुसार, "एक विकासशील देश वह है जहाँ एक ओर अल्प-प्रयुक्त जन शक्ति तथा दूसरी ओर, अशोषित संसाधनों का न्यूनाधिक रूप में सहअस्तित्व पाया जाता है।" इस प्रकार विकासशील अर्थव्यवस्था में (i)रहन सहन का स्तर नीचा होता है। (ii)तकनीकी शिक्षा व ज्ञान का अभाव होता है। (iii)विपणन सुविधाओं का अभाव होता है। (iv)पूँजी की कमी होती है। (v)बाजार विकसित स्थिति मे होता है। (vi)औद्योगिक पिछड़ापन होता है। (vii)निर्यात

के मुकाबले में आयात अधिक होने है। (viii) प्राकृतिक संसाधनो का समुचित उपयोग नहीं हो पाता है । (ix) कृषि की प्रधानता होती है। (x) बेरोजगारी और अर्द्ध-बेरोजगारी की स्थिति पायी जाती है। (xi) उपलब्ध मानवशक्ति का समुचित उपयोग नहीं हो पाता है।

विकासशील अर्थव्यवस्था (भारत) में आधुनिक विपणन अवधारणा के महत्त्व के प्रमुख बिन्दु निम्नलिखित है -

NOTES

(1) **आर्थिक असमानताओं को कम करने में सहायक-** आधुनिक सुदृढ़ एवं प्रभावी विपणन व्यवस्था होने से उपभोक्ताओं के लिए पर्याप्त मात्रा में सस्ती, सुन्दर व टिकाऊ वस्तुएँ उपभोग के लिए उपलब्ध होती है। इससे विशेषत: निम्न स्तर तथा मध्यम श्रेणी के उपभोक्ताओं का रहन-सहन का स्तर ऊंचा उठता है।

(2) **बाजार का विकास-** विपणन का स्थानीय, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय तीन स्तरों पर महत्व है। आधुनिक सुदृढ़ विपणन व्यवस्था स्थानीय बाजार को राष्ट्रीय बाजार तथा राष्ट्रीय बाजार को अन्तर्राष्ट्रीय बाजार का रूप प्रदान करती है। यदि देखा जाये तो बाजार का विकास भी आधुनिक सुदृढ विपणन व्यवस्था पर निर्भर है।

(3) **प्राकृतिक संसाधनों का अधिकतम उपयोग-** आधुनिक सुदृढ़ विपणन व्यवस्था प्राकृतिक संसाधनो का देश के हित में विदोहन तथा अधिकतम उपयोग को सक्रिय सहयोग प्रदान करती है जिसकी कि विकासशील देशों में नितान्त आवश्यकता है।

(4) **निर्यात में वृद्धि** - इतिहास इस बात का साक्षी है कि आधुनिक सुदृढ़ विपणन व्यवस्था के कारण जो देश औद्योगीकरण के शिखर पर है, जैसे- अमेरिका, जर्मनी, इंग्लैण्ड, जापान आदि, वे निर्यात अधिक करते है और आयात कम।

(5) **औद्योगीकरण को प्रोत्साहन-** आज जिन देशों में आधुनिक विपणन व्यवस्था है,वे देश औद्योगिक क्षेत्र में शिखर पर हैं। इस प्रकार विपणन व्यवस्था अच्छी होने से औद्योगीकरण को प्रोत्साहन मिलता है ।

(6) **उत्पादन लागत में कमी-** एक सुव्यवस्थित एवं प्रभावी आधुनिक विपणन व्यवस्था के होने से जहाँ एक ओर अधिक माँग होने के कारण उत्पादन की मात्रा बढ़ जाती है जिसके परिणामस्वरूप उत्पादन लागत कम हो जाती है और दूसरी ओर, वितरण लागतों में पर्याप्त कमी आती है।

(7) **अर्थव्यवस्था की मन्दी से सुरक्षा-** आधुनिक विपणन अवधारणा विकासशील देश की अर्थव्यवस्था को मन्दी से बचाने में सक्रिय सहयोग प्रदान करती है। यदि विपणन न हो तो विक्रय कम मात्रा में होगा जिसके कारण समूचा देश मन्दी के चंगुल में फँस जायेगा।

(8) **राष्ट्रीय आय में वृद्धि** - जब आधुनिक विपणन सुविधाओं के कारण विभिन्न प्रकार के ग्राहकों की आवश्यकतानुसार वस्तुओं का उत्पादन एवं निर्माण किया जाता है तो देश की कुल वस्तुओं और सेवाओं में वृद्धि होती है।

(9) **रोजगार की सुविधा-** आधुनिक विपणन अवधारणा रोजगार के अवसरों में वृद्धि करके बेरोजगारी एवं अर्द्ध-बेरोजगारी के उन्मूलन में सक्रिय सहयोग प्रदान करती है।

(10) **रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठाना-** आधुनिक विपणन अवधारणा जन-साधारण को उपभोग के लिए बड़े पैमाने पर नई-नई वस्तुओं की जानकारी देकर एवं उपलब्ध कराकर रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाने में सक्रिय सहयोग प्रदान करती है।

प्रश्न
(QUESTIONS)

दीर्घ उत्तरीय/निबन्धात्मक प्रश्न (Long Answer/Essay Type Questions)

1. "विपणन का लक्ष्य एक निर्धारित ग्राहक की आवश्यकता की पूर्ति होना चाहिए, न कि किसी दिये हुए उत्पाद का विक्रय।" समीक्षा कीजिए । क्या यह दोनों उद्देश्य समान नहीं है? सोदाहरण उत्तर दीजिए।
2. विपणन अवधारणा से क्या आशय है? विपणन की उत्पादन-अभिमुखी अवधारणा एवं ग्राहकोन्मुखी अवधारणा में अन्तर बताइए।
3. विपणन के विभिन्न दृष्टिकोणों को समझाइए । आधुनिक विपणन अवधारणा के प्रमुख स्तम्भ क्या है?

4. विपणन की नई एवं पुरानी विचारधारा को स्पष्ट कीजिए। ये किस प्रकार एक-दूसरे से भिन्न है?

5 आधुनिक विपणन अवधारणा क्या है ? भारत में आधुनिक विपणन अवधारणा के महत्व को समझाइए।

6 आधुनिक विपणन अवधारणा से आप क्या समझते है? विपणन की पुरानी तथा आधुनिक अवधारणा में अन्तर स्पष्ट कीजिए ।

NOTES

7 विपणन अवधारणा क्या है ? एक विकासशील अर्थव्यवस्था में विपणन अवधारणा का महत्व समझाइए।

8 विपणन अवधारणा से आप क्या समझते हैं? आधुनिक विपणन अवधारणा के महत्व पर विस्तार से प्रकाश डालिए ।

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Type Questions)

1 विपणन तथा विपणन अवधारणा में अन्तर बताइए ?

2 उत्पादकों के लिए विपणन अवधारणा का क्या महत्व है ?

3 उपभोक्ताओं के लिए विपणन अवधारणा का क्या महत्व है ?

4 विपणन के सामाजिक उत्तरदायित्व से क्या आशय है ?

5. "विपणन की आधुनिक अवधारणा परम्परागत अवधारणा से अधिक व्यापक है।" क्या आप इस कथन से सहमत है? संक्षेप में कारण दीजिए।

●●●

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

10

विपणन-प्रकृति एवं क्षेत्र
(MARKETING-NATURE AND SCOPE)

किसी भी व्यावसायिक संस्था की सफलता उसके कार्यकुशल उत्पादन की मात्रा पर निर्भर न होकर उसके बाजार की सफलता पर निर्भर करती है। प्रत्येक उत्पादक माल को बाजार में बेचकर अधिकतम लाभ अर्जित करना चाहता है। उत्पादक के कारखाने या गोदाम से माल उठाकर उपभोक्ताओं तक पहुँचाने का जटिल कार्य विपणन के द्वारा ही किया जाता है। बाजार में माल जिस तेजी के साथ बिकेगा, उतनी ही तेजी से वह प्रगति के पथ पर बढ़ता जाएगा। इसी कारण कहा जाता है कि व्यापारी उत्पादो का निर्माण नहीं करते हैं, बल्कि ग्राहकों का निर्माण किया जाता है। प्रत्येक कम्पनी उत्पादन कम्पनी न होकर विपणन कम्पनी मानी जाती है और सफलतापूर्वक विपणन करना ही जीवन का सार माना जाता है। वर्तमान में विपणन ही सबसे चुनौतीपूर्ण कार्य बन गया है और सभी क्षेत्रों में विपणन की आवश्यकता बढ़ती जा रही है। सभी क्षेत्रों मे एक से एक बढ़कर विक्रेता पाये जाते हैं जो अपना उत्पाद व सेवाएँ बेचते रहते हैं

आज सभी क्षेत्रों मे तीव्र गति से परिवर्तन हो रहे हैं, परन्तु सबसे अधिक गति से परिवर्तन व्यावसायिक क्षेत्र में हो रहा है। वर्तमान मे व्यावसायिक कार्यों की प्राथमिकता का क्रम परिवर्तित हो चुका है। अब विपणन जो पहले अन्तिम स्थान पर था, बदलकर प्रथम स्थान पर आ गया है। कहा जाता है कि 'उद्योग में उस समय तक कोई घटना नहीं होती जब तक कि उसका विपणन न किया जाए।' यदि उत्पादन का विपणन न किया जाए तो व्यवसाय के सभी विभाग व्यर्थ हो जाएँगे। उचित लाभ अर्जित करके विपणन करना ही व्यवसाय का मुख्य उद्देश्य माना जाता है।

विपणन का अर्थ (Meaning of Marketing)

प्रारम्भ में विपणन से आशय उत्पादित माल या वस्तु को उत्पादक अथवा निर्माता से अन्तिम उपभोक्ता तक पहुँचाने की क्रियाओं से लगाया जाता था परन्तु वर्तमान समय में विपणन में वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन से पूर्व की जाने वाली क्रियाओं से लेकर उनके वितरण और आवश्यक विक्रयोपरान्त सेवाओं तक को सम्मिलित किया जाता है।

एक विक्रेता या विक्रय प्रबन्धक भी विपणन का अर्थ केवल विक्रय से लेता है। यदि एक पारिवारिक स्त्री से पूछा जाए कि 'विपणन क्या है' तो वह तुरन्त उत्तर देगी कि जब वह अपने परिवार के लिए भोजन, सब्जी, वस्त्र, आदि खरीदती है तो वह विपणन ही तो करती है। इसी प्रकार एक विक्रेता के लिए विपणन से आशय ग्राहकों को वस्तुएँ बेचना है। एक कृषक के लिए अपनी उपज बाजार में बेचना ही विपणन है। इस संबंध में विपणन विशेषज्ञो का मत है कि व्यवहार में 'विपणन' शब्द का प्रयोग प्राय: हर व्यक्ति ने अपनी स्थिति, योग्यता, पद, आवश्यकता एवं वातावरण के सन्दर्भ में एक नूतन अर्थ में किया है।

विपणन की परिभाषाएँ (Definitions of Marketing)

विभिन्न विद्वानो और विपणन विशेषज्ञों ने विपणन को परिभाषित किया है, परन्तु किसी भी परिभाषा को सर्वमान्यता नहीं मिल सकी है। यदि किसी परिभाषा को कुछ समय के लिए स्वीकार भी किया गया तो परिवर्तित परिस्थितियों के कारण कुछ समय बाद उसमें कमियाँ दिखाई देने लगी। अब तक दी गई विपणन की प्रमुख परिभाषाओं को मुख्य रूप से दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

(1) संकीर्ण अर्थ वाली परिभाषाएँ
(Definitions in Narrow Sense)

विपणन के सूक्ष्म अथवा संकीर्ण अर्थ वाली प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित है :

(1) **एडवर्ड** एवं **डेविड** के अनुसार, "विपणन एक आर्थिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा वस्तुओं और सेवाओं को बदला जाता है तथा उनके मूल्य मुद्रा में तय किये जाते हैं।"

NOTES

(2) **अमेरिकन मार्केटिंग एसोसियेशन** के अनुसार, "विपणन से तात्पर्य उन व्यावसायिक क्रियाओं के निष्पादन से है जो उत्पादक से उपभोक्ता या प्रयोगकर्ता तक वस्तुओं और सेवाओं के प्रवाह को नियन्त्रित करती है।"

(3) **कन्वर्स, ह्यजी** एवं **पिचेल** के अनुसार, "विपणन में वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन से उपभोग तक के प्रवाह की क्रियाएँ सम्मिलित होती है।"

(4) **क्लार्क** एवं **क्लार्क** के अनुसार, "विपणन में वे सभी प्रयत्न सम्मिलित है जो वस्तुओं एव सेवाओ के स्वामित्व हस्तान्तरण एवं उनके (वस्तुओं एवं सेवाओं के) भौतिक वितरण में सहायता प्रदान करते है।"

(5) **प्रो. पाइले** के अनुसार, "विपणन में क्रय एवं विक्रय दोनों ही क्रियाएँ सम्मिलित होती हैं।"(इस परिभाषा से स्पष्ट है कि विपणन में केवल क्रय और विक्रय क्रियाओं का ही अध्ययन किया जाता हैं।)

(II) विस्तृत वृहद अर्थ वाली अथवा आधुनिक परिभाषाएँ
(Macro or Modern Marketing Definitions)

इस वर्ग में सम्मिलित की जाने वाली कुछ प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित है :

(1) **अरनोल्ड के. वैन्सटीन** के अनुसार, "विपणन एक संगठित व्यवहार प्रणाली है जिसका उद्देश्य उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं का मूल्यांकन करना और उनकी सन्तुष्टि में सहायक होना है।"

(2) **फिलिप कोटलर** के शब्दों मे, "विपणन एक सामाजिक प्रक्रिया है। जिसके अन्तर्गत दूसरों के साथ उत्पादों और मूल्य के सृजन और विनिमय द्वारा व्यक्ति और समूह अपनी आवश्यकताओं और इच्छाओ को पूरा करते है।"

(3) **कण्डिफ, स्टिल** एवं **गोवोनी** के अनुसार, "विपणन एक प्रबन्धकीय प्रक्रिया है जिसके द्वारा उत्पादों को बाजारों की जरूरतों के अनुरूप बनाया जाता है और जिसके द्वारा उपभोक्ताओं के लिए उत्पाद का प्रयोग सम्भव बनाया जाता है।"

(4) **सेण्ट थॉमस** के शब्दों में, "विपणन किसी व्यवसाय के प्रबन्ध करने का तरीका है जिसमें सबसे महत्वपूर्ण व्यावसायिक निर्णय इस पूर्ण जानकारी के साथ लिये जाते हैं कि उस निर्णय का ग्राहक पर क्या प्रभाव पड़ेगा।"

(5) **हैन्सन** के अनुसार, "विपणन उपभोक्ता आवश्यकताओं की खोज और उन्हें विशिष्ट उत्पादों एवं सेवाओं में बदलने और तत्पश्चात इन उत्पादों और सेवाओं द्वारा अधिकाधिक उपभोक्ताओं के उपभोग को सम्भव बनाने की प्रक्रिया है।"

(6) **विलियम जे. स्टेण्टन** ने अपनी पुस्तक '**फण्डामेण्टल्स ऑफ मार्केटिंग**'(Fundamentals of Marketing) में विपणन की विचारधारा को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "विपणन का आशय उन अन्तःक्रियाशील व्यावसायिक क्रियाओं की सम्पूर्ण प्रणाली से है जिसका उद्देश्य वर्तमान तथा भावी क्रेताओं की आवश्यकता पूर्ति करने वाली वस्तुओं और सेवाओं का नियोजन करना, कीमत निर्धारण करना, संवर्द्धन करना तथा वितरण करना है।"

(7) **प्रो. मेल्कम मेक्नेयर** के अनुसार, "विपणन का तात्पर्य जीवन स्तर का सृजन कर उसे समाज को प्रदान करना है।"

(8) **पॉल मजूर** (Paul Mazur) के अनुसार, "विपणन समाज को जीवन स्तर प्रदान करता है।"

विपणन की प्रमुख विशेषताएँ
(MAIN CHARACTERISTICS OF MARKETING)

विपणन की प्रमुख विशेषताएं निम्न है :

(1) विपणन का कार्यक्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। उत्पादन से पूर्व तथा विक्रय के बाद की क्रियाएँ भी इसमें सम्मिलित है।

(2) विपणन एक गतिमान प्रणाली है जो एक संगठन को उसके बाजारों से जोड़ती है।

(3) विपणन क्रियात्मक है जो उत्पाद को उत्पादन केन्द्रों से उपभोग केन्द्रों तक पहुँचाने से सबंधित है।

(4) विपणन एक व्यावसायिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा उत्पादों को बाजार के अनुरूप बनाया जाता है और स्वामित्व हस्तान्तरण किये जाते हैं।

(5) विपणन आय (Revenue) का सृजन करता है।

(6) विपणन जीवन-स्तर प्रदान करता है।

(7) विपणन उपयोगिताओं का सृजन करता है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जो उत्पादों में रूप, स्थान, समय, ज्ञान आदि उपयोगिताओं का सृजन करने में सक्षम है।

(8) विपणन वस्तुओं एवं सेवाओं का वितरण है।

NOTES

विपणन का विकास
(EVOLUTION OF MARKETING)

विपणन एक नया क्षेत्र माना जाता है जिसका प्रारम्भ 20 वीं शताब्दी में ही पश्चिमी राष्ट्रों में हुआ। इसके विपरीत, प्रसिद्ध विपणन विशेषज्ञ **फिलिप कोटलर** के अनुसार विपणन का विचार अत्यन्त प्राचीन है जिसका प्रारम्भ आदि मानव के साथ ही हो गया था। उन्होंने विपणन को दुनिया का सबसे पुराना पेशा कहा है। विख्यात प्रबन्ध विशेषज्ञ **पीटर एफ. ड्रकर** के अनुसार विपणन का प्रारम्भ किसी पश्चिमी राष्ट्र में न होकर जापान में 17वीं शताब्दी में हुआ। शैक्षणिक एवं व्यावसायिक क्षेत्र में 'विपणन' शब्द का स्पष्ट रूप से प्रयोग 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही किया गया। 1905 में **डब्ल्यू.ई. क्रुसी** ने अमेरिका में पेन्सिलवेनिया विश्वविद्यालय में 'उत्पादों का विपणन' पाठ्यक्रम पढ़ाना शुरू किया। इसी प्रकार 1910 में **राल्फ स्टर बटलर** ने **विस्कन्सिन विश्वविद्यालय** में '**विपणन विधियाँ**' पाठ्यक्रम शुरू किया।

विपणन का विकास क्रान्तिकारी ढंग से न होकर विकासात्मक ढंग से हुआ है। एक सामन्तवादी, कृषि-प्रधान या अविकसित अर्थव्यवस्था में मनुष्य काफी सीमा तक आत्मनिर्भर था। उसकी आवश्यकताएँ सीमित थीं और उनकी पूर्ति वह स्वयं के साधनों से ही कर लेता था। समय परिवर्तन के साथ श्रम विशिष्टीकरण विचार का प्रादुर्भाव हुआ। प्रत्येक व्यक्ति कुछ उत्पाद अपनी आवश्यकताओं से ज्यादा उत्पादित करने लगा और शेष के लिए वह दूसरों पर निर्भर रहने लगा। जब कभी एक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की तुलना में अधिक उत्पादन करता है या उसकी आवश्यकताएँ उत्पादन की तुलना में अधिक हो जाती है तो व्यापार (Trade) आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार मनुष्य द्वारा अपनी आवश्यकताओं से ज्यादा उत्पादन करना ही व्यापार की आधारशिला है और व्यापार ही 'विपणन' का हृदय है।

व्यापार के प्रादुर्भाव के पश्चात् भी निर्माताओं या व्यवसायियों को विपणन सम्बन्धी किसी कठिनाई का प्रारम्भिक वर्षों में सामना नहीं करना पड़ा। उस समय वस्तुओं के अभाव के कारण निर्माण के पश्चात् क्रेता स्वयं ही वस्तु का क्रय कर लेते थे, लेकिन कारखाना प्रणाली के प्रादुर्भाव के कारण आदेश प्राप्त होने से पूर्व ही वस्तुओं का उत्पादन शुरू किया गया। उस समय पहली बार विक्रय सम्बन्धी कठिनाई को महसूस किया गया। इतना होने पर भी अधिकांश निर्माताओं ने माल विक्रय के स्थान पर माल उत्पादित करने की ओर ही अपने ध्यान को केन्द्रित करने को प्राथमिकता दी। इसके विपरीत, कुछ निर्माताओं ने यह भी सोचा कि उनका माल स्थानीय बाजारों के अतिरिक्त अन्य बाजारों में भी उपलब्ध हो। कुछ निर्माताओं ने विक्रय सम्बन्धी समस्त कार्यों का भार विक्रय अभिकर्ताओं (Sales Agents) को सौंप दिया जो इस कार्य के विशेषज्ञ थे।

20वीं शताब्दी के प्रारम्भिक तीन दशकों में लगभग सभी उद्योगों ने बड़े पैमाने पर उत्पादन शुरू किया। सीमा से पूर्व अनेक निर्मित वस्तुओं की पूर्ति माँग की तुलना में अधिक थी। पूर्ति अधिक हो जाने पर निर्माताओं को प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ा, अतः बढ़ती हुई प्रतिस्पर्द्धा के कारण निर्माताओं ने विपणन की ओर ध्यान देना प्रारम्भ किया। कुछ पेटोलियम और जूते के निर्माताओं ने स्वयं की फुटकर दुकानें स्थापित कर लीं जिससे अन्तिम उपभोक्ताओं से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित किया जा सके। औद्योगिक वस्तुओं के सम्बन्ध में भी उत्पादकों ने वही कार्य किया जिससे औद्योगिक उपभोक्ताओं से निकट का सम्बन्ध स्थापित हो सके।

सीमा की महान मन्दी के समय अधिकांश निर्माताओं ने यह अनुभव किया कि विपणन के लिए विज्ञापन के अतिरिक्त अन्य किसी साधन की भी आवश्यकता है। मध्यस्थों के साथ सम्बन्ध सुधारने एवं विज्ञापन का विस्तार होने से ही विपणन जैसी समस्या का समाधान नहीं किया जा सकता। उपभोक्ताओं की क्रय शक्ति में कमी के कारण सभी प्रकार की वस्तुओं की माँग में कमी आई। ऐसे निर्माता जो पहले ग्राहकों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध के कारण बाजार की पूरी-पूरी जानकारी रखते थे, वे मध्यस्थों की एक लम्बी शृंखला के कारण इस कार्य में कठिनाई अनुभव करने लगे।

आज हम विपणन का जो रूप देख रहे हैं, वह मुख्यतः अमेरिका की ही देन है। वहाँ सामान्यतः उत्पादन माँग की तुलना में ज्यादा है। माँग एवं पूर्ति में समन्वय स्थापित करने के लिए या तो उत्पादन को कम किया जाना आवश्यक है अथवा माँग में वृद्धि। आज विश्व के समस्त विकसित एवं विकासशील देशों में विपणन का महत्व निरन्तर बढ़ता चला जा रहा है।

NOTES

विपणन की प्रकृति
(NATURE OF MARKETING)

विपणन की प्रकृति का निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन किया जा सकता है

(1) **व्यापक क्षेत्र** (Wide Scope) - विपणन का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक है। इसमें उत्पादन से पूर्व एवं विक्रय के उपरान्त सम्पन्न होने वाली समस्त क्रियाएँ, जैसे - उत्पाद की ग्राहक सन्तुष्टता, विक्रयोपरान्त ग्राहक सेवाएँ, निरन्तर उत्पादक - ग्राहक सम्पर्क होना परम आवश्यक है।

(2) **अन्तर-विषयक अवधारणा** (Inter-disciplinary Concept)- विपणन की अन्तर-विषयक अवधारणा है। इसका आशय यह है कि विपणन के अध्ययन एवं व्यवहार में अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, मानवशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि विषयों का ज्ञान होना परम आवश्यक है।

(3) **लक्ष्य-प्रधान प्रक्रिया** (Goal-oriented Process)- अन्य व्यावसायिक क्रियाओं की तरह विपणन भी लक्ष्य-प्रधान क्रिया है जिसके अन्तर्गत कुछ लाभदायक परिणामों की प्राप्ति के प्रयास किये जाते हैं। विपणन का अन्तिम लक्ष्य मानवीय आवश्यकताओं की सन्तुष्टि द्वारा लाभों को अर्जित करना है।

(4) **विपणन व्यावसायिक दर्शन है** (Marketing is Business Philosophy)- विपणन की इस प्रकृति के अनुसार, "विपणन एक आधारभूत व्यावसायिक दर्शन है।" **विलियम जे. टेण्टन** (William J. Stanton) के अनुसार, "विपणन एक दर्शन है,एक मनः स्थिति अथवा व्यावसायिक चिन्तन की विधि है।"

(5) **उपभोक्ता प्रधान प्रक्रिया** (Consumer-orinted Process) - विपणन की आधुनिक प्रकृति के अनुसार विपणन उपभोक्ताओं की माँगों को सन्तुष्टि प्रदान करता है। इस दृष्टि से यह ग्राहकोन्मुखी प्रक्रिया है, क्योंकि इसका केन्द्र बिन्दु ग्राहक है। विपणन का प्रारम्भ एवं अन्त ग्राहक से ही होता है।

(6) **विपणन क्रियात्मक है** (Marketing is Functional) - विपणन की इस प्रकृति के अनुसार विपणन उन क्रियाकलापों का अध्ययन करता है जो उत्पादन केन्द्रों से उपभोग केन्द्रों तक वस्तुएँ पहुँचाने से सम्बन्धित होती है।

(7) **आय सृजन करना** (Generation of Revenue) - विपणन से आय का सृजन होता है और आय से व्यवसाय का विकास होता है जो 'दिन दूनी रात चौगुनी' गति से पनपता है।

(8) **विपणन एक प्रणाली है** (Marketing is a System)- विपणन की प्रणालीकृत प्रकृति के अनुसार विपणन एक ऐसी प्रणाली है जिसमें अनेक क्रियाएँ सम्मिलित हैं जो परस्पर सम्बन्धित है तथा एक-दूसरे को प्रभावित करती है, जैसे -सन्तुलन एवं प्रभावी विपणन संगठन की स्थापना करना।

(9) **जीवन स्तर प्रदान करना** (Delivery of Standard of Living)- **पॉल मजूर** के अनुसार, "विपणन समाज को जीवन-स्तर प्रदान करता है।'जिस क्षेत्र में विपणन जितना अधिक प्रगति कर गया है, उस क्षेत्र के लोगो का जीवन-स्तर उतना ही ऊँचा है। विकसित देशों में निवास करने वाले व्यक्ति आज उच्च जीवन-स्तर का उपभोग इस कारण कर रहे हैं क्योंकि वहाँ पर विपणन प्रगति की चरम सीमा पर है।

(10) **उपयोगिताओं का सृजन करना** (Creation of Utilities)- उपयोगिता मुख्य रूप से निम्न चार प्रकार की होती है - (i)रूप उपयोगिता (Form Utility), (ii)समय उपयोगिता (Time Utility), (iii) स्थान उपयोगिता (Place Utility) तथा (iv) स्वामित्व उपयोगिता (Ownership Utility)। विपणन इन चारों प्रकार की उपयोगिताओं का सृजन करती है।

(11) **कला एवं विज्ञान दोनों** (Art and Science Both) - यदि देखा जाए तो विपणन कला एवं विज्ञान दोनों ही है। विपणन सही स्थान पर, सही रूप से, सही हाथों तक, सही समय पर, सही मूल्यों पर एवं सही किस्म का माल पहुँचाने की कला है। इन सब क्रियाओं को पूर्णता प्रदान करने के लिए कुछ निश्चित सिद्धान्त होते है जो पर्याप्त शोध के आधार पर बनाए जाते हैं अतः विपणन विज्ञान भी है।

(12) **गतिशील प्रक्रिया** (Dynamic Process) - विपणन सर्वाधिक गतिशील प्रक्रिया है। विपणनकर्ता सदैव तेजी से बदलते हुए फैशन, बाजार, प्रवृत्तियों, ग्राहक रुचियों, ग्राहक मांगों, पसन्द एवं आधुनिक परिवर्तनों पर ध्यान केन्द्रित करता है।

(13) **सामाजिक-आर्थिक क्रिया** (Socio-economic Activity) - विपणन एक सामाजिक-आर्थिक क्रिया है जिसका उद्देश्य समाज के प्राणियों की आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करके उचित लाभ कमाना है।

(14) **विनिमय क्रिया** (Exchange Process) - विपणन एक विनिमय प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत उत्पादक एवं सम्भावित उपभोक्ता के मध्य मूल्य के बदले वस्तु, सेवा अथवा अन्य उपयोगी वस्तुओं का आदान-प्रदान होता है।

(15) **मानवीय क्रिया** (Human Activity) - विपणन मूल रूप में एक मानवीय क्रिया है जिसके अन्तर्गत मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति मानवीय क्रियाओं द्वारा की जाती है। यह मनुष्यों द्वारा मनुष्यों के लिए संपन्न की जाने वाली क्रिया है।

विपणन का क्षेत्र
(SCOPE OF MARKETING)

विपणन के क्षेत्र का अर्थ संकुचित तथा विस्तृत दोनों अर्थों मे लगाया जाता है। संकुचित अर्थ में वस्तु अथवा सेवा को उत्पादक से उपभोक्ता तक पहुँचाने में जो व्यापारिक क्रियाएँ सम्पन्न की जाती हैं, वे सभी विपणन के क्षेत्र के अन्तर्गत आती है। विस्तृत अर्थ मे विपणन के अन्तर्गत उत्पादन से पूर्व की क्रियाओं से लेकर उपभोक्ताओं की सन्तुष्टि तक जो भी क्रियाएँ सम्पन्न की जाती हैं, वे सभी विपणन के क्षेत्र के अन्तर्गत आती है। आधुनिक विपणन के क्षेत्र मे निम्नलिखित क्रियाओं को सम्मिलित किया जाता है :

(1) **बाजार वर्गीकरण** (Market Segmentation) - इस कार्य के अन्तर्गत सम्पूर्ण बाजार में विद्यमान एवं सम्भाव्य ग्राहकों का पता लगाकर उन्हें उनकी विशेषताओं, आवश्यकताओं, इच्छाओं व रुचियों के आधार पर विभिन्न समूहों या उप-समूहों में बाँटा जाता है। बाजारों का भौगोलिक आधार पर ही वर्गीकरण किया जाता है। ग्राहकों को उनकी आयु, आय, शिक्षा, परिवार, आकार, लिंग आदि के आधार पर भी वर्गीकृत किया जाता है।

(2) **विपणन अनुसंधान** (Marketing Research) - इसका तात्पर्य विपणन सम्बन्धी विभिन्न तथ्यों की खोज एवं विश्लेषण करना है, ताकि विपणन समस्याओं के उचित हल ढूँढे जा सकें। विपणन अनुसंधान विपणन का एक आधारभूत एवं प्राथमिक कार्य है। इसमें सम्भावित उपभोक्ताओं की इच्छाओं, रुचियों एवं क्रय प्रेरणाओं का अध्ययन किया जाता है। संक्षेप मे, विपणन अनुसंधान के अन्तर्गत बाजार अनुसंधान, विक्रय अनुसंधान, उत्पाद अनुसंधान, क्रय प्रेरणा अनुसंधान आदि क्षेत्रों में किये जाने वाले शोध कार्य को सम्मिलित किया जाता है।

(3) **विक्रय के बाद सेवा** (After-Sales-Service)- आधुनिक विपणन क्रियाओं का मूलाधार उपभोक्ता की सन्तुष्टि है। उपभोक्ता को अधिकतम सन्तुष्टि प्रदान करने के उद्देश्य से उपभोक्ता द्वारा वस्तु का क्रय करने के पश्चात् विक्रय उपरान्त सेवाएँ प्रदान की जाती हैं, जैसे - निःशुल्क मरम्मत, वस्तु की गारण्टी, समय से पूर्व खराब होने पर उसको बदलने या मूल्य वापसी की सुविधा आदि।

(4) **विक्रय संवर्द्धन निर्णय** (Sales Promotion Decision) - विक्रय संवर्द्धन से आशय विक्रय वृद्धि के लिए प्रयुक्त विधियों का उपयोग करने से है। ये निम्न दो प्रकार की होती हैं -

(i) उपभोक्ता संवर्द्धन विधियाँ जो कि प्रत्यक्ष रूप में उपभोक्ताओं को वस्तु का क्रय करने के लिए प्रेरित करती हैं, जैसे - कूपन, मेले तथा प्रदर्शनियाँ, मुफ्त नमूनों का वितरण, मूल्यों में कमी, प्रतियोगिताएँ, क्रियात्मक प्रदर्शन, प्रीमियम आदि।

(ii) व्यापारी संवर्द्धन विधियाँ जो कि व्यापारियों (थोक तथा फुटकर) को वस्तु का क्रय करने के लिए प्रेरित करती है , जैसे- व्यापारिक छूट की दर, प्रदर्शन तथा विज्ञापन भत्ता, निःशुल्क प्रशिक्षण।

(5) **वितरण माध्यम का निर्धारण** (Determination of Distribution Channel)- वस्तु/उत्पाद के उत्पादन/निर्माण होने के पश्चात् उसके वितरण की व्यवस्था की जाती है। वितरण का यह कार्य विभिन्न वितरण माध्यमों द्वारा किया जा सकता है , जैसे - थोक विक्रेता, फुटकर विक्रेता,एक मात्र वितरण प्रतिनिधि, यात्री विक्रेता आदि।

(6) **वस्तु नीतियों एवं मूल्य नीतियों का निर्धारण** (Determination of Product and Price Policies) - आधुनिक विपणन क्रियाओं में वस्तु नीतियाँ वस्तु के वास्तविक उत्पाद मे पूर्व ही निर्धारित कर ली जाती है, जैसे - वस्तु/उत्पाद का रूप, रंग, डिजाइन, आकार, वजन, ब्राण्ड, ट्रेडमार्क, लेबिल, पैकिंग आदि।

NOTES

(7) **उपभोक्ता अनुसंधान** (Consumer Research) - आधुनिक विपणन क्रियाओं का प्रारम्भ ही उपभोक्ता अनुसंधान से होता है। उपभोक्ता अनुसंधान के अन्तर्गत उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं, रुचियों, स्वभावों, आदतों, देय क्षमताओं एवं उनके रहने के स्थान का पता लगाया जाता है, ताकि वस्तु को उनकी आवश्यकताओं के अनुरूप उत्पादित/ निर्मित करके उनके निवास स्थान तक पहुँचाकर अधिकाधिक सन्तुष्टि प्रदान की जा सके और उचित लाभ कमाया जा सके।

विपणन के कार्य
(FUNCTIONS OF MARKETING)

विपणन अनेक क्रियाओं का मिश्रण है जिन्हें विपणन कार्यों के नाम से जाना जाता है। विपणन में अधिकतम कुशलता प्राप्त करने के लिए सूचनाओं का विपरीत प्रवाह (Flow) भी होना चाहिए। यह तर्कसंगत भी है कि विपणन प्रक्रिया ग्राहक से शुरू हो और ग्राहक तक पहुँचकर ही उसका अन्त हो। इस प्रकार सूचनाएँ उपभोक्ता या ग्राहक से उत्पादक को पहुँचें और वस्तुएँ या सेवाएँ उत्पादक से उपभोक्ता या ग्राहक को। विपणन के कार्यों के संबंध में कुछ प्रमुख विद्वानों के विचार निम्नलिखित हैं :-

(I) **मेक्गेरी** (McGarry) ने विपणन कार्यों की निम्न सूची तैयार की है :

(1) **सम्पर्क सम्बन्धी** - क्रेताओं और विक्रेताओं की खोज करना। (2) **वाणिज्यायन** - वस्तुओं को बाजार की आवश्यकताओं के अनुरूप बनाना। (3) **कीमत निर्धारण** - ऐसी उच्च कीमत का चुनाव करना जिस पर उत्पादन (वस्तु का) सम्भव हो और जो इतनी कम भी हो कि उपभोक्ता वस्तु को स्वीकार करने के लिए प्रोत्साहित हों। (4) **प्रचार** - क्रेताओं या विक्रेताओं की उत्पाद या उसके प्रायोजक (Sponsor) के प्रति अनुकूल प्रवृत्ति उत्पन्न करना। (5) **भौतिक वितरण** - वस्तुओं का परिवहन एवं भण्डारण। (6) **समाप्ति या अन्त** - विपणन प्रक्रिया की समाप्ति।

(II) **जी.बी.गाइल्स** (G.B. Giles) ने विपणन प्रबन्धक के कार्यों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार विपणन प्रबन्धक निम्नांकित कार्य करता है :

(अ) वह प्रत्यक्ष नियन्त्रण रखता है

1. विक्रयोपरान्त सेवाएँ (After Sales Services),
2. विक्रय एवं वितरण (Sales and Distribution),
3. विज्ञापन एवं विक्रय संवर्द्धन (Advertising and Sales Promotion),
4. विपणन अनुसंधान (Marketing Research)।

(ब) वह निकट रूप से सम्बन्धित है

1. जनसम्पर्क एवं कम्पनी छवि (Public Relations and the Company Image)
2. उत्पाद विकास (Product Development),
3. उत्पाद नियोजन (Product Planning),

(III) **क्लार्क एण्ड क्लार्क** ने अपनी पुस्तक "Principles of Marketing" में निम्नानुसार विपणन कार्य का वर्गीकरण किया है-

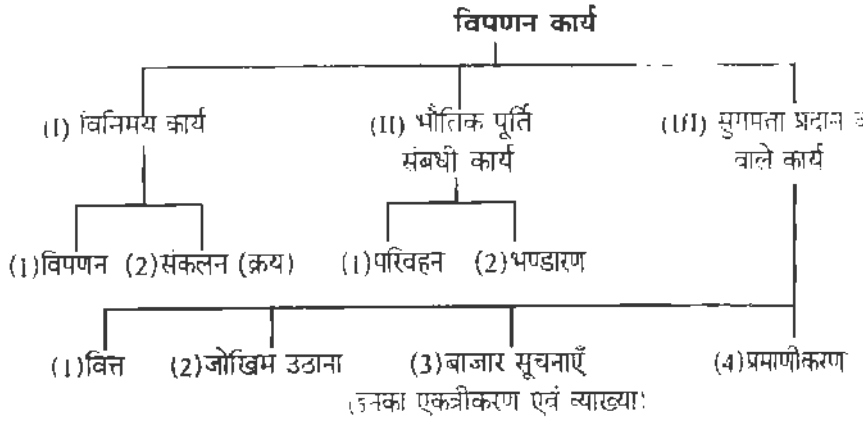

(IV) कण्डिफ एवं स्टिल (Cundiff and Still) ने विपणन कार्यों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया है

(अ) **वाणिज्ययन कार्य** (Merchandising Functions) :- (i) विक्रयण (ii) क्रय एवं सकलन (Buying and Assembling), (iii) प्रमाणीकरण एवं श्रेणीयन (Standardising and Grading), (iv) उत्पाद नियोजन एव विकास (Product Planning and Development)।

(ब) **भौतिक वितरण कार्य** (Physical Distribution Functions) : (i) परिवहन (Transportation), (ii) भण्डारण (Storage)।

(स) **सहायक कार्य** (Auxiliary Functions) :- (i) बाजार सूचना (Market Information),

(ii) जोखिम वहन करना (Risk bearing) एवं (iii) विपणन वित्त व्यवस्था (Marketing financing)।

कण्डिफ एवं **स्टिल** एवं अन्य विद्वानों द्वारा उल्लिखित विपणन कार्यों का विस्तार में वर्णन निम्न प्रकार से किया जा सकता है

(1) **उत्पाद नियोजन एवं विकास** (Product Planning and Development) - आधुनिक विपणन विचारधारा में ग्राहक सन्तुष्टि सर्वप्रथम है। ग्राहक सन्तुष्टि के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उत्पाद को ग्राहकों की आवश्यकता के अनुरूप बनाये रखना पड़ता है। पहले उत्पाद नियोजन एवं विकास का दायित्व इन्जीनियरिंग प्राविधिक अनुसंधान (Technical Research) और कुछ सीमा तक उत्पादन आदि विभागों पर था लेकिन ग्राहकों की बदलता हुई उत्पादक प्राथमिकताओं की सन्तुष्टि को अधिकाधिक मान्यता मिलने के कारण उत्पाद नियोजन एवं विकास का कार्य अब विपणन विभाग को दिया जाने लगा है।

(2) **क्रय एवं संकलन** (Buying and Assembling)- उत्पादक द्वारा खरीदी जाने वाली वस्तुएँ निर्माण प्रक्रिया में काम में ली जाती है और परिवर्तित रूप में ग्राहको या उपभोक्ताओं तक पहुँचती है। मध्यस्थों द्वारा क्रय की जाने वाली वस्तुएँ अन्य व्यापारियों या ग्राहकों तक उसी रूप में पहुँचती हैं, जब कोई उत्पादक या व्यापारी माल को उसी रूप में पुन: विक्रय हेतु क्रय करता है, तभी हम उस क्रय को विपणन कार्य मे सम्मिलित करेंगे अन्यथा नहीं। क्रय कार्य का एक महत्वपूर्ण अंग संकलन है। संकलन का अर्थ एक व्यवसायी द्वारा विभिन्न किस्मो की वस्तुओं को पुन: विक्रय हेतु एकत्रित करना है अथवा अनेक उत्पादकों द्वारा निर्मित समान वस्तुओं को एक निश्चित क्षेत्र में पुन: विक्रय हेतु बड़ी मात्रा में एकत्रित करना है।

(3) **विक्रयण** (Selling)- विस्तृत अर्थ मे विक्रयण का अर्थ न केवल विक्रय करना बल्कि ग्राहकों का पता लगाना, माँग को प्रोत्साहित करना एवं ग्राहकों को रालाह एवं सेवा देना भी है। विक्रय के इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि एक विपणनकर्ता विज्ञापन, विक्रय संवर्द्धन, विक्रयोपरान्त सेवाएँ, व्यक्तिगत विक्रय आदि क्रियाओं में प्रभावपूर्ण सामजस्य स्थापित करें।

(4) **परिवहन** (Transportation)- परिवहन के कारण ही वृहत उत्पादन, विशिष्टीकरण एवं वृहत बाजारो की स्थापना सम्भव हो सकी है। परिवहन विपणन का एक अनिवार्य कार्य है क्योंकि अधिकांश बाजार भौगोलिक रूप से उत्पादन के क्षेत्र से पृथक हैं। व्यवसाय के क्षेत्र में वृद्धि के साथ-साथ परिवहन कार्य भी अधिक महत्वपूर्ण होता चला जा रहा है। वस्तुओं को बाजार तक पहुँचाने में रेलों, ट्रकों, वायुयानों, जहाजों एवं पार्सल पोस्ट आदि परिवहन के साधनों का प्रयोग किया जाता है।

(5) **भण्डारण** (Storage) - आधुनिक समय में अनुमानित माँग के आधार पर माँग उत्पन्न होने के पूर्व ही वस्तु का उत्पादन कर लिया जाता है, अत: भण्डारण कार्य अनिवार्य हो जाता है। निर्माता,थोक व्यापारी, फुटकर व्यापारी आदि माल का भण्डारण करके उपभोक्ता माँग उत्पन्न होने की प्रतीक्षा करते है। व्यापारी निर्माता से माल खरीदकर अपने स्टॉक को बनाये रखता है।

भण्डारण विपणन का एक प्रमुख कार्य है। भण्डारण की अच्छी सुविधाएँ आवश्यक है जिससे उपभोक्ताओं की आवश्यकताओ को यथासम्भव सन्तुष्टि हो सके। आधुनिक उपभोक्ता स्थानाभाव तथा सीमित साधनो के कारण बड़ी मात्रा मे वस्तुओं को खरीदने में समर्थ नहीं होता, अत: मध्यस्थों द्वारा वस्तुओं का भण्डारण आवश्यक है।

(6) **विपणन वित्त व्यवस्था** (Marketing Financing)- आधुनिक युग साख का युग है। केवल नकद व्यवहार द्वारा ही कोई व्यवसायी आशातीत प्रगति नही कर सकता। वास्तव में, देखा जाए तो वितरण कार्य मे संलग्न समस्त शृंखलाएँ ही साख-सुविधा का लाभ उठाती हैं। थोक व्यापारी निर्माता के साथ-साथ अन्य वित्तीय संस्थाओं से भी आवश्यकता पड़ने पर साख पर धन स्वीकार करते है और बदले में फुटकर व्यापारियों को साख

NOTES

NOTES

पर माल देते है। फुटकर व्यापारी, थोक व्यापारी से साख पर माल लेकर उसे ग्राहकों को साख पर बेचते हैं। इस प्रकार वितरण कार्य मे संलग्न सभी व्यवसायी साख लेन और देते है।

(7) **जोखिम वहन करना** (Risk Bearing)- अनिश्चितता के कारण जोखिम उत्पन्न होती है। कुछ जोखिमें ऐसी है जिनका बीमा कराया जा सकता है, जैसे - आग, बाढ़ दुर्घटना या चोरी द्वारा माल को होने वाली हानि की जोखिम। इनके अतिरिक्त व्यवसायी को अन्य जोखिमों का भी सामना करना पड़ता है, जैसे कीमत कम होने की जोखिम या माँग, फैशन या उपभोक्ताओं की रुचि मे परिवर्तन होने की जोखिम आदि। इस प्रकार एक विपणनकर्ता जब भण्डारण कार्य करता है तो वह न केवल वित्त व्यवस्था सम्बन्धी कार्य करता है बल्कि जोखिम उठाने का भी कार्य करता है। माँग एवं पूर्ति की दशाओं मे परिवर्तन होने के कारण उत्पन्न होने वाली जोखिम को दूर करने के लिए कुछ व्यवसायी **'हैजिंग'** (Hedging) का सहारा लेते है जिसके अन्तर्गत वह एक साथ दो सौदे करते है। अनेक विपणन जोखिमें ऐसी हैं जिन्हे हस्तान्तरित नही किया जा सकता, परन्तु इनके प्रभाव को कम किया जा सकता है।

(8) **बाजार सूचना** (Market Information)- पर्याप्त सूचनाओं के अभाव में एक व्यवसायी की सफलता संदिग्ध है। विभिन्न व्यापारिक समुदायों, सरकार एवं अन्य विशिष्ट संस्थाओं द्वारा समय-समय पर वस्तुओं के उत्पादन, वितरण एव उपभोग से सम्बन्धित सूचनाएँ एकत्रित की जाती है और उन्हे समय-समय पर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित भी किया जाता है। एक व्यवसायी इन सूचनाओं के आधार पर अपनी विपणन, उत्पादन या वितरण नीति में आवश्यक परिवर्तन करके स्वय को भावी प्रतिकूल प्रभावों से बचा सकता है या इनके प्रभावों को कम कर सकता है।

(9) **प्रमापीकरण एवं श्रेणीयन** (Standardising and Grading)- कुशल एवं सुविधाजनक विपणन के लिए उत्पाद को प्रमाणीकृत एवं श्रेणीबद्ध करना आवश्यक हो जाता है। विपणन की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि ग्राहक वास्तविक रूप से वस्तु का निरीक्षण किये बिना विवरण के आधार पर अथवा वस्तु की किस्म, गुण, ब्राण्ड आदि के आधार पर सौदा करें। वस्तु के गुण, किस्म, आकार तथा रंग आदि के आधार पर वस्तु के **मानक** (Standards) तय किये जाते हैं फिर उनका उपविभाजन करके उन्हें विभिन्न श्रेणियों मे वर्गीकृत किया जाता है। अनेक वस्तुएँ वास्तविक रूप से निरीक्षण किये बिना बार-बार खरीदी और बेची जाती है, जैसे- गोदरेज अलमारी, मरफी मिनी वॉच, डिलक्स ट्रांजिस्टर, एवरेडी सेल, एच.एम.टी. की घड़ियां , डी सी.एम. अथवा बॉम्बे डाइंग की चादरें आदि। यहाँ तक कि अनाज, फल, लकड़ी, कोयले आदि वस्तुएँ भी निर्धारित मानकों के आधार पर श्रेणीबद्ध करके आसानी से बेची जा सकती है।

(10) **मूल्य निर्धारण** (Pricing)- प्रत्येक वस्तु का मूल्य निर्धारण इस प्रकार किया जाता है कि एक ओर तो उत्पादक/निर्माता को उचित लाभ हो सके तथा दूसरी ओर , उपभोक्ता की भी उसको क्रय करने में रुचि जाग्रत हो। साथ ही मध्यस्थों (जैसे - थोक व्यापारी, फुटकर व्यापारी आदि) को भी उसके विक्रय में रुचि उत्पन्न हो।

(11) **पैकेजिंग** (Packaging)- पैकेजिंग वस्तुओं की सुरक्षा, सुविधा तथा आकर्षण के लिए परम आवश्यक है। निर्मित माल को आकर्षक डिब्बों, बोतलों, टिनों, कागज, कार्डशीट, प्लास्टिक, कपड़े आदि में पैक किया जाता है। पैकेजिंग की महत्ता के कारण कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि "माल नहीं बिकता अपितु पैकेजिंग बिकता है।" आकर्षक पैकेज दूर खड़े भावी ग्राहक को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है।

(12) **ब्राण्डिंग** (Branding)- अधिकांश उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं को उनके गुण, रूप, रंग व आकार के अनुसार अलग-अलग किया जाता है। प्रत्येक निर्माता अपनी वस्तु को दूसरे निर्माता की वस्तु से पृथक करने के लिए अपनी वस्तु को विशेष नाम देता है। नाम देने से वस्तु को पृथक पहचान बनती है तथा क्रय - विक्रय में सुविधा रहती है। इस प्रक्रिया को ब्राण्डिंग कहते हैं।

विपणन का महत्व
(IMPORTANCE OF MARKETING)

आधुनिक अर्थव्यवस्था में ग्राहक (उपभोक्ता) व्यावसायिक जगत का केन्द्र बिन्दु बन गया है। सभी व्यावसायिक क्रियाएँ ग्राहक के चारो ओर चक्कर लगाती हैं। आज विपणन किसी भी व्यवसाय का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य बन गया है। विपणन, आधुनिक व्यावसायिक जगत में सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थिति धारण किये हुए है। **पीटर एफ.ड्रकर** के अनुसार, "एक व्यावसायिक उपक्रम के दो आधारभूत कार्य है - प्रथम, विपणन (Marketing) एवं द्वितीय, नवाचार (Innovation)।" विपणन के महत्व का अध्ययन निम्नांकित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है.

(I) समाज के लिए विपणन का महत्व (Importance of Marketing to Society)

सामाजिक दृष्टि से विपणन का महत्व निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है :

(1) **रोजगार की सुविधा** (Facility of Employment) - विपणन ने रोजगार अवसरों की वृद्धि में पर्याप्त सहयोग दिया है। वास्तव में, उत्पादन की तुलना में विपणन में रोजगार अवसरों में थोड़ी ही अवधि में चार गुनी वृद्धि हुई है। जैसे-जैसे विपणन क्रियाओं में वृद्धि होती जाती है उसी अनुपात में रोजगार पाने वाले व्यक्तियों की संख्या में भी वृद्धि होती है।

(2) **ग्राहक सन्तुष्टि** (Customer Satisfaction)- इसके अन्तर्गत व्यवसाय के सभी निर्णय ग्राहक को केन्द्र बिन्दु मानकर लिये जाते हैं और इस बात का पूरा प्रयास किया जाता है कि ग्राहकों की आवश्यकताओं को पूर्ण रूप से सन्तुष्ट किया जाए। विभिन्न प्रकार के ग्राहकों की आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने के लिए विभिन्न किस्मों, डिजाइनों, रंगों व आकारों में वस्तुओं का निर्माण किया जाता है। इस प्रकार विपणन की आवश्यकताओं को पूर्ण कर समाज को लाभ पहुँचाता है।

(3) **जीवन-स्तर में वृद्धि** (Increase in Standard of Living) - बड़े पैमाने पर उत्पादन को सम्भव करके (जिससे उत्पादन लागत कम हो जाती है), वितरण लागतों में कमी करके व उच्च जीवन-स्तर का सृजन करके विपणन समाज के जीवन स्तर में वृद्धि करता है।

(4) **अर्थव्यवस्था की मन्दी से रक्षा** (Protection against Slump)- मन्दी से समाज में बेरोजगारी फैलने लगती है, व्यावसायिक उपक्रम बन्द होने लगते है और देश की अर्थव्यवस्था ठप्प पड़ जाती है। विपणन समाज को इस समस्या से बचाता है। विपणन का आधुनिक विचार ग्राहक-अभिमुखी (Customer-oriented) है, अत: ग्राहकों की आवश्यकताओं एवं रुचियों के अनुरूप ही माल का निर्माण किया जाता है।

(5) **वितरण लागतों में कमी** (Decrease in Distribution Costs) - इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि वितरण लागत अनिवार्य है, अत: पूर्ण रूप से इसकी समाप्ति सम्भव नहीं है, परन्तु कुशल प्रक्रिया द्वारा वितरण लागत को कम अवश्य किया जा सकता है। वितरण लागतों में कमी के परिणामस्वरूप वस्तुओं के मूल्य में कमी आती है और समाज लाभान्वित होता है।

(6) **रहन-सहन का स्तर प्रदान करना** (Delivery of Standard of Living)- विपणन समाज को जीवन-स्तर प्रदान करता है। वास्तव में , विपणन का यह दायित्व है कि वह समाज की आवश्यकताओं को पूरा करे और लोगों को उनका माँगा जीवन-स्तर प्रदान करे।

(II) व्यवसाय कार्य के रूप में फर्म या निर्माता के लिए विपणन का महत्व
(Importance of Marketing as a Business Function to the Firm or Manufacturer)

किसी फर्म के सफल संचालन में विपणन का भारी महत्व है। पीटर **एफ. ड्रकर** (Peter F. Drucker) ने व्यवसाय को विपणन संगठन कहा है। उनके अनुसार, **"विपणन व्यवसाय का विशिष्ट एवं अनन्य कार्य है। एक व्यवसाय को अन्य सभी मानवीय संगठनों से इस तथ्य के आधार पर अलग किया जाता है कि इनमें एक उत्पाद या सेवा का विक्रय किया जाता है। चर्च, सेना, स्कूल, अथवा राज्य कोई भी ऐसा नहीं कर सकता। कोई भी संगठन जो एक उत्पाद या सेवा का विपणन करता है, व्यवसाय कहलाता है। किसी संगठन में यदि विपणन अनुपस्थित है अथवा आकस्मिक है तो वह व्यवसाय नहीं कहलायेगा और न ही उसे व्यवसाय के रूप में संचालित करने का प्रयास करना चाहिए।"** इस प्रकार ड्रकर के अनुसार विपणन ही व्यवसाय है। फर्म के लिए विपणन के महत्व का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है :

(1) **समाज और फर्म के मध्य सम्प्रेषण में सहायक** (Helpful in Communication between Society and Firm)- विपणन का महत्व इस दृष्टि से भी है कि यह फर्म और समाज के मध्य सूचनाओं के आदान-प्रदान में सहायता देता है। विपणन ही प्रबन्ध (Management) को समाज की आवश्यकताओं और उनकी आदतों एवं रुचियों में होने वाले परिवर्तनों से सदैव अवगत कराता रहता है।

(2) **आय सृजन में सहायक** (Helpful in Income Creation)- फर्म के क्रियाकलापों के लिए आय का सृजन आवश्यक है। वास्तव में किसी भी व्यवसाय का मूलभूत उद्देश्य आय का सृजन ही होता है। व्यवसाय के लिए आय सृजन का यह कार्य उत्पाद या वित्त विभाग द्वारा नहीं किया जाता बल्कि विपणन विभाग ही इसे सम्पादित करता है।

NOTES

NOTES

(3) **व्यावसायिक नियोजन और निर्णयन में सहायक** (Helpful in Business Planning and Decision-making) - बदलती हुई परिस्थितियों में अब उत्पादन क्षमता के अनुसार उत्पादन सम्बन्धी निर्णय लेना सम्भव नहीं है बल्कि फर्म को पहले यह ज्ञात करना आवश्यक है कि वह क्या बेच सकती है , कितनी मात्रा या संख्या में बेच सकती है एवं सतर्क ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए उसे किन उपायों के प्रयोग करने की आवश्यकता होगी। इन सभी बातों का ज्ञान वितरण द्वारा कराया जाता है।

(III) **अर्थव्यवस्था में विपणन का महत्व** (Importance of Marketing in the Economy)

किसी भी देश की अर्थव्यवस्था में विपणन का विशेष महत्व होता है। न केवल विकसित अर्थव्यवस्था में बल्कि विकासशील अर्थव्यवस्था में भी विकास की गति को तीव्रता प्रदान करने हेतु विपणन प्रणाली का सशक्त एवं सक्षम होना अत्यन्त आवश्यक है। जैसे-जैसे किसी देश का औद्योगिकरण और नगरीकरण (Urbanisation) होता चला जाता है, वैसे -वैसे विपणन का महत्व भी बढ़ता चला जाता है। अब मानवीय आवश्यकताएँ असीमित है, उत्पादन बड़े पैमाने पर किया जाता है, अत: आर्थिक प्रक्रिया में विपणन अनिवार्य हो गया है। जैसे-जैसे उत्पादन कुशलता बढ़ती चली जायेगी, उसके प्रभावी वितरण एवं विक्रय उपायों की खोज हेतु विपणन का महत्व भी बढ़ता चला जायेगा।

पीटर एफ. ड्रकर के अनुसार विकासशील अर्थव्यवस्था के तीव्र विकास में विपणन का अत्यधिक महत्व है। इसके महत्व के प्रमुख स्तम्भ निम्नलिखित है - (i)विपणन विकासशील अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में, जैसे- कृषि और उद्योग में एकीकरण स्थापित करता है। (ii) साहसी तथा प्रबन्धकीय वर्ग के लोगों के विकास में सहायता प्रदान करता है। (iii) अज्ञात और अप्रयुक्त आर्थिक शक्ति को सम्भव बनाता है। (iv) अज्ञात और अप्रयुक्त आर्थिक शक्ति को गतिशील बनाता है। (v) विद्यमान सम्पत्तियों और उत्पादन क्षमता के अधिकतम उपयोग को सम्भव बनाता है।

(IV) **एक 'विक्रेता बाजार' में विपणन का महत्व** (Importance of Marketing in a Seller's Market)

'विक्रेता बाजार'से आशय एक ऐसे बाजार से होता है जिसमें वस्तुओं का अभाव होता है और ग्राहक वस्तुओं के लिए प्रतीक्षा करते रहते है। हमारे देश में भी कुछ वस्तुओं के संबंध में 'क्रेता बाजार' विद्यमान है और कुछ के संबंध में 'विक्रेता बाजार'। 'विक्रेता बाजार'में वस्तुओं का अभाव होने के कारण विक्रय कार्य में विशेष कठिनाई नहीं आती। 'विक्रेता बाजार' में भी विपणन आवश्यक है क्योंकि हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि बाजार का स्वभाव परिवर्तनशील है। आज जिस वस्तु का 'विक्रेता बाजार' है, कल उसका 'क्रेता बाजार'भी हो सकता है। हमारे देश में भी गत कुछ वर्षों में ऐसी स्थिति देखने में आयी है, जबकि अनेक वस्तुओं ने 'विक्रेता बाजार'के स्थान पर 'क्रेता बाजार'का रूप धारण कर लिया है, जैसे- सिलाई मशीन, रेफ्रीजरेटर, मशीनी औजार, फर्नीचर, कार, स्कूटर, टी.वी. आदि।

चाहे 'क्रेता बाजार' विद्यमान हो या 'विक्रेता बाजार'विपणन दोनों ही स्थितियों में महत्वपूर्ण है। किसी भी व्यवसाय की सफलता बाजार अध्ययन पर ही निर्भर होती है और विशेष तौर पर आधुनिक समय में, जबकि बहुत तीव्र गति से सभी दिशाओं में परिवर्तन हो रहे हैं। हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि एकाधिकारी स्थिति में भी ग्राहक की न खरीदने की स्वतंत्रता तो बनी रहती है। यद्यपि 'विक्रेता बाजार' में विक्रेता या निर्माता विक्रय परिणाम में वृद्धि की स्थिति में नहीं होता परन्तु फिर भी उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं के बारे में जानकारी प्राप्त करके लागत को कम करने में सफल हो सकता है।

हमारे देश में, जहाँ कि नियोजित ढग से विकास का प्रयास किया जा रहा है, अधिकांश व्यवसायियों के सम्मुख यह समस्या है कि वे अपने वर्तमान उद्योग का ही विकास करें या नवीन उद्योगों की स्थापना करें? बदलते हुए समय मे नवीन विचारों को लाभदायक ढग से प्रस्तुत करने की अधिक सम्भावनाएँ रहती है। इसके लिए बाजार आवश्यकताओं का पूर्ण ज्ञान आवश्यक होता है जिसकी प्राप्ति विपणन द्वारा सम्भव है।

विपणन संस्थाएँ
(Marketing Institutions)

विपणन संस्थाओं मे मुख्य रूप से निम्नांकित संस्थाएँ सम्मिलित है :

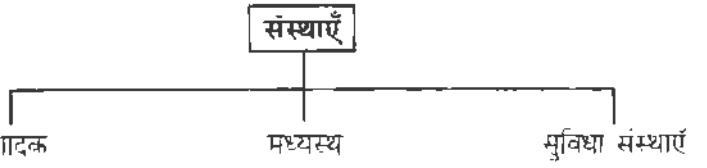

(I) उत्पादक और निर्मातागण (Producer and Manufactures)

उत्पादक और निर्माता दोनों उत्पादन कार्यों में संलग्न रहते है परन्तु वे एक या अधिक विपणन कार्यों को निष्पादित करते है। उत्पादन कार्यों के अतिरिक्त पैकेजिंग, कीमत निर्धारण, वितरण वाहिकाएं, विज्ञापन एवं विक्रय संवर्द्धन आदि के सम्बन्ध में भी एक उत्पादक को निर्णय लेने पड़ते है। इस प्रकार उत्पादक अनेक विपणन कार्यों को करते है, अतः इन्हे विपणन संस्थाओं में सम्मिलित किया जाता है।

NOTES

(II) मध्यस्थ (Middlemen)

निर्मित माल को उत्पादकों से ग्राहकों तक पहुँचाने में मध्यस्थों की सेवाएँ आवश्यक होती है। मध्यस्थों को विस्तृत रूप से निम्न दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है - (1) थोक व्यापारी मध्यस्थ (Wholesaler Middlemen) तथा (2) फुटकर व्यापारी मध्यस्थता (Retailer Middlemen)।

(1) थोक व्यापारी मध्यस्थों को निम्न दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :

(अ) **व्यापारी मध्यस्थ** (Merchant Middlemen)- ये मध्यस्थ जिन वस्तुओं में व्यवहार करते है, उनके पहले स्वामित्व (Title) लेते है और फिर उनका विक्रय करते है।

(ब) **प्रतिनिधित्व मध्यस्थ** (Agent Middlemen)- ये मध्यस्थ जिन वस्तुओं में व्यवहार करते है, उनके स्वामित्व स्वयं नहीं लेते। ऐसे मध्यस्थ बिना स्वामित्व प्राप्त किए ही वस्तुओं का क्रय या विक्रय अथवा दोनों कार्य करते है। ये मध्यस्थ बहुत कम विपणन कार्य निष्पादित करते है।

(2) **फुटकर व्यापारी मध्यस्थ** (Retail Middlmen) - ये ऐसे व्यापारी होते है जो मुख्य रूप में अन्तिम उपभोक्ताओं को माल का विक्रय करते है। इनमें सामान्यतः घर-घर जाकर माल बेचने वाले विक्रेता, डाक व्यापार संगठन, अनेक शृंखलाबद्ध दुकानें और स्वतंत्र फुटकर भण्डारों को सम्मिलित किया जाता है।

(III) सुविधा देने वाली संस्थाएँ (Facilitating Agencies)

व्यावहारिक जीवन में उत्पादक या मध्यस्थ पूर्णतः स्वतंत्र नहीं होते। इन्हे विपणन कार्यों को भली-भाँति निष्पादित करने हेतु अन्य संस्थाओं की आवश्यकता होती है जो सुविधा देने वाली संस्थाएँ कहलाती है। इन संस्थाओं के उदाहरणों में ट्रक, रेल, वायु तथा जल यातायात संगठन, विपणन परामर्शदाता, विज्ञापन, एजेन्सियाँ, बाजार और साख एवं संकलन संगठनो को सम्मिलित किया जा सकता है।

विपणन अध्ययन की रीतियाँ
(APPROACHES TO STUDY OF MARKETING)

जी.बी. गाइल्स (G.B. Giles) ने विपणन अध्ययन के निम्नलिखित तीन तरीकों का उल्लेख किया है - (1)संस्थागत तरीका (Institutional Approach), (2) क्रियात्मक तरीका (Functional Approach) एवं (3) पदार्थानुसार तरीका (Commodity Approach)।

(1) **संस्थागत तरीका** (Institutional Approach)- विपणन संस्थाओं से आशय ऐसे व्यावसायिक संगठनों से है जो मूल रूप से उत्पादों या सेवाओं के वितरण कार्य में संलग्न हैं, जैसे-फुटकर व्यापारी, थोक व्यापारी, निर्मातागण, विभागीय भण्डार, विज्ञापन एवं विपणन अनुसन्धान एजेन्सियाँ आदि। उपभोक्ताओं एवं उत्पादक के मध्य दूरी के लिए निम्नलिखित कारण उत्तरदायी हैं :-

(अ) **भौतिक दूरी** (Physical Distance) -वृहत् पैमाने पर उत्पादन किये जाने एवं बाजार सीमा के विस्तार हो जाने के कारण उत्पादक एवं उपभोक्ताओं में दूरी उत्पन्न हो गई है।

(ब) **समय** (Time)- एक उत्पादक के उत्पादन एवं उसके उपभोग के मध्य समय के अन्तर ने भी उत्पादक और उपभोक्ताओं में दूरी उत्पन्न कर दी है।

(स) **ज्ञान अथवा सूचनात्मक दूरी** (Informational Distance)- उपभोक्ताओं को वस्तु या सेवा का जितना अधिक ज्ञान होता है, उतनी ही उत्पादक एवं उपभोक्ताओं के मध्य दूरी कम होती है।

(2) **क्रियात्मक तरीका** (Functional Approach)- विपणन अध्ययन के इस तरीके के अन्तर्गत उत्पादक से उपभोक्ताओं तक वस्तुओं और सेवाओं के पहुँचाने में जो भी विपणन कार्य किये जाते है, उनका अध्ययन किया जाता है। विपणन कार्यों में वाणिज्यायन (Merchandising), भौतिक वितरण (Physical Distribution) एवं सहायक कार्यों (Auxiliary Functions) को सम्मिलित किया जाता है। विपणन के अन्तर्गत किये जाने वाले कार्यों का ध्यानपूर्वक

NOTES

अनुसंधान करके और प्रत्येक को निष्पादित करने में आने वाली समस्याओं का विश्लेषण करके विपणन के संबंध में पर्याप्त जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

(3) **पदार्थानुसार या उत्पाद तरीका** (Commodity Approach)- इसके अन्तर्गत अध्ययन हेतु कुछ विशिष्ट वस्तुओं या उत्पादों का चुनाव किया जाता है। चुने गये प्रत्येक उत्पाद की विपणन स्थिति की कुछ आधारों पर जाँच की जाती है, जैसे-पूर्ति के साधन और दशाएँ, उत्पादकों के विपणन संगठन और नीतियाँ, उत्पाद वितरण में भाग लेने वाले विभिन्न मध्यस्थ, उत्पाद की विशेषताएँ और बाजार की सीमा आदि। माँग की प्रकृति, आकार, किन उद्देश्यों के लिए इसका प्रयोग किया जाता है, किन्हें इसकी आवश्यकता होती है, इसके विक्रेता कौन हैं, परिवहन के किन साधनों से यह खेतों से मण्डियों तक एवं मण्डियों से अन्तिम उपभोक्ताओं तक पहुँचाया जाता है, भण्डारण, प्रमापीकरण, पैकेजिंग, ब्राण्डिंग एवं वित्त के सम्बन्ध में कौन-सी क्रियाएँ की जाती है आदि का अध्ययन करना होगा।

विपणन के आधारभूत अंग
(BASIC COMPONENTS OF MARKETING)

विपणन क्रिया के आधारभूत अंगों में निम्नांकित को सम्मिलित किया जा सकता है:

(1) विज्ञापन (Advertising),
(2) विक्रय संवर्द्धन (Sales Promotion),
(3) विक्रयोपरान्त सेवाएँ देना (After Sales Servicing),
(4) माल को गोदाम में रखना (Warehousing),
(5) वाणिज्ययन (Merchandising),
(6) पैकेजिंग (Packaging),
(7) विक्रयण (Selling),
(8) वितरण वाहिकाएँ (Distribution Channels),
(9) कीमत निर्धारण (Pricing),
(10) ब्राण्डिंग (Branding),
(11) उत्पाद नियोजन (Product Planning) एवं
(12) विपणन अनुसंधान (Marketing Research)।

विपणन दर्शन
(MARKETING PHILOSOPHY)

रिचर्ड पी. केल्हून (Richard P. Calhoon) के अनुसार, "एक सुस्थापित दर्शन प्रशासन के चिन्तन और व्यवहार की रूपरेखा प्रदान करने के लिए आवश्यक होता है। दर्शन किसी कार्य के निर्धारण तथा क्रियान्वयन हेतु आधारभूत मापदण्डों की स्थापना करता है।"[1]

विपणन दर्शन द्वारा ग्राहकों की असन्तुष्ट इच्छाओं का पता लगाया जाता है और इस जानकारी के आधार पर लाभ पर उत्पादों या सेवाओं का निर्माण किया जाता है। आज से लगभग कुछ दशक पूर्व "विक्रय" (Sales) शब्द का प्रयोग किया जाता था जिसका स्थान बाद में चलकर "वितरण" (Distribution) ने ले लिया और आज इसके स्थान पर "विज्ञापन" (Marketing) शब्द अधिक लोकप्रिय है।

काफी समय पूर्व जबकि वर्तमान अर्थव्यवस्था का विकास नहीं हुआ था, उस समय भी 'ग्राहक-अभिमुखीकरण' व्यावसायिक उपक्रमण की एक प्रमुख विशेषता थी। वृहत उत्पादन तथा राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों के प्रादुर्भाव से पूर्व भी व्यवसायी अपने ग्राहकों और बाजारों के प्रति सजग व सचेत थे। वे अपने ग्राहकों से परिचित थे और ये व्यक्तिगत ग्राहक (Individual Customer) ही अपने सामूहिक बाजार का निर्माण करते थे। वे स्वयं अपने बाजार के अनुसंधानकर्ता, विश्लेषणकर्ता, विक्रेता, उत्पाद, नियोजनकर्ता, विज्ञापनकर्ता और संवर्द्धनकर्ता थे।

एफ.जे.बोर्च (F.J. Borch) के अनुसार, विपणन दर्शन में आधारभूत बातें निम्न हैं - (1) ड्यूअल कोर जॉब ऑफ मार्केटिंग (Dual Core Job of Marketing) तथा (2) लाभ विचार, न कि परिणाम विचार (Profit Concept and not the Volume Concept)।

प्रथम सिद्धान्त के अनुसार विपणन दर्शन के अन्तर्गत व्यवसाय का केन्द्र-बिन्दु ग्राहकों की इच्छाएँ तथा आवश्यकताएँ होनी चाहिए। इन आवश्यकताओं के ज्ञान के पश्चात् ही विपणनकर्ता इनकी सन्तुष्टि हेतु आवश्यक क्रियाएँ कर सकता है। **द्वितीय सिद्धान्त** के अनुसार विपणन दर्शन लाभ विचार पर आधारित है न कि परिणाम विचार पर। इसका अर्थ यह नहीं है कि लाभों में वृद्धि हेतु परिणामों में वृद्धि न की जाए, लेकिन केवल परिणामों में वृद्धि हेतु परिमाणों में वृद्धि करना उचित नहीं।

NOTES

व्यवसायी इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि उत्पादन या विक्रय अभिमुखी दर्शन (Production or Sales-oriented Philosophy) की तुलना में विपणन प्रबन्ध दर्शन से विक्रय वृद्धि में अधिक सहायता मिलती है। विपणन प्रबन्ध दर्शन में मूल्यों की उपयोगिताओं के समूह का निर्माण किया जाता है जिससे अन्य फर्मों की तुलना में ग्राहक को अपने उत्पाद क्रय के लिए आकर्षित किया जा सके।

प्रश्न
(QUESTIONS)

दीर्घ उत्तरीय/निबन्धात्मक प्रश्न (Long Answer/Essay Type Questions)

1. सूक्ष्म विपणन क्या है? विपणन की प्रकृति की विवेचना कीजिए।
2. विपणन की वृहत परिभाषा दीजिए तथा व्यवसाय कार्य के रूप में इसके महत्व की विवेचना कीजिए।
3. विपणन की आधुनिक परिभाषा दीजिए तथा इसके विभिन्न कार्यों की समीक्षा कीजिए।
4. विपणन की परिभाषा एवं आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए तथा इसके कार्यों का वर्णन कीजिए।
5. विपणन से क्या आशय है ? विपणन की प्रकृति तथा क्षेत्र की विवेचना कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Type Questions)

1. समाज के लिए विपणन का महत्व समझाइए।
2. विकासशील अर्थव्यवस्था में विपणन के महत्व की संक्षेप में विवेचना कीजिए।
3. विपणन अध्ययन के क्या-क्या तरीके है ? इनमें से किसी एक का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
4. व्यवसाय कार्य के रूप में विपणन का महत्व बताइए।
5. विपणन तथा विक्रयण में अन्तर बताइए।

●●●

अपनी प्रगति की जाँच कर
Test your Progress

11

NOTES

विपणन मिश्रण की अवधारणा
[THE CONCEPT OF MARKETING MIX]

विपणन मिश्रण का अर्थ (Meaning of Marketing Mix)

ऐसे समस्त विपणन निर्णय, जो कि विक्रय को प्रेरित या प्रोत्साहित करते हैं, '**विपणन मिश्रण**' कहलाते हैं। विपणन मिश्रण व्यवसाय के प्रत्येक क्षेत्र के लिए महत्वपूर्ण होता है, चाहे वह कीमत क्षेत्र हो या संवर्द्धन क्षेत्र, वितरण क्षेत्र हो या उत्पादन क्षेत्र। विपणन मिश्रण का विकास इस बात को ध्यान देते हुए किया जाता है कि तुलनात्मक दृष्टि से अधिक विपणन और संवर्द्धनात्मक लागतों के साथ ऊँची कीमत रखना व्यवसाय के लिए ज्यादा उपयुक्त है या कम संवर्द्धनात्मक लागत के साथ कम कीमत रखना अर्थात व्यवसायी के सम्मुख निम्न दो प्रकार की छूट है- या तो वह उत्पाद की कीमत ऊँची निर्धारित करे और विक्रय संवर्द्धनात्मक व्यय भी कम करे। ऐसी स्थिति में व्यवसायी उसी विपणन मिश्रण का प्रयोग करेगा जो तुलनात्मक दृष्टि से व्यवसाय के लिए लाभप्रद हो। ग्राहकों की आवश्यकताओं की सन्तुष्टि हेतु एक व्यावसायिक फर्म के लिए विपणन मिश्रण को ज्ञात करना परम आवश्यक है। विपणन मिश्रण एक गत्यात्मक अवधारणा है जो कि बाजार की दशाओं एवं पर्यावरण परिवर्तन होने के साथ-साथ बदलती रहती है।

विपणन मिश्रण विचार की परिभाषाएँ (Definitions of Concept of Marketing Mix)

(1) **विलियम जे. स्टेण्टन** के अनुसार, "विपणन मिश्रण एक ऐसा शब्द है जिसका उपयोग चार ऐसे अन्तर्गामी संयोजन का वर्णन करने के लिए किया जाता है जो कि एक कम्पनी के विपणन तंत्र का निर्माण करते है - उत्पाद, कीमत ढाँचा, संवर्द्धन क्रियाएँ तथा वितरण व्यवस्था। "

(2) **लिपसन एवं डार्लिंग** के अनुसार, "विपणन विचार (अवधारणा) के रूप में विपणन मिश्रण व्यवसाय प्रणाली द्वारा नियन्त्रित उन समस्त चलों के सार्थक संगठन का एक साधन है जो बाजार स्थान में सौदों को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं।"

(3) **फिलिप कोटलर** के अनुसार, "विपणन मिश्रण नियन्त्रण योग्य चलों (Varibles) का एक ऐसा समूह है जिसका प्रयोग एक फर्म अपने क्रेताओं के प्रतिवचनों को प्रभावित करने हेतु करती है।"

(4) **आर.एस.डावर** के अनुसार, "निर्माताओं द्वारा बाजार में सफलता प्राप्त करने के लिए प्रयोग की जाने वाली नीतियाँ विपणन मिश्रण का निर्माण करती हैं।"

विपणन मिश्रण के तत्व
(ELEMENTS OF THE MARKETING MIX)

सामान्य रूप से विपणन मिश्रण के तत्वों में निम्नांकित को सम्मिलित किया जा सकता है-

(1) **विपणन अनुसन्धान** (Marketing Research)- (अ) विक्रय विश्लेषण । (ब) क्षेत्र सर्वेक्षण। (स) बाहरी एजेन्सियों का उपयोग।

(2) **भौतिक वितरण** (Physical Handling)- (अ) परिवहन । (ब) भण्डारण। (स) स्कन्ध नीतियाँ। (द) लागतों में सम्भावित कमी ।

(3) **विज्ञापन और विक्रय संवर्द्धन** (Advertising & Sales Promotion) - (अ) विज्ञापन कार्यक्रम। (ब) प्रदर्शन (Display) को महत्व देना । (स) उपभोक्ताओं के लिए किये गये विक्रय संवर्द्धन की सीमा । (द) मध्यस्थों के लिए किए गये विक्रय संवर्द्धन की सीमा।

(4) **विक्रय शक्ति** (Sales Force) - (अ) व्यक्तिगत विक्रय की सीमा। (ब) थोक विक्रेताओं और फुटकर विक्रेताओं के समीप जाने की सीमा । (स) उपभोक्ताओं तक प्रत्यक्ष रूप से जाने की सीमा ।

(5) **वितरण वाहिकाएँ** (Channels of Distribution)- (अ)थोक व्यापारियों द्वारा विक्रय । (ब) अधिकृत विक्रय एजेन्सियों की नियुक्ति। (स) स्वयं के विक्रेताओं द्वारा प्रत्यक्ष विक्रय ।

(6) **मूल्य निर्धारण** (Pricing)- (अ) कीमतो का स्तर और मनोवैज्ञानिक पहलू। (ब)उचित लाभ सीमा। (स)पुन. विक्रय कीमत अनुरक्षण। (द)सरकारी नियन्त्रण, यदि कोई हो

(7) **वस्तु नियोजन** (Product Planning) -(अ)प्रस्तुत किये जाने वाले उत्पादो या सेवाओं का निर्धारण । (ब) उत्पादन में सम्भावित सुधार और नवाचार । (स)ब्राण्ड और पैकिंग नीतियाँ।

NOTES

विपणन मिश्रण का वर्गीकरण
(CLASSIFICATION OF MARKETING MIX)

विपणन मिश्रण किन विपणन चलों का मिश्रण है, इस संबंध में विद्वान एकमत नही हैं । प्रोफेसर **एल्बोर्ट डब्ल्यू. फ्रे** (Prof. Albort W. Frey) ने विपणन चलो को दो श्रेणियों में विभक्त किया है- (1) पहली श्रेणी में उन चलों को सम्मिलित किया गया है जो बाजार में प्रस्तुत की जाने वाली वस्तुओं से सम्बन्ध रखते है । (2)दूसरी श्रेणी में उन चलों को सम्मिलित किया गया है जो विधियों एवं उपकरणों से संबन्ध रखते हैं। **लेजर** एवं **केली** ने विपणन चलों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है- (1) उत्पाद एवं सेवा मिश्रण, (2) वितरण मिश्रण तथा (3) संचार मिश्रण। **मेकार्थी** द्वारा बताये गये विपणन मिश्रण के चार 'पी' निम्न है- (I) उत्पाद (Product), (II) स्थान (Place), (III) प्रवर्तन या संवर्द्धन (Promotion) तथा (IV) कीमत (Price)।

(I) उत्पाद (Product)

एक बाजार के सही उत्पाद के विकास के लिए निम्न घटकों पर विचार करना होता है- (1)उत्पाद नियोजन- (अ)बाजार में प्रस्तुत करने के लिए उत्पाद या उत्पाद पंक्ति का चुनाव करना । (ब)एक उत्पाद पंक्ति में उत्पादों को जोड़ना या घटाना । (2)ब्राण्डिंग। (3)पैकेजिंग। (4) प्रमापीकरण और श्रेणीयन।

प्राय: भिन्न-भिन्न प्रकार के उत्पाद विभिन्न प्रकार के ग्राहकों को प्रभावित करते है, अत: प्रभावशाली विपणन कार्यक्रमों के विकास के लिए उत्पाद विभिन्नीकरण और बाजार विभक्तिकरण पर विचार करना आवश्यक है। बाजार विभक्तिकरण का आधार बाजार का माँग पक्ष है जिसमें उत्पाद और विपणन प्रयत्नों का समायोजन उपभोक्ता आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर किया जाता है ।

बाजार विभक्तिकरण छोटे निर्माताओं को अर्द्ध-एकाधिकारी स्थिति प्राप्त करने में सहायता देता है। उत्पाद विभिन्नीकरण से यह लाभ है कि वर्तमान उत्पादों के लिए विपणन कार्यक्रमों में सुधार किया जा सकता है और नवीन एवं उन्नत उत्पादों का विकास किया जा सकता है।

पैकेजिंग उत्पाद की रक्षा करता है और साथ ही विक्रय वृद्धि को प्रोत्साहित करता है । समजातीय उत्पादों की प्रतिस्पर्द्धा का सामना करने में पैकेजिंग परिवर्तन सहायता करता है ।

ब्राण्ड का उद्देश्य एक पहचान चिह्न निश्चित करना होता है जिससे जो वस्तु क्रेताओं को सन्तुष्ट कर चुकी है, उस वस्तु का क्रेता उसी पहचान चिह्न के आधार पर माँग कर सके और उत्पादनकर्ता उस माँग को पूरी कर सके ।

उत्पाद नियोजन के अन्तर्गत हमें उत्पाद पंक्तियों, बाजार विभक्तिकरण, उत्पाद विभिन्नीकरण, पैकेजिंग, ब्राण्डिंग और प्रमापीकरण से सम्बन्धित नीतियों और विधियों पर विचार करना चाहिए जिससे लाभ कमाते हुए उपभोक्ता को सन्तुष्टि की जा सके।

(II) स्थान (Place)

'स्थान तत्व' (Element Place)के अन्तर्गत सही उत्पाद को सही बाजार (स्थान)में प्रस्तुत करने की समस्या सम्मिलित की जाती है। इस सम्बन्ध में विचार के लिए महत्वपूर्ण क्षेत्रों में निम्न सम्मिलित हैं- (1)वितरण वाहिकाएँ, (2)भौतिक वितरण, (3)संग्रहण,(4)परिवहन एवं (5)स्टॉक ।

ये उपकार्य समय, स्थान और स्वामित्व उपयोगिता प्रदान करते हैं। वितरण वाहिका निर्माता से ग्राहक को प्रत्यक्ष हो सकती है । वितरण वाहिकाओं का संयोग (Combination) विभिन्न घटकों पर निर्भर करता है, जैसे- कम्पनी का आकार, बाजार का आकार, प्रतिस्पर्द्धा की सीमा और प्रकृति, विभिन्न बाजार और वातावरणीय दशाएँ और विक्रय किये जाने वाले उत्पाद या उत्पादों की प्रकृति।

NOTES

(III) संवर्द्धन या प्रवर्तन (Promotion)

एक कम्पनी द्वारा उत्पादित वस्तु बहुत अच्छी होने पर भी उनका विक्रय नहीं किया जा सकता, यदि सही लोगों को उनका संवर्द्धन (Promotion) न किया जाए। वर्तमान और सम्भावित ग्राहकों को किया जाने वाला प्रचार ही संवर्द्धन है। इसका उद्देश्य ग्राहकों को सूचित करना और प्रोत्साहित करना होता है जिससे वे उत्पाद के क्रय के लिए अभिप्रेरित हों।

विज्ञापन से आशय "एक ज्ञात प्रयोजन द्वारा विचारों, वस्तुओं या सेवाओं का अवैयक्तिक प्रस्तुतीकरण और प्रवर्तन करने के ढंग से है जिसका भुगतान किया जाता है।"[1] विज्ञापन हेतु समाचार-पत्रों, पत्रिकाओं, सिनेमा, रेडियो और टेलीविजन आदि माध्यमों का प्रयोग किया जाता है।

व्यक्तिगत विक्रय विपणन मिश्रण का अभिन्न तत्व है। मशीनरी, औजारों, भारी मशीनों और पूँजीगत उपकरणों के संवर्द्धन हेतु व्यक्तिगत विक्रय सर्वोत्तम है। इसके अन्तर्गत ग्राहक के मन में उत्पन्न विचारों को तुरन्त क्रियान्वित कराया जा सकता है।

विक्रय संवर्द्धन के अन्तर्गत व्यक्तिगत विक्रय, विज्ञापन और प्रचार के अतिरिक्त अन्य क्रियाओं को सम्मिलित किया जाता है जिनका उद्देश्य उपभोक्ताओं की क्रय शक्ति और विक्रेताओं की तत्परता को बढ़ाना होता है।

यह उल्लेखनीय है कि भारत में विभिन्न सभ्यताएँ देखने को मिलती हैं। विभिन्न राज्यों यहाँ तक कि एक ही राज्य के निवासियों की आवश्यकताओं एवं रुचियों में काफी अन्तर पाया जाता है। इन विभिन्नताओं के कारण भिन्न-भिन्न संवर्द्धनात्मक मिश्रण (Promotional Mixes) की आवश्यकता होती है।

(IV) मूल्य (Price)

कीमत नीति का विकास फर्म के उद्देश्यों को ध्यान देते हुए ही किया जाना चाहिए। कीमत नीति से सम्बन्धित फर्म के उद्देश्यों में निम्न को सम्मिलित किया जा सकता है।

(1) फर्म ख्याति निर्माण करना चाह रही हो। अधिकाधिक लाभ कमाकर सार्वजनिक आलोचना से बचना चाहती हो।

(2) लाभों की तुलना में अस्तित्व में रुचि।

(3) एक उद्योग की एकाधिकार सम्बन्धी वैज्ञानिक बाधाओं को दूर करने की इच्छा।

(4) कम्पनी के बाजार भाग में वृद्धि।

(5) उपभोक्ताओं को उचित लागत पर उत्पाद उपलब्ध कराना।

कीमत निर्धारण में महत्वपूर्ण बाहरी घटकों में माँग की लोच, वैधानिक बाधाएँ, नैतिक घटक, प्रतिस्पर्द्धा की प्रकृति, पूर्तिकर्ता और आर्थिक दशाओं को सम्मिलित किया जा सकता है।

किसी भी उत्पाद के लिए निर्धारित कीमत इतनी ऊँची अवश्य होनी चाहिए कि उससे लागत और वितरण व्ययों की पूर्ति करते हुए विनियोगों पर उचित लाभ की प्राप्ति की जा सके।

उपर्युक्त वर्णित विपणन मिश्रण के विपणन चलों (Variables) को निम्नांकित चित्र द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है:

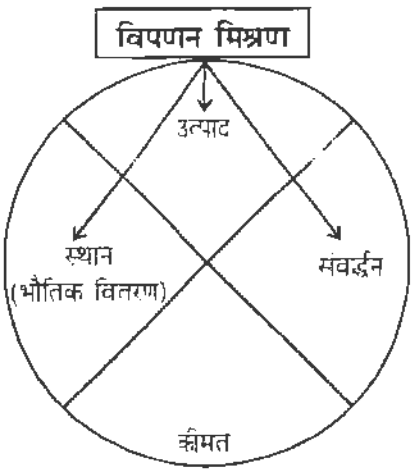

विपणन मिश्रण (Marketing Mix)

यह उल्लेखनीय है कि एक कम्पनी सम्पूर्ण बाजार के लिए एक ही विपणन मिश्रण का प्रयोग कर सकती है अथवा बाजार को कुछ खण्डों (Segments) में विभाजित करके भिन्न-भिन्न बाजार खण्डों के लिए एक से अधिक विपणन मिश्रण का प्रयोग कर सकती है।

एक फर्म एक से अधिक विपणन मिश्रण का भी प्रयोग कर सकती है और भिन्न-भिन्न रुचि और आवश्यकताओं वाले ग्राहकों को भिन्न-भिन्न विपणन मिश्रणों के प्रयोग द्वारा सन्तुष्टि प्रदान कर सकती है।

NOTES

विपणन मिश्रण को प्रभावित करने वाले घटक
(ELEMENTS AFFECTING MARKETING MIX)

विपणन मिश्रण को प्रभावित करने वाले प्रमुख तत्व अथवा घटक निम्नलिखित है:

(1) **उत्पादन की लागत** (Cost of Production)- उत्पाद की लागत का भी विपणन मिश्रण पर बहुत प्रभाव पड़ता है। यदि कम्पनी विद्यमान (उसी) श्रम-शक्ति, यन्त्रों तथा तकनीकों से नये उत्पाद का उत्पादन कर सकती है तो वह उत्पाद लागत कम होने के कारण नये उत्पाद प्रारम्भ कर सकती है।

(2) **ग्राहकों की क्रय-शक्ति अथवा माँग में परिवर्तन** (Change in Purchasing Power or Demand of the Customers)- यदि ग्राहकों की क्रय शक्ति में वृद्धि होने अथवा उनकी क्रय की आदतों या फैशन में परिवर्तन होने के कारण ग्राहकों की संख्या में वृद्धि होती है तो कम्पनी अपनी उत्पाद रेखा (पंक्ति) में एक या दो नये उत्पादों को जोड़ सकती है।

(3) **बाजार की माँग** (Market Demand)-विपणन मिश्रण को प्रभावित करने वाला सबसे महत्वपूर्ण घटक बाजार में उत्पाद की माँग है । यदि बाजार में किसी नये उत्पाद की माँग में निरन्तर वृद्धि हो रही है तथा उसकी लागत को देखते हुए उसका उत्पादन कम्पनी के लिए लाभप्रद है तो वह नये उत्पाद का उत्पादन प्रारम्भ कर देगी।

(4) **उत्पादन की मात्रा** (Quantity of Production) - उत्पादन की मात्रा भी विपणन मिश्रण को प्रभावित करती है। यदि कम्पनी नये उत्पादन का उत्पादन बड़ी मात्रा में करती है तो बड़ी मात्रा में उत्पादन होने के कारण प्राप्त होने वाली मितव्ययिताओं के परिणामस्वरूप उत्पादन में एक-दो नई मदों को सम्मिलित कर सकती है।

(5) **अवशेषों का उपयोग** (Use of Residuals)- कम्पनी अपने मुख्य उत्पाद के उत्पादन से प्राप्त अवशेषों का लाभपूर्ण उपयोग करके अपने मुख्य उत्पादों के साथ-साथ उप-उत्पादों का भी उत्पादन कर सकती है।

(6) **विज्ञापन तथा वितरण तत्व** (Advertising and Distribution Factors)- विज्ञापन तथा वितरण भी विपणन मिश्रण का महत्वपूर्ण घटक है। यदि कम्पनी का विज्ञापन तथा वितरण संगठन एक ही है तो वह अपनी उत्पाद रेखा में नवीन उत्पाद मदों को सम्मिलित कर सकती है। ऐसा करने से उसके विज्ञापन तथा वितरण व्ययों में विशेष वृद्धि नहीं होगी।

(7) **कम्पनी की ख्याति** (Goodwill of the Company)- यदि कम्पनी की ख्याति अच्छी है तो वह अपनी उत्पाद पंक्ति में एक या दो नये उत्पाद सम्मिलित कर सकती है।

(8) **विपणन क्षमता का पूर्ण उपयोग** (Full Utilisation of Marketing Capacity)- प्रति इकाई लागत व्यय कम करने के उद्देश्य से कम्पनी किसी अन्य वस्तु का भी उत्पादन कर सकती है जिससे वितरण विभाग की पूर्ण क्षमता का उपयोग हो सके।

(9) **प्रतियोगियों की क्रियाएँ तथा प्रतिक्रियाएँ** (Competitor's Actions and Reactions)- कम्पनी के प्रतियोगियों की क्रियाएँ तथा प्रतिक्रियाएँ भी विपणन मिश्रण को प्रभावित करती है। यदि कम्पनी यह अनुभव करती है कि वह अपनी उत्पाद रेखा में किसी नये उत्पाद को सम्मिलित करके अपने प्रतियोगियों की क्रियाओं अथवा प्रतिक्रियाओं का प्रभावी ढंग से सामना कर सकती है तो वह उक्त नये उत्पाद का उत्पादन प्रारम्भ कर सकती है।

(10) **कम्पनी की इच्छाओं में अन्तर** (Change in Company Desires)- कम्पनी के लाभों को बनाये रखने अथवा लाभों में वृद्धि करने की इच्छा भी अपनी कुछ अलाभकारी इकाइयों को बन्द करने अथवा नये उत्पाद का उत्पादन प्रारम्भ करने को प्रेरित कर सकती है।

NOTES

प्रश्न
(QUESTIONS)

दीर्घ उत्तरीय/निबन्धात्मक प्रश्न (Long Answer/Essay Type Questions)

1. विपणन मिश्रण क्या है? विपणन मिश्रण को प्रभावित करने वाले घटकों का वर्णन कीजिए।
2. विपणन मिश्रण की अवधारणा और प्रकारों को समझाइए।

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Type Questions)

1. विपणन मिश्रण के चलों का वर्गीकरण कीजिए । उनमें किसी एक का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
2. विपणन मिश्रण में परिवर्तन क्यों करना चाहिए?
3. विपणन मिश्रण का अर्थ बताइए।

●●●

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

12

विज्ञापन प्रबन्ध
(ADVERTISING MANAGEMENT)

विज्ञापन प्रबन्ध का अर्थ एवं परिभाषाएँ
(Meaning and Definitions of Advertising Management)

आज का युग विज्ञापन का युग है। इसके बिना आधुनिक व्यापार एवं उद्योग की उन्नति सम्भव नहीं है। आज तो प्रत्येक वस्तु का विज्ञापन किया जाता है। यहाँ तक कि अपने जीवन साथी की तलाश के लिए भी विज्ञापन किया जाता है, नौकरी देने या लेने के लिए विज्ञापन किया जाता है, चुनाव में विजय प्राप्त करने के लिए भी विज्ञापन किया जाता है। प्रातः आँख खोलने से रात्रि में बिस्तर पर लेटने तक विज्ञापन ही विज्ञापन दिखाई देगा। सारांश में, सारा युग विज्ञापन का युग बन गया है। बाजार क्षेत्र के विस्तृत हो जाने के कारण वृहत संचार आवश्यक हो गया है जिससे उचित लागत पर वृहत बाजारों तक पहुँचा जा सके; विज्ञापन भी वृहत संचार हेतु प्रयुक्त किया जाने वाला एक उपकरण ही तो है।

'विज्ञापन' शब्द 'वि' तथा 'ज्ञापन' शब्दों से मिलकर बना है। 'वि' का अर्थ 'विशेष' या 'विशिष्ट' से है और 'ज्ञापन' का अर्थ 'जानकारी देने' से है। इस प्रकार विज्ञापन का अर्थ विशेष या विशिष्ट जानकारी देने से है। अंग्रेजी भाषा में विज्ञापन के लिए 'Advertising' शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'Advertising' शब्द लेटिन के 'Adverto' शब्द का पर्यायवाची है। 'Ad' का अर्थ 'की ओर' तथा 'Verto' का अर्थ 'मोड़ना' है। इस प्रकार व्यावसायिक जगत में विज्ञापन का अर्थ दूसरी वस्तुओं तथा सेवाओं की ओर से अपनी वस्तुओं एवं सेवाओं की ओर ग्राहकों का ध्यान मोड़ने से किया जाता है।

वर्तमान में विज्ञापन का अर्थ केवल जानकारी देने तक ही सीमित नहीं है, बल्कि यह एक व्यापक संचार उपकरण माना जाता है जिसके द्वारा नवीन ग्राहकों का सृजन किया जाता है। विज्ञापन के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए अनेक विद्वानों ने परिभाषाएँ दी है जिनमें से कुछ प्रमुख परिभाषाएँ निम्न प्रकार है-

(1) **डॉ. बर्डन** (Dr. Burden) के शब्दों में, "विज्ञापन में सभी क्रियाएँ सम्मिलित की जाती हैं जिनके अनुसार दृश्य या मौखिक सन्देश जनता को सूचना देने के उद्देश्य से तथा उन्हें या तो किसी वस्तु को खरीदने के लिए प्रभावित करने हेतु या पूर्व निश्चित विचारों, संस्थाओं अथवा व्यक्ति के प्रति झुक जाने के उद्देश्य से सम्बोधित किये जाते है।"

(2) **बालिंग** (Bolling) के अनुसार, "विज्ञापन को वस्तु या सेवा की माँग उत्पन्न करने की कला कहा जा सकता है।"

(3) **व्हीलर** (Wheeler) के अनुसार, "विज्ञापन लोगों को क्रय करने के लिए प्रेरित करने के उद्देश्य से विचारों, वस्तुओं तथा सेवाओं का अवैयक्तिक प्रस्तुतीकरण है जिसके लिए भुगतान किया जाता है।"

(4) **अमेरिकन मार्केटिंग एसोसियेशन** (American Marketing Association) के अनुसार, "विज्ञापन एक परिचय प्राप्त प्रायोजक द्वारा अवैयक्तिक रूप से विचारों, वस्तुओं या सेवाओं को प्रस्तुत करने तथा संवर्द्धन करने का एक प्रारूप है जिसके लिए भुगतान किया जाता है।"

(5) **वुड** (Wood) के अनुसार, "विज्ञापन जानने, स्मरण रखने तथा कार्य करने की एक विधि है।"

(6) **शेल्डन** (Sheldon) के अनुसार, "विज्ञापन ऐसी व्यावसायिक शक्ति है जिसके अन्तर्गत मुद्रित शब्दों द्वारा विक्रय वृद्धि में सहायता मिलती है, ख्याति का निर्माण होता है तथा साख बढ़ती है।"

(7) **स्टार्च** (Starch) के अनुसार, "विज्ञापन प्रायः मुद्रण के रूप में किस प्रस्ताव का जनता के सम्मुख प्रस्तुतीकरण है जिससे वे उसके अनुसार कार्य करने को प्रेरित हों।"

NOTES

(8) **फ्रेंक प्रेसब्रे** (Frank Presbrey) के अनुसार, "विज्ञापन एक मुद्रित, लिखित शब्दों द्वारा व्यक्त या चित्रित विक्रय कला है। विज्ञापन का कार्य विज्ञापक की वस्तुओं का बेचना तथा जनता के मस्तिष्क को व्यक्तिगत एवं सामूहिक रूप से विज्ञापक के हित में प्रभावित करना होता है।"

(9) **लस्कर** (Lasker) ने "विज्ञापन को मुद्रण के रूप में विक्रय कला" कहा है।

(10) **डॉ. जोन्स** (Dr. Jones) के अनुसार, "विज्ञापन एक प्रकार की यन्त्र निर्मित बड़े पैमाने के उत्पाद की विधि है जो व्यक्तिगत विक्रेताओं के व्यक्तित्व एवं वाणी की पूरक है।"

(11) **मेसन** तथा **रथ** (Mason and Rath) के अनुसार, "विज्ञापन बिना वैयक्तिक विक्रयकर्ता के विक्रय कला है।"

इन परिभाषाओं के अध्ययन से निष्कर्षतया हम कह सकते है कि "विज्ञापन में आशय ऐसे दृश्य, लिखित या मौखिक अवैयक्तिक सन्देशों से है जिसमें एक निश्चित प्रायोजक (Indentified Sponsor) द्वारा उत्पादों, सेवाओं एवं विचारों के बारे में विज्ञापन के विभिन्न माध्यमों के द्वारा जनता को प्रेरित एवं सूचित किया जाता है।"

विज्ञापन की विशेषताएँ
(Characteristics of Advertising)

विज्ञापन के प्रमुख लक्षण अथवा विशेषताएँ निम्न है-

(1) विज्ञापन की **पुनरावृति** होती रहती है।

(2) विज्ञापन को स्पष्ट करने एवं प्रभावी बनाने हेतु **विभिन्न वाक्यों, रंगों** एवं **चित्रों** का उपयोग किया जा सकता है।

(3) विज्ञापन का उद्देश्य ग्राहकों को विज्ञापित सामग्री को **क्रय करने के लिए प्रेरित** करना है।

(4) विज्ञापन **विभिन्न माध्यमों** द्वारा किया जा सकता है।

(5) विज्ञापन सदैव **निश्चित विज्ञापक** द्वारा किया जाता है।

(6) विज्ञापक द्वारा इसके लिए **भुगतान** किया जाता है।

(7) विज्ञापन का **सन्देश लिखित, दृश्य अथवा मौखिक** हो सकता है।

(8) विज्ञापन सन्देश पहुँचाने का **व्यापक माध्यम** है जिससे सन्देश को बार-बार पहुँचाया जा सकता है।

(9) विज्ञापन द्वारा सन्देश **सार्वजनिक रूप में जन-साधारण** के पास पहुँचाया जाता है।

(10) विज्ञापन **सदैव अव्यक्तिगत** होता है अर्थात् कोई भी व्यक्ति आमने-सामने विज्ञापन नहीं करता है।

प्रचार का अर्थ
(Meaning of Publicity)

प्रचार के अन्तर्गत सूचनाओं, नीतियों, नियमों, सिद्धान्तो एवं समाचारों आदि को प्रसारित किया जाता है। इसका उद्देश्य जन-साधारण तक अपने विचारों को पहुँचाना है, चाहे वे उनके विचारों से प्रभावित हों अथवा नहीं। इसके लिए प्रचारक को कोई भुगतान नही करना पड़ता है अपितु यह तो निःशुल्क ही होता है। यह माँग में अव्यक्तिगत रूप में वृद्धि करता है। **अमेरिकन विपणन संस्थान** ने प्रचार की परिभाषा निम्न शब्दों में दी है, "किसी उत्पाद, सेवा अथवा व्यावसायिक इकाई की माँग को अव्यक्तिगत रूप से प्रोत्साहित करना तथा प्रकाशन माध्यम से अथवा रेडियो, टेलीविजन या रंगमंच पर अनुकूल प्रस्तुतीकरण करके जिसके लिए प्रचारक को भुगतान नहीं करना पड़ता है, उसके वाणिज्यिक रूप के बारे में महत्वपूर्ण सूचना दिये जाने को प्रचार कहते हैं।"

प्रचार तथा विज्ञापन में समानता (Similarities between Publicity and Advertising)

प्रचार तथा विज्ञापन में निम्न समानताएँ प्रकट होती हैं

1. दोनों को विभिन्न प्रकार के चित्रों, रंगों एवं कथनों आदि से चित्रित कर इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है कि आम जनता उसे देखने के लिए आकर्षित हो उठे।

2. दोनों ही अव्यक्तिगत है अर्थात् कहने वाला और सुनने वाला दोनों एक-दूसरे के आमने-सामने नहीं होते है।

3. प्रचार तथा विज्ञापन दोनों का मूलभूत उद्देश्य जन-साधारण का ध्यान आकर्षित कर अपनी ओर खीचना है।

NOTES

विज्ञापन और प्रचार में अन्तर (Difference between Advertisement and Publicity)

यद्यपि विज्ञापन तथा प्रचार में काफी सूक्ष्म अन्तर है किन्तु यह अग्र तालिका से पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है।

क्र.	अन्तर का आधार	विज्ञापन	प्रचार
1.	**प्रकृति**	विज्ञापन का स्वरूप अपील होती है।	प्रचार का स्वरूप समाचार होता है।
2.	**माध्यम**	विज्ञापन पत्र-पत्रिकाओं, रेडियो, टेलीविजन, डाक तथा सिनेमा आदि के माध्यम से किया जा सकता है।	प्रचार का माध्यम प्रेस होता है।
3	**सम्बन्ध**	विज्ञापन के कारण प्रचार स्वत: ही हो जाता है।	प्रचार से विज्ञापन होना आवश्यक नहीं है।
4	**पाठकों की संख्या**	विज्ञापन में पाठकों की संख्या प्रचार की तुलना में कम होती है।	प्रचार में पाठकों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक होती है।
5.	**व्यक्तिगत अथवा अव्यक्तिगत**	विज्ञापन सदैव अव्यक्तिगत ही होता है।	प्रचार व्यक्तिगत तथा अव्यक्तिगत दोनों प्रकार का हो सकता है।
6.	**नाम का होना**	इसमें विज्ञापनदाता का नाम स्पष्ट रूप में दिया गया होता है।	प्रचार में प्रचारक का नाम होना आवश्यक नहीं रहता है।
7.	**क्षेत्र**	विज्ञापन का क्षेत्र प्रचार की तुलना में सीमित होता है।	इसका क्षेत्र विज्ञापन की तुलना में व्यापक होता है।
8.	**सच्चाई**	इसमें प्रचार की तुलना में सच्चाई कम होती है।	इसमें विज्ञापन की तुलना में सच्चाई अधिक होती है।
9	**व्यय का भुगतान**	इसमें विज्ञापनदाता को विज्ञापन के व्यय का भुगतान करना पड़ता है।	प्रचार में प्रचारक को अपने पास से व्यय का भुगतान नहीं करना पड़ता है अर्थात् यह नि:शुल्क होता है।
10.	**उद्देश्य**	इसका उद्देश्य ग्राहक के मन में विज्ञापित वस्तु को खरीदने की इच्छा जाग्रत करना है।	प्रचार का उद्देश्य केवल विचारों को जन साधारण तक पहुँचाना है।

जन सम्पर्क
(Public relations)

किसी भी व्यावसायिक संगठन के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि वह जिस समाज में कार्यरत है, उस समाज के विभिन्न वर्गों से उसके मधुर सम्बन्ध हों। व्यावसायिक संगठन यह कार्य अपने जन सम्पर्क विभाग को सौपता है जो संस्था के वक्ता के रूप में कार्य करता है। जन सम्पर्क किसी भी संस्था का आँख, कान तथा मुँह होता है। संस्था के बारे में लोगों की क्या धारणा है, यह जन सम्पर्क विभाग आँखों से देखता है। लोग संस्था के बारे में क्या कहते हैं, यह जन सम्पर्क विभाग अपने कानों से सुनता है। संस्था द्वारा उन प्रतिक्रियाओं का कैसे उन्मूलन किया जाना है, वह जनता के सम्मुख प्रस्तुत करता है।

जन सम्पर्क विपणन का एक महत्वपूर्ण कार्य माना जाने लगा है। एक व्यावसायिक उपक्रम के प्रति ,ख्याति निर्माण की प्रक्रिया और जनता में अच्छी छवि बनाना ही जन सम्पर्क कहलाता है। इससे व्यवसाय संचालन हेतु अनुकूल वातावरण का सृजन होता है। जनता के चार प्रकार के समूह होते हैं :

1 ग्राहक (Customers), 2 अंशधारी (Shareholders),

3 कर्मचारी (Employees) एवं 4 समुदाय (Community)।

एक विपणनकर्ता को चाहिए कि वह उपर्युक्त सभी समूहों के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाये रखे। जन सम्पर्क से विज्ञापन को भी बल मिलता है, क्योंकि उत्पाद या सेवा की विश्वसनीयता वस्तु को लोकप्रियता में सहायक होती है। कम्पनी एवं उपभोक्ताओं के मध्य प्रभावी संचार की स्थिति तब तक नहीं बन सकती जब तक कि इन दोनों के मध्य पारस्परिक समझ एवं विश्वास की स्थिति न हो।

NOTES

अच्छे जन सम्पर्क निर्माण का कार्य जन सम्पर्क विभाग द्वारा किया जाता है जो संस्था के प्रवक्ता के रूप में कार्य करता है। जन सम्पर्क विभाग को एक संस्था की आँख, कान तथा मुँह कहा जा सकता है। संस्था के बारे में लोगों की क्या धारणा है, यह जन संपर्क विभाग आँखों से देखता है। संस्था द्वारा उन प्रतिक्रियाओं का कैसे उन्मूलन किया जाना है, यह जनता के सम्मुख प्रस्तुत करता है।

जनता के विभिन्न समूह ही संस्था के उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायक या बाधक सिद्ध होते हैं। एक अच्छी संस्था इस दिशा में आवश्यक कदम उठाती है और इन समूहों के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने का प्रयास करती है। अधिकांश संस्थाएँ इस कार्य हेतु जन सम्पर्क विभाग की स्थापना करती है। यह विभाग विभिन्न जन समूहों के साथ न केवल सम्पर्क बनाये रखता है, बल्कि आवश्यक सूचनाओं एवं संचार के माध्यम से संस्था की ख्याति निर्माण का भी कार्य करता है।

जन सम्पर्क का अर्थ एवं परिभाषाएँ
(Meaning and Definitions of Public Relations)

जन सम्पर्क से आशय किसी भी व्यावसायिक संगठन तथा जनता के बीच संचार सम्बन्धों से है। जनता का अमुक व्यावसायिक संगठन और उसके उत्पादों के बारे में क्या मत है, इस बात से व्यावसायिक संगठन को अवगत करे।

जन सम्पर्क की परिभाषाएँ (Definitions of Public Relations)-विभिन्न विद्वानों ने जन सम्पर्क की विभिन्न परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं। उनमें से कुछ प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं :

(i) **राबर्ट एस.कोल** के अनुसार, "जन सम्पर्क कार्य में वे क्रियाएँ आती है जो किसी संस्था की नीतियों तथा असफलताओं के सम्बन्ध में, बाहरी अथवा आन्तरिक व्यक्तियों को जानकारी देती है तथा उनकी सहानुभूति अर्जित करती हैं। इन क्रियाओं का उद्देश्य सूचनाओं का दोतरफा प्रवाह स्थापित करना होता है, ताकि प्रबन्धक सम्बन्धित व्यक्तियों की इच्छाओं व आवश्यकताओं को जान सकें तथा जनता को प्रबन्धकों की प्रतिक्रियाओं की जानकारी दी जा सकें।"

(ii) **डब्ल्यू. जे. स्टेण्टन** के अनुसार, "जन सम्पर्क किसी संगठन का व्यापक एवं समग्र संवाद-सम्प्रेषण प्रयास है जिसका उद्देश्य विभिन्न समूहों के दृष्टिकोण को उस संगठन के प्रति प्रभावित करना है।"

(iii) **फेंक जेफकिन्स** के अनुसार, "जन सम्पर्क में वे सभी आन्तरिक एवं बाह्य नियोजन संदेश सम्मिलित हैं जो एक संगठन एवं उसकी जनता के बीच विशिष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए आपसी समझबूझ से सम्बन्धित होते हैं।"

(iv) **ब्यूएल** के अनुसार, "जन सम्पर्क उन सभी क्रियाओं के लिए एक व्यापक शब्द है जो किसी कम्पनी या संस्था की ख्याति में सकारात्मक अभिवृद्धि करने के लिए की जाती है।"

"जन सम्पर्क किसी व्यावसायिक संगठन का एक महत्वपूर्ण विभाग है जो जनता एवं व्यावसायिक संगठन के मध्य संदेशों अथवा संवादों के माध्यम से सम्पर्क करता है, जनता के विचारों के बारे में व्यावसायिक संगठन को अवगत कराता है तथा अफवाह अथवा भ्रांति का उन्मूलन करके जनता के समक्ष सच्चाई को उजागर करता है।"

जन सम्पर्क की विशेषताएँ
(Characteristics of Public Relations)

(i) वह **विज्ञान तथा कला दोनों ही है।**

(ii) जन सम्पर्क का दिनों-दिन महत्व बढ़ने के कारण यह धीरे-धीरे पेशे का रूप धारण कर रहा है।

(iii) यह व्यावसायिक संगठन को सूचित करता है कि **जनता उसके बारे में क्या सोचती है।**

(iv) यह संस्था से सम्बन्ध वाले **विभिन्न व्यक्तियों, जैसे-ग्राहक, अंशधारी, ऋणपत्रधारी, कर्मचारीगण, सरकारी विभाग तथा समाचार-पत्रों आदि को संस्था के विषय में आवश्यक सूचनाएँ प्रदान करता है।**

(v) यह किसी भी **व्यावसायिक संगठन** का अभिन्न अंग है।

(vi) यह संस्था तथा उसके विभिन्न वर्गों के मध्य **आपसी सम्बन्ध कायम करने में सहायता प्रदान करता है।**

(vii) यह संस्था के प्रति लोगों में अनुकूल राय बनाता है एवं **उसे बनाये रखने में सहायता प्रदान करता है।**

(viii) इसका उद्देश्य जनता में व्यावसायिक संस्था और उसके **उत्पादों की ख्याति, प्रतिष्ठा एवं माँग में वृद्धि करना तथा अफवाहों एवं भ्रांतियों का उन्मूलन** करना है।

(ix) इसके माध्यम से **संदेशों अथवा संवादों अथवा संचार का विनिमय** होता है।

(x) यह व्यावसायिक संगठन तथा जनता के मध्य सम्पर्क की **द्विमार्गी प्रक्रिया** है।

जन सम्पर्क के उद्देश्य

(Objectives of Public relations)

जन सम्पर्क के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित है :

(1) **संस्था के विषय में लोगों में अनुकूल राय बनाना व उसे बनाये रखने में सहायता करना-** जन सम्पर्क विभाग का एक महत्वपूर्ण कार्य यह भी है कि वह जिन व्यक्तियों से संस्था का काम पड़ता रहता है, उनके मस्तिष्क में संस्था के विषय में अनुकूल राय अर्जित करे व बनाये रखे।

(2) **दूसरे व्यक्ति संस्था के विषय में क्या सोचते हैं, यह जानना-** जन सम्पर्क विभाग का दूसरा कार्य प्रबन्धकों को यह सूचित करना है कि बाह्य पक्षकार संस्था के विषय में क्या सोचते हैं।

(3) **संस्था के विषय में जानकारी देना-** जन सम्पर्क विभाग संस्था से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियों जैसे-ग्राहकों, अंशधारियों, सरकारी विभागों, कर्मचारियों, समाचार-पत्रों इत्यादि को संस्था के विषय में सूचनाएँ प्रदान करता है।

जन सम्पर्क विभाग के प्रमुख कार्य (Function of P. R. Department)-जन सम्पर्क विभाग द्वारा मूल रूप से निम्नलिखित पाँच क्रियाएँ की जाती हैं :

(i) **प्रबन्ध को सलाह देना-** जन सम्पर्क विभाग का कार्य जनता से सम्बन्धित मामलों में प्रबन्ध को आवश्यक परामर्श देना भी होता है। जन सम्पर्क विभाग का कार्य जनता के सभी वर्गों से होता है, अतः कम्पनी की स्थिति और छवि को ध्यान में रखते हुए जनता से सम्बन्धित मामलों में वह प्रबन्ध को उचित परामर्श देता है।

(ii) **लॉबी प्रचार** (Lobbying)-लॉबी प्रचार में जन सम्पर्क विभाग द्वारा विधायकों, सांसदों व सरकारी अफसरों के साथ सम्पर्क कर संस्था के हितों के अनुकूल आवश्यक कानून पारित कराने एवं ऐसे कानूनों को पास होने से रोकने के प्रयास किये जाते हैं जो कम्पनी अथवा संस्था के हितों के प्रतिकूल हों।

(iii) **कम्पनी का प्रचार-प्रसार-** इस क्रिया में ऐसे आन्तरिक एवं बाह्य संचार को सम्मिलित किया जाता है जिससे लोगों को कम्पनी के बारे में अधिकाधिक जानकारी प्रदान की जा सके।

(iv) **उत्पाद प्रचार-** (Product Publicity)-जन सम्पर्क विभाग द्वारा ऐसे सभी प्रयास किये जाते है जिससे संस्था के उत्पाद या उत्पादों का प्रचार हो। इससे उपभोक्ताओं को उत्पाद के गुणों या विशेषताओं की जानकारी होती है।

(v) **प्रेस सम्बन्ध** (Press Relations)-उसका उद्देश्य समाचार-पत्रों व मीडिया वालों को ऐसी सूचनाएँ उपलब्ध कराना होता है जिनके प्रकाशन एवं प्रसार द्वारा व्यक्ति, सेवा या संगठन के प्रति लोगों का ध्यान आकर्षित किया जा सके।

NOTES

व्यावसायिक संगठनों में जन सम्पर्क का महत्व
(Importance of Public relations in Business Organisations)

व्यावसायिक संगठनों में जन सम्पर्क के महत्व का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है :

(1) **संवर्द्धनात्मक कार्यक्रमों की जानकारी देना-**जन सम्पर्क विभाग व्यावसायिक विभाग के संवर्द्धनात्मक कार्यक्रमों की जानकारी देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

(2) **व्यावसायिक संगठन के कार्यों एवं नीतियों के प्रभावों का मूल्यांकन करने में सहायक-**एक स्वस्थ व्यावसायिक संगठन अपनी नीतियों तथा कार्यों के प्रभावों का निरन्तर मूल्यांकन करके अपनी सफलता को सुनिश्चित कर सकता है किन्तु इनके मूल्यांकन के लिए प्रभावकारी जन सम्पर्क होना आवश्यक है। जन सम्पर्क विभाग अपने संगठन की नीतियों एवं कार्यों के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं पर्यावरण आदि प्रभावों का विस्तृत अध्ययन करता है।

(3) **सरकार तथा व्यावसायिक संगठन के मध्य तालमेल बैठाना-**जन सम्पर्क सरकार तथा सम्बन्धित व्यावसायिक संगठन के मध्य तालमेल बैठाने में सक्रिय सहयोग करता है। यदि सत्ताधारी राजनीतिक पार्टी व सरकारी अधिकारियों से ठीक सम्बन्ध रखे जायें तो संस्था के व्यापार के विरुद्ध बनने वाले अवांछित कानूनों को रोका जा सकता है तथा अपने व्यापार के लिए अधिक सुविधाएँ तथा कर व उत्पादन शुल्क इत्यादि में वांछनीय रियायतें प्राप्त की जा सकती है।

(4) **प्रबन्धकों तथा कर्मचारियों के मध्य स्वस्थ सम्बन्धों के निर्माण में सहायता प्रदान करना-**जन सम्पर्क विभाग प्रबन्धकों तथा संस्था में कार्यरत स्वस्थ सम्बन्धों के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान देता है। यह संस्था में कार्यरत कर्मचारियों की उदासीनताओं, शिकायतों, समस्याओं, शंकाओं आदि के सम्बन्ध में समुचित जानकारी प्रबन्धकों को प्रदान करता है, उसके समाधान में सक्रिय सहयोग देता है तथा उनका समाधान होने पर कर्मचारियों को सूचित तथा सन्तुष्टि प्रदान करने का पूर्ण प्रयास करता है।

(5) **उपभोक्ताओं को सूचित करना तथा प्रशिक्षित करना-**जन सम्पर्क विभाग व्यावसायिक संगठनों द्वारा निर्मित किये जाने वाले विभिन्न उत्पादों के बारे में उपभोक्ताओं को सूचित करता है तथा उनका लाभप्रद उपयोग कैसे किया जाय, इस बारे में उपभोक्ताओं को प्रशिक्षित करता है।

(6) **ग्राहकों की शिकायतों एवं समस्याओं का निवारण करना-**किसी भी व्यावसायिक संगठन की प्रगति उसके ग्राहकों की सन्तुष्टि पर निर्भर करती है अतएव एक आधुनिक एवं प्रगतिशील व्यावसायिक संगठन ग्राहक सन्तुष्टि को सर्वोच्च प्राथमिकता देता है। यह तभी सम्भव है जबकि वह ग्राहकों की शिकायतों एवं समस्याओं को सुने तथा उनका तत्काल निवारण करे।

(7) **परिवर्तनों की जानकारी प्रदान करना-**आधुनिक व्यावसायिक जगत का एक महत्वपूर्ण लक्षण उसकी क्रियाओं में परिवर्तन होता है, जैसे-व्यापारिक नीतियों में परिवर्तन, उत्पादों की किस्म में परिवर्तन, बाजार व्यूहरचना में परिवर्तन, क्रियाओं में परिवर्तन आदि। जन सम्पर्क विभाग इन परिवर्तनों के बारे में जन साधारण को सूचित करता है।

(8) **विभिन्न जन समूहों में सम्पर्क-**एक व्यावसायिक संगठन में जन सम्पर्क का महत्वपूर्ण कार्य विभिन्न सम्बन्धित जन-समूहों, जैसे-ग्राहक संघ, श्रम संघ, व्यापार संघ, सरकारी तन्त्र, नागरिक संघ आदि से सम्पर्क स्थापित करना, उनके विचारों एवं समस्याओं की जानकारी प्रदान करना तथा प्रबन्ध के सक्रिय सहयोग से उनके प्रश्नों, शंकाओं एवं समस्याओं का समाधान करना तथा सन्तुष्टि प्रदान करना है।

(9) **संस्था की ख्याति में वृद्धि करना-**जन सम्पर्क संस्था की ख्याति में वृद्धि करने में सक्रिय सहयोग करता है। यह संस्था की प्रगति, विक्रय वृद्धि, लाभों में वृद्धि, नवीन एवं आधुनिक संयन्त्रों की उत्पादकता, किस्म में सुधार, प्रतियोगी मूल्य नीति आदि के सम्बन्ध में सूचनाएँ प्रसारित करके संस्था की ख्याति में वृद्धि करने में सहायक है।

(10) **संस्था तथा उसके उत्पादों के बारे में उत्पन्न अफवाहों तथा भ्रान्तियों के उन्मूलन में सहायक-**जन सम्पर्क विभाग का सबसे अधिक महत्वपूर्ण योगदान प्रतियोगियों, रूठे हुए दुकानदारों एवं ग्राहकों आदि द्वारा संस्था तथा उसके उत्पादों के बारे में विभिन्न प्रकार की जो भ्रान्तियाँ एवं अफवाहें फैला दी जाती हैं, उनका प्रभावी ढंग से उन्मूलन करने में सक्रिय सहयोग प्रदान करता है।

(11) **विविध** (i) संस्था के विचारों के प्रति जन समर्थन जुटाता है। (ii) आवश्यकता पड़ने पर जन सम्पर्क व्यावसायिक संगठन का प्रतिनिधित्व करता है। (iii) संकटकाल, जैसे-हड़ताल होने, कोई हादसा हो जाने, माल के वितरकों द्वारा अचानक माल का वितरण बन्द कर देने की स्थिति में यह ग्राहकों को विज्ञप्तियों, सूचनाओं, प्रसारणों आदि के माध्यम से वास्तविक स्थिति से अवगत कराता है। (iv) उत्पादों का प्रचार एवं माँग में वृद्धि करने में सहायक। (v) उत्पादों की आपूर्ति में कमी के कारणों को स्पष्ट करने में सहायक।

NOTES

विज्ञापन प्रबन्ध के उद्देश्य
(Objectives of Advertising Management)

श्री एस.आर. डावर के अनुसार, "विज्ञापन का उद्देश्य उत्पादक को लाभ पहुँचाना, उपभोक्ता को शिक्षित करना, विक्रेता की सहायता करना, प्रतिस्पर्द्धा को समाप्त कर व्यापारियों को अपनी ओर आकर्षित करना और सबसे अधिक तो उत्पादक और उपभोक्ता के बीच सम्बन्ध स्थापित करना है।" **श्री ई.एफ.एल.ब्रेच** के अनुसार, "विज्ञापन का उद्देश्य उत्पादन और वितरण लागत में कमी करना है।" इस प्रकार विज्ञापन के विविध उद्देश्य निम्नलिखित है :

(1) **उत्पादन एवं विपणन लागतों का घटाना** (To Reduce the Production and Marketing Costs)-विज्ञापन का एक उद्देश्य उत्पादन एवं विपणन व्ययों में कमी करना है। यह उद्देश्य विज्ञापित वस्तुओं की माँग बढ़ाकर बड़ी मात्रा में उत्पादन करना सम्भव बनाकर प्राप्त किया जा सकता है।

(2) **नकली वस्तुओं के प्रति सावधान करना** (To Make Cautions)-विज्ञापन का एक उद्देश्य जन-साधारण एवं व्यापारियों को नकली तथा स्थानापन्न वस्तुओं के प्रति सावधान करना है।

(3) **संदेह एवं भ्रमपूर्ण विचारों से दूरी बनाना** (To Remove Doubts and Confusion)-विज्ञापन का एक उद्देश्य विज्ञापित वस्तुओं की बिक्री के मार्ग में उत्पन्न होने वाले गलत एवं भ्रामक विचारों को दूर करना है। यह विज्ञापित वस्तु की लोकप्रियता बनाने के लिए परम आवश्यक है।

(4) **प्रभावी विज्ञापन व्यवस्था से विज्ञापनदाता की ख्याती में वृद्धि** (To Increase the Goodwill of the Advertise)-विज्ञापन का उद्देश्य विज्ञापक की ख्याति में वृद्धि करना भी है। निरन्तर वस्तुओं के बारे में सही एवं प्रभावी विज्ञापन करने से ही ग्राहकों के मन में विश्वास उत्पन्न होता है और विज्ञापक की ख्याति में वृद्धि होती है।

(5) **प्रतियोगिता का सफलतापूर्वक सामना** (To Eliminate the Competition Successfully)-विज्ञापन का एक उद्देश्य भावी प्रतिस्पर्द्धा को सफलतापूर्वक समाप्त करना भी है। प्रतिस्पर्द्धा करने वाली वस्तुओं की तुलना में अपनी वस्तुओं की श्रेष्ठता का ज्ञान विज्ञापन द्वारा ही कराया जा सकता है।

(6) **विक्रेता को सहायता देना** (To Supplement Salesmen)-विज्ञापन भावी ग्राहकों को अभिप्रेरित करके विक्रेताओं के पास पहुँचाता है और इस प्रकार विक्रेताओं के बिक्री प्रयत्न को सुगम एवं सहज बनाता है।

(7) **उपभोक्ता को उत्पाद से संबंधित जानकारी प्रदान करना**-विज्ञापन का उद्देश्य उपभोक्ता को शिक्षित करना भी है। विज्ञापन द्वारा उपभोक्ताओं को विज्ञापित वस्तु की उपलब्धता, पहचान तथा उसके प्रयोग के बारे में आवश्यक जानकारी प्रदान की जाती है।

(8) **माँग एवं पूर्ति का संतुलन बनाए रखना**-विज्ञापन का उद्देश्य न केवल माँग उत्पन्न करना है अपितु उत्पन्न माँग का पोषण करना भी है।

(9) **नये-नये बाजारों का सृजन एवं विकास करना** (To Create and Develop New Markets)-विज्ञापन का एक उद्देश्य नये-नये बाजारों का सृजन करना एवं उनका विकास करना भी है। विज्ञापन द्वारा नये बाजारों में प्रवेश करना एवं उनका विकास करना सरल होता है।

(10) **विक्रय वृद्धि करना** (To Increase Sales)-विज्ञापन का उद्देश्य विक्रय वृद्धि करना है। व्यापारी सदैव विक्रय वृद्धि करना चाहता है अत: इसी उद्देश्य से वह अपनी वस्तुओं का विज्ञापन करता है।

(11) **नवनिर्मित वस्तुओं अथवा सेवाओं की जानकारी देना** (To Introduce New Products or Services)-लोगों को किसी नवनिर्मित वस्तु अथवा सेवा की बाजार में विद्यमानता की जानकारी देना एवं उन्हें आकर्षित करके माँग उत्पन्न करना विज्ञापन का प्रमुख उद्देश्य है।

NOTES

(12) **अन्य उद्देश्य**-(i) वर्तमान बाजार को बनाये रखना, (ii) विज्ञापक की कठिनाइयों एवं समस्याओं से जन-साधारण को अवगत कराना तथा अपना दृष्टिकोण उनके समक्ष प्रस्तुत करना, (iii) संस्था को प्रगति एवं सफलता से जन-साधारण को अवगत करना, (v) वस्तुओं का चयन सुविधाजनक बनाना, (vi) विज्ञापक तथा उपभोक्ताओं में सम्बन्ध स्थापित करना, (vii) उन लोगों तक पहुँचाना जिन तक विक्रेता नहीं पहुँच सके, (viii) विज्ञापित वस्तुओं के विक्रय के लिए मध्यस्थ प्राप्त करना।

विज्ञापन प्रबन्ध के कार्य

(Functions of Advertising Management)

अध्ययन में सुविधा की दृष्टि से विज्ञापन के कार्यों का वर्गीकरण निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है।

(I) वाणिज्यिक कार्य (Commercial Functions)

(1) **परिवर्तनों के बारे में सूचना देना**-निर्माताओं को उपभोक्ताओं की अभिरुचियों तथा बाजार की परिस्थितियों के अनुसार वस्तुओं एवं नीतियों में समय-समय पर आवश्यक परिवर्तन करने पड़ते है। विज्ञापन के माध्यम से सीधे उपभोक्ताओं को इन परिवर्तनों से अवगत कराया जाता है।

(2) **नये बाजारों की खोज करना**-विज्ञापन का कार्य नये बाजारों की खोज करना एवं उनका विकास करना भी है। विज्ञापन उन क्षेत्रों के लोगों को भी वस्तुओं की जानकारी देता है जहाँ पर पहले उक्त वस्तु का प्रयोग नहीं होता था।

(3) **मध्यस्थों की प्राप्ति**-विज्ञापन का कार्य मध्यस्थों की प्राप्ति करना भी है। जब किसी नवीन वस्तु का विज्ञापन होता है तो मध्यस्थ उसे क्रय करने अथवा एजेन्सी लेने के लिए स्वत: ही उत्पादक अथवा निर्माता से सम्पर्क स्थापित करते हैं।

(4) **ग्राहकों की शंका का समाधान करना**-विज्ञापन का कार्य ग्राहकों को सन्तुष्टि प्रदान करना है तथा संशय एवं भ्रामक विचारों का उन्मूलन करना है।

(5) **विक्रय के अवरोधों को दूर करना**-विज्ञापन का कार्य विक्रय की बाधाओं को दूर करना भी है। विज्ञापन के माध्यम से वस्तु के विपक्ष में फैलाये गये मिथ्या प्रचार का खण्डन किया जा सकता है; स्थानापन्न वस्तुओं को हतोत्साहित किया जा सकता है।

(6) **वस्तु के प्रति ग्राहकों की रुचि बनाये रखना**-विज्ञापन का कार्य विज्ञापित वस्तु के प्रति ग्राहकों की रुचि निरन्तर बनाये रखना है। विज्ञापित वस्तु के गुणों का प्रचार बार-बार किये जाने से ग्राहकों की रुचि कम नहीं होती।

(7) **उपभोग में वृद्धि**-विज्ञापन का कार्य विज्ञापित वस्तु के उपभोग में निरन्तर वृद्धि करना है।

(8) **बिक्री का बीमा**-विज्ञापन एक प्रकार का विक्रय बीमा है। लगातार विज्ञापन होते रहने से वस्तु के प्रति जनता के मस्तिष्क में आसक्ति उत्पन्न हो जाती है और फिर वे किसी अन्य वस्तु के क्रय के बारे में सोचते भी नहीं है।

(9) **मध्यस्थों की सहायता करना**-वस्तुओं का निरन्तर विज्ञापन होते रहने से जनता को पहले से ही उनके बारे में पर्याप्त जानकारी हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप मध्यस्थों (थोक एवं फुटकर व्यापारियों) का कार्य सरल हो जाता है।

(10) **विक्रय में वृद्धि करना**-विज्ञापन का प्रमुख कार्य नवीन ग्राहकों की संख्या में वृद्धि करके, वस्तु के नवीन उपयोग प्रचलित करके, वस्तु का मोह बनाए रखकर विक्रय की मात्रा में **वृद्धि** करना है।

(II) सामाजिक कार्य (Social Functions)

(1) **रोजगार के अवसर में वृद्धि**-विज्ञापन समाज में अनेक कलाकारों, मुद्रकों आदि के लिए प्रत्यक्ष तथा उत्पादन एवं उपभोग वृद्धि प्रोत्साहित करके श्रमिकों के लिए अप्रत्यक्ष रूप में रोजगार के अवसरों को बढ़ाता है।

(2) **आशावादी वातावरण**-विज्ञापन का कार्य समाज में आशावादी वातावरण उत्पन्न करने में सहायता प्रदान करना है। विज्ञापन का कार्य लोगों में नई-नई वस्तुओं के प्रयोग करने की इच्छा जाग्रत करके करता है।

(3) **सामाजिक ज्ञान में वृद्धि करना**-विज्ञापन नई-नई वस्तुओं की जानकारी देकर समाज के ज्ञान में वृद्धि करता है।

(4)**जीवन-स्तर में सुधार**-विज्ञापन नई-नई वस्तुओं की उपयोगिता की जानकारी प्रदान करके मानव के जीवन-स्तर में सुधार लाता है एवं उसे सुखमय बनाता है। उदाहरणार्थ, फ्रिज, कूलर, टेलीविजन आदि के विज्ञापन।

(5) **अन्य सामाजिक कार्य**- (i) सामाजिक भलाई की योजनाओं को सफल बनाने में सहायक, (ii) उपभोक्ताओं को महत्वाकांक्षी बनाना, (iii) स्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा बनाये रखने में सहायता देना, (iv) सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना (जैसे-विवाह एवं नौकरी के विज्ञापन)।

(iii) मनोवैज्ञानिक कार्य (Psychological Functions)

(1) **उपभोक्ताओं को स्मरण कराना**-बार-बार विज्ञापन करने से उपभोक्ताओं को विज्ञापित वस्तु के सम्बन्ध में स्मरण कराया जाता है।

(2) **कार्य करने की प्रेरणा देना**-विज्ञापित वस्तु को खरीदने के लिए लोगों को अधिक से अधिक कार्य करने की प्रेरणा मिलती है।

(3) **ध्यानाकर्षण करना**-विज्ञापन का एक महत्वपूर्ण कार्य ध्यानाकर्षण करना है। इस कार्य के लिए उचित स्थान, उचित रंगों का समन्वय एवं उचित साधनों का उपयोग किया जाता है।

(4) **वस्तु के प्रति विश्वास उत्पन्न करना**-किसी वस्तु का बार-बार विज्ञापन करने से जनता का उस वस्तु के प्रति विश्वास बढ़ जाता है।

(iv) आर्थिक कार्य (Economic Functions)

(1) **वस्तु की किस्म पर नियन्त्रण**-जब विज्ञापित वस्तु की किस्म एवं उसके ऊँचे स्तर पर निरन्तर प्रचार किया जाता है तो निर्माता उसकी किस्म को बनाये रखने का प्रयत्न करता है।

(2) **उत्पादन एवं उत्पादकता दोनों में वृद्धि करना**-विज्ञापन से विक्रय की मात्रा में तीव्र गति से वृद्धि करना सम्भव हो जाता है।

(3) **विक्रय व्ययों में कमी**-विज्ञापन के कारण विक्रय व्ययों में पर्याप्त कमी करना सम्भव हो जाता है।

(4) उपभोक्ता के हित के कार्य।

विज्ञापन के सिद्धान्त

(Principles of Advertising)

श्री आर.एच. बुसकिर्क के शब्दों में, "विज्ञापन का मूलभूत सिद्धान्त यह बताता है कि सही माध्यम द्वारा सन्देश लेकर उसे सही लोगों तक सही समय पर पहुँचाया जाय।" विज्ञापन के प्रमुख सिद्धान्तों का वर्णन निम्न प्रकार से किया जा सकता है :

(1) **समझने योग्य** (Understandable)-विज्ञापन ऐसा हो जो जन-साधारण की समझ में सरलता से आ जाय। इसकी भाषा, शीर्षक, चित्र आदि सरल होना चाहिए।

(2) **आकर्षक चित्रों का उपयोग** (Use of Attractive Pictures)-सम्भावित ग्राहकों को आकर्षित करने एवं वस्तु की कल्पना करने में सहयोग देने के लिए विज्ञापन में प्रभावी चित्रों का उपयोग कीजिए।

(3) **विज्ञापन सृजनात्मक हो** (Advertising must be Creative) विज्ञापन सृजनात्मक होना चाहिए जो ग्राहकों को सृजन करने में समर्थ हो सके। इसमें नये-नये ग्राहकों का सृजन करने की क्षमता होनी चाहिए।

(4) **इच्छा उत्पत्ति** (Creating Desire)-इच्छा को उत्पन्न करने एवं उसे बनाये रखने के लिए विज्ञापन में मनुष्य की विभिन्न प्रवृत्तियों को उत्तेजित करने का गुण आवश्यक है। ये विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियाँ-सुरक्षा प्रवृत्ति, खाद्य प्रवृत्ति, वस्त्र प्रवृत्ति, आखेट प्रवृत्ति, संचय प्रवृत्ति, पैतृक प्रवृत्ति, कौतूहल प्रवृत्ति, बैठे से बेगार भली प्रवृत्ति आदि हैं।

(5) **ध्यानाकर्षण का गुण** (Attractive Attention)-विज्ञापन का सिद्धान्त इसका आकर्षक एवं प्रभावी शीर्षक होना चाहिए, ताकि जन-साधारण का ध्यान सरलता से विज्ञापन की ओर आकर्षित किया जा सके।

(6) **रुचि उत्पन्न करना** (Arouse Interest)-विज्ञापन का सिद्धान्त सम्भावित ग्राहकों के मन में वस्तु के प्रति रुचि उत्पन्न करना एवं उसे खरीदने के लिए लालायित करना है। रुचि उत्पन्न करने के लिए सम्भावित ग्राहकों की रुचियों एवं हितों को ध्यान में रखकर ही विज्ञापन प्रतिलिपि तैयार की जानी चाहिए।

NOTES

(7) **वस्तु को रखने में गर्व व प्रसन्नता का अनुभव** (Feeling Pride of Possession)-विज्ञापन द्वारा यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि विज्ञापित वस्तु को रखने में आपको किस प्रकार के गर्व व प्रसन्नता का अनुभव होगा।

(8) **वस्तु की नवीनता को प्रकट करना** (Demonstrate the Novelty of Your Product)-विज्ञापन ऐसा हो जिससे वस्तु का नयापन प्रकट हो तभी सम्भावित ग्राहक उसे खरीदने के लिए उत्सुक होगा।

(9) **उपयोगिता सिद्ध करना** (Prove Utility)-विज्ञापनदाता को विज्ञापन के माध्यम से वस्तु की उपयोगिता को सिद्ध करने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए, ताकि सम्भावित ग्राहक उसे खरीदने के लिए प्रेरित हो।

(10) **भावी ग्राहकों को सदैव ध्यान में रखिये** (Know Your Prospects)-विज्ञापन का प्रमुख सिद्धान्त यह है कि विज्ञापन देते समय सम्भावित अथवा भावी ग्राहकों को सदैव ध्यान में रखिये। ग्राहकों की दृष्टि से ही विज्ञापन किया जाना चाहिए क्योंकि इसका प्रमुख लक्ष्य ग्राहकों को क्रय करने के लिए आकर्षित करके उन्हें माल का विक्रय करना होता है।

(11) **अन्य सिद्धान्त**-उपरोक्त सिद्धान्तों के अतिरिक्त प्रभावी विज्ञापन के निम्नलिखित सिद्धान्त भी है- (i) समय एवं स्थान के अनुसार विज्ञापन किया जाना, (ii) सेवा तत्व निहित होना, (iii) वस्तु की किस्म पर जोर दिया जाना, (iv) भावी ग्राहकों की समस्या को समझना तथा उनके अनुसार विज्ञापन किया जाना, (v) विज्ञापन की प्रतिलिपि में विभिन्न रंगों का उपयोग होना, (vi) वस्तु का बराबर विज्ञापन किया जाना आदि।

विज्ञापन के लाभ

(Advantages of Advertising)

आधुनिक युग विज्ञापन का युग है। **बाट्सन डून** के अनुसार, "जहाँ कहीं हम हैं, विज्ञापन हमारे साथ है।" इसकी उपयोगिता किसी एक वर्ग अथवा क्षेत्र विशेष के लिए न होकर समूचे समाज के लिए है।

अध्ययन में सुविधा की दृष्टि से विज्ञापन के लाभों को निम्नलिखित चार भागों में विभाजित किया जा सकता है:

(I) उत्पादकों अथवा निर्माताओं को लाभ (Advantages to Producers or Manufacturers)

(1) **उत्पादन में वृद्धि एवं गति**-विज्ञापन द्वारा वस्तुओं की माँग में वृद्धि होती है और इस प्रकार ये बड़ी मात्रा में बिकने लगती है। इस विक्रय वृद्धि के कारण उत्पादन अधिकाधिक गति से होने लगता है और उत्पादकों अथवा निर्माताओं का लाभ बढ़ जाता है।

(2) **वस्तुओं के लिए स्थायी माँग**-विज्ञापन में एक ऐसी चुम्बकीय शक्ति है जिसके द्वारा किसी वस्तु की माँग को स्थायी रखा जा सकता है। उदाहरणार्थ, चाय को ही लीजिए। समाचार-पत्रों में इस प्रकार का विज्ञापन निकला करता है-"बुक बॉण्ड चाय पीजिये, यह गर्मियों में ठण्डक एवं जाड़ों में गर्मी पहुँचाती है।"

(3) **विशिष्टीकरण का लाभ**-विज्ञापन के परिणामस्वरूप उपभोक्ता वर्ग एक विशिष्ट प्रकार के माल का उपभोग करने का आदी हो जाता है। अतः उत्पादक या निर्माता को अन्य प्रकार की वस्तुओं के उत्पादन अथवा निर्माण में अपना समय तथा पूँजी नष्ट करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

(4) **उत्पादन लागत एवं वितरण व्यय में कमी**-विज्ञापन के होने से वस्तु की माँग में वृद्धि होती है जिसके फलस्वरूप बड़ी मात्रा में उत्पादन सम्भव हो जाता है। अर्थशास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार बड़ी मात्रा में उत्पादन के परिणामस्वरूप उत्पादन-व्यय प्रति इकाई कम हो जाता है।

(5) **लाभों में वृद्धि**-विक्रय में वृद्धि तथा उत्पादन व्यय अथवा वितरण व्यय में कमी होने से उत्पादकों के लाभों में वृद्धि होती है। **सर विन्सटन चर्चिल** (Sir Winston Churchill) के अनुसार, "विज्ञापन के बिना टकसाल के अतिरिक्त कोई भी धन की उत्पत्ति नहीं कर सकता है।"

(6) **थोक तथा फुटकर कीमतों में कमी**-उत्पादन-व्यय में कमी हो जाने के कारण वे अपने माल को कम कीमत में थोक विक्रेता को बेचने के लिए सहमत हो जाते हैं, अतः थोक व्यापारी भी फुटकर व्यापारी को कम कीमत पर माल देने को तत्पर हो जाता है। इसका कारण यह है कि थोक व्यापारी का सिद्धान्त प्रायः "कम लाभ पर किन्तु बड़ी मात्रा में विक्रय करना होता है।"

(7) **वस्तु के प्रति विश्वास**-जब विज्ञापन की प्रथा न थी, तब विक्रेता अपने क्वालिटी बताने की योग्यता

पर अब से बहुत अधिक निर्भर था। सामान्य उपभोक्ता के लिए यह बताना सम्भव नहीं था कि वह असली सोना खरीद रहा है या नकली। जिन वस्तुओं का सम्पूर्ण रूप से विज्ञापन होता है, उनका खरीददार अपने पिछले अनुभव के कारण यह विश्वास करता है।

(8) **वितरण कार्य को आसान करना**-विज्ञापन वस्तुओं के लिए बाजार का निर्माण कर उत्पादकों के लिए वितरण कार्य सरल बना देता है। मध्यस्थ व्यापारी विज्ञापन से प्रभावित होकर स्वयं अपनी ओर से अपनी सेवाएँ माल बेचने के लिए प्रस्तुत करने हेतु तत्पर हो जाते है।

(9) **व्यवसाय की ख्याति में वृद्धि**-विज्ञापन द्वारा 'प्रसिद्धि' होती है जिसके परिणामस्वरूप व्यवसाय की ख्याति निःसन्देह बढ़ती है। इससे व्यापारी को भारी आर्थिक लाभ होते है।

(10) **उत्तम प्रमाप की स्थापना किया जाना**-अच्छा विज्ञापन उत्तम प्रमाप कायम करता है क्योंकि अच्छा विज्ञापन अच्छी वस्तुओ के सम्बन्ध में ही सफल हो पाता है। लोग प्राय: 'ब्राण्ड' के नाम से वस्तुओं का क्रय करते हैं क्योंकि इस सम्बन्ध में उनका यह विश्वास रहता है कि उनको उस 'ब्राण्ड' के अन्तर्गत अच्छी किस्म का माल ही मिलेगा।

(11) **अस्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा की समाप्ति**-सामूहिक विज्ञापन द्वारा अस्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा का विनाश किया जा सकता है तथा पर्याप्त बचत की जा सकती है।

(12) **नव निर्मित वस्तुओं की माँग उत्पन्न करना एवं वृद्धि करना**-विज्ञापन में वह चुम्बकीय शक्ति होती है जिसके फलस्वरूप उपभोक्ताओ की रुचि में परिवर्तन हो जाता है, वे पुरानी वस्तु को छोड़कर नव-निर्मित एवं विज्ञापित वस्तुओं का उपयोग करने लगते है।

(13) **अन्य लाभ** (i) **व्यवसाय का विकास**-विज्ञापन सम्पूर्ण व्यवसाय के विकास में महत्वपूर्ण योगदान देता है। (ii) **वस्तुओं में परिवर्तन की सूचना**-विज्ञापन द्वारा निर्माता वस्तुओ में परिवर्तन की सूचना यथाशीघ्र दे सकता है। (iii) **प्रबन्धकों एवं श्रमिकों को प्रेरणा**-प्रबन्धक और श्रमिक सदैव इस बात का प्रयास करते रहते हैं कि वस्तु विज्ञापित गुण के अनुरूप हो।

(II) मध्यस्थों को लाभ (Advantages to Middlemen)

उत्पादक और उपभोक्ता दोनों के बीच में सम्पर्क स्थापित कराने वाले अनेक मध्यस्थ होते है जिन्हे विज्ञापन से निम्नलिखित लाभ हैं :

(1) **घातक प्रतिस्पर्द्धा का अन्त**-अच्छी विज्ञापित वस्तु के मूल्यों पर निर्माता का नियन्त्रण रहता है, अत: बाजार से अस्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा का अन्त हो जाता है।

(2) **जोखिम से सुरक्षा**-विज्ञापन के कारण मध्यस्थों के पास संग्रहीत माल की बिक्री शीघ्रता से हो जाती है अत: उनके पास अधिक समय तक माल स्टॉक में पड़ा नहीं रहता है।

(3) **विक्रय कार्य में आसानी**-विज्ञापन विक्रेता के लिए पृष्ठभूमि तैयार करता है। जब विक्रेता अपने ग्राहक से मिलता है तो उसे वस्तु के बारे में प्रारम्भिक जानकारी नहीं देनी पड़ती क्योंकि विज्ञापन के होने से ग्राहक को स्वत: विज्ञापित वस्तु के बारे में पहले से ही जानकारी हो जाती है।

(4) **उत्पादकों से सम्पर्क**-विज्ञापन के माध्यम से मध्यस्थ निर्माताओं अथवा उत्पादकों से सम्पर्क में आ जाते हैं। इसी कारण थोक व्यापारी द्वारा विज्ञापन किये जाने से फुटकर व्यापारी उससे सम्बन्ध स्थापित करते है।

(5) **माल उपलब्धि की सूचना**-विज्ञापन द्वारा मध्यस्थ अपने ग्राहकों को माल उपलब्धि की सूचना दे सकते हैं।

(6) **मूल्यों में स्थायित्व**-विज्ञापन के कारण वस्तुओं के मूल्यों में स्थायित्व-सा आ जाता है। प्राय: सारे बाजार में मूल्य एकसमान हो जाते है, अत: मध्यस्थो को ग्राहकों से मूल्यों के बारे में माथा-पच्ची करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है।

(7) **जीविका का स्थायी साधन**-विज्ञापन से वस्तुओं की माँग में वृद्धि होने के बाद उसमे स्थायित्व आ जाता है। परिणामस्वरूप उनकी जीविका के साधन भी स्थायी हो जाते है।

(8) **विक्रेताओं की सहायता**-**प्रो. नाइस्ट्रोम** के अनुसार, "विज्ञापन विक्रेताओं के लिए मार्ग तैयार करता है।" विज्ञापन न केवल विक्रेताओं के मार्ग में होने वाली बाधाओं को दूर करता है अपितु आदेश प्राप्त करने एवं विक्रय वृद्धि में महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान करता है।

NOTES

NOTES

(iii) उपभोक्ताओं को लाभ (Advantages to Consumers)

(1) **महत्वाकांक्षी बनाना**-विज्ञापन उपभोक्ताओं को महत्वाकांक्षी बनाता है। उपभोक्ता विज्ञापित वस्तु को क्रय करने के लिए अधिक से अधिक परिश्रम करने के लिए तत्पर हो जाते है। **डब्ल्यू. डी. मोरियारीटी** के अनुसार, "एक फोनोग्राफ या प्यानो या मोटरगाड़ी प्राप्त करने की इच्छा ने बहुत-से व्यक्तियों को अधिक मेहनत तथा अधिक समय तक कार्य करने अथवा जहाँ अधिक लाभ हो, वहाँ कार्य ढूँढ़ने के लिए बाध्य किया है।"

(2) **चयन में सुविधा**-अमेरिकन विज्ञापन विशेषज्ञों के अनुसार, "विज्ञापन ग्राहकों को बुद्धिमत्तापूर्ण क्रय करने में सहायता प्रदान करता है।" इसके द्वारा ग्राहक सही समय पर, सही स्थान से, सही वस्तु का चयन करने मे समर्थ होते है।

(3) **उत्पाद की गुणवत्ता में सुधार**-विज्ञापन न केवल विक्रय वृद्धि में सहायक है अपितु प्रतिस्पर्द्धा का सामना करने के लिए उत्पादकों अथवा निर्माताओं को उत्पाद की किस्म मे सुधार करने के लिए भी बाध्य करता है। परिणामस्वरूप उपभोक्ताओं को श्रेष्ठ वस्तुएँ उपभोग करने के लिए मिलती हैं।

(4) **कीमत की जानकारी**-विज्ञापन द्वारा उपभोक्ताओं को वस्तुओं के मूल्यों के सम्बन्ध में जानकारी हो जाती है। इसका कारण यह है कि विज्ञापनदाता प्राय: विज्ञापित वस्तु के मूल्य के सम्बन्ध में भी सूचित कर देते है, अत: उनके ठगे जाने का भय नही रहता।

(5) **जीवन स्तर में सुधार**-विज्ञापन से उपभोक्ताओं को नयी-नयी वस्तुओ की जानकारी होती है जिसके कारण उपभोग मे वृद्धि होती है और इस प्रकार उनके जीवन-स्तर में सुधार होने लगता है। सर विन्स्टन चर्चिल के अनुसार, "विज्ञापन अच्छे जीवन-स्तर के लिए माँग उत्पन्न करता है।"

(6) **थोक तथा फुटकर कीमतों में कमी**-विज्ञापन से प्रतिस्पर्द्धा पनपती है क्योंकि इसके माध्यम से थोक व्यापारी तथा फुटकर व्यापारी दोनों ही अधिकाधिक विक्रय वृद्धि करने के उद्देश्य से कम मूल्यों पर भी विक्रय करने को तैयार हो जाते है।

(7) **उपभोक्ताओं के समय में बचत**-विज्ञापन की सहायता से उपभोक्ताओं के समय की बचत होती है क्योंकि उनको वस्तु के ढूँढ़ने में अधिक समय व्यर्थ में नहीं खोना पड़ता है। इसके द्वारा उनको यह मालूम हो जाता है कि किस प्रकार की वस्तु कहाँ से तथा किस मूल्य पर प्राप्त की जा सकती है।

(8) **मध्यस्थों की संख्या में कमी**-मध्यस्थों की एक लम्बी कड़ी होने से वस्तुओं का मूल्य बहुत बढ़ जाता है तथा इसका प्रभाव उपभोक्ताओं पर बहुत बुरा पड़ता है, किन्तु विज्ञापन द्वारा मध्यस्थों की कड़ी को न्यून कर दिया जाता है। इस प्रकार विक्रय व्यय में कमी हो जाती है और वस्तुओं का मूल्य भी कम हो जाता है।

(9) **शिक्षाप्रद एवं ज्ञानवर्द्धक**-विज्ञापन द्वारा उपभोक्ताओं को नयी-नयी वस्तुओं के बारे में ज्ञान होता है। ब्रुक बॉण्ड चाय के विज्ञापन में रुचिकर चाय किस प्रकार बनानी चाहिए, इसकी जानकारी होती है।

(10) **अन्य लाभ**-(i) विज्ञापन अपने ग्राहकों की शंकाओं का समाधान करने में सहायक है। (ii) विज्ञापन हमें कई बातों का स्मरण कराता है, जैसे-बैंक का विज्ञापन बचत की प्रकृति का स्मरण करता है। (iii) विज्ञापन उपभोक्ताओं के साथ वस्तुओं के मूल्य अथवा किस्म के सम्बन्ध में धोखाधड़ी की सम्भावाओं को कम कर देता है। (iv) विज्ञापन वस्तुओं की अच्छी किस्म की गारण्टी देता है।

(IV) समाज एवं देश को लाभ (Advantages to Society and the Country)

व्यापारिक एवं आर्थिक क्षेत्र के अतिरिक्त विज्ञापन का महत्व सामाजिक, राजनीतिक एवं सार्वजनिक क्षेत्र मे भी है। चुनाव जीतने के लिए भी विज्ञापन, सरकारी योजनाओं के प्रचार के लिए विज्ञापन तथा समाज का नैतिक स्तर ऊँचा उठाने के लिए भी विज्ञापन का ही सहारा लेना पड़ता है।

(1) **समाज का दर्पण**- विज्ञापन का आधार जन-साधारण की रुचि, जन-जीवन का स्तर तथा सामाजिक प्रथाएँ होती हैं। इसको विज्ञापन मे सम्मिलित किया जाता है जिससे विज्ञापन मे समाज के जीवन की झलक मिलती है।

(2) **देश का आर्थिक विकास**- विज्ञापन किसी देश के आर्थिक विकास मे महत्वपूर्ण योगदान देता है। अमेरिका के **लूथर एच.हाजेज** के अनुसार, "विज्ञापन के बिना हम सबसे सम्पन्न राष्ट्र के निवासी नहीं बन सकते हैं।"

(3) **समाचार-पत्रों की आय में वृद्धि**- समाचार-पत्रों को अपनी आय का 75% भाग केवल विज्ञापन से ही मिलता है तथा शेष 25% भाग वाचकों से। इस प्रकार विज्ञापन इनकी आय का एक प्रमुख साधन है।

(4) **रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठाना**-विज्ञापन द्वारा वस्तुओं की माँग मे वृद्धि होती है। विभिन्न वस्तुओं के उपभोग को प्रोत्साहन मिलता है। इसके परिणामस्वरूप समाज का जीवन-स्तर ऊँचा उठने लगता है।

(5) **स्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा का विकास**-विज्ञापन से स्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा का विकास होता है जिससे व्यवसाय का विकास होता है।

(6) **अनेक व्यक्तियों को आजीविका मिलना**-विज्ञापन हेतु कलाकारों, लेखकों तथा विशेषज्ञों की आवश्यकता पड़ती है। इन लोगों की जीविका का एकमात्र साधन विज्ञापन ही है। यही कारण है कि आजकल यह एक स्वतन्त्र व्यवसाय हो गया है।

NOTES

(7) **अन्य लाभ**-(i) विज्ञापन ललित कलाओं को प्रोत्साहन प्रदान करता है। (ii) विज्ञापन औद्योगिक अनुसन्धान को प्रोत्साहन देता है। (iii) विज्ञापन सभ्यता के विकास में सहायक है।

विज्ञापन के दोष

(DisadvaNtages of Advertising)

विज्ञापन जहाँ एक ओर समाज के विभिन्न वर्गों के लिए लाभप्रद है, वहीं दूसरी ओर समाज के लोगों द्वारा इसकी कटु शब्दों में आलोचनाएँ की जाती हैं। आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से विज्ञापन के प्रमुख दोष अथवा आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं :

(1) **अश्लील विज्ञापन से नैतिक पतन**-अश्लील विज्ञापन से जनता का नैतिक पतन होता है। आजकल नग्न अथवा अर्द्ध-नग्न स्त्रियों के चित्र प्रदर्शित करना तो एक आम बात हो गई है।

(2) **मूल्यों में वृद्धि**-विज्ञापन करने से बहुत-सा धन अपव्यय होता है जिससे मूल्यों में वृद्धि हो जाती है क्योंकि विज्ञापन का भार तो उपभोक्ताओं को ही सहन करना पड़ता है।

(3) **प्राकृतिक सुन्दरता में कमी**-यत्र-तत्र किया हुआ विज्ञापन नगर की प्राकृतिक शोभा को कम कर देते हैं। इस प्रकार मकानों की दीवारें एवं सड़कें आदि गन्दी दिखाई देने लगती हैं।

(4) **एकाधिकार प्रवृत्ति को प्रोत्साहन**-जिन वस्तुओं का निरन्तर विज्ञापन होता है, वे प्राय: बाजार में अपना अधिकार स्थापित कर लेती हैं और इस प्रकार फिर उत्पादक तथा व्यापारी धीरे-धीरे इच्छानुसार वस्तुओं का मूल्य परिवर्तन करते रहते हैं।

(5) **सामाजिक बुराइयों का कारण**-विज्ञापन अधिकतर आरामदायक एवं विलासिता सम्बन्धी वस्तुओं के लिए किया जाता है। इसके कई सामाजिक दुष्परिणाम निकलते हैं। किन्हीं व्यक्तियों को जब किसी एक चीज के उपभोग करने की बुरी आदत पड़ जाती है तो उसका छूटना बहुत कठिन होता है, जैसे-सिगरेट तथा शराब पीना।

(6) **फैशन में परिवर्तन**-विज्ञापन सदैव वस्तुओं के गुण तथा फैशन में परिवर्तन करते रहते हैं। इन आकस्मिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप उपभोक्ता तथा फुटकर विक्रेता दोनों को ही क्षति पहुँचती है। एक ओर तो विक्रेता को 'फैशन के बाहर' वस्तुओं को कम मूल्य पर बेचना पड़ता है और दूसरी ओर उपभोक्ता को केवल फैशन में परिवर्तन के कारण अधिक मूल्य देना पड़ता है।

(7) **अस्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा को जन्म**-विज्ञापन द्वारा अस्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा को जन्म मिलता है जिससे वस्तुओं के मूल्य में अनायास कमी करनी पड़ती है। वस्तुओं के मूल्य में यह कमी उसके गुण को गिराकर की जाती है।

(8) **झूठी बातों का प्रचार**-विज्ञापन एक ठग-विद्या बन गई है क्योंकि इसके द्वारा बहुत-सी मिथ्या बातों का प्रचार किया जाता है। ऐसे विज्ञापन का उदाहरण अग्र प्रकार है :

केवल 51 रु. में

(1) सुन्दर घड़ियाँ
(2) 1 जोड़ा कंगन
(3) 1 सूटपीस
(4) 1 गले का हार तथा
(5) प्लास्टिक चप्पल

अवसर न चूकिये

51 रु. भेजकर उक्त वस्तुओं को प्राप्त कीजिए।

पता-पोस्ट बॉक्स नं. 430, रोहतक

नोट-दो सेट एक साथ मँगाने पर डाक-व्यय माफ

NOTES

(9) **धन का अपव्यय**-बहुत-से उपभोक्ता उन वस्तुओं को खरीदने के लिए ललायित हो उठते है जोकि उनके लिए निरर्थक होती है अथवा विलास की वस्तुएँ होती है, जैसे-शराब की बोतल।

(10) **चंचलता**-विज्ञापन उपभोक्ताओं के मन को चलायमान कर देता है क्योंकि वह विज्ञापन की चमक-दमक से बहुत प्रभावित हो जाता है। ऐसी स्थिति में वह उस वस्तु को नहीं खरीद पाता जिसको कि वह वास्तव में खरीदना चाहता है।

(11) **अन्य दोष**-(i) कुछ लोगों का यह कथन है कि विज्ञापन से राष्ट्रीय साधनों का अपव्यय होता है। (ii) विज्ञापन उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं में वृद्धि करता है। (iii) राष्ट्रीय मार्गों, चौराहों और मोड़ों पर लगे बड़े-बड़े एवं मनमोहक विज्ञापन यात्रियों एवं वाहन चालकों का ध्यान अनायास ही आकर्षित कर लेते है जिसके परिणामस्वरूप दुर्घटनाओं की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं।

उपर्युक्त आलोचनाओं तथा दोषों के होते हुए भी यह डंके की चोट पर कहा जा सकता है कि विज्ञापन आज के प्रगतिशील युग की अनिवार्यता है जिसका सहारा लिये बिना शायद ही कोई व्यवसायी सफलता की मन्जिल पार कर सकता है। झूठे तथा कपटपूर्ण विज्ञापन को ही लीजिए। इस प्रकार के विज्ञापनदाता इस सिद्धान्त पर चलते हैं कि दुनिया बहुत बड़ी है और उसमें बेवकूफों की कमी नहीं है। इसके अतिरिक्त, विज्ञापन-कला कभी यह आदेश नहीं देती कि झूठा अथवा कपटपूर्ण विज्ञापन किया जाए। यदि कोई व्यापारी धोखाधड़ी या कपट का आश्रय लेता है तो यह उसकी (स्वयं की) त्रुटि है। विज्ञापन-कला को क्यों व्यर्थ में कलंकित किया जाए।

श्री जे.एफ.पायले ने यह स्वीकार करते हुए मिथ्या विज्ञापन ईमानदार व्यक्तियों द्वारा भी प्रयोग में लाये गये हैं, एक स्थान पर लिखा है कि **''चूँकि असावधान मोटरगाड़ी के ड्राइवरों से सैकड़ों व्यक्ति हर वर्ष मर जाते हैं तो क्या इसका यह तात्पर्य है कि मोटरगाड़ियों का प्रयोग बन्द कर देना चाहिए।''** कदापि नहीं, क्योंकि इसमें दोष विज्ञापन का न होकर विज्ञापक का है। फिर विज्ञापन दोषी क्यों?

आधुनिक व्यापार में एकाधिकार का प्रश्न इसलिए नहीं उठता है कि विश्व में प्रतिदिन नये-नये आविष्कारों तथा वस्तु के सुधारों के कारण आज की वस्तु कल के लिए पुरानी हो जाती है अत: एकाधिकार क्यों और कैसे?

जहाँ तक आरामदायक तथा विलासिता की वस्तुओं के प्रचार का प्रश्न है, हम जानते हैं कि मनुष्य सर्वप्रथम अपनी आवश्यकताओं की वस्तुओं की पूर्ति करता है और इसके पश्चात् ही यदि धन शेष बचता है तो वह उपरोक्त वस्तुओं के मूल्य के क्रय का साहस कर सकता है।

जहाँ तक मूल्य परिवर्तन का प्रश्न है, प्रतिस्पर्द्धा के इस युग में मूल्य परिवर्तन सदैव उपभोक्ताओं के हित में ही होगा।

अन्त में, विज्ञापक को चाहिए कि वह विज्ञापन करते समय अपने व्यापार, आर्थिक स्थिति, सच्चाई, उपभोक्ता वर्ग, विज्ञापन के उचित साधन का चुनाव आदि की ओर विशेष ध्यान दे। यदि विज्ञापन नियोजित है और व्यापार-गृह आकर्षक है तथा विक्रेता कुशल तथा गुणवान है तो विज्ञापन से ग्राहकों और बिक्री की संख्या के साथ ही साथ लाभ भी अवश्य बढ़ेगा।

''क्या विज्ञापन वस्तुओं की लागत में वृद्धि करता है?''

(Does the Advertising Increase Cost of Articles)

प्राय: लोग यह कहते हैं कि विज्ञापन वस्तुओं की लागत में वृद्धि करता है। उनकी यह मान्यता है कि उत्पादन से सम्बन्धित प्रत्येक व्यय वस्तु की लागत में वृद्धि करता है और वितरण से सम्बन्धित प्रत्येक व्यय वस्तु के मूल्य में वृद्धि करता है। विज्ञापन व्यय भी वितरण लागत का ही एक अंग है जिसके परिणामस्वरूप वस्तु के मूल्यों में वृद्धि होती है। इस मूल्य वृद्धि का सारा भार अन्तत: उपभोक्ताओं पर ही पड़ता है।

विज्ञापन वस्तुओं के मूल्य में कमी करता है (Advertising Reduces Cost of Articles)

ऊपरी तौर पर तो विज्ञापन व्यय से वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि होती है, इस कथन को स्वीकार करना बिल्कुल वैसा ही सीधा लगता है जैसा कि यह मानना कि एक और एक दो होते है किन्तु सच्चाई तो उपर्युक्त कथन के बिल्कुल विपरीत ही है। वास्तविकता तो यह है कि विज्ञापन पर किया गया व्यय वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि करने के स्थान पर कमी करता है। इस कमी के निम्नलिखित कारण हैं :

(1) **प्रतिस्पर्द्धा को प्रोत्साहन**-विज्ञापन प्रतिस्पर्द्धा को और अधिक तीव्र बनाता है। इस प्रतिस्पर्द्धा का सामना करने के लिए भी प्रत्येक व्यावसायिक इकाई एक ओर तो मूल्यों में कमी करने तथा दूसरी ओर किस्म में सुधार करने के लिए बाध्य होती है।

(2) **उत्पादन एवं विक्रय के मध्य स्थायित्व**-विज्ञापन द्वारा उत्पादन एवं विक्रय के मध्य स्थायित्व लाना सम्भव होता है। विज्ञापन मौसमी वस्तुओं के विक्रय को गैर-मौसम में भी सम्भव बनाता है जिससे उत्पादन की प्रक्रिया सतत् चलती रहती है जिससे उत्पादन लागत में कमी आती है।

(3) **बाजार का क्षेत्र व्यापक करना**-विज्ञापन बाजार के क्षेत्र को व्यापक करने में बड़ी सहायता प्रदान करता है।

(4) **शंकाओं का समाधान**-विज्ञापन ग्राहकों के मन में वस्तुओं के प्रति उत्पन्न होने वाले विभिन्न सन्देहों को दूर करने में सहायक होता है।

(5) **उपभोक्ताओं को जानकारी**-विज्ञापन करने से उपभोक्ताओं को वस्तुओं के बारे में आवश्यक जानकारी मिल जाती है जिसके परिणामस्वरूप विक्रय व्ययों में कमी होती है तथा विक्रय की मात्रा में वृद्धि होती है।

(6) **विशिष्टीकरण एवं प्रमापीकरण को प्रोत्साहन**-बड़ी मात्रा में उत्पादन होने के कारण विशिष्टीकरण एवं प्रमापीकरण को प्रोत्साहन मिलता है। बड़ी मात्रा में उत्पाद से अनेक बचतें होती हैं। इसके कारण पूर्ण उत्पादन क्षमता का उपयोग करना सम्भव होता है एवं वस्तुओं की किस्म में आश्चर्यजनक तरीके से सुधार होता है।

(7) **माँग का सृजन**-विज्ञापन माँग का सृजन करता है। बढ़ती हुई माँग उत्पादन में वृद्धि करती है और उत्पादन में वृद्धि होने से प्रति इकाई लागत घट जाती है।

निष्कर्ष (Conclusion)-प्रसिद्ध उद्योगपति **राकवेल** (Rookewell) के अनुसार, "विज्ञापन वस्तुओं की लागत बढ़ाने की अपेक्षा लाभों को अधिक तीव्र गति से बढ़ाता है।"

विज्ञापन की मर्यादाएँ अथवा सीमाएँ
(Limitations of Advertising)

(1) यदि विज्ञापन समाज के रीति-रिवाजों के प्रतिकूल हो तो वह निरर्थक सिद्ध होगा।

(2) यदि वस्तु की माँग लोचहीन है तो उसकी माँग को विज्ञापन द्वारा नहीं बढ़ाया जा सकता है, जैसे-नमक।

(3) बुरी एवं हानिप्रद वस्तुओं का विज्ञापन स्थिर नहीं रह सकता है।

(4) विज्ञापन अर्थशास्त्र तथा मनोवैज्ञानिक नियमों के अनुसार होना चाहिए अन्यथा सफलता नहीं मिलेगी।

(5) विज्ञापन द्वारा वस्तु की माँग में वृद्धि की जा सकती है, किन्तु विक्रय कला के अभाव में व्यर्थ सिद्ध होता है। व्यवसाय में सफलता पाने के लिए विक्रय-कला एवं विज्ञापन दोनों का महत्व है।

(6) सफल विज्ञापक को अपना विज्ञापन बारम्बार प्रकाशित करते रहना चाहिए जिससे कि वस्तु की माँग निरन्तर बनी रहे। केवल एक या दो बार के विज्ञापन से ही सफलता नहीं मिल सकती है।

(7) जनता की रुचि के विरुद्ध कोई भी विज्ञापन सफल नहीं हो सकता है चाहे कितना ही आकर्षक एवं प्रभावशाली क्यों न हो।

विज्ञापन विनियोजन
(Advertising Appropriation or Advertising Budget)

विज्ञापन विनियोजन अथवा बजट का अर्थ

विज्ञापन विनियोजन से आशय सरल शब्दों में यह निश्चित करना है कि विज्ञापन पर कितनी राशि व्यय की जाये। इस सम्बन्ध में कोई निर्णय लेने से पूर्व एक संस्था को अपने संवर्द्धन अन्तर्लय (Promotional Mix) में विज्ञापन के योगदान को निश्चित करना होता है। संवर्द्धन अन्तर्लय में वैयक्तिक विक्रय (Personal Selling), विज्ञापन, विक्रय संवर्द्धन (Sales Promotion) को सम्मिलित किया जाता है।

विज्ञापन विनियोजन की कार्यविधि

सामान्यत: सभी संस्थाओं को उपभोक्ता एवं औद्योगिक उत्पादों के विपणन हेतु निम्नांकित कदम उठाने पड़ते हैं-(I) विज्ञापन उद्देश्यों का निर्धारण, (II) विज्ञापन नीतियों का निर्धारण, (III) विज्ञापन रीति-नीतियों (Strategies) का निर्माण, (IV) विज्ञापन विनियोजन का निर्धारण।

NOTES

(I) विज्ञापन उद्देश्यों का निर्धारण

कण्डिफ, स्टिल एवं गोवानी ने विज्ञापन के निम्न उद्देश्यों का उल्लेख किया है-

(i) उत्पादों के नवीन प्रयोगों से वर्तमान व सम्भावित क्रेताओं को अवगत करना, (ii) वितरकों एवं विक्रेताओं के मनोबल में सुधार, (iii) प्रतिस्पर्द्धी विज्ञापनों से मुकाबला, (iv) क्रय हेतु तर्क प्रस्तुत करना, (v) विपणन रीति-नीति के कुछ परिवर्तन का प्रचार करना (कीमत परिवर्तन नवीन मॉडल, उत्पाद में सुधार), (vi) उत्पाद क्रय हेतु क्रेताओं को याद दिलाना, (vii) ब्राण्ड प्राथमिकता का निर्माण करना (जिससे मध्यस्थों के लिए अन्य स्थानापन्न उत्पादों का विक्रय कठिन हो जाए), (viii) मध्यस्थों को उत्पाद में व्यवहार करने हेतु बाध्य करना, (ix) नवीन उत्पादों को प्रस्तुत करना (सम्भावित क्रेताओं में ब्राण्ड की जानकारी पैदा करके), (x) सामग्र विक्रय का कार्य करना (डाक द्वारा विपणन की अवस्था में)।

(II) विज्ञापन नीतियों का निर्धारण

विज्ञापन नीतियाँ विज्ञापन उद्देश्यों से ली जानी चाहिए और इनके द्वारा प्रबन्ध को विज्ञापन रीति-नीतियों के निर्माण में सहयोग दिया जाना चाहिए। एक कम्पनी को विज्ञापन नीति निर्णयों में सबसे पहले तो यही निर्णय लेना होता है कि क्या वह विज्ञापना करेगी? सामान्य विज्ञापन नीति क्षेत्रों में निम्नलिखित को सम्मिलित किया जाता है :

(i) **विज्ञापन एवं प्रतिस्पर्द्धा**-कुछ कम्पनियाँ प्रतिस्पर्द्धियों के अनुसार विज्ञापन करने की नीति को अपनाती है। जिससे वह प्रतिस्पर्द्धक संस्था के उत्पाद से अपने उत्पाद को श्रेष्ठ बता सके।

(ii) **विज्ञापन प्रयत्नों का सामान्य क्षेत्र**-उच्च प्रबन्ध द्वारा विज्ञापन प्रयत्नों के क्षेत्र का निर्धारण किया जाता है। कभी केवल उत्पाद के सम्बन्ध में विज्ञापन किया जाता है तो कभी संस्था की ख्याति के निर्माण हेतु विज्ञापन पर राशि व्यय की जाती है।

(III) विज्ञापन रीति-नीतियों का निर्धारण

विज्ञापन रीति-नीतियाँ विज्ञापन नीतियों के अनुकूल होनी चाहिए। इनका निर्माण विज्ञापन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किया जाता है। विज्ञापन रीति-नीतियाँ विपणन परिस्थितियों के अनुसार तैयार की जाती हैं। बाजार की स्थिति, वितरण, प्रवर्तन और कीमत निर्धारण आदि के विश्लेषण द्वारा कम्पनी को विज्ञापन अवसरों का पता लगाकर विज्ञापन रीति-नीति का निर्माण करना चाहिए।

(IV) विज्ञापन विनियोजन

विज्ञापन बजट में सामान्यत: निम्नलिखित मदों को सम्मिलित किया जाता है :

(i) **शोध व्यय** (Research Expenditure)-विज्ञापन की सार्थकता का पता लगाने के लिए विज्ञापन से पूर्व एवं बाद में परीक्षण किये जाते हैं जिन्हें पूर्व परीक्षण व बाद के परीक्षण कहा जाता है। इस अनुसंधान में आने वाले व्यय को विज्ञापन बजट में सम्मिलित किया जाता है।

(ii) **विज्ञापन तैयार करने में व्यय**-विज्ञापन प्रति ब्लॉक, रील अथवा सम्वाद बनाने में आने वाले व्यय को इस मद में सम्मिलित किया जाता है। जब पत्र-पत्रिकाओं में विज्ञापन किया जाता है तो पहले विज्ञापन प्रति तैयार की जाती है और उसका ब्लॉक बनाया जाता है।

(iii) **विज्ञापन माध्यम को किया जाने वाला भुगतान व्यय**-विज्ञापन बजट की यह प्रमुख मद है। विज्ञापन व्यय का एक प्रमुख भाग इसी मद पर खर्च किया जाता है। इसके अन्तर्गत विज्ञापन के लिए प्रयोग किये जाने वाले माध्यमों को पारिश्रमिक या फीस देने के लिए व्यवस्था की जाती है।

(iv) **प्रशासनिक उपरिव्यय** (Administrative Overhead)-विज्ञापन बजट में विज्ञापन विभाग के प्रशासनिक व्ययों को सम्मिलित किया जाता है। इन प्रशासनिक व्ययों में विज्ञापन प्रबन्धक व अन्य कर्मचारियों के वेतन, भत्ते, यात्रा व्यय आदि के अलावा विभाग के विद्युत, स्टेशनरी, डाक एवं टेलीफोन व्यय सम्मिलित हैं।

विज्ञापन बजट निर्धारण के ढंग
(Methods of Allocating Advertising Budget)

विज्ञापन बजट निर्धारण की विधियाँ

विज्ञापन बजट निर्धारण की अनेक विधियाँ है:-

NOTES

(I) **क्षमतानुसार विधि** (Affordable Method)-यह अत्यन्त सरल विधि है। इस विधि के अन्तर्गत विज्ञापन पर उतनी ही राशि व्यय की जाती है जितनी संस्था वहन कर सकती है। प्राय: सभी प्रकार की स्थायी एवं चल लागतों की पूर्ति के बाद जो राशि बचती है, वह विज्ञापन हेतु निर्धारित कर दी जाती है। इस प्रकार इस विधि के अन्तर्गत विज्ञापन बजट का निर्धारण संस्था की सामर्थ्य के अनुसार किया जाता है।

गुण-क्षमतानुसार विधि अत्यन्त सरल है क्योंकि विज्ञापन प्रबन्धक को विज्ञापन बजट के निर्धारण में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं आती। यह विधि ठीक प्रतीत होती है। एक संस्था को विज्ञापन पर उतनी ही राशि खर्च करनी चाहिए जितनी वह खर्च करने की क्षमता रखती है।

दोष-इस विधि में निम्न दोष भी पाये जाते हैं-(1) इससे संस्था विज्ञापन के सम्बन्ध मे किसी निश्चित नीति का पालन नहो कर सकती। (2) विज्ञापन बजट में कमी और वृद्धि होती रहती है। (3) यह विधि विज्ञापन व्ययों और विज्ञापन प्रभावों के पारस्परिक सम्बन्धों को स्वीकार नहीं करती। (4) यह विधि अवसरो की भी उपेक्षा करती है। (5) इस विधि के आधार पर सस्था विज्ञापन के लिए दीर्घकालीन नीति का निर्माण नहीं कर सकती।

(II) **विक्रय प्रतिशत विधि** (Percentage of Sales Method)-इस विधि में विज्ञापन बजट का आधार विक्रय होता है। यह विक्रय गत वर्ष का भी हो सकता है या आने वाले वर्ष का विक्रय का अनुमान हो सकता है। इस विधि के अन्तर्गत कुल विक्रय की एक निश्चित प्रतिशत राशि विज्ञापन पर व्यय की जाती है। अमेरिका में 90 प्रतिशत से अधिक कम्पनियाँ इस विधि का प्रयोग करती हैं। भारत में भी इस विधि का प्रयोग बढ़ रहा है। विज्ञापन पर सबसे कम व्यय बीमा कम्पनियों ने किया और सर्वाधिक व्यय श्रृंगार सामग्री बनाने वाली कम्पनियों द्वारा किया गया। इनमें से 21 कम्पनियों ने तो विक्रय का 40 प्रतिशत से भी अधिक भाग विज्ञापन पर व्यय किया।

गुण-विक्रय प्रतिशत विधि के निम्न प्रमुख लाभ है-(1) विज्ञापन व्ययों का संस्था की बिक्री के साथ सम्बन्ध बना रहता है। (2) यह विधि विज्ञापन लागत, विक्रय कीमत और प्रति इकाई लागत के पारस्परिक सम्बन्धों के सन्दर्भ में सोचने के लिए प्रबन्ध को प्रेरित करती है। (3) इस विधि का प्रयोग करके 'विज्ञापन युद्धों' (Advertising Wars) से बचा जा सकता है।

दोष-इस विधि के दोषो में निम्नलिखित को सम्मिलित किया जा सकता है-(1) विज्ञापन पर व्यय किये जाने वाले विक्रय के प्रतिशत का भाग भी तर्कयुक्त नहीं होता। (2) व्यापारिक चक्रों की परिस्थितियों से उत्पन्न विपणन अवसरों का लाभ उठाने के लिए विज्ञापन बजट को घटाना या बढ़ाना सम्भव नहीं होता। (3) यह विधि इस भ्रम धारण पर आधारित है कि विक्रय विज्ञापन का परिणाम न होकर कारण है। (4) प्रारम्भ में जब संस्था को विज्ञापन पर अधिक व्यय करने की आवश्यकता होती है, उस समय संस्था की बिक्री कम होने के कारण संस्था विज्ञापन पर कम राशि खर्च कर पाती है। (5) इस विधि का एक दोष यह है कि विज्ञापन बजट की मात्रा में परिवर्तन होते रहते हैं। इससे विज्ञापन की दीर्घकालीन नीति का निर्धारण नहीं किया जा सकता।

(III) **प्रतिस्पर्द्धा समता विधि** (Competitive Matching or Parity Method)-इस विधि के अन्तर्गत विज्ञापन बजट का निर्धारण प्रतिस्पर्द्धियों के बजट के अनुसार किया जाता है। इसमें यह मानकर चला जाता है कि कोई भी संस्था प्रतिस्पर्द्धियों की क्रियाओं की अनदेखी नहीं कर सकती। यदि प्रतिस्पर्द्धी संस्थाएँ अधिक राशि विज्ञापन पर खर्च करती हैं तो संस्था को भी अधिक राशि खर्च करना अनिवार्य हो जाता है।

गुण-प्रतिस्पर्द्धा समता विधि के पक्ष में यह कहा जाता है कि प्रतिस्पर्द्धियो से समता बनाये रखने के कारण विज्ञापन युद्धों (Advertising Wars) की रोकथाम हो जाती है। साथ ही प्रतिस्पर्द्धी संस्थाओं के व्यय उद्योग के सामूहिक विवेक (Collective Wisdom) का प्रतिनिधित्व करते हैं।

दोष-(1) वास्तव में, इस विधि के प्रयोग से तो विज्ञापन युद्धों को बढ़ावा ही मिलता है। (2) प्रतिस्पर्द्धी संस्थाओं के व्यय को विवेकपूर्ण एवं तर्कसंगत कराना भी उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि इस हेतु हमारे पास कोई तर्कसंगत आधार नहीं होता। (3) यह कहना कि प्रतिस्पर्द्धी समता विधि विज्ञापनबाजी या विज्ञापन युद्धों को समाप्त करती है, त्रुटिपूर्ण है। (4) अत: एक संस्था द्वारा किया गया विज्ञापन व्यय दूसरे के लिए सदैव आदर्श नहीं हो सकता। (5) इनके अतिरिक्त इस विधि का प्रयोग करने में प्रतिस्पर्द्धियों के व्यय को पता लगाना भी कठिन होता है।

NOTES

(IV) **लक्ष्य एवं कार्यविधि** (Objective and Task Method) इस विधि के अन्तर्गत विज्ञापन बजट का निर्धारण करने हेतु विज्ञापक (Advertiser) को निम्न तीन कदम उठाने पड़ते है-(1) इन कार्यों पर होने वाला अनुमानित व्यय या लागत। (2) इन उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु किये जाने वाले कार्यों का निर्धारण करना। (3) जहाँ तक सम्भव हो, विशिष्ट विज्ञापन उद्देश्यों को परिभाषित करना।

दोष-यह विधि अधिक तर्कसंगत है और निरन्तर लोकप्रियता प्राप्त करती चली जा रही है। (1) इस विधि का मुख्य दोष यह है कि विज्ञापन उद्देश्यों का सही निर्धारण कठिन है। (2) यह भी ज्ञात नहीं होता कि अमुक उद्देश्य लागत की दृष्टि से स्वीकार योग्य है या नहीं। इस विधि को अधिक उपयोगी बनाने के लिए उद्देश्यों का मूल्यांकन लागतों के सन्दर्भ में किया जाना चाहिए।

(V) अन्य विधियाँ

(1) **प्रत्याय पर आधारित** (Based on Returns)-इस विधि के अन्तर्गत एक निर्माता तब तक विज्ञापन पर राशि व्यय करता रहता है जब तक कि उसे उसके बदले में विक्रय का प्रतिफल प्राप्त होता रहे। यह विधि डाक द्वारा प्रत्यक्ष व्यापार की अवस्था में अधिक उचित है।

(2) **उत्पादन पर आधारित** (Based on Production)-अनेक निर्माता वस्तुओं के उत्पादन की लागत का एक निश्चित प्रतिशत भाग विज्ञापन पर व्यय करते है। ये निर्माता अपने अनुभव के आधार पर यह पता लगा लेते है कि प्रति उत्पाद के विक्रय हेतु कितनी विज्ञापन राशि की आवश्यकता होगी।

विज्ञापन के माध्यम
(Media of Advertising)

श्री नाइस्ट्रोम के अनुसार, "विज्ञापन का माध्यम वह वाहन अथवा साधन है जिसके द्वारा विज्ञापन अथवा विज्ञापन का संदेश व्यक्तियों अथवा समूहों को प्रभावित करने की आशा से उन तक पहुँचाया जाता है।"[1]

विज्ञापन के माध्यम का चयन
(Advertising Media Selection)

विज्ञापन की सफलता बहुत हद तक विज्ञापन के उपयुक्त माध्यम के चयन पर निर्भर करती है। विज्ञापन के सही साधन का चयन करना वास्तव में एक जटिल समस्या है। इस सम्बन्ध में विज्ञापनदाता को विज्ञापन के सही माध्यम का चयन करते समय निम्न बातों का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए-

(i) विज्ञापन सन्देश की प्रकृति क्या? जैसे-लम्बा सन्देश, छोटा सन्देश, चित्रयुक्त सन्देश।

(ii) विज्ञापन के किस माध्यम एवं साधन का जनता अधिक आदर करती है? कौन-सा साधन अधिक प्रसिद्ध एवं प्रचलित है?

(iii) विज्ञापन के अन्य साधनों का क्या स्वरूप है तथा जनता को आकर्षित एवं प्रभावित करने में वे कहाँ तक सफल होते है? उनका तुलनात्मक अध्ययन करना चाहिए।

(iv) उस साधन द्वारा हम कितने समय तक जनता को आकर्षित कर सकते है।

(v) उनके तर्कपूर्ण प्रभाव एवं विचार जनता पर किस प्रकार का प्रभाव डाल सकते है?

(vi) किस प्रकार के साधन में उसकी उपयोगिता को देखते हुए मितव्ययिता की जा सकती है?

(vii) किस प्रकार के साधन की अनेक बार पुनरावृत्ति की जा सकती है।

(viii) उस विज्ञापन को पढ़ने वालों की सामाजिक स्थिति, धर्म, वातावरण तथा कार्य को ध्यान में रखना आवश्यक है।

(ix) विज्ञापन का कौन सा साधन जनता के लिए प्रभावशाली, आकर्षक तथा सुलभ हो सकता है?

(x) विज्ञापन के साधन का चुनाव उस पर किये जाने वाले व्यय के सन्दर्भ में किया जाना चाहिए।

(xi) विज्ञापन का माध्यम ग्राहकों की किस्म एवं वर्ग के अनुसार होना चाहिए।

(xii) विज्ञापन का माध्यम वस्तु की प्रकृति के अनुरूप होना चाहिए।

विज्ञापन के साधन

(Means of Advertising)

आजकल विज्ञापन के विभिन्न साधन प्रचलित हैं जिनका वर्गीकरण निम्न श्रेणियों में किया जा सकता है।

विज्ञापन के माध्यम

(I) प्रेस अथवा समाचार-पत्रीय विज्ञापन

(अ) समाचार-पत्रीय विज्ञापन

(1) वर्गीकृत विज्ञापन।

(2) अवर्गीकृत विज्ञापन।

(ब) पत्रिका विज्ञापन।

(II) बाह्य विज्ञापन

(1) अप्रमाणित चिह्न।

(2) स्टीकर विज्ञापन।

(3) सैण्डविच बोर्ड विज्ञापन।

(4) बस ट्रेन, ट्राम विज्ञापन।

(5) बिजली द्वारा सजावट।

(6) विज्ञापन बोर्ड।

(7) पोस्टर्स।

(8) विविध।

(III) डाक द्वारा प्रत्यक्ष विज्ञापन

(1) विक्रय पत्र।

(2) सूची-पत्र।

(3) पुस्तिकाएँ।

(4) डायरियाँ।

(5) फोल्डर्स।

(6) वस्तुओं के चित्र।

(IV) क्रय बिन्दु विज्ञापन।

(V) मनोरंजन एवं अन्य विज्ञापन।

(I) समाचार विज्ञापन

(PreSs advertising)

प्रेस अथवा समाचार-पत्रीय विज्ञापन से आशय वस्तुओं और सेवाओं के बारे में समाचार-पत्रों, पत्रिकाओं अथवा जर्नल्स (Journals) में जानकारी प्रकाशित कराने से है जिसे सैकड़ों व्यक्तियों द्वारा पढ़ा जाता है। आधुनिक युग में प्रेस विज्ञापन, विज्ञापन का सबसे अधिक प्रचलित, लोकप्रिय एवं महत्वपूर्ण साधन है क्योंकि इसके द्वारा सर्वसाधारण (जनता) को ज्ञान हो जाता है।

(II) बाह्य विज्ञापन

(Out-Door Advertising)

दीवारों के विज्ञापन को बाह्य विज्ञापन कहते हैं। विज्ञापन का यह साधन बहुत ही प्राचीन है। जब मुद्रण कला नहीं थी और न विज्ञापन के अर्वाचीन साधन ही थे, रोम एवं इंग्लैण्ड में उत्पादक एवं व्यापारी अपने कार्यालय तथा दुकानों के दरवाजों पर व्यापार बोर्ड लगाते थे जिसमें वे कौन-सी वस्तु का व्यापार करते थे, उल्लेख रहता था। **श्री हिंघम** (Hingham) के अनुसार, "इस बोर्ड के लगाने की पद्धति से ही क्रमशः आधुनिक दीवार पर लगाये जाने वाले विज्ञापनों तथा इश्तहारों के चिपकाने की कल्पना आई।" मूरल का अर्थ 'दीवार सम्बन्धी' है। बाह्य विज्ञापन के अन्तर्गत केवल दीवार पर लगाये जाने वाले विज्ञापन ही सम्मिलित नहीं किये जाते हैं बल्कि निम्नलिखित को इस श्रेणी में सम्मिलित करते हैं-इश्तहार चिपकाना, बिजली द्वारा सजावट, बस, ट्रेन तथा ट्राम के विज्ञापन, गलियों तथा सड़कों के विज्ञापन, बोर्ड, सैण्डविच बोर्ड विज्ञापन एवं विशिष्ट वेश-भूषा आदि।

बाह्य विज्ञापन के स्वरूप (Forms of Out-door or Mural Advertising)

(1) **अप्रमापित चिह्न** (Non-standard Signs)-अप्रमापित चिह्न विज्ञापन से आशय ऐसे बाहरी विज्ञापनों से है जिनका उपयोग मध्यस्थों अथवा विक्रेताओं द्वारा विज्ञापित वस्तुओं पर किया जाता है। यह चिह्न इनके निजी होते हैं जिनका उपयोग वस्तुओं के विज्ञापन में करते हैं।

(2) **स्टीकर विज्ञापन** (Sticker Advertising)-भारत में इस प्रकार के विज्ञापन का शुभारम्भ अभी हाल ही में एअर इण्डिया ने किया है। एयर इण्डिया ने अन्तर्राष्ट्रीय टेनिस खिलाड़ी आनन्द अमृतराज तथा विजय अमृतराज

में एक अनुबन्ध किया है जिसके अन्तर्गत वे जहाँ भी खेलेंगे, एयर इण्डिया का प्रचार करेंगे। मैचों के दौरान उनकी टी शर्टों पर एयर इण्डिया अंकित रहेगा। स्वीडन के बजोर्न बोर्ग को इसी प्रकार के विज्ञापनों से प्रति वर्ष 6 लाख पौण्ड की आय होती है।

(3) **सैण्डविच बोर्ड विज्ञापन** (Sandwhich Board Advertising)-इस पद्धति के अन्तर्गत किसी एक व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के चारों ओर पट्टे या बोर्डों के विज्ञापन लिखकर एक पंक्ति में परेड कराते हुए निकाला जाता है। इनकी वेश-भूषा भी चित्रित होती है। इस प्रकार के विज्ञापनों का उदाहरण 'रेड एण्ड व्हाइट सिगरेट' या 'बन्दर छाप दन्त मन्जन' अथवा 'लंगर छाप बीड़ी' वाले है।

(4) **यातायात के साधनो में विज्ञापन** (Bus and Train Advertising or Conveyance Advertising)-यातायात के इन साधनों पर विज्ञापन के बोर्ड लगाये जाते है। इसके अन्दर भी कुछ स्थान विज्ञापन के लिए निश्चित रहता है। इसका कारण यह है कि आजकल बस तथा ट्रेन यातायात के अत्यन्त गतिशील साधन हैं।

(5) **बिजली द्वारा सजावट** (Electric Dispaly)-रात्रि में विद्युत प्रकाश में चमकते हुए रंगीन अक्षरों द्वारा राहगीरों को आकर्षित करने का सर्वश्रेष्ठ साधन है। चमकते हुए रंगीन अक्षरो द्वारा मन अनायास ही आकर्षित हो जाता है। ऐसे विज्ञापन बहुधा उच्च अट्टालिकाओं या बहुत ऊँची दीवारों पर लगाये जाते है। इन विज्ञापनों में बहुत कम शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। ऐसे विज्ञापनों में कई प्रकार के रंगो के प्रकाश का प्रयोग किया जाता है।

(6) **विज्ञापन बोर्ड** (Advertisement Board)-बड़े-बड़े शहरों के चौराहों में एवं उद्योगों के पास विज्ञापन बोर्ड लगाये जाते हैं, जैसे-कानपुर में फूल बाग पर 'प्लेयर्स प्लीज सिगरेट' का बोर्ड, ग्वालियर में फूल बाग के निकट 'ग्वालियर रेयन', लखनऊ में चार बाग स्टेशन के बाहर 'पार्ले जी' के विज्ञापन बोर्ड लगे हुए है। ऐसे बोर्ड विशेष स्थान पर जहाँ आवागमन अधिक हो और अधिकाधिक व्यक्तियों की दृष्टि में आ सकें, लगाये जाते हैं।

(7) **विज्ञापन-पत्र** (Posters)-पोस्टर्स से हमारा तात्पर्य विज्ञापन का सन्देश रखने वाले ऐसे छपे हुए कागजों, कार्डों तथा धातु या लकड़ी की प्लेटों से होता है जो चौराहों, रेलवे स्टेशन, सड़क एवं गलियों के किनारे तथा दुकानों के बाहर एवं अन्दर लगे रहते हैं। पोस्टर काफी बड़े तथा चित्ताकर्षक होने चाहिए जिससे कि राहगीरों का ध्यान स्वभावतः ही उनकी ओर आकर्षित हो जाए।

(8) **विविध बाह्य विज्ञापन** (Miscellaneous Outdoor Advertising)-(i) दियासलाई की डिब्बी पर उसके दूसरी ओर रिक्त स्थान पर विज्ञापन, (ii) पेन्सिल एवं डायरी पर विज्ञापन, (iii) आकाश लेखन विज्ञापन, (iv) गुब्बारों का विज्ञापन करना आदि।

(III) डाक द्वारा प्रत्यक्ष विज्ञापन
(Direct Mail-Order Advertising)

डाक द्वारा प्रत्यक्ष विज्ञापन से हमारा आशय ऐसे विज्ञापन से है जिसके द्वारा विज्ञापनदाता कुछ उपयुक्त लोगों को अपनी ओर आकर्षिक करने के लिए उनके पास स्थायी रूप से छपे हुए लिखित सन्देश भेजता है। इस प्रकार इसमें सामूहिक रूप से आकर्षित करने की अपेक्षा कुछ लोगों को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया जाता है।

रिचर्ड मैसनर के अनुसार, "प्रत्यक्ष डाक विज्ञापन प्रचार के सन्देश को, जो स्थायी रूप में छपा हुआ, लिखित अथवा प्राविधिक हो, नियन्त्रित वितरण द्वारा सीधे चुने हुए व्यक्तियों के पास पहुँचाने का साधन है।"[1] **जे.डब्ल्यू.कैसिल्स** के अनुसार, "डाक द्वारा प्रत्यक्ष विज्ञापन के अन्तर्गत पत्र-पेटी (Letter-box) का प्रयोग करके सही व्यक्तियों को सही वस्तुओं के बारे में सही समय पर तथा सही तरीके से सूचित किया जाता है।"[2] **नाइस्ट्रोम** (Nystrom) के अनुसार, "डाक द्वारा प्रत्यक्ष रूप से सम्भावित ग्राहकों को विज्ञापन सामग्री भेजना डाक द्वारा प्रत्यक्ष विज्ञापन कहलाता है।" **मेसन एवं रथ** (Mason and Rath) के अनुसार, "सभी प्रकार की डाक जो एक विज्ञापन से सम्भावित क्रेताओं के पास भेजी जाती है, डाक द्वारा प्रत्यक्ष विज्ञापन कहलाती है।"

श्री कैसिल्स के अनुसार, 'डाक द्वारा प्रत्यक्ष विज्ञापन के निम्न आधारभूत तत्व है'-(i) सही तरीका (The Right Way), (ii) सही समय (The Right Time), (iii) सही वस्तुएँ (The Right Goods), (iv) सही व्यक्ति (The Right People)।

डाक द्वारा विज्ञापन का उद्देश्य ग्राहकों के आर्डर डाक द्वारा मँगाना है, प्रत्यक्ष ग्राहक को दुकान पर आने का आमन्त्रण देना नहीं है। इस विज्ञापन द्वारा सूची-पत्र, छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ, गश्ती चिट्ठियाँ आदि डाक द्वारा ग्राहको को भेजे जाते हैं। इसका प्रयोग एक स्थान पर तथा सुदूर देशो में ही किया जा सकता है। यह विज्ञापन

सर्वसाधारण जनता के लिए नहीं वरन् कुछ चुने हुए व्यक्तियों के लिए ही उपयुक्त है। जिन व्यक्तियों से प्रत्यक्ष डाक द्वारा सम्पर्क बढ़ाना हो, उनकी एक सूची बना ली जाती है। फिर इन्हीं व्यक्तियों को सीधे वस्तुओं के विवरण-पत्र, कुछ समय बाद मूल्य पुस्तक और फिर गश्ती-पत्र आदि भेजते हैं। आज डाकघरों की संख्या में वृद्धि होने तथा अन्य सुविधाएँ प्राप्त होने के कारण यह पद्धति अधिक प्रभावपूर्ण एवं महत्वशाली हो गई है। भारत में यह पद्धति काफी प्रचलन में है। डाक द्वारा विज्ञापन साधारणतया निम्न डाक सामग्री के माध्यम से किया जाता है-

(1) पुस्तिकाएँ, (2) सूची-पत्र, (3) मूल्य सूची, (4) जवाबी लिफाफा, (5) परिपत्र, (6) व्यक्तिगत पत्र आदि।

(iv) क्रय बिन्दु विज्ञापन

(Purchase Point Advertising)

क्रय बिन्दु विज्ञापन से आशय ऐसे विज्ञापन से है जो व्यापार गृह के क्रय-विक्रय स्थान पर ही ग्राहक को आकर्षित करने एवं उसे क्रय करने हेतु प्रेरित करने के उद्देश्य से किया जाता है। क्रय बिन्दु विज्ञापन निम्न दो प्रकार से किया जाता है :

(i) **काउण्टर पर प्रदर्शन द्वारा**-इसके अन्तर्गत काउण्टर पर वस्तुओं को सजाकर रखा जाता है, ताकि ग्राहक बिना संकोच उन्हें उठा सकें और देख सकें। वातायन सजावट ग्राहकों को आकर्षित करके दुकान में प्रवेश कराती है तथा काउण्टर सजावट उसे क्रय करने के लिए प्रेरित करती है।

(ii) **आंतरिक सजावट द्वारा**-इसमें वस्तुओं को वातायन अथवा अलमारियों में इस प्रकार से सजाया जाता है कि दुकान के निकट से निकलने वाले प्रत्येक व्यक्ति को अच्छी तरह से दिखाई दे तथा उसमें उनके प्रति जिज्ञासा उत्पन्न हो एवं दुकान पर रुकने के लिए प्रेरित हो।

(v) मनोरंजन एवं अन्य विज्ञापन

(Entertainment and Other Advertising)

(1) **वस्तुओं का मुफ्त वितरण** (Free Distribution of Products)-निर्माता कम्पनियाँ एवं व्यापारी कैलेण्डर, डायरियाँ, पैन, पर्स आदि मुफ्त वितरित करके भी वस्तुओं एवं सेवाओं का विज्ञापन करते हैं। इन वस्तुओं पर निर्माता कम्पनी या व्यापारी फर्म का पता लिखा होता है जिससे संस्था का व्यापक विज्ञापन होता है।

(2) **उपहार या भेंट** (Gifts)-किसी वस्तु की एक निश्चित मात्रा क्रय करने पर कोई वस्तु उपहार या भेंट स्वरूप दी जाती है जिससे भी वस्तुओं का विज्ञापन होता है। बोर्नविटा के प्रत्येक डिब्बे के साथ प्लास्टिक का ग्लास, पालमोलिव दाढ़ी बनाने के साबुन के साथ दो प्रिन्स ब्लेड तथा क्रीम के साथ विल्टेज ब्लेड का पैकेट दिया जाता है।

(3) **प्रदर्शन** (Demonstration)-दुकान पर या दुकान के बाहर वस्तु का क्रियात्मक प्रदर्शन कर ग्राहकों को आकर्षित किया जा सकता है। निकिताशा कम्पनी के उत्पादों का क्रियात्मक प्रदर्शन बहुत लोकप्रिय रहा है। ज्यूस निकालने, सब्जियाँ छीलने तथा काटने, हाथ से सिलाई करने एवं काढ़ने की मशीनों एवं औजारों का क्रियात्मक प्रदर्शन लोगों को वस्तु क्रय के लिए प्रेरित करता है।

(4) **लाउडस्पीकर** (Loudspeakers)-निर्माता या व्यापारी रिक्शा, ताँगा या मोटर में लाउडस्पीकर लगाकर स्थान-स्थान पर घूमते हुए वस्तुओं एवं सेवाओं का विज्ञापन करते है। वे फिल्मी गानों के बीच में विज्ञापन गाते है।

(5) **ड्रामा एवं संगीत कार्यक्रम** (Drama and Music Programme)-निर्माता कम्पनियाँ ड्रामा एवं संगीत कार्यक्रमों से भी वस्तुओं का विज्ञापन करती है। ये कार्यक्रम गाँवों में अधिक लोकप्रिय होते है। इसके लिए ड्रामा एवं संगीत मण्डलियाँ बनाई जा सकती है। ये मण्डलियाँ जगह-जगह घूमकर संगीत कार्यक्रम प्रस्तुत करती है।

(6) **मेले एवं प्रदर्शनियाँ** (Fairs and Exhibitions)-विश्व के सभी देशों में मेले एवं प्रदर्शनियाँ आयोजित होते रहते है। इन मेलों एवं प्रदर्शनियों में संस्थाएँ अपने-अपने मण्डप लगाकर वस्तुओं का विज्ञापन एवं विक्रय करती हैं। विज्ञापनकर्ताओं की सुविधा के लिए सरकार प्रदर्शन गाड़ियाँ (Exhibition Trains) भी चलाती है जिसमें वस्तुएँ सजी हुई होती हैं।

(7) **सिनेमा एवं सिनेमा स्लाइड** (Cinema and Cinema Slide)-शहरों एवं कस्बों में सिनेमा मनोरंजन का महत्वपूर्ण साधन है। सभी श्रेणी के लोग सिनेमा देखते है। विज्ञापनकर्ता सिनेमा स्लाइड बनाकर या फिल्म बनाकर

NOTES

सिनेमा विज्ञापन कर सकते है। सिनेमा स्लाइड में विज्ञापन सन्देश लिखी हुई स्लाइड फिल्म के प्रारम्भ एवं मध्यान्तर में दिखाई जाती है।

(8) **रेडियो एवं टेलीविजन** (Radio and Television)-आधुनिक युग में रेडियो एवं टेलीविजन विज्ञापन के बहुत ही महत्वपूर्ण साधन है। एक साधारण ग्रामीण व्यक्ति भी रेडियो सुनना पसन्द करता है। शहरों और कस्बों में टेलीविजन एक आवश्यकता बनती जा रही है। रेडियो एवं टेलीविजन पर प्रसारित होने वाले कार्यक्रमों के बीच दिये गये विज्ञापन बहुत ही प्रभावशाली होते है।

प्रभावी विज्ञापन की विशेषताएँ
(Characteristics of an effective advertisement)

विज्ञापन की सफलता एक प्रभावी प्रति पर निर्भर करती है। विज्ञापनदाता जो विज्ञापन देता है, वह विज्ञापन सन्देश ही विज्ञापन-प्रति कहलाता है। **राइट** एवं **बर्नर** के अनुसार, "विज्ञापन-प्रति में मुद्रित या प्रसारित विज्ञापन सन्देश या सूचना के महत्वपूर्ण तत्व सम्मिलित होते हैं।" एक प्रभावी विज्ञापन-प्रति वह है जो ग्राहकों को आकर्षित कर सके, उनमें विज्ञापित वस्तु के प्रति इच्छा जाग्रत कर सके एवं उन्हें क्रय करने के लिए प्रेरित कर सके।

प्रो. एस.आर.डावर (S.R.Davar) के अनुसार एक अच्छी विज्ञापन प्रणाली में निम्नलिखित विशेषताएँ अथवा लक्षण होने चाहिए :

(1) **प्रवृत्ति तत्व** (Instinctive Value)-प्रत्येक व्यक्ति की प्रवृत्ति अलग-अलग होती है। वह उन्हीं प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर किसी वस्तु के क्रय करने का निर्णय करता है। अत: एक विज्ञापन की प्रति में यह गुण होना चाहिए कि वह विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियों को जाग्रत करे।

डॉ. स्टॉक तथा **प्रो. हैंस** के अनुसार, मानव की निम्न आठ प्रकार की प्रवृत्तियाँ होती है- (i) बैठे से बेगार भली प्रवृत्ति (Something for Nothing Preservation Instinct), (ii) कौतूहल प्रवृत्ति (Curiosity Preservation Instinct), (iii) पैतृक प्रवृत्ति (Parental Preservation Instinct), (iv) संचयी प्रवृत्ति (Hoarding Preservanon Instinct), (v) वस्त्र प्रवृत्ति (Clothing Preservation Instinct), (iv) आखेट प्रवत्तियाँ (Hunting Preservation Instinct), (vii) खाद्य प्रवृत्तियाँ (Food Preservation Instinct), (viii) स्वरक्षा प्रवृत्ति (Self-Preservation Instinct)

(2) **शिक्षा तत्व** (Educational Value)-शिक्षा तत्व से हमारा अभिप्राय किसी वस्तु के प्रयोग विधि से है। हमारा यह अनुभव है कि ग्राहक किसी भी ऐसी वस्तु को क्रय करने में हिचकिचाहट अनुभव करता है जिसकी कि प्रयोग विधि उसे मालूम न हो। अत: विज्ञापन-प्रति में वस्तु-विशेष की प्रयोग विधि स्पष्ट रूप से दी जानी चाहिए।

(3) **भावात्मक तत्व** (Sentimental Value)-विज्ञापन-प्रति में ऐसी किसी भी बात का समावेश नहीं होना चाहिए जिससे किसी जाति अथवा धर्म के लोगों की भावनाओं को ठेस पहुँचने की सम्भावना हो। विज्ञापन-प्रति में ऐसी भावनाओं को दुखाने की अपेक्षा सहलाया जाता है। खाद्यान्न सामग्री के सम्बन्ध में यह बात विशेष रूप से लागू होती है, 'अण्डा रहित', 'चर्बी रहित' आदि शब्दों के प्रयोग से शाकाहारी भोजन करने वाले लोगों पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। 'स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग कीजिए, कुटीर उद्योग को संरक्षण दीजिए' आदि शीर्षक विभिन्न देशों उत्पादकों द्वारा अपनी वस्तुओं का उपयोग बढ़ाने के लिए काम में लाये जाते है।

(4) **विश्वास तत्व** (Conviction Value)-विज्ञापन-प्रति में जन साधारण में विश्वास उत्पन्न करने की क्षमता होना नितान्त आवश्यक है। आज का उपभोक्ता तब तक किसी वस्तु को खरीदने के लिए तैयार नहीं होता जब तक कि उसे उस वस्तु के सम्बन्ध में पूर्ण विश्वास न करा दिया जाए। अत: विज्ञापन-प्रति में ऐसे तथ्यों का समावेश होना चाहिए जो पाठकों को वस्तु के उपयोग के प्रति विश्वास दिला सकें। जैसे-**गारण्टी देना, कथित गुणों के अनुरूप न होने पर लौटाने की व्यवस्था अथवा 'पसन्द न आने पर पैसे वापस', 'दूषित सिद्ध करने वाले को बड़ी निधि के इनाम देने की घोषणा'।**

(5) **स्मरण तत्व** (Memonsing Value)-अधिकांश विज्ञापनों का प्रदर्शन अल्पकालिक होने के कारण जन-साधारण उनसे अधिक प्रभावित नहीं हो पाता और इस प्रकार कुछ समय बाद भूल जाता है। इससे विज्ञापन का उद्देश्य पूरा नहीं होता। अत: यह आवश्यक है कि विज्ञापन को बार-बार दुहराया जाए।

(6) **सुझावात्मक तत्व**-(Suggestive Value)-पढ़ने वालों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के बाद मस्तिष्क में विचार-तरंग उत्पन्न होनी चाहिए अर्थात् वस्तु के गुण, प्रयोग विधि एवं सुझाव आदि का समावेश

होना चाहिए। उदाहरण के लिए, "**साँस की बदबू हटाये, दाँतों की सड़न रोके, कोलगेट का सुरक्षा चक्र अपनाइये।**"

(7) **ध्यानाकर्षण** (Attention Value)-आज का मानव अपने कार्यों में अत्यधिक व्यस्त रहता है। अत जब तक इसका ध्यान आकर्षित करने के लिए कोई नई वस्तु उसके सामने नही आती, तब तक वह पढ़ने के लिए तैयार नहीं होता और इस प्रकार वह अच्छे से अच्छे विज्ञापन की उपेक्षा कर देता है। यही कारण है कि विज्ञापन-प्रति में अधिक से अधिक हृदय ग्राह्यता तथा आकर्षण लाने का प्रयत्न किया जाता है, ताकि जन-साधारण की दृष्टि उस पर पड़ सके और उसका प्रभाव व्यापक हो। एक विज्ञापन-प्रति अधिक से अधिक आकर्षक हो, इसके लिए निम्न तरीके प्रयोग में लाये जाते है-(i) चित्र (Picture); (ii) विभिन्न प्रकार के रंगों का प्रयोग, (iii) आकर्षक शीर्षक; (iv) मार्मिक नारे (Slogans); (v) प्रदर्शन तत्व (Display Value),(vi) सुन्दर धारियाँ; (vii) विशिष्ट स्थान; (viii) उत्तर के लिए कूपन तथा (xi) नवीनता आदि।

ध्यानाकर्षण करने के लिए विज्ञापन में मौलिकता का होना बहुत आवश्यक है। इसके अभाव मे पाठकगण उसकी ओर आकृष्ट नही होंगे।

विज्ञापन प्रभावोत्पादकता का मापन या मूल्यांकन
(Measuring or Evaluating Advertising Effectiveness)

विकसित और विकासशील राष्ट्रों में विज्ञापन पर किये जाने वाले व्यय में निरन्तर वृद्धि हो रही है। एशियाई देशों में विज्ञापन व्यय की दृष्टि से भारत का स्थान जापान के पश्चात् दूसरा है। भारत मे 1973 में विज्ञापन पर लगभग 70 करोड़ रु. व्यय किये गये। विज्ञापन पर अत्यधिक राशि व्यय किये जाने के कारण निर्माताओं के लिए यह परम आवश्यक हो गया है कि वे यह ज्ञात करें कि इस विशाल राशि का उपयोग ठीक प्रकार से हो रहा है या नहीं। विज्ञापन प्रभावोत्पादकता के मूल्यांकन से आशय निर्माता द्वारा यह ज्ञात करना कि विज्ञापन प्रभावशाली रहा या नहीं। अन्य शब्दों में, एक विज्ञापन के प्रभाव को मालूम करना ही विज्ञापन प्रभावोत्पाकदता का मूल्यांकन कहलाता है।

विज्ञापन प्रभावोत्पादकता के मूल्यांकन का महत्व
(Importance of Evaluting Adveriting Effectiveness)

आधुनिक प्रतिस्पर्द्धा युग में विज्ञापन एक अनिवार्य है। यह व्यवसाय की एक दैनिक क्रिया मानी जाने लगी है। इस पर विशाल धनराशि व्यय की जाती है। अत: यह आवश्यक हो गया है कि विज्ञापन की प्रभावोत्पादकता का समय-समय पर मूल्यांकन किया जाये जिससे विज्ञापन पर व्यय की जाने वाली राशि व्यर्थ न जाये। इस प्रकार विशाल धनराशि के विनियोग के कारण विज्ञापन प्रभावोत्पादकता मूल्यांकन का महत्व बढ़ जाता है। इसके अतिरिक्त, विज्ञापन प्रभावोत्पादकता मूल्यांकन से अच्छे विज्ञापन माध्यम का पता लगाया जा सकता है। घरेलू और विदेशी दोनों बाजारों मे लाभों की सीमा (Margins) में निरन्तर कमी और बढ़ती हुई प्रतिस्पर्द्धा के कारण यह आवश्यक हो गया है कि एक निर्माता अपने सभी व्ययों का सावधानीपूर्वक मूल्यांकन करे।

विज्ञापन प्रभावोत्पादकता मूल्यांकन में कठिनाइयाँ
(Difficulties in Evaluating Advertising Effectiveness)

विज्ञापन प्रभावोत्पादकता मूल्यांकन में आने वाली मुख्य कठिनाइयों का वर्णन नीचे प्रस्तुत है :

(1) वर्तमान मे जिन मूल्यांकन विधियों का प्रयोग किया जाता है, वे केवल यह बताती है कि मूल्यांकन किये जा रहे विज्ञापनों में कौन-सा विज्ञापन सर्वोत्तम है। ऐसा कोई स्तर उपलब्ध नही है जिसके द्वारा यह निर्धारित किया जा सके कि विज्ञापन को सफल बनाने के लिए उसमें क्या सम्मिलित किया जाना चाहिए।

(2) कुछ विज्ञापन ऐसे होते हैं जिनका उद्देश्य तुरन्त विक्रय वृद्धि करना नहीं होता। ऐसे विज्ञापन की प्रभावोत्पादकता का मूल्यांकन भी कठिन है। जैसे- साख निर्माण करने वाले, प्रतिष्ठा बढ़ाने वाले, कम्पनी छवि का सृजन करने वाले विज्ञापनों के प्रभाव को मापना अपेक्षाकृत काफी कठिन है।

(3) विज्ञापन के निम्न दो भाग होते है-**प्रथम** "क्या कहा गया है" (What is said) और **द्वितीय**, 'कैसे कहा गया है' (How it is said)। एक भाग में उत्पाद के गुणों और विशेषताओं को सम्मिलित किया जाता है और दूसरे में शीर्षकों, उदाहरणों और बनावटों को सम्मिलित किया जाता है। विज्ञापन के प्रथम भाग अर्थात् "क्या

NOTES

कहा गया है" की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है। वर्तमान में विज्ञापन के प्रथम भाग की प्रभावशीलता या प्रभावोत्पादकता को मापना कठिन है।

(4) केवल डाक द्वारा प्रत्यक्ष व्यापार को छोड़कर हम अन्य अवस्था में किसी विक्रय के लिए किसी विशिष्ट विज्ञापन या आन्दोलन को श्रेय नहीं दे सकते। किसी उत्पाद के विक्रय की मात्रा विज्ञापन के अतिरिक्त विक्रय संवर्द्धन, उत्पाद नियोजन, विपणन अनुसन्धान, वैयक्तिक विक्रय, उत्पाद की कीमत, किस्म एवं डिजाइन आदि विपणन तत्वों से भी प्रभावित होती है। ये सभी तत्व एक-दूसरे से इस प्रकार सम्बन्धित है कि इनके प्रभावों को पृथक्-पृथक् नहीं किया जा सकता।

विज्ञापन की प्रभावोत्पादकता मूल्यांकन की विधियाँ
(Methods of Evaluating Advertising Effectiveness)

फिलिप कोटलर (Philip Kotler) ने विज्ञापन की प्रभावोत्पादकता के मूल्यांकन की निम्न दो विधियों का उल्लेख किया है-(i) संचार अनुसन्धान (Communication Research), (ii) विक्रय अनुसन्धान (Sales Research)।

(I) संचार अनुसन्धान (Communication Research)

इस विधि द्वारा यह ज्ञात करने का प्रयास किया जाता है कि विज्ञापन अपेक्षित संचार या सम्प्रेषण प्रभाव उत्पन्न कर रहा है या नहीं। इस हेतु अनेक परीक्षण किये जाते है। केवल विज्ञापन का ही संचार के माध्यम के रूप में प्रयोग नहीं किया जाता। विक्रय संवर्द्धन, वैयक्तिक विक्रय, प्रदर्शन, प्रचार आदि भी संचार का कार्य करते है।

विज्ञापन की प्रभावोत्पादकता को मापने के लिए संचार अनुसन्धान के अन्तर्गत दो प्रकार के परीक्षण किये जाते है-**प्रथम**, 'पूर्व परीक्षण' (Pre-testing) और **द्वितीय**, 'बाद परीक्षण' (After-testing)। प्रथम परीक्षण के अन्तर्गत विज्ञापन जनता तक पहुँचाने से पूर्व यह ज्ञात किया जाता है कि विज्ञापन प्रभावशाली रहेगा या नहीं। द्वितीय परीक्षण के अन्तर्गत विज्ञापन को जनता तक पहुँचाने के बाद उसकी प्रभावोत्पादकता मापी जाती है। इसमें निम्नांकित तरीके काम में लाये जाते हैं :

(1) **उपभोक्ता पंच परीक्षण** (Test of Consumer Jury)-इसे सम्मति अनुसन्धान या सम्मति परीक्षण (Opinion Research) भी कहते हैं। इस विधि के अन्तर्गत उपभोक्ताओं की कुछ पैनलें (Panels) भी तैयार की जाती हैं जिनमें सभी प्रकार के ग्राहकों को सम्मिलित किया जाता है। प्रत्येक पैनल में 8 से लेकर 10 तक सदस्य होते हैं। इसमें प्रस्तावित विज्ञापनों को पैनलों को दिखाया जाता है और इनकी प्रतिक्रियाएँ एवं टिप्पणियाँ आमन्त्रित की जाती हैं। पैनल के सदस्यों से आशा की जाती है कि वे सम्भावित क्रेताओं की हैसियत से अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करेंगे, न कि विशेषज्ञों की हैसियत से। ऐसे परीक्षण का मुख्य उद्देश्य यह होता है कि यदि पैनलों की प्रतिक्रियाएँ पक्ष में नहीं हों तो उस विज्ञापन को उपभोक्ताओं तक न पहुँचाकर पर्याप्त राशि को व्यर्थ जाने से बचा लिया जाये। ऐसे परीक्षण के लिए या तो गोष्ठी का आयोजन किया जाता है जिसमें चुने हुए कुछ वर्तमान एवं सम्भावित क्रेताओं को आमन्त्रित किया जाता है।

(अ) **योग्यता-क्रम परीक्षण** (Order or Merit Test)-इसके अन्तर्गत उपभोक्ताओं को विज्ञापन की अनेक प्रतिलिपियाँ दी जाती हैं और प्राथमिकताएँ देते हुए अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने को कहा जाता है। उपभोक्ता, योग्यता के अनुसार प्राथमिकताएँ देते हैं।

(ब) **तुलनात्मक युगल परीक्षण** (Paired Comparison Test)-इसके अन्तर्गत उपभोक्ताओं को विज्ञापन प्रतियों को जोड़े में दिया जाता है और सर्वोत्तम का चुनाव करने के लिए कहा जाता है। इसमें सभी विज्ञापन प्रतियों की एक दूसरे से तुलना जोड़ों के आधार पर की जाती है। जोड़ों के आधार पर तुलना का कार्य तब तक चलता रहता है जब तक कि सभी प्रतियों की एक दूसरे से तुलना न हो जाये।

(2) **स्मृति या याददाश्त परीक्षण** (Memory Tests)-स्मृति परीक्षणों द्वारा भी विज्ञापन की प्रभावोत्पादकता को मापा जा सकता है। इन परीक्षणों का विकास विज्ञापन के ध्यानाकर्षण सम्बन्धी महत्व को ज्ञात करने के लिए किया गया है। उदाहरण के लिए, उपभोक्ताओं को या विज्ञापन प्रत्यर्थी (Respondent) को कुछ **सेकेण्ड** (Second) के लिए विज्ञापन की प्रति को दिखाया जाता है फिर उस प्रति को उनके सामने से हटा दिया जाता है। इसके बाद प्रत्यर्थी से उस विज्ञापन प्राप्ति के सम्बन्ध में जो कुछ याद हो, बताने के लिए कहा जाता है। इस प्रकार के इन परीक्षणों से यह ज्ञात हो जाता है कि विज्ञापन लोगों का ध्यान किस सीमा तक आकर्षित करने में सफल हो सकेगा।

इन स्मृति परीक्षणों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है- (अ) पहचान परीक्षण (Recognition Test) एवं (ब) पुन: स्मरण परीक्षण (Recall Test)

(अ) **पहचान परीक्षण** (Recognition Test)-यह विधि विज्ञापन के बाद के परीक्षण (After testing) के अन्तर्गत आती है। इसमें पत्रिका या अन्य किसी माध्यम से उपभोक्ताओं को विज्ञापनों को दिखाया जाता है।

(ब) **पुन: स्मरण परीक्षण** (Recall Test)-इसमें प्रत्यर्थी या उत्तरदाता को विज्ञापन को नहीं दिखाया जाता, लेकिन उससे कुछ प्रश्न किये जाते हैं, जैसे-"नहाने के साबुन के सम्बन्ध में इन दिनों में आपने कौन-सा विज्ञापन देखा है" या "क्या आपको अमुक विज्ञापन का स्मरण है?"

NOTES

इन परीक्षणों के अतिरिक्त अब कुछ कम्पनियाँ विज्ञापन के प्रति होने वाली ऐच्छिक एवं अनैच्छिक प्रतिक्रियाओं की अभिलिखित (Record) करने के लिए इलेक्ट्रॉनिक विधियों का भी प्रयोग करने लगी है। इलेक्ट्रॉनिक विधियों में एक विधि को 'साइको गेल्वानोमीटर' कहते है।

(3) **अन्य विधियाँ** (Other Methods)-सामान्य रूप से संचार प्रभाव सम्बन्धी अनुसन्धान विधियो में उपर्युक्त को ही सम्मिलित किया जाता है, परन्तु इसके अतिरिक्त कुछ अन्य विधियों का भी उल्लेख किया जा सकता है जो निम्न हैं

(अ) **नेटप्स विधि** (Nettaps Method)-इस विधि के अन्तर्गत उपभोक्ताओं को दो श्रेणियों में विभाजित किया जाता है। **प्रथम**, वे उपभोक्ता जो विज्ञापन का पुन: स्मरण करते है और वस्तु का प्रयोग कर रहे है और **द्वितीय**, वे उपभोक्ता जो विज्ञापन का पुन: स्मरण नहीं करते और उत्पाद का प्रयोग भी नही करते।

(ब) **पाठकों का सर्वेक्षण** (Readership Surveys)-इस विधि में सामान्यत: साक्षात्कार का सहारा लिया जाता है या प्रश्नावलियाँ तैयार की जाती है और उपभोक्ताओं को उन्हे भरने के लिए कहा जाता है। उनके उत्तरों के आधार पर विज्ञापन के प्रभाव को मापा जाता है।

(II) विक्रय अनुसन्धान (Sales Research)

विक्रय प्रभाव सम्बन्धी अनुसन्धान द्वारा भी विज्ञापन की प्रभावोत्पादकता को मापा जा सकता है। विज्ञापन का सामान्य उद्देश्य विक्रय वृद्धि करना होता है। अत: विक्रय वृद्धि को विज्ञापन प्रभावशीलता के मूल्यांकन का आधार बनाया जा सकता है। यदि विज्ञापन के फलस्वरूप विक्रय में पर्याप्त वृद्धि हो तो विज्ञापन को प्रभावी कहा जा सकता है। अत: यदि इन अन्य विपणन तत्वों के प्रभावों को स्थिर रखा जा सके, तभी विक्रय वृद्धि विज्ञापन की प्रभावोत्पादकता के मापन का आधार बन सकती है।

विक्रय प्रभाव सम्बन्धी अनुसन्धान विधि में दो क्षेत्रों को चुना जाता है जिन्हें परीक्षण क्षेत्र और नियन्त्रण क्षेत्र कहा जाता है। परीक्षण क्षेत्र वह क्षेत्र होता है जहाँ विज्ञापन किया जाता है और नियन्त्रण क्षेत्र वह होता है जहाँ विज्ञापन नहीं किया जाता। यह उल्लेखनीय है कि परीक्षण क्षेत्र में नियन्त्रण क्षेत्र की तुलना मे विक्रय की मात्रा में पर्याप्त वृद्धि होनी चाहिए, तभी विज्ञापन प्रभावोत्पादक कहलायेगा।

विज्ञापन प्रति
(Advertising Copy)

एक प्रभावशाली प्रति विज्ञापन की सफलता पर निर्भर करती है। विज्ञापन देने वाला जो विज्ञापन देता है, उस विज्ञापन संदेश को ही विज्ञापन प्रति कहते हैं। "विज्ञापन प्रति" शब्द का प्रयोग संकुचित और विस्तृत दोनो अर्थ में होता है। संकुचित रूप में मुद्रित विज्ञापन संदेश या बोला गया वाक्य विज्ञापन की प्रति है किन्तु विस्तृत रूप में विज्ञापन प्रति के अन्तर्गत शीर्षक, सहायक शीर्षक, लिखित सहाशा, नारा, लोगो, चित्र सभी आते है। विज्ञापन माध्यमों के चयन के आधार पर प्रभावशाली शब्दों द्वारा वाक्य की रचना की जाती है। कई बार जब शब्दों का प्रभाव कम पड़ रहा हो तो इसमें चित्रों का समावेश किया जाता है। विज्ञापन प्रति का निर्माता यह स्वयं निर्धारित करता है कि कब कहाँ और किस चीज को अधिक महत्व दिया जाय? इसे ध्यान में रखते हुए विज्ञापन का निर्माण किया जाता है।

विज्ञापन प्रति के कारक (Factors of Advertising copy)— विज्ञापन प्रति मे सामान्य तौर पर निम्न तत्वों का समावेश होता है।

NOTES

(1) **मुख्य शीर्षक** (Main headline)– विज्ञापन की ओर ध्यानाकर्षण की दृष्टि से सबसे ऊपर या बड़े-बड़े अक्षरों में लिखी गई लाईन मुख्य शीर्ष रेखा या शीर्षक होता है।

(2) **उप-शीर्षक** (Sub-headline)– ऊर्ध्व रेखा, अधो रेखा Over line or under line सामान्य रूप से उप-शीर्षक, मुख्य शीर्षक को आधार देता है और कई बार अर्थ को पूर्णत्व प्रदान करता है सबसे ऊपर से नीचे भी पूरक शब्दावली हो सकती है।

(3) **लिखित मुख्य सामग्री** – यह विज्ञापन संदेश की विषय सामग्री होती है। इसके अन्तर्गत विज्ञापित वस्तु या सेवा की विशेषताएँ होती हैं जिसके माध्यम से लक्षित श्रोताओं को संभाव्य ग्राहक या ग्राहकों में परिणित किया जा सके।

(4) **कैप्शन्स** (Captions)– यह शीर्षक के समान ही छोटी इकाईयाँ हैं। चित्र के साथ या कूपन्स या विशेष छूट को प्रदर्शित करते है। विशिष्ट विक्रय बिन्दुओं की तुलना में ये कम महत्व के होते हैं। सभी विज्ञापनों में यह आवश्यक नहीं है।

(5) **नारे, लोगो और हस्ताक्षर** (Slogen, Logo & Signature)– दो से सात-आठ शब्दों के रूप में नारों के माध्यम से विज्ञापन। लोगो कम्पनी के नाम के शब्दों में निर्मित चिह्न और हस्ताक्षर आदि है।

एक अच्छी विज्ञापन प्रति के लक्षण

(Essentials of a good advertising copy)

विज्ञापन प्रति के लेखक को कुछ तथ्यों को अवश्य ध्यान में रखना पड़ता है क्योंकि शब्दों का संयोजन ही चमत्कार लाता है।

(1) **विशिष्टता–** विशिष्ट प्रकार से दिया गया संदेश अधिक ध्यान को आकर्षित करता है साथ ही याद रहने लायक होता है। वस्तु की प्रत्येक विशेषताओ का वर्णन आवश्यक नही होता केवल विशिष्टताओं को प्रकाश में लाना चाहिए। लक्षित श्रोताओं के वर्ग के आधार पर विशिष्टताओं को उभारना आवश्यक होता है।

(2) **सन्देश व्यक्तिगत हो–** 'आप' शब्द का प्रयोग प्रभावी होता है। **जैसे** – आप आवश्य यह पेन खरीदते होगें क्या आप जानते हैं? आदि। वर्तमान में विपणन ग्राहकों-मुख हो गया है इस कारण ग्राहकों को महत्व दिया जाना आवश्यक है।

(3) **सहजता–** भाषा स्पष्ट और सामान्य होनी चाहिए उसे सामान्य व्यक्ति भी आसानी से समझ सके।

(4) **संक्षिप्तता–** विज्ञापन का कथन संक्षिप्त होना चाहिए। प्रत्येक शब्द अपना विशिष्ट भार वाला होना चाहिए। विज्ञापन को कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक सूचना देते बनना चाहिए। उसे ग्राहकों के समय और सुविधा को विशेष तौर पर ध्यान में रखना चाहिए।

(5) **कृति प्रेरक–** वस्तु क्रय की प्रेरणा देने वाले वाक्यों, शब्दों का प्रयोग होना चाहिए। 'आज ही खरीदिये' आदि।

(6) **शीर्षक और सन्दर्भ चित्र में समन्वय और एकरूपता–** प्रति इस प्रकार से निर्मित हो कि सभी तत्व एक दूसरे के पूरक प्रतीत हों समग्र रूप से विज्ञापन एक इकाई लगे।

(7) **कुछ आश्चर्य और कौतुहल का समावेश हो–** कथन से निर्मित उत्सुकता पाठक को आगे पढ़ने या देखने को विवश करती है।

(8) **रुचिपरक और स्मरणीयता–** वाक्य रचना रुचिकर और नवीनता युक्त हो जिससे पाठक उसे याद रख सके। ग्राहकों की भावनाओं का आधार करने वाला वाक्य स्मरणीय होता है।

(9) **ध्यानाकर्षण–** शब्दों में ध्यान को आकर्षित करने की क्षमता होनी चाहिए। अक्षरों की रचना, वाक्य रचना और लेखन पद्धति इस प्रकार की हो कि लोगों का ध्यान सहज ही आकर्षित हो जाये।

(10) **स्पष्टता–** लक्षित श्रोताओं को सन्देश सही अर्थों में समझ में आये यह आवश्यक है। द्वि-अर्थी शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। नकारात्मक शब्दों का प्रयोग यथासम्भव कम करना चाहिए।

(11) **विश्वसनीयता–** अतिश्योक्तिपूर्ण विशेषताओं के बखान से ग्राहकों के मन में सन्देह का निर्माण होता हैं। जब तक ग्राहक विश्वास नही करता, वस्तु को नहीं खरीदता, इस कारण अवास्तविक और अनिश्चित वाक्यों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। यह तत्व सबसे महत्वपूर्ण एवं आवश्यक है।

(12) **सरलता**– विज्ञापन प्रति सरल तथा सामान्य जनता की भाषा में लिखी जानी चाहिए। उच्च भाषा की कसरत प्रतिलिपि में उपयोगी नहीं हो सकती, विज्ञापन पाठकों के लिए गहरे अध्ययन का विषय नहीं हो सकता, वह तो चलते-फिरते या पन्ने पलटते समय सहज पढ़ने या देखने की वस्तु है।

(13) **स्वाभाविकता**– स्वाभाविक वस्तु सबको पसन्द आती है। अनावश्यक भड़कीलापन, चमक-दमक, अश्लील या अतिश्रृंगार पूर्ण शब्द प्रयोग आदि बातें घृणा की पात्र मानी जाती हैं। चित्र में भी नारी का विकृत दर्शन, उत्तेजक दृश्य, वीभत्स प्रसंगों का चित्र आदि बातें प्रयत्नपूर्वक टाली जानी चाहिए।

(14) **स्वयं पूर्णता**– प्रतिलिपि पढ़ने के पश्चात्– 'विज्ञापक क्या कहना चाहता है' यह प्रश्न पाठक के मन में कभी नहीं आना चाहिए। विज्ञापन का मतलब न समझने पर कोई भी पाठक उसका मतलब किसी से पूछने नहीं जायेगा।

(15) **सूचनात्मकता**– प्रतिलिपि किसी एक पक्ष विशेष की मत प्रणाली से प्रभावित रखना बहुत बड़ा दोष है जिसके परिणाम से उस प्रणाली को न मानने वाले सभी सज्जन विज्ञापन के विरोधी बनकर उसकी बदनामी करना प्रारम्भ करेंगे। प्रतिलिपि का कार्य– 'सत्य समाचार देना' इतना ही है। उन समाचारों पर निष्पक्ष भाव से विचार करना पाठकों पर छोड़ देना चाहिए।

(16) **अतिशयोक्ति पूर्णता न हो**– विज्ञापनों में अतिशयोक्ति दोष बहुत बड़े प्रमाण में आ गया है। अतः कई बार सत्य विज्ञापन में भी पाठक अविश्वास व्यक्त करने लगते हैं। पाठक एक बार धोखा खा सकता है, बार-बार नहीं, और इस प्रकार धोखा खाया हुआ पाठक वस्तु के दुर्गुणों का स्वयं प्रेरित प्रचारक बनता है।

(17) **एक ही समय में दो ही गुणों का उद्घाटन होता हो**– प्रतिलिपि में एक ही समय किसी एक दो गुणों का ही उद्घाटन किया जाना चाहिए। सभी बातें एक साथ कहने से उनमें से किसी एक का भी योग्य प्रभाव नहीं पड़ पाता। वस्तु के ऐसे गुण चुन लेने चाहिए जो जनता को मालूम न हों और उन्हीं गुणों पर प्रकाश डालना चाहिए।

(18) **उसमें समय सुसंगति और यौक्तिकता हो**– प्रतिलिपि लिखते समय मौसम, प्रसंग, स्थान आदि बातों का विचार कर लेना चाहिए। वास्तविकता को ध्यान में रखा जाना चाहिए।

विज्ञापन प्रति के प्रकार
(forms of advertising copy)

विज्ञापन कापी को अनेक प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है। प्रमुख वर्ग निम्नलिखित हैं–

(1) वर्गीकृत या प्रदर्श्य (Classified of Display)

(2) स्थानीय या विदेशी (Local or Foreign)

(3) फुटकर या सामान्य (Retail or General)

(4) अन्य (Others)

(1) **वर्गीकृत या प्रदर्श्य** (Classified or Display)– जो विज्ञापन अपनी विषय-वस्तु तथा उद्देश्य के अनुसार उचित शीर्षकों के अन्तर्गत वर्गीकृत करके समाचार-पत्रों में छापे जाते हैं, उन्हें 'वर्गीकृत विज्ञापन' कहते हैं। इस प्रकार के विज्ञापनों की कापी प्रायः एक निर्धारित प्रारूप में लिखी जाती है। वर्गीकृत विज्ञापनों के उदाहरण हैं– पब्लिक नियुक्तियाँ, रिक्त पद, वांछित पद, वैवाहिक, शैक्षणिक, मोटर यान, कम्पनी नोटिस, नीलाम, नोटिस, निविदा नोटिस इत्यादि। सही ढंग से प्रयोग करने पर वर्गीकृत विज्ञापन-कापी काफी प्रभावशील हो सकती है। इसका प्रयोग अधिकतर स्थानीय विज्ञापकों द्वारा किया जाता है' वर्तमान में सबसे ज्यादा इसी विज्ञापन का चलन है।

(2) **स्थानीय या विदेशी** (Local & Foreign)– कुछ काल पूर्व तक समाचार-पत्रीय विज्ञापन में 'स्थानीय' तथा 'विदेशी' शब्दों का आम तौर से प्रयोग होता था। विदेशी विज्ञापन का अर्थ उस उत्पाद के विज्ञापन से होता था जो अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में बेचा जाता था और जिसे पत्रिकाओं तथा समाचार-पत्रों में विज्ञापित किया जाता था। इस प्रकार के विज्ञापन को विदेशी इसलिए कहते थे कि विज्ञापित वस्तु का उत्पादउन उस नगर में नहीं होता था जिसमें उप समाचार-पत्र या पत्रिका का प्रकाशन होता था। 'स्थानीय विज्ञापन' शब्द का प्रयोग उस विज्ञापन के लिए होता था जिसके लिए स्थानीय समाचार-पत्रों में स्थान का क्रय स्थानीय फुटकर विक्रेताओं द्वारा स्थानीय क्षेत्र में उपयोग के लिए किया जाता था।

NOTES

(3) **फुटकर या सामान्य** (Retail or General)– कुछ दिनों से 'फुटकर' तथा 'सामान्य' विज्ञापन शब्दों का भी सामान्य प्रयोग होने लगा है, क्योंकि अब विज्ञापनकर्त्ता की भौगोलिक सीमाएँ महत्वपूर्ण नहीं रह गई है, बल्कि स्वयं विज्ञापन की विशेषताएँ महत्वपूर्ण हो गई है। 'फुटकर' विज्ञापन का अर्थ उस विज्ञापन से है जो विज्ञापनकर्त्ता के स्वामित्व तथा नियंत्रण में चलाये जा रहे एक या अधिक रिटेल मार्गों को लाभ पहुँचाने के लिए उपभोक्ताओं के बीच किया जाता है। 'सामान्य विज्ञापन' किसी ट्रेड मार्का उत्पाद का वह विज्ञापन है जो किसी निर्माता, थोक विक्रेता या रिटेल मार्ग द्वारा जिस पर विज्ञापनकर्त्ता का स्वामित्व या नियंत्रण नहीं होता, किया जाता है।

(4) **अन्य** (Others)– विज्ञापन-कापी के अन्य प्रकारों में निम्नलिखित प्रमुख हैं– कारण-प्रधान, भावनात्मक, सूचनाप्रद, घोषणात्मक, काल्पनिक, व्यक्तिगत तथा विवरणात्मक। इन प्रकारों का स्वरूप अपने नामों से ही स्पष्ट है।

यद्यपि कापी के प्रारूप को इस ढंग से वर्गीकृत किया जा सकता है, तथापि कापी-लेखक के लिए ये सीमित महत्व ही रखते हैं। कापी-लेखक को अपना ध्यान कापी के प्रारूप पर केन्द्रित न करके उन उपभोक्ताओं के प्रकारों पर केन्द्रित करना चाहिए, जिनके लिए विज्ञापन लिखा जा रहा है। उसे उपभोक्ताओं की विशिष्टताओं और भावात्मक कापी पढ़कर उत्पाद की इच्छा-तुष्टि के गुणों की जानकारी प्रदान करते हैं, परन्तु अन्य उपभोक्ता विज्ञापन कापी में उत्पाद के गुणों के तर्क सम्मत तथा तथ्यात्मक प्रस्तुतीकरण से प्रभावित होते हैं। औद्योगिक माल-सज्जा के क्रेता प्रायः कारण-प्रधान कापी की माँग करते है, तथापि यदि विज्ञापनकर्त्ता सूचनाप्रद ढंग से कापी लिखता है तो भी वह उत्तम परिणाम प्राप्त कर सकता है।

कापी को विभिन्न प्रकारों से वर्गीकृत करने से कापी-लेखक को विशेष विज्ञापन की कापी तैयार करने के लिए एक विशेष ढंग अपनाने की प्रवृत्ति हो जाती है, जबकि वास्तव में अनेक सफल विज्ञापन अनेक प्रकारों के मिश्रण के परिणाम होते है। क्रय करने के कारणों को प्रायः विवरणात्मक या भावनात्मक रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

कुछ विज्ञापन कापियों में प्रस्तुतीकरण की असामान्य विधियों का उपयोग किया जाता है या किसी परोक्ष विधि से पाठक को **कार्यवाही** हेतु उत्प्रेरित किया जाता है। प्रथम का उदाहरण है– विज्ञापन को विनोदात्मक ढंग से प्रस्तुत करना। इन्हें '**विनोदी कापी**' (Comic Strips) कहते हैं। द्वितीय का उदाहरण है प्रतियोगिता या उपहार विधियों को अपनाना। आजकल इन कापियों का काफी उपयोग किया जाता है, अतः साधारण कापियों से इनकी भिन्नता दर्शाने के लिए नीचे इनका विवेचन किया जा रहा है।

विनोद कापी
(Comic copy)

इस कापी का मूल सिद्धान्त विज्ञापनकर्त्ता के सन्देश को विज्ञापन में चित्रित पात्रों के मुख से कहलाना है। अनेक बातों में इसे नाटकीय विज्ञापन कहा जा सकता है, क्योंकि विक्रय संदेश को विज्ञापनकर्त्ता की सलाह के रूप में प्रस्तुत न करके किसी अन्य व्यक्ति की सलाह के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार के विज्ञापन से मनुष्य की व्यंग्य चित्रों तथा चित्रमय वार्तालाप के प्रति रुचि का लाभ उठाकर परोक्ष रूप से उस विज्ञापन सन्देश सम्प्रेषित किया जाता है। यदि इसका प्रयोग सावधानीपूर्वक किया जाये तो इसको सरल वार्तालाप की ध्वनि एक घनिष्ठ व्यक्तिगत परामर्श का भाव उत्पन्न करती है।

बच्चों का मस्तिष्क अधिक कल्पनाशील होता है, अतः बच्चे के लिए लिखे गये कॉमिक विज्ञापन बड़ों की दृष्टि में मूर्खतापूर्ण हो सकते हैं। परन्तु फिर भी वे बच्चों के लिए काफी प्रभावी होते हैं। **उदाहरणार्थ**– 'पराग' पत्रिका के अन्तिम पृष्ठ पर छपने वाले पार्ले पॉपिन्स के विज्ञापन। अतः यह बहुत महत्वपूर्ण है कि इस कापी का प्रभाव उन व्यक्ति पर ही जाँचना चाहिए जिनके लिए वह लिखी गई हो।

विज्ञापन कापी की पठनीयता में वृद्धि के उपाय (Means to increase readability of Copy)

विज्ञापन कापी की पठनीयता में वृद्धि करने के लिए निम्नलिखित उपाय किये जा सकते हैं–

(1) **वाक्य तथा पैराग्राफ छोटे रखना**– पठनीयता विशेषज्ञों के मतानुसार लम्बे वाक्य पठनीयता का ह्रास करते है। सर्वाधिक पढ़ी जाने वाली अनेक पत्रिकाओं के औसत वाक्य काफी छोटे होते है।

इसी प्रकार पैराग्राफ भी छोटे होने चाहिए। कभी-कभी केवल एक शब्द का ही पैराग्राफ हो सकता है।

(2) **अमूर्त तत्व को मूर्त कल्पना में बदलना**– शब्दों द्वारा अभिव्यक्त अमूर्त तत्वों को मूर्त रूप देने से विज्ञापन संदेश अधिक ग्राह्य बनता है। इसके लिए चित्रांकन की युक्ति को अपनाया जा सकता है तथा ध्वंकार,

ताप लहर, नमक या अन्य ऐन्द्रिक अनुभवों को कुछ अतिरिक्त लहराती हुई रेखाओं की सहायता से दर्शाया जा सकता है। इसी प्रकार स्वाद, शीतलता और सुख के अनुभव को भी मूर्त रूप दिया जा सकता है।

(3) **विज्ञापन के केन्द्रीय विचार को पाठक के लिए शीघ्र ग्राह्य बनाना–** पाठक विज्ञापित विचार को शीघ्र ग्रहण कर सकें, इसके लिए निम्नलिखित उपाय किये जाने चाहिए–

(i) लोगों के मन में पहले से जमे हुए विचारों को समझाकर तदनुसार अभिव्यक्ति करना, यथा फूल जैसी ताजगी, रेशम जैसी मुलायम, मक्खन जैसा चिकना, मोती जैसा चमकीला।

(ii) द्रव्यवाचक या वस्तुबोधक सज्ञाओं का उपयोग करना, यथा किसी सोफा के आकार को बताने के लिए यह कहा जा सकता है कि इसमें चार व्यक्ति आसानी से बैठ सकते है। प्रेशर कुकर का आकार बताने के लिए यह कह सकते है कि इसमें पाँच लोगों के लिए भोजन बन सकता है।

उपभोक्ता प्रतियोगिताओं का विज्ञापन
(Advertising or consumer contests)

गत कुछ वर्षों से उपभोक्ता प्रतियोगिताओं का उपयोग भी विज्ञापन के रूप में होने लगा है। प्रतियोगिता की सूचना देने वाली विज्ञापन कापी मे उत्पाद के गुणों के बारे में बहुत कम बताया जाता है, परन्तु प्रतियोगिता में भाग लेने वाले लोगों को व्यक्तिगत लाभ क्या होता है, इस पर अधिक जोर दिया जाता है। इस प्रकार के विज्ञापनों के प्राय: निम्नलिखित शीर्षक दिये जाते हैं– 'एक लाख रुपये आप भी जीत सकते है', "30,000 रुपये नकद और नंदन कालोनी मे एक बंगला, 'एक एम्बेसडर कार और विश्व-भ्रमण की व्यवस्था" इत्यादि।

प्रतियोगिता विज्ञापन का मूल उद्देश्य माल बेचना है। अत: इनामी प्रतियोगिताएँ आयोजित करने वाले अधिकांश विक्रेता इनाम हेतु प्रविष्टि के साथ उत्पाद का ढक्कन, खाली पैकेट या कूपन भेजने की शर्त रखते है। अनेक प्रतियोगिताएँ विज्ञापनकर्त्ता के उत्पाद के उपयोग को प्रोत्साहित करने के लिए की जाती हैं। इस सम्बन्ध में कैमरा बनाने वाली कम्पनियों की चित्र-प्रतियोगिताएँ उल्लेखनीय हैं। अन्य प्रतियोगिताएँ, उत्पाद में ग्राहकों की रुचि उत्पन्न करने के लिए आयोजित की जाती हैं। इनमें लाभ देने वालों को उत्पाद के गुणों को कुछ निश्चित शब्दों में व्यक्त करने को कहा जाता है। इस प्रकार, उत्पाद का उपभोक्ता कापी-लेखक हो जाता है। ये लोग अन्य उपभोक्ताओं के कथनों की तुलना मे अनेक कथन पर अधिक विश्वास करते है। अत: अनेक पुराने उपभोक्ता उत्पाद के गुण के बारे मे अपने विश्वास को दृढ़ करते हैं। नये उपभोक्ता उत्पाद की श्रेष्ठता खोजने का प्रयास करते है, ताकि विजेता वाक्य लिखा जा सके।

उपहारों का विज्ञापन (Advertisement fo Premiums)— उपहारों का विज्ञापन भी प्रतियोगिताओं के समान ही होता है। विज्ञापनकर्त्ता उपहार का लालच देकर उपभोक्ताओं को मूल उत्पाद खरीदने को प्रेरित करता है। किसी वस्तु को खरीदने के लिए या पहले ही खरीदी गई वस्तु के लिए अतिरिक्त लालच के रूप में उपहार दिये जाते हैं। मेल आर्डर कम्पनियाँ, निर्धारित अवधि के भीतर आदेश दिए जाने के लिए, आदेश के साथ रकम भेजने के लिए या माल प्राप्त करने के तुरन्त बाद भुगतान करने के लिए प्रीमियम दिया करती है। समाचार-पत्र पत्रिकाओं तथा पुस्तकों के विक्रेता अपनी बिक्री बढ़ाने के लिए इस योजना का काफी उपयोग करते है और डायरी, कलैण्डर, डिक्सनरी, पेन, पेंसिल आदि उपहार के रूप में दिया करते हैं।

कभी-कभी उपहार देने का विज्ञापन ही समस्त विज्ञापन का आधार हो जाता है। इस दशा में, इस विज्ञापन को उपहार का विज्ञापन समझा जाना चाहिए, न कि मूल उत्पादन का विज्ञापन। इसमें उपभोक्ता को उपहार के प्रति आकर्षित किया जाता है, मूल उत्पाद के गुणधर्म का वर्णन नहीं किया जाता।

कभी-कभी केवल उपहार के आकर्षण के कारण ही मूल उत्पाद को खरीदा जाता है। प्राय: यह भी देखा जाता है कि कोई उपहार इतना लोकप्रिय सिद्ध होता है कि कम्पनी मूल उत्पाद के स्थान पर उपहार की बिक्री का कार्य ही करने लगते हैं।

रेडियो और टेलीविजन के प्रयोग में उपहार विज्ञापन की लोकप्रियता काफी बढ़ गई है। विशेषकर बच्चों के द्वारा उपयोग की जाने वाली वस्तुओं के लिए यह सत्य है। इस ढंग से उपहार के आयोजनकर्ता उन वस्तुओं की बिक्री भी कर लेते है, जिन्हें खरीदने को लोग प्राय: इच्छा नहीं करते। अनेक बालक कीचैन, बैज, कड़े, छल्ले, पर्स, एलबम, नेमपेड आदि के लालच मे इन वस्तुओं को खरीद लेते हैं। कभी-कभी उपहार पाने के लिए कुछ कूपन या ढक्कन भेजने पड़ते हैं। बच्चे जिद करके अपनी माताओं से उन वस्तुओं को खरीदवा कर कूपन या ढक्कन इकट्ठे करते है।

NOTES

NOTES

उपहार-विज्ञापन सीधी कार्यवाही विज्ञापन-श्रेणी होती है। विज्ञापनकर्ता इसकी प्रभावशीलता को बिना किसी कठिनाई के माप सकता है। परन्तु इस विज्ञापन के फलस्वरूप कूपनों या ढक्कनों की संख्या कुल बिक्री को परिचायक नहीं होती, क्योंकि अनेक लोग उपहार की परवाह किये बिना ही उत्पाद को खरीदते रहते हैं। उपहार-विज्ञापन की वास्तविक सफलता उपहार अभियान बन्द कर देने के बाद होने वाली बिक्री की वृद्धि में है, जैसा कि प्रतियोगिता विज्ञापन में होता है।

विज्ञापन लेखन के प्रकार (Types of Print Copy)

(1) **तुलनात्मक प्रति** – इसमें किन्हीं दो वस्तुओं की तुलना करते हुए अपने उत्पाद को श्रेष्ठ साबित करने का प्रयास किया जाता है।

(2) **शिक्षाप्रद प्रति**– इसमें कम्पनियाँ अपने विज्ञापन में किन्ही मुद्दों पर शिक्षा प्रदान करती हैं, जैसे– ध्वनि प्रदूषण के विज्ञापन में भारत पेट्रोलियम द्वारा दिया गया विज्ञापन या विभिन्न कम्पनियों द्वारा ईंधन बचत के विज्ञापन।

(3) **याद दिलाना**– इस विज्ञापन प्रति में उपभोक्ता को किसी तथ्य की याद दिलाई जाती है, जैसे– "अन्तिम अवसर" या जल्दी कीजिए यह लाभ स्टाक रहने तक आदि।

(4) **प्रमाण प्रति**– किसी वस्तु विशेष के अच्छे होने का प्रभाव किसी जाने-माने व्यक्ति के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है।

(5) **वर्णनात्मक प्रति**– इसमें किसी घटना का वर्णन होता है। कई बार वस्तु के गुणों का बखान सूचनात्मक रूप में किया जाता है।

(6) **बोली या भाषा परक प्रति**– जिस सन्देश या समूह के लिए विज्ञापन किया जाये उन्हीं की भाषा 'बोली' में उसकी प्रस्तुति उत्तम परिणाम कारक साबित होती है, जैसे– पेप्सी के विज्ञापन में कॉलेज के विद्यार्थियों द्वारा कथन" यही है राइट च्वाइस बेबी! अहा"।

(7) **हास्य विनोद प्रति**– हास्य विनोद के माध्यम से किसी कथानक को आकर्षक बनाया जा सकता है किन्तु सस्ता विनोद नहीं होना चाहिए। इस प्रकार की प्रति को बार-बार नहीं दोहराना चाहिए।

(8) **कल्पना विलास प्रति**– वस्तु का उपयोग और उसके विषय में कल्पना कर कथानक प्रस्तुति 'पान पसन्द' का विज्ञापन।

(9) **प्रश्ननार्थक विज्ञापन प्रति**– इसमें प्रश्न पूछते हुए उत्तर दिया जाता है। प्रश्न पूछने से ग्राहक के मन में उत्सुकता निर्मित होती है। कौन-सा साबुन इस्तेमाल करते हो?

(10) **कारण दर्शाने वाली प्रति**– इस प्रति में इस तथ्या का उल्लेख होता है कि वस्तु क्यों खरीदी जाये? इसमें वस्तु के गुण, उपयोगिता का उल्लेख होता है, जैसे– एल.एम.एल. फ्रीडम के विज्ञापन में ईंधन की क्षमता का उल्लेख '1 लीटर में 85 किलोमीटर'।

(11) **सम्भाषणात्मक प्रति**– दो व्यक्तियों के सम्भाषणों के माध्यम से वस्तु के फायदे से सम्बन्धित संदेश को ग्राहकों तक पहुँचाया जाता है, जैसे– क्या नई मशीन खरीदी है? नहीं यह तो दस साल पुरानी है अभी भी नई जैसी है।

(12) **समस्या निदान प्रति**– समस्या को बतलाते हुए उसके निराकरण का उपाय, जैसे– सिरदर्द, सर्दी-विक्स एक्सन 500, विक्स की गोली लो खिचखिच दूर करो।

(13) **व्यक्तित्व परक प्रति**– इससे किसी जाने माने व्यक्ति के मुख से उनके विचारों की अभिव्यक्ति होती है। जैसे– कपिल देव का कथन 'पामोलिव का जबाब नहीं' आदि।

(14) **निवेदात्मक प्रस्तुति**– इसमें किसी प्रसंग का उल्लेख करते हुए वस्तु क्रय के फायदों का उल्लेख किया जाता है प्रसंग के अनुरूप वस्तु की उपयोगिता को समझाने का प्रयास किया जाता है। इस हेतु किसी कथानक का प्रयोग भी किया जाता है।

(15) **संस्थागत विज्ञापन प्रति**– इस प्रकार की प्रति में वस्तु का विज्ञापन न होकर संस्था की साख निर्मित करने का प्रयास किया जाता है।

प्रश्न
(Questions)

दीर्घ उत्तरीय/निबन्धात्मक प्रश्न (Long Answer/Essay Type Questions)

1. "अधिकांश मामलों में उत्पादों एवं सेवाओं की दशा में विज्ञापन कुल मिलाकर विक्रय व्यय में कमी करता है।" इस कथन पर टिप्पणी कीजिए तथा उपभोक्ताओं और औद्योगिक क्रेताओं को विज्ञापन के लाभों को बताइए।
2. "विज्ञापन पर किया गया व्यय विनियोग है, बर्बादी नहीं।" इस कथन का परीक्षण कीजिए।
3. "विज्ञापन लाभप्रद होता है।" क्या आप इससे सहमत है? अपना उत्तर कारण सहित दीजिए।
4. विज्ञापन की प्रभावोत्पादकता के मापन के विभिन्न तरीकों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
5. एक प्रभावी विज्ञापन के सिद्धान्तों को समझाइये। उस विधि को बताइये जिससे विज्ञापन करने वाला व्यक्ति एक अनपढ़ व्यक्ति को प्रभावित कर सके।
6. विज्ञापन क्या है? क्या विज्ञापन वस्तुओं की मांग में वृद्धि करता है?
7. एक विज्ञापन माध्यम का चुनाव करते समय किन-किन घटकों पर विचार किया जाना चाहिए? विज्ञापन के लिए उपलब्ध प्रचलित माध्यमों को संक्षेप मे समझाइये।
8. प्रभावशाली विपणन में विज्ञापन का क्या योगदान है? विज्ञापन की प्रभावशीलता को मापने के प्रचलित ढंग समझाइए।
9. विज्ञापन बजट से आप क्या समझते है? विज्ञापन बजट निर्धारण की विभिन्न विधियों की विवेचना कीजिए।
10. विज्ञापन की प्रभावोत्पादकता के मूल्यांकन की विभिन्न विधियों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
11. विज्ञापन के विभिन्न प्रकारों को समझाइये। किसी एक लोकप्रिय विज्ञापन को उद्धरित कीजिए।
12. 'विज्ञापन' क्या है? इसकी सीमाएँ और प्रभावशाली विपणन में इसके महत्व का वर्णन कीजिए।
13. एक अच्छी विज्ञापन प्रति के लक्षण समझाइये।

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Type Questions)

1. विज्ञापन की सीमाओं का वर्णन कीजिए।
2. विज्ञापन के उद्देश्यों की विवेचना कीजिए।
3. "विज्ञापन अपने लिए स्वयं देता है।" समझाइये।
4. विज्ञापन क्या है? विज्ञापन एवं प्रचार में क्या अन्तर है?

●●●

NOTES

अपनी प्रगति की जाँच क
Test your Progress

NOTES

13

विक्रय-संवर्द्धन
[SALES PROMOTION]

विक्रय-संवर्द्धन का अर्थ एवं परिभाषाएँ
(Meaning and Definitions of Sales Promotion)

विक्रय-संवर्द्धन से आशय ऐसी किसी भी युक्ति से है जो विक्रय-वृद्धि में सहायक होती है। 'विक्रय-संवर्द्धन' शब्द का अर्थ संकीर्ण तथा व्यापक दोनों में लगाया जाता है। **संकीर्ण अर्थ में**, विक्रय-संवर्द्धन का आशय ऐसी क्रियाओं से है जो व्यक्तिगत विक्रय में सहायक होती है। **विस्तृत अर्थ में**, विक्रय-संवर्द्धन का अर्थ उन समस्त क्रियाओं से लगाया जाता है जो विक्रय-वृद्धि के लिए की जाती है।

विक्रय-संवर्द्धन की विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न परिभाषाएँ दी है। यहाँ पर हम कुछ प्रमुख विद्वानो द्वारा दी गई परिभाषाएँ दे रहे है :

(1) **जॉन केमरॉन एस्प्ले** (Jonan Cameron Asplay) के शब्दों में, "विक्रय-संवर्द्धन में उत्पादन के विपणन सम्बन्धी क्रियाओं को सम्मिलित किया गया है, जैसे-व्यक्तिगत विक्रय, विज्ञापन तथा बाजार को विस्तृत करने सम्बन्धी क्रियाएँ।"

(2) **एल.के.जॉनसन** (L.K. Johnson) के शब्दों में, "विक्रय संवर्द्धन में वे सभी क्रियाएँ सम्मिलित की जाती हैं जिनका उद्देश्य विक्रय दल, विज्ञापन विभाग, व्यापारियों तथा वितरकों के कार्यों की पूर्ति करना, समन्वय करना एवं विक्रय दल के कार्यों को अधिक प्रभावी बनाना होता है, ताकि विक्रय वृद्धि की जा सके और किसी अन्य प्रकार से उपभोक्ताओं को क्रय में अधिक रुचि लेने के लिए प्रोत्साहित किया जा सके।"

(3) **एच.आर.डिलेन्स** (H.R.Delens) के अनुसार, "विक्रय-संवर्द्धन से आशय विक्रय-वृद्धि के लिये किये गये विभिन्न कार्यों से है। इस शब्द से आशय विक्रय प्रयत्नों से है जो व्यक्तिगत विक्रय एवं विज्ञापन के पूरक है और जिनके समन्वय से ये उनको अधिकाधिक प्रभावशाली बनाने में सहायक होते है।"

(4) **अमेरिकन विपणन संस्थान** (American Marketing Association) के अनुसार, "विक्रय-संवर्द्धन में व्यक्तिगत विक्रय, विज्ञापन तथा प्रचार के अतिरिक्त वे क्रियाएँ भी आती है जो उपभोक्ता के क्रय तथा विक्रेता की तत्परता को प्रोत्साहित करती है; जैसे-प्रदर्शन, दिखावा, प्रदर्शनी, क्रियात्मक प्रदर्शन तथा विभिन्न अप्रचलित विक्रय प्रयत्न जो दैनिक जीवन में नहीं किये जाते।"[1]

(5) **जे.आर.डाबमैन** (J.R.Daubman) के शब्दों में, "विक्रय-संवर्द्धन से तात्पर्य फुटकर व्यापारियों के कार्यों को अधिकाधिक सरल बनाना है तथा व्यापारियों को अधिकाधिक श्रेष्ठ व्यापारी बनाना है।"

(6) **हैरोल्ड व्हाइटहेड** (Harold Whitehead) के अनुसार, "विक्रय-संवर्द्धन से तात्पर्य वास्तविक एवं सम्भावित थोक विक्रेता, फुटकर व्यापारी, उपभोक्ताओं तथा यहाँ तक कि स्वयं फर्म के विक्रेताओं में सूचनाओं के प्रसारण से है।"

निष्कर्ष-उपयुक्त परिभाषा-विक्रय संवर्द्धन की उपर्युक्त परिभाषाओं का अध्ययन करने के पश्चात् इसकी सरल शब्दों में इस प्रकार परिभाषा दी जा सकती है-"**विक्रय-वृद्धि के उन सभी प्रयत्नों को जो उपलब्ध समस्त शक्तियों, साधनों, गुणों आदि पर निर्भर हों, विक्रय-संवर्द्धन के नाम से पुकारा जाता है।**"

विक्रय-संवर्द्धन की विशेषताएँ
(Characteristics of Sales Promotion)

विक्रय-संवर्द्धन के की विशेषताएँ निम्नानुसार है :-

(i) विक्रय-संवर्द्धन की क्रियाएँ विक्रेता को माल का अधिकाधिक विक्रय करने के लिए प्रेरित करती है।

(ii) विक्रय-संवर्द्धन की क्रियाएँ उपभोक्ताओं को क्रय करने के लिए प्रेरित करती है।

(iii) विक्रय-सवर्द्धन में प्रदर्शन, दिखावा, प्रदर्शनी, क्रियात्मक प्रदर्शन, मेलों में विक्रय प्रतियोगिताएँ आदि को सम्मिलित किया जाता है। ये व्यापार के दैनिक कार्यक्रम में सम्मिलित नहीं है।

(iv) विक्रय-संवर्द्धन में उन समस्त क्रियाओं को सम्मिलित किया जाता है जो विज्ञापन एवं व्यक्तिगत विक्रय को सहायता पहुंचाने एव उसे प्रभावी बनाने के उद्देश्य से की जाती है।

(v) विक्रय-संवर्द्धन की क्रियाएँ व्यापार की दैनिक क्रियाएँ नहीं होती है अपितु ये नियमित क्रियाएँ होती हैं जो विक्रय में वृद्धि करने हेतु होते है जो विक्रय में वृद्धि करने हेतु विक्रय व्यूह-रचना में सम्मिलित की जाती है।

(vi) विज्ञापन, व्यक्तिगत विक्रय तथा प्रचार को विक्रय-संवर्द्धन मे सम्मिलित नही किया जाता है।

NOTES

विक्रय-संवर्द्धन का विज्ञापन एवं वैयक्तिक विक्रय से सम्बन्ध

(Relation of Sales Promotion with Advertising and Personal Selling)

विज्ञापन के सम्बन्ध में भावी ग्राहकों से बड़े पैमाने पर सम्पर्क करना होता है, ताकि उन्हें उत्पादन की जानकारी दी जा सके। वैयक्तिक विक्रय का आशय व्यवसायी द्वारा विक्रय के लिए किये गये व्यक्तिगत प्रयत्न से है, जिसमें विक्रेता स्वयं सम्भावित ग्राहकों से सम्बन्ध स्थापित करता है। इस प्रकार विज्ञापन का सम्बन्ध जन-सामान्य के एक बड़े वर्ग से होता है तथा वैयक्तिक विक्रय का सम्बन्ध कुछ व्यक्तियों तक होता है। विक्रय-संवर्द्धन चूँकि इन दोनों क्रियाओं (विज्ञापन एवं वैयक्तिक विक्रय) से सम्बन्धित होता है, अतः यह विज्ञापन एवं वैयक्तिक विक्रय के बीच की खाई को पाटने का प्रयत्न करता है। यह अग्र रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है :

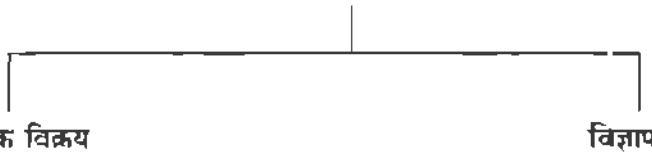

उदाहरणार्थ, यदि कोई कम्पनी अपना नवीन उत्पादन बाजार में विक्रय के लिए प्रस्तुत करना चाहती है तथा वस्तु के लिए विज्ञापन द्वारा प्रचार करती है, किन्तु केवल प्रचार मात्र से वस्तुओं का विक्रय नहीं हो जाता वरन् इसके लिए फुटकर दुकानों में विक्रेताओं के पास वस्तुएँ पहुँचाने एवं उन्हें वस्तु खरीदने के लिए प्रेरित करने की आवश्यकता होगी जिसके लिए व्यक्तिगत रूप से सम्पर्क किया जायेगा। इस व्यक्तिगत सम्पर्क एवं विज्ञापन के बीच की दूरी को कम करने के लिए विभिन्न प्रतियोगिताएँ, कूपन, मुफ्त नमूने, प्रब्याजि आदि की सत्यता ली जायेगी, ताकि विक्रय की वृद्धि की जा सके। ये ही विक्रय वृद्धि की समस्त विधियाँ विक्रय प्रवर्तन कही जायेंगी।

विज्ञापन तथा विक्रय-संवर्द्धन में अन्तर

(Distinction Between Advertisement and Sales Promotion)

विज्ञापन तथा विक्रय-संवर्द्धन का अन्तर निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाता है :

क्र.	अन्तर का आधार	विज्ञापन	विक्रय-संवर्द्धन
1.	**भूमिका**	विज्ञापन विक्रय के क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।	यह सहायक भूमिका निभाता है।
2	**विक्रय कार्य**	विज्ञापन वस्तुओं की ओर ग्राहकों को आकर्षित करता अथवा खींचता है।	विक्रय-संवर्द्धन ग्राहकों को ओर वस्तुओं को धकेलता है।
3	**सहायता**	विज्ञापन वैयक्तिक विक्रय मे सहायता करता है।	विक्रय-सवर्द्धन विज्ञापन तथा वैयक्तिक विक्रय दोनो मे सहायता करता है।
4	**शिक्षाप्रद**	विज्ञापन शिक्षाप्रद है। यह हजारों उपभोक्ताओं को एक साथ शिक्षा प्रदान करता है।	विक्रय-संवर्द्धन अपने ही व्यक्तियों को शिक्षित करने एवं अपनी ही विक्रय शक्ति को प्रोत्साहित करने का कार्य करता है।
5.	**ग्राहकों से सम्बन्ध**	विज्ञापन के माध्यम से ग्राहकों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित नहीं होता।	विक्रय-संवर्द्धन के माध्यम से ग्राहकों के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

NOTES

6	**भौगोलिक क्षेत्र**	भौगोलिक क्षेत्र की दृष्टि से विज्ञापन का क्षेत्र अधिक विस्तृत होता है।	भौगोलिक क्षेत्र की दृष्टि से विक्रय-संवर्द्धन का क्षेत्र विज्ञान की तुलना में कम विस्तृत होता है।
7.	**आवश्यकता**	आधुनिक युग में विज्ञापन प्रत्येक संस्था के लिए परम आवश्यक है।	किसी संस्था के लिए विक्रय-संवर्द्धन का प्रयोग करना आधुनिक युग में इतना आवश्यक नहीं है।
8.	**दैनिक गतिविधि**	विज्ञापन को व्यवसाय की दैनिक गतिविधियों में सम्मिलित किया जाता है।	विक्रय-संवर्द्धन को व्यवसाय की दैनिक गतिविधियों में सम्मिलित किया जाता, यह विशिष्ट अथवा अनियमित गतिविधि है।
9.	**नियन्त्रण**	केवल प्रत्यक्ष डाक द्वारा विज्ञापन को छोड़कर विज्ञापनों के अन्य सभी माध्यमों का नियन्त्रण अन्य संस्थाओं माध्यमों का नियन्त्रण अन्य के हाथों में रहता है।	विक्रय-संवर्द्धन का नियन्त्रण स्वयं व्यवसायी के हाथों में होता है।
10.	**उद्देश्य**	विज्ञापन का उद्देश्य जन-समूह को सामूहिक रूप से वस्तु के प्रति आकर्षित करके व्यक्तिगत विक्रय को सफल बनाना है।	विक्रय संवर्द्धन का उद्देश्य विज्ञापन एवं व्यक्तिगत विक्रय के बीच की खाई को पाटना है और उन्हें अधिक प्रभावशाली बनाना है।

विक्रय-संवर्द्धन के उद्देश्य
(Objects of Sales Promotion)

(1) विक्रय कार्यक्रम को निर्धारित करना एवं उसका क्रियान्वयन करना।

(2) बाजार अनुसन्धान करना।

(3) विक्रय एवं विज्ञापन के मध्य समन्वय स्थापित करना।

(4) प्रतिस्पर्द्धी व्यवसायियों के विक्रय-संवर्द्धन की नीतियों के प्रति जवाबी कार्यवाही करना।

(5) विशेष मौसम के फलस्वरूप विक्रय की कमी को कुछ अंशों तक दूर करना।

(6) उपक्रम के विक्रेताओं को माल को अधिकाधिक विक्रय करने के लिए प्रेरित करना।

(7) मध्यस्थों (जैसे-फुटकर विक्रेता तथा थोक विक्रेता आदि) को अधिकाधिक माल को क्रय करने के लिए प्रेरित करना।

(8) वर्तमान उपभोक्ताओं (ग्राहकों) को सदैव के लिए स्थायी ग्राहक बनाना एवं उन्हें अधिक मात्रा में माल क्रय करने के लिए प्रेरित करना।

(9) नये उपभोक्ताओं (ग्राहकों) को माल क्रय करने के लिए आकृष्ट करना।

(10) किसी नये उत्पादन को बाजार में प्रवेश करने में सहायता पहुँचाना।

विक्रय-संवर्द्धन विभाग
(Sales Promotion Department)

आधुनिक युग में विक्रय-संवर्द्धन विभाग पृथक् एवं स्वतन्त्र विभाग के रूप में कार्य करता है। वैसे तो प्रत्येक विभाग का लक्ष्य विक्रय-वृद्धि में सहयोग करना है, किन्तु यदि प्रत्येक विभाग असमन्वित रूप से पृथक्-पृथक् कार्य करे तो कार्यों के अधूरेपन या दोहरेपन के कारण क्षमता व्यर्थ हो जाती है और विक्रय-वृद्धि के होते हुए भी व्यय बढ़ जाने से लाभ नहीं बढ़ता। विक्रय-वृद्धि के साथ-साथ शुद्ध लाभ की वृद्धि भी होनी चाहिए। यह विभाग सभी विभागों के कार्यों पर निगाह रखता है, नियन्त्रण नहीं। **श्री जोसेफ बी. शेल्फील्ड** ने इस विभाग की तुलना रंगमंच के मैनेजर से की है जो रंगमंच पर कार्य करने वाले सभी पात्रों की क्रियाओं का निर्देशन करता

रहता है। किसी भी स्तर पर शैथिल्य अथवा उदासीनता के आ जाने से प्रदर्शन प्रभावी नहीं हो सकता। इसी प्रकार विभिन्न विधियों में सम्पर्क स्थापित कर उनके कार्यों में समन्वय स्थापित करना विक्रय-संवर्द्धन विभाग का मुख्य कार्य है।

NOTES

विक्रय-संवर्द्धन की विधियाँ

(Methods of Sales Promotion)

विक्रय-संवर्द्धन की विधियों को मुख्य रूप से निम्न तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है :

(I) **उपभोक्ता अथवा ग्राहक-संवर्द्धन विधियाँ** (Consumer or Customer Promotion Methods)

(II) **व्यापारी अथवा व्यापार-संवर्द्धन विधियाँ** (Dealer or Trade Promotion Methods),

(III) **उपभोक्ता-व्यापारी संयुक्त संवर्द्धन विधियाँ** (Consumer-Dealer Combined Promotion Methods)।

(I) उपभोक्ता या ग्राहक-संवर्द्धन विधियाँ

(Consumer or Customer Promotion Methods)

उपभोक्ता-संवर्द्धन विधियों से आशय विक्रय-संवर्द्धन की उन समस्त विधियों से है जो प्रत्यक्ष रूप में उपभोक्ताओं से सम्बन्धित रहता है। ये विधियाँ प्रत्यक्ष रूप से उपभोक्ताओं को माल क्रय करने के लिए प्रेरित करती हैं। उपभोक्ता-संवर्द्धन सम्बन्धी समस्त विधियों को उपभोक्ताओं के निवास स्थान पर, उनके कार्यालय पर अथवा मध्यस्थों (फुटकर व्यापारी अथवा थोक व्यापारी) की दुकानों पर क्रियान्वित किया जा सकता है।

उपभोक्ता-संवर्द्धन की विधियाँ (Methods)

उपभोक्ता संवर्द्धन की प्रमुख विधियाँ निम्नलिखित हैं जिनका उपयोग परिस्थितियों एवं सुविधाओं के अनुसार किया जा सकता है :

(1) **कीमतों में कमी** (Reduction in Prices)-जब विक्रयशाला में काफी मात्रा में बिना बिका पुराना माल इकट्ठा हो जाता है तो उसे कम मूल्य पर बेचने का प्रस्ताव किया जाता है। बाटा शू कम्पनी तथा दिल्ली क्लाथ मिल दोनों के द्वारा समय-समय पर अपनी विक्रयशालाओं के बाहर 'दामों में भारी कमी' के बोर्ड इसी उद्देश्य के लिए लगाये जाते हैं। होली, दिवाली या ईद आदि पर्वों के अवसर पर भी इस प्रकार मूल्यों में कमी की जाती है।

(2) **प्रदर्शन** (Demonstration)-क्रियात्मक प्रदर्शन भी विक्रय-संवर्द्धन का एक मुख्य साधन है। एक कहावत है कि "**आँखों से देखी सब सच्ची और सुनी सुनायी सब झूठी।**" आप किसी ग्राहक के समक्ष अपने माल के गुणों के सम्बन्ध में कितनी भी बातें क्यों न बतायें किन्तु उसका प्रभाव या तो कुछ होगा ही नहीं अथवा नाम-मात्र का ही पड़ेगा। इसके विपरीत, यदि उसकी आँखों के समक्ष उस वस्तु का क्रियात्मक प्रदर्शन करें तो उस पर निश्चित रूप से प्रभाव पड़ेगा। विक्रय-संवर्द्धन की इस विधि का प्रयोग मुख्यत: ऐसी वस्तुओं के विक्रय करने के सम्बन्ध में किया जाता है जिनको एक स्थान से दूसरे स्थान पर लाया-ले जाया जा सकता है एवं वे प्रचलन में तकनीकी प्रकृति की होती हैं।

(3) **प्रतियोगिताएँ** (Contests)-प्रतियोगिताओं का आयोजन मुख्य रूप से नवीन ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए अथवा नवीन उत्पाद को उपभोक्ताओं के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए किया जाता है। प्रतियोगिताओं के आयोजन में विभिन्न पुरस्कार आदि रखे जाते हैं तथा उपभोक्ताओं के समक्ष कोई एक आकर्षक प्रतियोगिता रखी जाती है, जैसे-अपने प्रिय फिल्मी सितारों को पहचानिये, निम्न फिल्मी गानों के गाने वालों तथा फिल्म के नाम लिखिए आदि। इन विज्ञापित वस्तुओं के पैकिंग का कोई हिस्सा, खरीद की केशमीमो आदि संलग्न करने को कहा जाता है जिसके लिए उपभोक्ता को वह वस्तु खरीदनी पड़ती है।

(4) **नमूनों का मुफ्त वितरण** (Distribution of Free Samples)-प्राय: व्यापारी अपनी वस्तुओं के नमूनों का मुफ्त वितरण करके भी जनता में वस्तु का प्रचार करते हैं। इस प्रकार का वितरण प्राय: उपभोक्ता वस्तुओं का होता है। नमूना कम मूल्य का पर्याप्त मात्रा में, उचित पैकिंग में तथा विक्रय साहित्य संलग्न कर दिया जाता है। इसके प्रयोग से सन्तुष्ट हो जाने पर ग्राहक आदेश देकर माल खरीद लेता है।

NOTES

(5) **विक्रय साहित्य** (Sales Literature)-विक्रय साहित्य लोगों को वस्तु के बारे में बताता है तथा क्रय के लिए प्रेरित करता है। विक्रय साहित्य में सम्मिलित की पत्रिकाएँ, सूची पत्र व फोल्डर आदि को सम्मिलित करते हैं।

(6) **विक्रयोपरान्त सेवा** (After-sales Services)-कुछ वस्तुएँ ऐसी होती है जिनकी निरन्तर देख-रेख होते रहना आवश्यक है। सिलाई की मशीन व टर्कणयन्त्र ऐसी मशीनों में से हैं। विक्रेता अपने दक्ष कर्मचारियों द्वारा बेची हुई मशीनों की 1-5 वर्ष तक निःशुल्क देख-रेख की गारण्टी से ग्राहक को उसी दुकान से क्रय करने को प्रेरित कर सकता है। इस निःशुल्क सेवा की गारण्टी से ग्राहक उस मशीन पर क्रय के बाद कुछ वर्षों तक मरम्मत, तेल देने व देख-रेख के व्यय और काम से बच जाता है।

(7) **प्रीमियम** (Premium)-**अल्फेड गॉस** एवं **हाग्टन** के शब्दों में, "प्रीमियम किसी वस्तु या सेवा को क्रय करने को प्रोत्साहित करने हेतु प्रदान की जाने वाली कोई व्यापारिक वस्तु, अथवा किसी मूल्य की वस्तु है।" इस कथन से स्पष्ट है कि प्रीमियम एक वस्तु है जो उत्पादक अथवा निर्माता की वस्तु के क्रय करने पर दी जाती है। प्रीमियम प्रायः निःशुल्क ही दिया जाता है, परन्तु रियायती दर पर भी दिया जाता है। रेड लेबिल चाय 500 ग्राम के पैकिट को खरीदने पर एक स्टील का चम्मच निःशुल्क दिया जाता है। प्रीमियम के लालच से व्यक्ति आनायास ही क्रय करने के लिए तत्पर हो जाता है। परिणामस्वरूप इनसे विक्रय की मात्रा में भारी वृद्धि होती है।

(8) **पैकिंग** (Packing)-अच्छे एवं आकर्षक पैकिंग के द्वारा ग्राहकों को वस्तु क्रय करने के लिए प्रेरित किया जा सकता है। पैकिंग से वस्तु की पहचान एवं विश्वास हो जाता है। वस्तु आकर्षक दिखती है। पैकिंग का पुनः उपयोग किया जा सकता है, जैसे-डालडा घी के डिब्बे खाली होने पर उनमें अन्य सामान रखा जा सकता है।

(9) **विक्रयशाला की साज-सज्जा** (Shop Decoration)-ग्राहक विक्रयशाला में एक दर्शक के रूप में प्रवेश करता है और इसके अन्दर जब वह किसी की ओर आकर्षित होता है तो क्रय करता है। अतः विक्रयशाला की साज-सज्जा उसका ध्यानाकर्षण करने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। आधुनिक युग में प्रदर्शन विशेषज्ञों ने मनोवैज्ञानिक अध्ययन के अन्तर्गत प्रदर्शन पद्धतियों के विषय में अत्यन्त प्रभावी तरीके ढूँढ़ लिये हैं जिनको अपनाकर व्यापारी ग्राहकों को विक्रयशाला की ओर खींच लेता है। यह प्रदर्शन बाह्य एवं आन्तरिक दोनों ही प्रकार का होता है। बाह्य प्रदर्शन विक्रयशाला के बाहर किया जाता है आन्तरिक प्रदर्शन अन्दर आये हुए ग्राहकों को वस्तुओं की ओर आकृष्ट कर इसे खरीदने को बाध्य कर देता है।

(10) **मेले तथा प्रदर्शनियाँ** (Fairs and Exhibitions)-व्यापारिक जगत में आदिकाल से ही मेलों तथा प्रदर्शियों का विशेष महत्व रहा है। प्रारम्भ में बाजारों के अभाव में मेले क्रेताओं के लिए एक मिलन स्थान होता है। आज भी औद्योगिक मेले और प्रदर्शनियाँ विज्ञापन एवं विक्रय-संवर्द्धन का महत्वपूर्ण साधन हैं। इन मेले और प्रदर्शनियों में वस्तुओं को विशेष रूप से सजाकर प्रदर्शित किया जाता है। प्रदर्शनियों में एक भाग में एक ही प्रकार की अनेक विक्रयशालाएँ होती हैं अतः ग्राहक वस्तुओं की विभिन्न किस्मों का तुलनात्मक अध्ययन आसानी से कर लेता है।

(11) **कूपन** (Coupons)-यह उपभोक्ता संवर्द्धन की एक महत्वपूर्ण विधि है जिसके अन्तर्गत वस्तु के पैकिंग में एक कूपन डाल दिया जाता है और उपभोक्ता जब उक्त वस्तु का पैकिंग खोलता है तो उसमें से कूपन निकलता है। इस कूपन के बदलने में ग्राहक को या तो कुछ नकद राशि प्राप्त होती है अथवा उसमें लिखित वस्तु प्राप्त हो जाती है। कई बार कूपन अखबार में छपवा दिये जाते हैं जिन्हें लेकर स्थायी फुटकर विक्रेता के पास जाने पर वस्तु क्रय में कुछ छूट दी जाती है। भारत में कूपन देने की विधि का उपयोग अगरबत्ती निर्माता, साबुन व तेल के निर्माता आदि करते हैं।

(12) **विशेष पुरस्कार** (Special Prizes)-कभी-कभी विक्रेता विज्ञापन एवं विक्रय वृद्धि के दृष्टिकोण से विक्रय के साथ विशेष पुरस्कार देने का प्रस्ताव भी करता है। उदाहरणार्थ, हिन्दुस्तान लीवर लिमिटेड के लाइफबॉय धोने के सर्फ पाउडर के दो डिब्बे खरीदने पर कम मूल्य पर एक प्लास्टिक बाल्टी देने का प्रस्ताव किया और इस आकर्षण से प्रभावित होकर अनेक व्यक्तियों ने एक के बजाय दो डिब्बे एक साथ खरीदे।

(II) व्यापार-संवर्द्धन विधियाँ

(Trade Promotion Methods)

व्यापार-संवर्द्धन की विधि से आशय विक्रय वृद्धि की किसी भी ऐसी योजना से है जो मध्यस्थों (फुटकर व्यापारी तथा थोक व्यापारी आदि) को अधिकाधिक माल का क्रय करने एवं उसे विक्रय करने के लिए प्रेरित करती है। स्पष्ट है जब तक मध्यस्थों को विक्रय-संवर्द्धन हेतु किसी प्रकार का प्रलोभन अथवा प्रोत्साहन नहीं किया जाता

तब तक उनका सहयोग प्राप्त करना असम्भव नही तो कठिन तो अवश्य ही होगा। व्यापारी-संवर्द्धन की विधियों द्वारा मध्यस्थों को विक्रय की जाने वाली वस्तुओं का अपने यहाँ अधिकतम भण्डार रखने तथा उनका विक्रय करने के लिए प्रेरित किया जाता है।

निर्माता अथवा उत्पादक अपने माल का विक्रय करने के लिए विभिन्न व्यापारी-संवर्द्धन विधियों का उपयोग करते हैं। इनमें से प्रमुख विधियाँ निम्नलिखित हैं :

NOTES

(1) **मध्यस्थों एवं विक्रेताओं के मध्य स्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा** (Healthy Competition amongst Middlemen and Salesmen)-अनुभवी निर्माता मध्यस्थों तथा विक्रेताओं के मध्य प्राय: विक्रय वृद्धि के लिए स्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा का विकास करते हैं। उनके लिए विक्रय अभ्यंश आवण्टित कर दिया जाता है। इससे अधिक राशि का विक्रय करने पर सर्वाधिक विक्रय करने वाले विक्रेता को पुरस्कृत किया जाता है। इस प्रतियोगिता के फलस्वरूप विक्रय वृद्धि होती है अत: इसके उपलक्ष में विक्रेता के पारिश्रमिक में स्थायी वृद्धि नहीं की जा सकती है। इसे बोनस अथवा अन्य किसी प्रकार पुरस्कृत किया जाता है।

प्रतियोगिता आयोजित करने के निम्नांकित उद्देश्य होते है :

(i) अवसाद के समय विक्रय वृद्धि का साधन। (ii) मध्यस्थों को उनकी क्षमता का ज्ञान देना। (iii) विक्रेताओं की कार्यक्षमता की परीक्षा करना। (iv) नवीन वस्तुओ का बाजार मे प्रचार व प्रचलन करना। (v) नवीन बाजारो की खोज करना तथा कालान्तर मे उन पर आधिपत्य जमाना। (vi) मध्यस्थों में प्रतियोगी भावना से उनकी कार्यक्षमता मे वृद्धि बनाना। (vii) नये ग्राहक बनाना।

(2) **प्रदर्शन तथा विज्ञापन भत्ता** (Display and Advertising Allowance)-थोक व्यापारी तथा फुटकर व्यापारी दोनों की हार्दिक इच्छा माल का अधिकाधिक विक्रय करने की होती है क्योंकि जितनी अधिक बिक्री होगी, उन्हें उतना ही अधिक लाभ होगा। इसके लिए वे विभिन्न प्रकार के विज्ञापन आदि की योजनाएँ क्रियान्वित करने के लिए तत्पर रहते है किन्तु उन पर होने वाले अत्यधिक व्यय के भय से वे ऐसा नहीं कर पाते। विक्रय वृद्धि होने से मध्यस्थों को भी लाभ होता है। इसी प्रकार से विक्रय-संवर्द्धन के लिए थोक व्यापारियों एवं फुटकर व्यापारियों को प्रदर्शन तथा विज्ञापन भत्ता देने का पहले ही प्रावधान कर लिया जाता है। इस भत्ते के साथ-साथ कभी-कभी इस कार्य के लिए उन्हें कुछ नि:शुल्क सामग्री भी प्रदान की जाती है, जैसे-(i) स्याही सोख, (ii) डायरियाँ, (iii) कैलेण्डर्स, (iv) विक्रय-पुस्तिकाएँ, (v) सिनेमा स्लाइड्स, (vi) हैण्ड बिल्स, (vii) साइनबोर्ड, (viii) सूची-पत्र, (xi) पैकिंग करने के लिए मुद्रित लिफाफे, (x) पोस्टर्स, (xi) फाउण्टेन पेन आदि।

(3) **विपणि अन्वेषण कार्य** (Market Research Work)-**रिचार्ड डि. क्रिस्प** के अनुसार, "विपणि अन्वेषण विपणन क्षेत्र की किसी समस्या के सारगर्भित तथ्यों का क्रमबद्ध, उद्देश्यपूर्ण एवं विस्तृत अन्वेषण हेतु गहन अध्ययन है।" विपणि अन्वेषण के अन्तर्गत विपणि विश्लेषण, विक्रय अन्वेषण, उपभोक्ता तथा विज्ञापन अन्वेषण आदि समस्त क्रियाएँ आती हैं। विक्रय-संवर्द्धन विपणि अन्वेषण का कार्य भी हाथ में ले लेते हैं, किन्तु बड़े-बड़े व्यापारी निष्पक्ष विशेषों के द्वारा स्वतन्त्र रूप से विपणि अन्वेषण कार्य करवाते हैं। वस्तुत: विशालस्तरीय उत्पादन के आधुनिक युग में विपणि अनुसन्धान का सहारा लिये बिना कोई निर्माता या व्यापारी अधिक समय तक बाजार में नहीं टिक सकता। प्रतियोगिता के युग में वही व्यापारी सफल हो सकता है जिसे बाजार का पूरा-पूरा ज्ञान हो। विक्रय-संवर्द्धन विभाग इस कार्य में व्यापारी की सहायता करता है।

(4) **सम्मेलन** (Conference)-निर्माता कभी-कभी अपने व्यापारियों के क्षेत्रीय सम्मेलन भी आयोजित करते है जिनमें विक्रय व वितरण सम्बन्धी समस्याओं पर विचार-विमर्श किया जाता है। वितरक अपनी समस्याएँ निर्माता के समक्ष प्रस्तुत करते है और आपसी विचार-विमर्श द्वारा उनका समाधान खोजा जाता है। इन सम्मेलनों में विक्रय-नीति का स्पष्टीकरण भी कर दिया जाता है। यदि किसी प्रकार का कोई परिवर्तन किया जाता है तो सभी व्यापारियों को इससे अवगत करा दिया जाता है।

(5) **उपयुक्त साख नीति** (Suitable Credit Policy)-उपयुक्त साख नीति का निर्माण व अनुसरण व्यापार की सफलता के लिए अपरिहार्य है। कोई भी व्यापार बिना साख के नही चल सकता, किन्तु विवेकहीन साख सुविधा का प्रसार व्यापार के लिए घातक भी सिद्ध हो सकता है। विक्रय-संवर्द्धन विभाग समय की दृष्टि से साख नीति पर विचार कर आवश्यकतानुसार इसमें परिवर्तन का सुझाव दे सकता है।

(6) **प्रशिक्षण** (Training)-प्रशिक्षण का व्यापार-संवर्द्धन विधियों में महत्वपूर्ण स्थान है। मध्यस्थों एवं विक्रेताओं को वस्तु विशेष के विक्रय के सम्बन्ध में सामान्य तथा विशिष्ट प्रशिक्षण निर्माता द्वारा दिया जाता है। अप्रशिक्षित

NOTES

विक्रेता अपने ग्राहकों की जिज्ञासा कभी शान्त नहीं कर सकता। वह अपने अज्ञान के कारण व्यवसाय की ख्याति को भी ठेस पहुँचाता है। इसके विपरीत, प्रशिक्षित विक्रेता अपने ग्राहकों को सब तरह से सन्तुष्ट कर विक्रय-संवर्द्धन में सहायक होता है। ये कार्यक्रम प्राय: 3-4 सप्ताह के अथवा इससे भी कम अवधि के होते हैं। सामान्य व्यापार नीति एवं विक्रय कला प्रशिक्षण तो प्रत्येक व्यापारी को अपने विक्रेताओं को देना होता है, किन्तु विशिष्ट ज्ञान ऐसे विक्रेताओं के लिए आवश्यक होता है जो तकनीकी वस्तुएँ बेचते है। एक बार प्रशिक्षण दे देना ही पर्याप्त नहीं होता, बाद में भी समय-समय पर प्रशिक्षण की पुनरावृत्ति होती रहनी चाहिए।

(III) उपभोक्ता-व्यापारी संयुक्त संवर्द्धन विधियाँ
(Consumer Dealer Combined Promotion Methods)

आधुनिक निर्माता अथवा उत्पादक केवल किसी एक विक्रय-संवर्द्धन विधि पर आश्रित न रहकर विक्रय-संवर्द्धन की दोनों ही विधियों का संयुक्त रूप में उपयोग करते हैं। इसे उपभोक्ता-व्यापारी संयुक्त सवर्द्धन विधि कहते है। यदि उपभोक्ता को उपभोक्ता-संवर्द्धन विधियों का उपयोग करके किसी वस्तु को क्रय करने के लिए प्रोत्साहित कर लिया जाए तो भी यह आवश्यक नहीं है कि व्यापारी उसे क्रय करके अपने यहाँ स्टॉक में रखने के लिए तत्पर हो। दूसरी ओर, यदि व्यापारी-सवर्द्धन विधियों द्वारा थोक एव फुटकर व्यापारियो को किसी वस्तु को क्रय करके स्टॉक में रखने के लिए प्रोत्साहन कर लिया जाए तो यह भी आवश्यक नहीं कि उपभोक्ता उसे क्रय करने के लिए तैयार हो। एक ओर तो उपभोक्ता-संवर्द्धन विधियों का उपयोग करके उपभोक्ताओं को क्रय करने के लिए प्रेरित किया जाता है तथा दूसरी ओर, व्यापारी-संवर्द्धन विधियों का उपयोग करके एक साथ अधिक से अधिक माल क्रय करके स्टॉक के लिए प्रेरित किया जाता है। दोनों का सुन्दर एवं प्रभावी समन्वय विक्रय वृद्धि करने मे समर्थ होता है।

विक्रय-संवर्द्धन के आर्थिक लाभ (Economic Advantages of Sales Promotion)

अध्ययन में सुविधा की दृष्टि से विक्रय-संवर्द्धन से होने वाले लाभों को निम्नलिखित तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है :

(I) उपभोक्ताओं को लाभ (Advantages to Consumers)

विक्रय-संवर्द्धन से उपभोक्ताओं को प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप में अनेक लाभ होते हैं। उनमें से प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं :

(1) **जीवन-स्तर में सुधार**-विक्रय-संवर्द्धन के द्वारा उपभोक्ताओं को नई-नई सस्ती, सुन्दर एवं टिकाऊ वस्तुओं का उपयोग करने का सुअवसर मिलता है। उत्पादन अधिक मात्रा मे होता है; रोजगार के साधन बढ़ते है तथा आर्थिक विकास की गति तेज होती है।

(2) **वस्तु का परीक्षण**-जब उपभोक्ताओं को वस्तु के विक्रय से पूर्व नमूने के रूप में वस्तु का उपयोग करने का सुअवसर मिल जाता है तो वह उक्त वस्तु की उपयोगिता का पता लगा लेता है और इस प्रकार वस्तु के विक्रय पूर्व ही उसे परीक्षण करने का अवसर मिल जाता है।

(3) **अधिक मात्रा में क्रय करने पर लाभ**-जब विक्रय की जाने वाली वस्तुओं के साथ प्रीमियम एवं कूपन दिया जाता है तो उपभोक्ता उसके लालच मे अधिक मात्रा में माल क्रय करने के लिए प्रेरित हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप वह बार-बार क्रय करने के झंझट से कुछ समय के लिए तो मुक्त हो जाता है।

(4) **नवीन वस्तुओं की जानकारी एवं तकनीक ज्ञान**-विक्रय-संवर्द्धन के साधनों का उपयोग करने से उपभोक्ताओं के ज्ञान में वृद्धि होती है। उन्हें नई-नई वस्तुओं के बारे मे जानकारी होती है। क्रियात्मक प्रदर्शन के आधार पर उन्हे वस्तु सम्बन्धी तकनीकी ज्ञान मिलता है।

(5) **कीमतों में कमी**-विक्रय-संवर्द्धन की विधियो द्वारा निर्माता अथवा उत्पादक कम मूल्यों पर अपने उत्पादन का विक्रय करते है, ताकि उनके विक्रय मे वृद्धि हो सके। इसके परिणामस्वरूप उपभोक्ताओं को सस्ते मूल्य पर उत्पादित वस्तुएँ उपलब्ध होती है।

(II) मध्यस्थों को लाभ (Advantages to Middlemen)

विक्रय-संवर्द्धन से मध्यस्थों को मुख्य रूप से निम्नलिखित लाभ होते है :

(1) **प्रतिस्पर्द्धा पर विजय**- विक्रय-संवर्द्धन की विधियों के द्वारा विभिन्न प्रलोभन देकर ग्राहक को वस्तु को क्रय करने के लिए प्रेरित किया जाता है। इसके परिणामस्वरूप उसके लिए प्रतिस्पर्द्धा पर विजय पाना सरल हो जाता है।

(2) **विभिन्न प्रकार की सुविधाओं का प्राप्त होना**- विक्रय संवर्द्धन की योजना के अन्तर्गत निर्माता मध्यस्थों को विभिन्न प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करते है।

(3) **विक्रय में वृद्धि**- विक्रय-संवर्द्धन से होने वाला सबसे बड़ा लाभ मध्यस्थों के विक्रय मे वृद्धि होना है। जब निर्माता मूल्यों में कमी करता है, नमूनो का निःशुल्क वितरण करता है, विज्ञापन सामग्री निःशुल्क वितरण के लिए देता है, प्रतियोगिताओं का आयोजन करता है, प्रीमियम तथा कूपन देने की व्यवस्था भी करता है तो इन सबका सीधा प्रभाव विक्रय वृद्धि पर पड़ता है।

NOTES

(III) निर्माताओं तथा उत्पादकों को लाभ (Advantages to Manufacturers and Producers)

(1) **नवीन बाजारों का निर्माण**-विक्रय-संवर्द्धन की योजनाएँ उत्पादकों अथवा निर्माताओं की वस्तुओ के नये-नये बाजारों को सृजित करने में सहायक होती है।

(2) **प्रत्यक्ष नियन्त्रण**-विक्रय-संवर्द्धन की योजनाओं पर उत्पादकों अथवा निर्माताओ का प्रत्यक्ष नियन्त्रण होता है। वे ही स्वयं इसकी योजनाएँ बनाते है एवं क्रियान्वित करते हैं।

(3) **मौसमी वस्तुओं का भी निरन्तर विक्रय**-विक्रय-संवर्द्धन की विधियों द्वारा मौसमी वस्तुओं का भी निरन्तर विक्रय होता रहता है। इसके कारण उत्पादक अथवा निर्माताओं को अपनी वस्तुओं के विक्रय के लिए स्थायी बाजार मिल जाता है।

(4) **वस्तुओं के नवीन प्रयोग**-विक्रय-संवर्द्धन की विधियाँ उत्पादित वस्तुओं के नवीन प्रयोगों को भी प्रोत्साहित करती हैं। इसके माध्यम से उत्पादक विभिन्न प्रकार की प्रतियोगिताओं का आयोजन करता है।

(5) **कम विक्रय के क्षेत्र में भी विक्रय वृद्धि**-विक्रय-संवर्द्धन की विधियों का उपयोग करने मे कम विक्रय वाले क्षेत्रों में शीघ्र विक्रय वृद्धि दृष्टिगोचर होने लगती है, क्योंकि विक्रय-संवर्द्धन मध्यस्थ तथा उपभोक्ता दोनों के ही पास पहुँचकर क्रय करने के लिए प्रेरित करता है।

(6) **ख्याति में वृद्धि**-विक्रय-संवर्द्धन की विधियों का उपयोग करने के कारण उपक्रम की ख्याति में वृद्धि होती है। उपभोक्ता तथा मध्यस्थ दोनों के ही मन में उत्पादित वस्तु के प्रति विश्वास जम जाता है।

(7) **प्रतिस्पर्द्धा पर विजय**-विक्रय-संवर्द्धन के साधनों से निर्माता एवं उत्पादक के लिए प्रतिस्पर्द्धा पर विजय पाना सरल हो गया है। इसका कारण यह है कि यह उपभोक्ता तथा मध्यस्थ दोनों को ही अधिकाधिक क्रय करने के लिए प्रेरित करता है।

(8) **मध्यस्थों का सहयोग**-विक्रय-संवर्द्धन की विधियों का प्रयोग करते रहने के कारण निर्माता तथा उत्पादकों के मध्यस्थों का निरन्तर सहयोग मिलता रहता है।

(9) **नव-निर्मित वस्तुओं की माँग**-नव-निर्मित वस्तुओं की माँग उत्पन्न करने में विक्रय-संवर्द्धन सबसे अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुआ है। प्रीमियम, कूपन, प्रतियोगिता तथा निःशुल्क नमूने कई नई वस्तुओ की बिक्री कराने में विशेष रूप में लाभप्रद सिद्ध हुए हैं।

(10) **विक्रय तथा लाभों में वृद्धि**-विक्रय-संवर्द्धन के कारण विक्रय की मात्रा में तीव्र गति से वृद्धि हुई है। इसके फलस्वरूप जहाँ पर एक ओर प्रति इकाई उत्पादन लागत में कमी हुई है, वहीं दूसरी ओर, लाभों में भी वृद्धि हुई है।

भारत में विक्रय-संवर्द्धन

(Sales Promotion in India)

भारत में कम्पनियों ने अपनी विक्रय आय का 3 से 4 प्रतिशत तक विक्रय प्रवर्तन पर व्यय किया। इस प्रतिशत में विज्ञापन व्यय, कमीशन, एकमात्र एजेन्सी कमीशन सम्मिलित है। इससे ज्ञात होता है कि हमारे देश में विक्रय-संवर्द्धन पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जाता। प्रतिस्पर्द्धा कम होने, माँग की तुलना में पूर्ति कम होने के कारण व्यापारी विक्रय-संवर्द्धन पर अधिक ध्यान देना आवश्यक नहीं समझते। इतना होते हुए भी देश में विक्रय-संवर्द्धन की क्रियाएँ धीरे-धीरे लोकप्रिय होती जा रही है। मुख्य रूप से साबुन, डिटरजेण्ट, पाउडर, बिजली के पंखे, सिलाई मशीन, कपड़े, बीड़ी-सिगरेट, चाय, कॉफी, रेफ्रीजरेटर, टेलीविजन, रेडियो, स्कूटर, कार आदि वस्तुओं के विक्रय में विक्रय-संवर्द्धन विधियों का प्रयोग किया जा रहा है। जैसे-जैसे देश में उत्पादन बढ़ेगा, शहरीकरण को प्रोत्साहन मिलेगा, जनता की आय एवं रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठेगा, प्रतिस्पर्द्धा में वृद्धि होगी तो विक्रय-संवर्द्धन के प्रयोग में भी वृद्धि होगी।

NOTES

प्रश्न

(Questions)

दीर्घ उत्तरीय/निबन्धात्मक प्रश्न (Long Answer/Essay Type Questions)

1. "मांग सृजन के कार्य में तीन प्रमुख बातें है-व्यक्तिगत विक्रय, विज्ञापन और विक्रय-संवर्द्धन।" समझाइए। "The
2. विक्रय-संवर्द्धन क्या है? इसके महत्व की विवेचना कीजिए।
3. भारत में कौन-से विक्रय-संवर्द्धन उपकरणों का प्रयोग किया जाता है? समझाइए।
4. विक्रय प्रवर्तन का अर्थ बताइये तथा उसके लिए प्रयुक्त किये जाने वाले विभिन्न तरीकों का वर्णन कीजिए।
5. विक्रय-संवर्द्धन की उन तकनीकों का विवेचन कीजिए जिनका प्रयोग एक निर्माता द्वारा फुटकर व्यापारियों के प्रोत्साहन हेतु किया जाता है।
6. विक्रय-संवर्द्धन के उद्देश्य एवं महत्व को स्पष्ट कीजिए। क्या विक्रय-संवर्द्धन निकट भविष्य में एक नियमित कार्य बन जायेगा?
7. विक्रय-संवर्द्धन से आप क्या समझते है? विक्रय-संवर्द्धन की विभिन्न पद्धतियों को समझाइए।
8. **निम्नलिखित पर टिप्पणियाँ लिखिए** : (Write notes on the following)
   (i) विक्रय-संवर्द्धन तकनीकें (Sales Promotion Techniques)
   (ii) विक्रय-संवर्द्धन (Sales Pormotion)

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Type Questions)

1. विक्रय संवर्द्धन को परिभाषित कीजिए। इसकी विशेषताएँ बताइये।
2. विक्रय संवर्द्धन से उपभोक्ताओं को क्या लाभ है?
3. विक्रय संवर्द्धन के उद्देश्यों का वर्णन कीजिए।
4. विज्ञापन एवं विक्रय संवर्द्धन में अन्तर बताइये।

●●●

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

14

सेविवर्गीय प्रबन्ध
(PERSONNEL MANAGEMENT)

प्रस्तावना

आधुनिक युग प्रतिस्पर्द्धा का युग है। इस युग मे वही उद्योगपति अपने व्यवसाय में अधिकाधिक सफलता प्राप्त कर सकता है, जिस व्यवसाय में कार्यरत् कर्मचारी व श्रमिक अपने-अपने कार्य में अनुभवी, योग्य व दक्ष हों। कर्मचारियों की कुशलता अनेक बातों पर निर्भर रहती है, उदाहरणार्थ (i) वैज्ञानिक आधार पर श्रमिकों का चुनाव, (ii) औद्योगिक शान्ति, (iii) अधिकाधिक सन्तुष्टि करने का प्रयास, (iv) प्रशिक्षण की व्यवस्था, (v) उचित मजदूरी भुगतान की प्रणालियाँ, (vi) श्रमिकों की मानसिक एवं शारीरिक योग्यता, (vii) कल्याणकारी कार्यों की व्यवस्था, (viii) लगन व रुचि से कार्य करने की भावना, आदि। इस प्रकार श्रमिकों से अधिक-से-अधिक कुशलता से कार्य लेना ही सेविवर्गीय प्रबन्ध कहलाता है। सेविवर्गीय प्रबन्ध, प्रबन्ध का वह भाग है जो कर्मचारियों तथा अन्य श्रमजीवियों की प्रबन्ध व्यवस्थाा से सम्बन्धित हो। सेविवर्गीय प्रबन्ध मानवीय सम्पदा के समुचित प्रयोग से सम्बन्धित है। सेविवर्गीग प्रबन्ध श्रमिकों की समस्याओं का अध्ययन करके, उन्हें सुलझाने का प्रयास करता है जिससे श्रम शक्ति का यथोचित उपयोग किया जा सके।

सेविवर्गीय प्रबन्ध की अवधारणा (Concept of Personnel Management) - सेविवर्गीय प्रबंध से तात्पर्य कर्मचारियों को उत्तम नेतृत्व प्रदान करना है। यह प्रबंध का वह क्षेत्र है जिसमें वरिष्ठ प्रबंधकों द्वारा कर्मचारियों के कल्याण और हित पर ध्यान दिया जाता है। इसमें सभी कर्मचारियों को संतुष्ट रखने का प्रयास किया जाता हैं। संगठन के आकार में वृद्धि होने से कर्मचारियों की संख्या बढ़ जाती है तथा श्रमिक संगठनों तथा सरकारी हस्तक्षेप आदि ने सेविवर्गीय प्रबंध की आवश्यकता को बढ़ा दिया है। सेविवर्गीय प्रबंध की अवधारणा को विभिन्न नामों से प्रकट किया गया है जैसे– औद्योगिक सम्बन्ध (Industrial Relations), श्रम-सम्बन्ध (Labour Relations), मानवीय सम्बन्ध (Human Relations), सेविवर्गीय सम्बन्ध (Personnel Management), मानवीय सम्बन्ध (Human Engineering), श्रम प्रबंध (Labour Management), मानव शक्ति प्रबंध (Manpower Management).

डेल योडर (Dale Yoder) के मतानुसार, 'औद्योगिक सम्बन्ध' एक व्यापक शब्द है जिसके अन्तर्गत 'सेविवर्गीय प्रबंध' तथा 'श्रम सम्बन्ध' दोनों ही सम्मिलित हैं।

'औद्योगिक सम्बन्ध' के स्थान पर 'श्रम प्रबन्ध' का प्रयोग अधिक श्रेयष्कर होगा क्योंकि 'औद्योगिक सम्बन्ध' शब्दावली संकुचित प्रतीत होती है, जिसके अन्तर्गत केवल उद्योगों में नियोजन से उत्पन्न होने वाले सम्बन्धों का ही अध्ययन किया जाता हो और अन्य इकाइयाँ जैसे राज्य सरकार, अस्पताल, सेना तथा सेविवर्गीय संगठन इसके सीमा-क्षेत्र से बाहर होती है जबकि वस्तुस्थिति इससे बिल्कुल भिन्न है। 'मानव शक्ति प्रबंध' अथवा 'श्रम प्रबन्ध' का तो व्यापक रूप से प्रचलन नहीं है, लेकिन 'कर्मचारी प्रबन्ध' (Employee Relations) का प्रयोग अवश्य ही जोर पकड़ता जा रहा है और यह 'औद्योगिक सम्बन्ध' की तुलना में अधिक यथार्थवादी है।

प्रो. रिचार्ड पी. कलहून (Richard P. Calhoon) ने अमेरिका प्रबन्ध व्यवसाय के सन्दर्भ में लिखा है कि वहाँ पर 60% व्यावसायिक संस्थानों में 'सेविवर्गीय प्रबन्ध', 15% संस्थानों में 'औद्योगिक सम्बन्ध' तथा शेष 25% में 'कर्मचारी सम्बन्ध' का प्रचलन है।

वर्तमान मे 'मानव समाधन प्रबन्ध' (Human Resource Management) एव 'मानव संसाधन विकास' (Human Resource Development) का प्रयोग आरम्भ हुआ है। 'मानव संसाधन प्रबन्ध' को सेविवर्गीय प्रबन्ध का ही पर्यायवाची माना जा सकता है। मानव को एक महत्वपूर्ण ससाधन स्वीकार कर उसका प्रबन्ध किया जाता है। मानव संसाधन विकास का अर्थ "एक ऐसी प्रक्रिया से है, जिसके माध्यम से संगठन में कार्यरत कार्मिकों की सतत् एवं नियोजित रूप से सहायता की जाती है, जिससे कि –

(1) कर्मचारी, वर्तमान एवं भावी प्रत्याशित कार्यों के निष्पादन के लिए कार्य कुशलता प्राप्त कर सकें,

(2) कर्मचारियों की सामान्य योग्यताओं का विकास तथा उनकी छिपी हुई प्रतिभाओं को खोज कर उनका उपयोग करना जिससे संगठन की विकास प्रक्रिया मे गति आ सके।

NOTES

सेविवर्गीय प्रबन्ध की परिभाषाएँ
(Definitions of Personnel Management)

विभिन्न विद्वानों ने सेविवर्गीय प्रबन्ध की परिभाषाएँ दी हैं, जिनमें से कुछ विद्वानों की परिभाषाएँ नीचे दी जा रही है :-

(1) **एडविन बी. फ्लिप्पो** (Edwin B. Flippo) के अनुसार, "सेविवर्गीय कार्य का सम्बन्ध एक संगठन में लगे कर्मचारियों को, उस संगठन के प्रमुख लक्ष्यों या उद्देश्यों को प्राप्त करने के उद्देश्य से उपलब्ध करने, विकास, प्रतिफल एवं एकीकरण बनाये रखने से होता है। अतः सेविवर्गीय प्रबन्ध उन क्रियात्मक कार्यों के नियोजन, संगठन, निर्देशन एवं नियंत्रण करने को कहा जाता है।"[1]

(2) **पॉल जी. हेस्टिंग्ज** (Paul G. Hastings) के शब्दों में, "कर्मचारी प्रबन्ध, प्रबन्ध का वह पहलू है जिसका उद्देश्य एक श्रम के साधनों का प्रभावी उपयोग करना है।"

(3) **ई.एफ.एल. ब्रीच** (E.F.L. Breach) के अनुसार, "सेविवर्गीय प्रबन्ध, प्रबन्ध प्रगति का वह भाग है जो मुख्यतः किसी संगठन के मानवीय तत्वों से सम्बन्ध रखता है।"

(4) **टॉमस जी. स्पेट्स** (Thomas G. Spates) के अनुसार, "सेविवर्गीय प्रबन्ध व्यक्तियों के कार्य का संगठन करके एवं उनसे व्यवहार करने के ढंगों की एक संहिता है, जिससे वे अपनी वास्तविक योग्यताओं का अनुभव कर सकें, और वे स्वयं अपने वर्ग को अधिकतम कार्यकुशलता से कार्य कर सकें, और इस प्रकार उस उपक्रम को, जिसके वे अंग है, प्रतिस्पर्द्धा लाभ एवं अनुकूलतम परिणाम प्रदान कर सकें।"

(5) **एडवर्ड ट्रेगास्किस एलबोर्न** (Edward Tregaskiss Elbourne) के अनुसार, "सेविवर्गीय प्रशासन संगठन में लगे हुए व्यक्तियों से सम्बन्धित प्रबन्ध की प्रक्रिया का वह भाग है, जिसका उद्देश्य सभी स्तरों पर व्यक्तिगत सम्बन्धों की स्थापना करना है। व्यक्तिगत एवं सामाजिक स्तर पर सन्तोष प्राप्त करने के लिए, निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कर्मचारियों का प्रभावशील सहयोग प्राप्त किया जाता है।"

(6) **ब्रिटेन की सेविवर्गीय प्रबन्ध संस्था** के अनुसार, "सेविवर्गीय प्रबन्ध, प्रबन्ध का वह भाग है, जो एक संगठन के अन्तर्गत मानवीय सम्बन्धों से मुख्यतः सम्बन्धित है। इसका उद्देश्य व्यक्ति के कल्याण की भावना से, इन सम्बन्धों को इस आधार पर बनाये रखना है कि उपक्रम में लगे समस्त व्यक्ति उस उपक्रम को प्रभावशाली ढंग से कार्यशील बनाये रखने हेतु अपना व्यक्तिगत अधिकतम अंशदान कर सकें।"

(7) **अमेरिकन सेविवर्गीय प्रशासन संस्था** के अनुसार, "सेविवर्गीय प्रबन्ध योग्य कर्मचारियों को इस ढंग से प्राप्त करने, विकसित करने एवं मितव्ययिता से पूर्ण किया जा सके।"

(8) **लन्दन के औद्योगिक प्रशासन संस्था केन्द्र** के अनुसार, "सेविवर्गीय प्रबन्ध, प्रबन्ध विधि का वह भाग है जो विशेषकर संगठन में नियुक्त व्यक्तियों से सम्बन्धित होता है। इसका उद्देश्य संगठन के प्रत्येक स्तर पर सुदृढ़ व्यक्तिगत सम्बन्धों को स्थापित व बनाये रखना है, तथा रोजगार की ऐसी दशाएँ बनाकर, सेविवर्गीय का प्रभावशील उपयोग करना है, जिससे उद्देश्यों की प्राप्ति में समस्त व्यक्तियों का फलन प्रभावशाली ढंग से कर सकें, साथ ही व्यक्तिगत एवं सामाजिक सन्तुष्टि को, जो कि स्वाभाविक रूप से कार्य करने के वातावरण में प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हे उपलब्ध करना है।"

(9) **मॉरिस डब्ल्यू. कमिंग** (Maurice W. Cuming) के अनुसार, "सेविवर्गीय प्रबन्ध का सम्बन्ध, एक संगठन के लिए सम्भव सर्वोत्तम स्टाफ को प्राप्त करना तथा उन्हें प्राप्त करने के पश्चात् उनकी देखभाल करना जिससे वे उसमें बने रहें और अपने कार्यों में सर्वश्रेष्ठ योगदान दे सकें।"

सेविवर्गीय प्रबन्ध की विशेषताएँ

(1) **प्रबन्ध का एक अंग :** सेविवर्गीय प्रबन्ध को प्रबन्ध का एक अंग माना जाता है, अतः प्रबन्ध के सिद्धान्त इस पर लागू होते है।

(2) **हितों का एकीकरण:** सेविवर्गीय प्रबन्ध उपयोग एवं कर्मचारियों के हितों के एकीकरण में महत्वपूर्ण योगदान देता है।

(3) **कर्मचारियों का प्रशिक्षण:** सेविवर्गीय प्रबन्ध के अन्तर्गत कर्मचारियों की भर्ती, प्रशिक्षण एवं अन्य प्रकार की सुविधाएँ आदि होती है।

(4) **पूर्ण रूपेण विकास:** सेविवर्गीय प्रबन्ध के सिद्धान्तों का पालन करने वाले व्यक्तियों को पूर्णरूपेण विकास करने का अवसर मिलता है।

(5) **सम्बन्धों में मधुरता:** सेविवर्गीय सिद्धान्तों का अध्ययन मानवीय सम्बन्धों में मधुरता लाने के उद्देश्य से किया जाता है।

(6) **संगठित करना:** उपक्रम में कार्यरत् व्यक्तियों को संगठित रूप से कार्य करने के लिए कुछ निश्चित सिद्धान्तों का पालन करना होता है।

(7) **अधिकाधिक योगदान:** उद्योग में कार्यरत् व्यक्तियों से उद्योग के हित को देखते हुए अधिकाधिक योगदान प्राप्त किया जाता है।

सेविवर्गीय प्रबन्ध का क्षेत्र
(Scope of Personnel Management)

पुरातन काल में व्यवसाय का क्षेत्र सीमित होने के कारण सेविवर्गीय प्रबन्ध का क्षेत्र भी सीमित था। ज्यों-ज्यों व्यवसाय का क्षेत्र बढ़ता गया, त्यों-त्यों सेविवर्गीय प्रबन्ध का क्षेत्र भी बढ़ता गया। इस प्रकार, सेविवर्गीय प्रबन्ध को एक पृथक् विभाग के रूप में स्वीकार किया जाने लगा। सेविवर्गीय प्रबन्ध के क्षेत्र के अन्तर्गत निम्नलिखित कार्यों को सम्मिलित किया जाता है :-

(1) **श्रमिकों की नियुक्ति:** श्रमिकों को आकर्षित करने के लिए विज्ञापन तथा अन्य साधनों का सहारा लिया जाता है, तत्पश्चात् उनसे साक्षात्कार किया जाता है। वैज्ञानिक साधनों की सहायता से श्रमिकों की योग्यता का मूल्यांकन किया जाता है, तथा बाद में उन्हें उपयुक्त स्थान पर नियुक्त किया जाता है।

(2) **श्रमिकों को पारिश्रमिक देना:** श्रमिकों को पारिश्रमिक देने के लिए विभिन्न पद्धतियाँ अपनायी जाती हैं। यह पारिश्रमिक की अवधि में उन्हें निश्चित दर से भत्ता दिया जाता है। कर्मचारियों को कार्य सौंपना तथा उनकी पदोन्नति प्रशिक्षण पर निर्भर रहती है।

(3) **श्रमिकों का प्रशिक्षण:** श्रमिकों को प्रशिक्षित करने के लिए उनके उचित प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाती है। प्रशिक्षण की अवधि में उन्हें निश्चित दर से भत्ता दिया जाता है। कर्मचारियों को कार्य सौंपना तथा उनकी पदोन्नति प्रशिक्षण पर निर्भर रहती है।

(4) **सेविवर्गीय लेखे:** श्रमिकों एवं कर्मचारियों से सम्बन्धित समस्त सेविवर्गीय लेखे सुरक्षित रूप से रखे जाते हैं। इन सेविवर्गीय लेखों से कर्मचारियों के सम्बन्ध में सभी जानकारी प्राप्त हो जाती है।

(5) **कल्याणकारी कार्य:** एक विशाल औद्योगिक इकाई में विभिन्न कल्याणकारी कार्यों जैसे, शिक्षा की व्यवस्था, सुरक्षा की व्यवस्था, मनोरंजन की व्यवस्था तथा अन्य कल्याणकारी कार्यों की ओर ध्यान दिया जाता है, जिसके फलस्वरूप श्रमिकों की कार्यक्षमता में वृद्धि होती है।

(6) **कार्य विश्लेषण:** औद्योगिक इकाई में किये जाने वाले समस्त कार्यों का विश्लेषण करके श्रम-विभाजन के आधार पर श्रमिकों में कार्य का विभाजन किया जाता है, साथ ही उनका पारिश्रमिक भी निश्चित कर दिया जाता है।

सेविवर्गीय प्रबन्ध के कार्य
(Functions of Personnel Management)

सेविवर्गीय प्रबन्ध के कार्यों को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से निम्नलिखित तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है :—

(I) परामर्श सम्बन्धी, (II) प्रबन्ध सम्बन्धी, तथा (III) क्रियात्मक कार्य।

(I) **परामर्श सम्बन्धी कार्य** - परामर्श सम्बन्धी कार्यों के अन्तर्गत व्यवसाय को विभिन्न कार्यों में परामर्श देना, सेविवर्गीय नीति का निर्धारण तथा कर्मचारी व उच्च प्रबन्धकों के बीच एक कड़ी के रूप में कार्य करना आता है।

(II) **प्रबन्ध सम्बन्धी कार्य** - प्रबन्ध सम्बन्धी कार्य निम्नलिखित हैं :-

(1) **श्रमिकों की नियुक्ति:** श्रमिकों की नियुक्ति करना तथा उन्हें स्थानान्तरण व पदोन्नति आदि की व्यवस्था करना।

NOTES

(2) **प्रशिक्षण व्यवस्था:** कर्मचारियों की नियुक्ति करने के पश्चात् उनके प्रशिक्षण आदि की व्यवस्था करना।

(3) **श्रम कल्याण:** श्रमिकों की भलाई के लिए श्रम कल्याण व सुरक्षा की व्यवस्था करना।

(4) **अनुसंधान व्यवस्था:** सेविवर्गीय तकनीक को जानने के लिए उचित अनुसन्धान की व्यवस्था करना।

(5) **सेविवर्गीय लेखे:** प्रबन्धकीय कार्यों के अन्तर्गत सेविवर्गीय लेखे रखना।

(6) **मधुर सम्बन्ध:** औद्योगिक सम्बन्ध को मधुर बनाने का प्रयास करना।

डॉ. विलियम और स्प्रीगल (Dr. William and Spriegel) के अनुसार, सेविवर्गीय प्रबन्ध के कार्यों को निम्नलिखित भागों में विभाजित किया जा सकता है :–

(1) श्रमिकों की भर्ती: इसके अन्तर्गत निम्नलिखित कार्यों को सम्मिलित किया जा सकता है– आवश्यक जाँच-पड़ताल, परीक्षा, डॉक्टरी जाँच तथा साक्षात्कार द्वारा श्रमिकों की भर्ती करना, (ii) श्रम-पूर्ति के साधनों को पूर्णरूप से विकसित करना, (iii) मजदूरी की प्रचलित दरों के सम्बन्ध में सूचनाएँ एकत्र करना, नये श्रमिकों को कम्पनी की नीतियों से परिचित कराना, (iv) भूतपूर्व, वर्तमान तथा भावी श्रमिकों के विषय की उपलब्ध जानकारी रखना।

(2) मजदूरी एवं प्रेरणा: इसके अन्तर्गत निम्नलिखित कार्यों को सम्मिलित किया जाता है– (i) मजदूरी योजनाओं के सम्बन्ध में सहयोग प्रदान करना, (ii) पैंशन, बीमा, लाभ-विभाजन तथा ऋण योजना आदि के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी देना, (iii) जाँच सम्बन्धी निर्देश देकर उनका मूल्यांकन करना।

(3) सामूहिक सौदेबाजी एवं कर्मचारियों का नेतृत्व: इसके अन्तर्गत निम्न कार्यों को सम्मिलित किया जाता है– (i) कर्मचारियों को क्लब में सम्मिलित करने के लिए प्रयत्न करना, (ii) श्रम संघ के प्रतिनिधियों के साथ सहयोग से कार्य करना, (iii) शिकायतें दूर करने का प्रयास करना।

(4) सेवा सम्बन्धी क्रियाएँ : इसके अन्तर्गत निम्न कार्यों को सम्मिलित किया जाता है– (i) प्लाण्ट सम्बन्धी पत्रिका का प्रकाशन करना, (ii) कर्मचारियों के नैतिक साहस में वृद्धि करने का प्रयास करना, (iii) श्रमिकों के लिए कल्याण कार्यों की व्यवस्था करना, (iv) व्यक्तिगत मामलों के सम्बन्ध में आवश्यक सलाह देना, (v) सामाजिक सुरक्षा की उचित व्यवस्था करना।

(5) प्रशिक्षण: इसके अन्तर्गत निम्न कार्यों को सम्मिलित किया जाता है– (i) नये कर्मचारियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था करना, (ii) कम्पनी की नीतियों के विषय में उचित प्रशिक्षण की व्यवस्था करना, (iii) कर्मचारियों के लिए वार्षिक प्रतिवेदन तैयार करने में सहायता देना, (iv) कर्मचारियों के सुझाव पर आवश्यक कार्यवाही करना।

(6) पदोन्नति: इसके अंतर्गत निम्न कार्यों को सम्मिलित किया जाता है– (i) कर्मचारियों को नौकरी से अलग करने के सम्बन्ध में कम्पनी की नीति बनाने में मदद करना, (ii) सेवाओं को समाप्त करने सम्बन्धी नीतियों का निर्धारण करना, (iii) ऐच्छिक निवृत्तियों की जाँच करना, (iv) पदोन्नति के सिद्धान्तों के निर्माण करने में मदद करना, (v) नौकरी से पृथक् होने के कारणों को दूर करने का प्रयास करना।

(III) **क्रियात्मक कार्य** – प्रमुख क्रियात्मक कार्य निम्नलिखित हैं–

1. चुनाव (Selection)– संस्था के लिए योग्य तथा कार्यकुशल कर्मचारियों का चयन लिखित/मौखिक परीक्षा, साक्षात्कार तथा अन्य साधनों की सहायता से करना। चुने हुए व्यक्तियों को उनकी योग्यतानुसार उपयुक्त काम सौंपना, उनका अपने विभाग में कार्य करने वाले साथी कर्मचारियों तथा प्रबन्धकों से परिचय कराना, कम्पनी की नीतियों तथा कार्यक्रमों से परिचित कराना आदि का कार्य।

2. प्रशिक्षण (Training) – सेविवर्गीय प्रबन्ध विभाग, संस्था में किए जाने वाले कार्यों के लिए कर्मचारियों की कार्यकुशलता में वृद्धि के लिए प्रशिक्षण योजना तैयार करता है तथा कर्मचारियों को प्रशिक्षण देने की उचित व्यवस्था करता है।

3. मजदूरी एवं वेतन (Wages and Salary)– सतत् जाँच मूल्यांकन की सहायता से यह विभाग संस्था में वैज्ञानिक वेतन पद्धति का निर्धारण करता है। इसके लिए उसे कर्मचारियों की कार्यकुशलता का मूल्यांकन, कार्य विश्लेषण तथा वेतन सर्वेक्षण करने होते हैं।

4. औद्योगिक सम्बन्ध (Industrial Relations)– सेविवर्गीय प्रबन्धक अपनी संस्था के श्रम संघ के नेताओं से समय-समय पर वार्ता कर उनसे संस्था का सम्बन्ध बनाए रखता है। उनके साथ आवश्यक समझौते कर, श्रमिकों की व्यक्तिगत शिकायतें तथा झगड़े सुलझाने तथा उन्हें दूर करने की व्यवस्था करता है।

5. सुरक्षा (Safety)— सेविवर्गीय विभाग कारखाने एवं कार्यालय मे स्वास्थ्यवर्धक तथा सुरक्षित वातावरण तैयार करने की व्यवस्था करता है। इसके लिए विभाग का सुरक्षा अभियन्ता (Safety Engineer) संस्था के सभी विभागों की सुरक्षा जाँच करता है तथा सुरक्षा के लिए महत्वपूर्ण साधन जुटाता है। साथ ही यह विभाग श्रमिको को सुरक्षा साधन भी प्रदान करते हैं तथा संस्था में होने वाली दुर्घटना की जाँच करता है और भविष्य में उनकी पुनरावृत्ति को रोकने की व्यवस्था की जाती है।

6. चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाएँ (Medical Facilities)— सेविवर्गीय विभाग समय-समय पर होने वाली छोटी तथा बड़ी दुर्घटनाओं के बाद कर्मचारियों की आवश्यक चिकित्सा का प्रबन्ध करता है। इसके लिए प्राथमिक चिकित्सा (First Aid) का प्रबन्ध तथा डॉक्टरों की व्यवस्था करनी होती है। संस्था द्वारा चलाई जा रही विभिन्न चिकित्सा संस्थाएँ (Dispensaries) का उचित प्रबन्ध भी इसी विभाग का दायित्व है।

7. अनुसंधान (Research) — यह विभाग श्रमिकों की अनुपस्थिति तथ उदासीनता, उनके मनोबल एवं प्रवृत्ति, कर्मचारी दल (Team work) आदि से सम्बन्धित तथ्यों का विश्लेषण करता है तथा इस क्षेत्र में प्राप्त नवीन तथा आधुनिक तकनीक और ज्ञान को संस्था के मुख्य प्रबन्धकों की जानकारी मे लाता है।

8. श्रमिक कल्याण एवं सेवा (Employees Welfare and Services)— सेविवर्गीय विभाग कारखाने तथा कार्यालयों में आवश्यक श्रम कल्याण कार्यों का प्रयोजन तथा प्रबन्ध करता है। इसके लिए मनोरंजन, कैंटीन, प्रोविडैन्ट फण्ड सामाजिक बीमा, लाभ विभाजन, सहकारी समितियाँ, स्कूल, अस्पताल आदि का प्रबन्ध किया जाता है। इसके साथ फैक्ट्रियो के निरीक्षक को समय-समय पर भेजी जाने वाली रिपोर्ट की व्यवस्था करता है।

9. श्रम विधान को कार्यरूप देना (Labour Legislation Implementation)— यह विभाग समय-समय पर सरकार द्वारा बनाये जाने वाले श्रम विधान और कानूनों से प्रबन्धकों को परिचित कराता है तथा सलाह देता है। साथ ही साथ उनके प्रावधानों के पालन की उचित व्यवस्था करता है।

सेविवर्गीय प्रबन्ध के उद्देश्य (Objectives of Personnel Management)— यह प्रबन्ध विज्ञान का सर्वमान्य सिद्धान्त है कि किसी भी उपक्रम में किया जाने वाला प्रत्येक कार्य प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में उस उपक्रम के निर्धारित उद्देश्यो की प्राप्ति मे योगदान करे। सेविवर्गीय विभाग उपक्रम के उद्देश्यों का ही एक अविभाज्य अंग होता है। अतः सेविवर्गीय प्रबन्ध का उद्देश्य, उपक्रम के उद्देश्यों का ही एक अंग होता है तथा वह सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक होना होता है।

सामान्य व्यावसायिक संस्थाओं के प्रमुख उद्देश्य निम्न प्रकार उल्लेखित किये जा सकते हैं—

1. उपभोक्ता द्वारा स्वीकार योग्य वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन तथा उनकी समुचित वितरण व्यवस्था करना,
2. उपक्रम के स्वामियों तथा विनियोक्ताओं को लाभों के रूप में उचित प्रत्याय प्रदान करना,
3. सभी वर्ग के कर्मचारियों को उचित वेतन तथा मजदूरी प्रदान करना तथा उनके वैयक्तिक मूल्यों (Values) जैसे उचित सम्मान, आदर आदि की सन्तुष्टि करना,
4. सामाजिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह करना, तथा

उपर्युक्त सभी उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए सेविवर्गीय प्रबंध विभाग के निम्नलिखित उद्देश्य माने जाते हैं :—

सेविवर्गीय प्रबंध के उद्देश्य

1. सेवा उद्देश्य 2. व्यक्तिगत उद्देश्य 3. सामाजिक उद्देश्य
4. मानवीय उद्देश्य 5. मितव्ययता

1. सेवा उद्देश्य (Service Objectives)— व्यवसायिक संस्था या उपक्रम का प्रमुख उद्देश्य समाज की वस्तुओं तथा समाज की सेवा सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति होता है। उपक्रम को, उसके इस उद्देश्य की प्राप्ति में जो भी व्यक्ति सहयोग प्रदान करते हैं उन्हें लाभों तथा अन्य पारिश्रमिक जैसे— वेतन, मजदूरी, बोनस आदि तथा वैयक्तिक सन्तुष्टि के रूप में पारितोषिक प्राप्त होता है।

चूँकि सेवा उद्देश्य, उपक्रम का प्रमुख उद्देश्य होता है, अतः स्वाभाविक रूप से सेविवर्गीय प्रबन्ध विभाग उपक्रम के उद्देश्यों की प्राप्ति में योगदान करने की भावना से प्रेरित होकर काम करता है, तथा उसका प्रथम उद्देश्य

NOTES

NOTES

उपक्रम द्वारा उत्पादित वस्तुओं तथा सेवाओं को कार्यकुशलता से प्राप्त करना होता है। सेविवर्गीय प्रबन्ध विभाग का प्रयास कर्मचारियों को इस दिशा मे प्रेरित करना होता है।

2. **व्यक्तिगत उद्देश्य** (Personal Objectives)— कार्यरत कर्मचारियों के व्यक्तिगत उद्देश्यों की प्राप्ति सेविवर्गीय प्रबन्ध में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। सामान्यतः उपक्रम में कार्यरत व्यक्तियों की संख्या काफी अधिक होती है तथा इन कार्मिकों के व्यक्तिगत उद्देश्यों मे एकरूपता नहीं होती है। साथ ही अनेक व्यक्तिगत उद्देश्य गुणात्मक प्रकृति के होते हैं और इन्हें परिणात्मक रूप में प्रकट करना मुश्किल प्रयास है। अतः सेविवर्गीय प्रबन्ध विभाग को, इन व्यक्तिगत उद्देश्यों को, यथासम्भव रूप से परिणात्मक रूप में व्यक्त करने का प्रयास करना चाहिए। इस प्रकार के प्रयास के फलस्वरूप, उपक्रम में कार्यरत कर्मचारियो के व्यक्तिगत उद्देश्यों को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जाता है—

(a) उचित मजदूरी, काम के घण्टे तथा कार्य की दशाएँ,

(b) प्रबन्ध निर्णयों में सहभागिता, (c) आर्थिक सुरक्षा,

(d) विकास के लिए समुचित अवसर, (e) वैयक्तिक प्रतिष्ठा एवं मान-सम्मान, तथा

(f) सकारात्मक दृष्टिकोण।

(a) **उचित मजदूरी, काम के घण्टे तथा कार्य की दशाएँ** (Fair wage, working hours and work-conditions)— जब तक कि कर्मचारी-वर्ग वेतन-संरचना को दिल से खुशी-खुशी स्वीकार न कर लें तब तक कोई भी सेविवर्गीय कार्यक्रम सफलतापूर्वक लागू नहीं किया जा सकता। यह आशा करना कि वे उपक्रम के लिए अधिकतम योगदान प्रदान कर सकेंगे, व्यर्थ है। कोई भी अन्य सेविवर्गीय कार्यक्रम, जैसे मनोरंजन की व्यवस्था, बीमा व्यवस्था, प्रशिक्षण व्यवस्था आदि, उचित-मजदूरी कार्यक्रम का स्थान ग्रहण नहीं कर सकते। अतः यह आवश्यक है कि उपक्रम यथासम्भव रूप से उचित मजदूरी की नीति अपनाए तथा कार्मिकों को वेतन संरचना के अन्तर्निहित औचित्य के सम्बन्ध में विश्वास दिलाए। सर्वोत्तम मजदूरी योजनाएँ भी आशानुकूल सफलता प्राप्त नहीं कर पाती है, यदि कार्मिक उसे स्वीकार नही करते अथवा अन्य किसी कारण से उसके प्रति शंकालु हैं।

चूँकि विभिन्न अधिनियमों में मुख्यतः कारखाना अधिनियम, 1948 के अन्तर्गत साप्ताहिक कार्य के घण्टों, साप्ताहिक अवकाश, एवजी अथवा क्षतिपूरक अवकाश, कार्य के दैनिक घण्टों, विश्राम-मध्यान्तर, श्रम-समय-विस्तार तथा रात्रि पालियों आदि के सम्बन्ध में विस्तृत प्रावधान है अतः कार्य के घण्टों के सम्बन्ध में विशेष कठिनाई अनुभव नहीं की जाती।

कारखाना अधिनियम, 1948 के अनुसार कार्मिकों के स्वास्थ्य, सुरक्षा एवं कल्याण हेतु सफाई की व्यवस्था, व्यर्थ पदार्थों एवं बहने वाले गन्दे पदार्थों की निकासी व्यवस्था, हवा तथा तापमान (ventilation and temperature), धूल और धुआँ, कृत्रिम नमी, अत्यधिक भीड़-भाड़, प्रकाश व्यवस्था, नहाने-धोने की सुविधाएँ, वस्त्रों को रखने एवं सुखाने की सुविधायें, बैठक की सुविधायें, पाथमिक उपचार की व्यवस्था, जलपान-गृह, आश्रय-स्थल, विश्राम-कक्ष, शिशु सदन आदि सभी के सम्बन्ध में विस्तृत प्रावधान है। लेकिन प्रत्येक कार्मिक के लिए उचित कार्य-भार की मात्रा निर्धारित कर पाना एक कठिन कार्य है और इसी कारण प्रायः प्रबन्धन और कार्मिकों के मध्य विवाद बना रहता है।

(b) **प्रबन्ध-सहभागिता** (Co-partnership Management)— सामान्यत प्रबन्धन ही उपक्रम के सम्बन्ध में नीति विषयक मामलों में निर्णय लेता है। लेकिन यदि प्रबन्ध द्वारा लिये गये निर्णय कार्यरत कर्मचारियों द्वारा हृदय से स्वीकार नहीं कर लिये जाते तो उनके क्रियान्वयन की सफलता में शका ही रहती है। ऐसी परिस्थिति में सेविवर्गीय प्रबन्ध का यह प्रयास रहता है कि सभी स्तरों पर कार्यरत कर्मचारियों को प्रबन्ध निर्णयों में सम्मिलित किया जाए।

(c) **आर्थिक सुरक्षा** (Economic Safety)— वैयक्तिक उद्देश्यो का एक अन्य महत्वपूर्ण भाग है- आर्थिक सुरक्षा की प्राप्ति। कार्मिकों को सदा भय बना रहता है कि दुर्घटनाग्रस्त होने पर, अथवा उपक्रम द्वारा प्रयुक्त तकनीक के पुराने और अव्यवहारिक हो जाने पर अथवा आर्थिक मन्दी जैसी स्थिति में उनके रोजगार पर कुप्रभाव पड़ सकता है। इस दिशा में अभी काफी कुछ करना शेष है। अतः सेविवर्गीय प्रबन्ध को कार्यरत कर्मचारियों को आर्थिक सुरक्षा प्रदान करने के उद्देश्य को निरन्तर ध्यान में रखना चाहिए।

(d) **विकास के अवसर** (Opportunity for Development)— इस वैयक्तिक उद्देश्य का महत्व इतना प्रकट नहीं है, जितना कि अन्य उपर्युक्त वर्णित उद्देश्यों जैसे उचित मजदूरी, प्रबन्ध निर्णयों में सहभागिता तथा आर्थिक सुरक्षा आदि का है। सेविवर्गीय प्रबन्ध में जिस बात को सामान्यतः गौण स्थान मिल पाता है, वह है

कर्मचारियों के विकास के लिए समुचित अवसर प्रदान करना। साथ ही यह बात भी स्पष्ट है कि सभी कार्मिक विकास के अवसरों की खोज के लिए इतने व्यग्र दिखाई नहीं पड़ते जितने कि वे अन्य वैयक्तिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए होते है। फिर भी सेविवर्गीय प्रबन्ध की सफलता इस बात पर काफी सीमा तक आश्रित रहती है कि कार्यरत व्यक्तियों को उनकी उन्नति तथा विकास के उचित अवसर मिलें।

(e) **वैयक्तिक प्रतिष्ठा एवं मान-सम्मान** (Personal Status)— किसी भी व्यक्ति को आत्म-तुष्टि उस समय प्राप्त होती है जब उसे इस बात का विश्वास हो जाता है कि वह जो कुछ कर रहा है वह समाज तथा देश के लिए उपयोगी है। जब कर्मचारियों को यह आभास होता है कि उनका जीवन सारयुक्त है तो उन्हे काम में गौरव की अनुभूति होती है। प्रबन्धवर्ग को चाहिए कि वे सभी कार्यरत व्यक्तियों को सार्थक एवं सारयुक्त बना पाएँ। जहाँ कार्य रचनात्मक न होकर नैत्यिक प्रकृति का होता है, वहाँ कार्य में सार्थकता तथा सारयुक्तता के दर्शन नहीं होते है।

कार्यरत व्यक्ति अपने कार्य में सार्थकता और रचनात्यकता की अनुभूति पर पाये, इस उद्देश्य से अनेक उपक्रम समय-समय पर इस बात का प्रचार करते है कि उनके द्वारा उत्पादित वस्तुएँ किस प्रकार उपभोक्ता तथा समाज की महती आवश्यकताओं की पूर्ति करती है और इस प्रकार वे (उपक्रम) समाज-सेवा में संलग्न है। कर्मचारी-वर्ग से समय-समय पर सुझाव आमंत्रित किये जाते है और उपक्रम उन सुझावों के प्रति सम्मान प्रदर्शित कर उनके मान और प्रतिष्ठा मे आभवृद्धि करता है।

(f) **सकारात्मक दृष्टिकोण** (Favourable Attitudes)— सेविवर्गीय प्रबन्ध को अपना ध्यान, श्रमिकों के अन्दर, अन्तर्वैयक्ति सम्बन्धों के कारण उत्पन्न होने वाली भावनाओं की ओर भी देना चाहिए। वर्ग भावनाएँ, वैयक्तिक भावनाओं को प्रभावित करती है। इसलिए सेविवर्गीय प्रबन्ध को चाहिए कि वे आरम्भ से ही वर्ग भावनाओ को एक सकारात्मक दिशा प्रदान करें।

(3) **सामुदायिक एवं सामाजिक उद्देश्य** (Community and Social Objectives)— व्यावसायिक उपक्रम समाज का ही अंग होते है। अतः किसी भी व्यावसायिक उपक्रम की परिसीमा तथा कार्य दिवसों में जो कुछ भी होता है, उसका पास-पड़ोस के समुदाय एव समाज पर प्रभाव पड़ता ही है। अधिकांश व्यवसायी-वर्ग, अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों के प्रति सदा से ही उदासीन रहते हैं। सरकार द्वारा समय-समय पर जन-कल्याण सम्बन्धी विधान बनाये जाते हैं। कुछ प्रगतिशील उपक्रम स्वेच्छा से ही अपने सामाजिक दायित्वों के प्रति अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करने लगे है।

उपक्रम के सामाजिक दायित्वों का निर्वाह करने के उद्देश्य से, सेविवर्गीय कार्यक्रमों को भी उन्हीं के अनुरूप ढालना चाहिए। उदाहरणार्थ, शिक्षण संस्थाओं में व्यावसायिक एवं तकनीकी शिक्षा ग्रहण करने वाले विद्यार्थियों के लिए प्रशिक्षण की व्यवस्था करना, समाज के पिछड़े तथा दलित-वर्ग के लिए रोजगार की विशेष व्यवस्था करना, वृद्धावस्था-बीमा की व्यवस्था करना आदि।

(4) **सुदृढ़ मानवीय सम्बन्ध एवं अनुशासन बनाये रखना** (Maintenance of Good Human Relations and Discipline)— संगठन में सेवारत सभी कार्मिकों के मध्य मधुर मानवीय सम्बन्ध स्थापित करना प्रबन्धन प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए। सेविवर्गीय प्रबन्धक कार्यरत कर्मचारियों के व्यक्तिगत एवं सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति कर अच्छे मानवीय सम्बन्धों का निर्माण कर संगठन में अनुशासन बनाये रख सकता है। अच्छे मानवीय सम्बन्धों से कर्मचारियों का संस्था के साथ एक आत्मिक लगाव उत्पन्न हो जाता है और वे संगठन को अपना ही समझकर अपनी अधिकतम कार्यक्षमता से कार्य करने के लिए तत्पर रहते है। सुदृढ़ औद्योगिक संगठन के लिए सौहार्द्रपूर्ण मानवीय सम्बन्ध अति आवश्यक है।

(5) **मितव्ययिता तथा प्रभावकारिता** (Economic and Effectiveness)— सेविवर्गीय प्रबन्ध को उपर्युक्त वर्णित समस्त उद्देश्यों को मितव्ययिता के साथ प्रभावकारी ढंग से प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। सीमित साधनों का जिनमें कि मानवीय साधन भी सम्मिलित हैं, प्रभावकारी ढंग से उपयोग किया जाना चाहिए। जो संगठन साधनों का अपव्यय करते है वे प्रतिस्पर्द्धा मे पिछड़ जाते है।

सेविवर्गीय प्रबन्ध का महत्व
(Importance of Personnel Management)

सेविवर्गीय प्रबन्ध या मानव संसाधन प्रबन्ध, प्रबन्ध का ऐसा क्षेत्र है जिसकी ओर वरिष्ठ प्रबन्धकों द्वारा पर्याप्त ध्यान दिया जाना चाहिये। इसी के द्वारा किसी उपक्रम के लक्ष्यों की प्राप्ति हो सकती है। साथ ही कर्मचारियों को व्यक्तिगत एवं सामूहिक सन्तुष्टि भी प्रदान हो जाती है। सेविवर्गीय प्रबन्ध के महत्व निम्नलिखित हैः-

NOTES

सेविवर्गीय प्रबन्ध का महत्व

1. प्रबंध के कार्यों के लिए आवश्यक
2. भौतिक साधनों में उपयोगी
3. मानवशक्ति का सदुपयोग
4. जटिल समस्याओं का समाधान
5. नवीन एवं आधुनिक संयंत्रों के लिए
6. प्रतिस्पर्द्धा में उपयोगी

1. प्रबन्ध के सभी कार्यों के लिए आवश्यक (Useful in all managerial working)— सेविवर्गीय प्रबन्ध व्यावसायिक प्रबन्ध का अभिन्न अंग है। प्रबन्ध के प्रत्येक कार्य एवं क्षेत्र में मनुष्यो से व्यवहार प्रथम एव सर्वोपरि होता है। सेविवर्गीय प्रबन्ध, सामान्य प्रबन्ध की एक विशेष शाखा होते हुए भी प्रबन्ध के सभी कार्यों एवं क्षेत्रों को प्रभावित करता है। अतः सेविवर्गीय प्रबन्ध सर्व व्यापक है।

2. भौतिक साधनों में उपयोगी (Useful in Physical Resources)— मानव साधनों का उपयोग अत्यन्त जटिल कार्य है। भावनाएँ, मान्यताएँ, विश्वास, मूल्य (Values), प्रतिष्ठा आदि तत्व इन जटिलताओं में अभिवृद्धि करते हैं। व्यवहार-विज्ञान के प्रयोग ने प्रबन्धक को भ्रमित कर दिया है। व्यवहार-विज्ञान के निष्कर्षों का व्यावसायिक जगत में अनुप्रयोग एक समस्या बनी हुई है। लेकिन व्यवहार-विज्ञान ने सेविवर्गीय प्रबन्ध को नये आयाम प्रदान किये है। इस सबका परिणाम यह हुआ है कि व्यावसायिक जगत में सेविवर्गीय प्रबन्ध की आवश्यकता एवं महत्व बढ़ गया है।

3. मानव शक्ति का सदुपयोग करने के लिए (For Proper Use of Manpower)— नई-नई खोज एवं तकनीकी विकास के कारण कार्मिकों का सामान्य शिक्षा स्तर बढ़ गया है। कर्मचारियों को काम का प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है। तकनीकी विकास के साथ ही तकनीकी अप्रचलन (Obsolescence) की गति में भी वृद्धि हुई हैं। अतः प्रशिक्षण तथा नवीकरण पाठ्यक्रमो (Refresher Course) का आयोजन, कार्मिक एवं पर्यवेक्षक के जीवन का महत्वपूर्ण अंग बन गया है। इसका उद्देश्य मूल्यवान मानव शक्ति का उपयोग अच्छी तरह करना होता है। अतः सेविवर्गीय प्रबन्ध का महत्व स्वतः स्पष्ट है।

4. जटिल समस्याओं का समाधान (Solution to Complex problems)— व्यावसायिक संगठनों के आकार में वृद्धि, कार्मिकों की संख्या में वृद्धि, संगठन की जटिलताओं में वृद्धि, श्रम संगठनों की शक्ति एवं प्रभाव में वृद्धि, सरकार के हस्तक्षेप में वृद्धि, इन सबने मिलकर सेविवर्गीय प्रबन्ध के कार्यों की जटिलताओं को बढ़ा दिया है। प्रबन्ध कार्यों की बढ़ी हुई जटिलताएँ, इसके महत्व को बढ़ाने में सहायक सिद्ध हुई है।

5. नवीन संयंत्रों के लिए (For new Implements)— मानवीय सम्बन्धों, प्रबन्ध में सहभागिता, विकेन्द्रीकरण, सत्ता का प्रत्यायोजन आदि कुछ प्रचलित संकल्पनाएँ है जिन्होंने परम्परागत प्रबन्ध विचारधारा को झकझोर दिया है। इन सभी संकल्पनाओं ने कार्मिकों के महत्व में अभिवृद्धि की है। कार्मिको के बढ़े हुए महत्व के साथ सेविवर्गीय प्रबन्ध का महत्व तो स्वतः ही बढ़ जाता है।

6. प्रतिस्पर्द्धा में उपयोगी (Useful in competition)— वर्तमान युग प्रतियोगिता का युग है। व्यवसाय जगत में अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए कार्यकुशलता को बढ़ाना आवश्यक होता है। भौतिक साधनों एवं तकनीकी ज्ञान तो सभी को उपलब्ध होते हैं परन्तु कार्यकुशलता का अन्तर केवल मानवीय साधनों के प्रभावी उपयोग करने पर निर्भर करता है जो कि सेविवर्गीय प्रबन्ध का अंग हैं। अतः व्यवसाय के अस्तित्व एवं भावी समृद्धि हेतु सेविवर्गीय प्रबन्ध अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

सेविवर्गीय प्रबन्धक की भूमिकाएँ
(Roles of Personnel Manager)

सेविवर्गीय प्रबन्धक एक संस्था तथा अपने विभाग में कई भूमिकायें निभाता है जिनका विश्लेषण निम्न प्रकार है—

1. विशेषज्ञ के रूप में (As a Specialist)— मानव संसाधन प्रबन्धक एक विशेषज्ञ होता है। अतः इस नाते वह विभिन्न क्रियात्मक विभागों के अध्यक्षों को मानव संसाधन प्रबन्ध के विभिन्न पहलुओं, जैसे- भर्ती, चयन, प्रशिक्षण, कार्य-परिचय, कार्य-मूल्यांकन, वेतन आदि के बारे में परामर्श प्रदान करता है। उसके परामर्श एवं मार्गदर्शन के आधार पर क्रियात्मक प्रबन्धक अपने कार्यों व दायित्वों को सफलतापूर्वक निष्पादित कर सकते हैं।

2. सूचना स्त्रोत के रूप में (As an Information Source)— सेविवर्गीय प्रबन्धक श्रम बाजार, श्रम कानूनों एवं अन्य सेविवर्गीय मामलों के बारे में वांछित सूचनायें प्रदान करता है। ये सूचनायें कर्मचारी नीतियों

एवं कार्यपद्धतियों के निर्माण में सहायक होती है। वह सेविवर्गीय मामलों से सम्बन्धित सूचनाओं का संरक्षक एवं अनुसंधानकर्ता होता है।

3. परिवर्तन अभिप्रेरक के रूप में (As a Change Agent)— सेविवर्गीय प्रबन्धक मानव संसाधन नीतियों एवं व्यवहारों में सुधार एवं परिवर्तनों को प्रोत्साहित करता है। वह संगठन विकास के लिए आवश्यक सरचनात्मक सहायता उपलब्ध कराता है। वह संस्थागत परिवर्तनों को लागू करवाने में सहायक होता है। वह कर्मचारी मामलों का नवप्रवर्तक होता है। वह मानवीय संसाधनों की बदलती हुई आवश्यकताओं एवं वातावरण पर ध्यान देता है।

4. नियंत्रक के रूप में (As a Controller)— सेविवर्गीय प्रबन्धक मानव संसाधन नीतियों एवं कार्यक्रमों को प्रभावी ढंग से लागू करवाने में रेखीय प्रबन्धकों को सहायता करता है। वह मानव संसाधनों की प्रगति एवं नियंत्रण पर ध्यान देता है। वह उच्च प्रबन्ध के अंग के रूप में सेविवर्गीय मामलों पर नियंत्रण बनाये रखता है।

5. समन्वयकर्ता के रूप में (As a Liaison Man)— मानव संसाधन प्रबन्धक विभिन्न विभागों के मध्य एक समन्वयकर्ता के रूप में कार्य करता है। वह संगठन की सभी इकाईयों तथा क्रियाओं को जोड़कर उनमें एकीकरण करता है।

6. संरक्षक के रूप में (As a Housekeeper)— सेविवर्गीय प्रबन्धक कर्मचारियों की सुरक्षा, कल्याण, स्वास्थ्य आदि का रखवाला होता है। वह कर्मचारियों के हितों की रक्षा करता है।

7. सुलहकर्ता (As a Fire Fighter)— मानव संसाधन प्रबन्धक कर्मचारियों की शिकायतों, विवादों, श्रम संघर्षों का समाधान करवाता है। वह प्रबन्ध एवं श्रम संघ के बीच उठे विवादों को हल करता है। वह संस्था एवं सम्पूर्ण उद्योग में शान्ति बनाये रखता है। वह श्रमिकों के असन्तोष व कठिनाइयों को दूर करता है।

इस प्रकार संगठन की आवश्यकता के अनुसार मानव संसाधन प्रबन्धक अनेक प्रकार की भूमिकायें निभाता है। वह संस्था की आत्मा के रूप में प्रबन्धकों को उनके नैतिक एवं सामाजिक उत्तरदायित्वों का बोध कराता है। वह कर्मचारियों के शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य का ध्यान रखता है। मध्यस्थ के रूप में वह औद्योगिक-शान्ति कायम करता है। वह श्रम एवं प्रबन्ध के बीच सम्प्रेषणकर्ता की भूमिका निभाता है। वह मानव संसाधनों एवं संस्था का प्रतिनिधि एवं प्रवक्ता होता है। वह मानवीय सम्बन्धों से जुड़ी समस्याओं को हल करने में रेखीय प्रबन्धकों को सहायता प्रदान करता है।

सेविवर्गीय प्रबन्धक मानव संसाधनों के प्रबन्ध का सूत्रधार, नियंत्रक एवं निर्देशक होता है। वह अपने स्वयं के विभाग में रेखीय प्रबन्धक के रूप में किन्तु दूसरे विभागों के लिए विशेषज्ञ के रूप में कार्य करता हैं। सेविवर्गीय प्रबन्धक व्यवहार में कई प्रकार की भूमिकायें निभाता है। अतः उद्योग में **'तीसरी शक्ति'** (Third Force) के रूप में भी जाना जाता है।

पिछले कुछ वर्षों में सेविवर्गीय प्रबन्धक की प्रस्थिति में भी परिवर्तन आया है। औद्योगीकरण के प्रारम्भिक दिनों में सेविवर्गीय प्रबन्धक का द्वितीय श्रेणी अधिकारी समझा जाता था। किन्तु आज उसे संस्था में उच्च प्रबन्ध का एक आवश्यक अंग, विशेषज्ञ एवं दार्शनिक समझा जाता है। पिछले कुछ दशकों में सेविवर्गीय प्रबन्धक की बदलती हुई प्रस्थिति निम्न प्रकार रही है:

1. पुलिसमेन (Policeman)— औद्योगिक विकास के प्रारंभिक दिनों में प्रबन्ध का विश्वास था कि श्रमिक कार्य से घृणा करते हैं तथा उत्तरदायित्व को टालते हैं। अतः उन्हें निर्देशित एवं नियंत्रित करना आवश्यक था। अतः उच्च प्रबन्ध सेविवर्गीय अधिकारी को पुलिसमैन के रूप में देखता था जो कर्मचारियों पर नियंत्रण एवं अनुशासन रख सके। इस तरह यह अधिकारी उद्योग में कानून एवं व्यवस्था की स्थिति पर नजर रखता था।

2. कानून-व्यक्ति (Law man)— कल्याणकारी राज्य की स्थापना के साथ ही कर्मचारियों के हितों की रक्षा के लिए कानून एवं नियम बनाये जाने आवश्यक हो गये। कर्मचारियों द्वारा श्रम कानूनों की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। कर्मचारियों के प्रति के वैधानिक उत्तरदायित्वों का निर्धारण जरूरी हो गया। कर्मचारियों के साथ कानूनी लड़ाई लड़ने के लिए नियोजक ने सेविवर्गीय प्रबन्धक की नियुक्ति करना शुरू की। तब सेविवर्गीय प्रबन्धक का मुख्य दायित्व श्रमिकों के दोषी पाये जाने पर उनकी अवैधानिक क्रियाओं पर विचार करना, उनके विरुद्ध कानूनी कार्यवाही करना एवं उन्हें दण्डित करना था।

3. सम्पर्क व्यक्ति (Liaison Man)— सेविवर्गीय प्रबन्धक एक ऐसा विशेषज्ञ कर्ता होता है जो कई विभागीय क्रियाओं को आपस में सम्बद्ध करके उनके निष्पादन भावी बनाता है। जब औद्योगिक गतिविधियाँ बढ़ने

लगी तो श्रम संघ मजबूत होते चले जाते है। ऐसे मे नियोजकों ने सेविवर्गीय प्रबन्धक को श्रम संघों से सेविवर्गीय प्रबन्धक को श्रम संघों से सौदेबाजी करने का दायित्व फलस्वरूप, उसकी मध्यस्थ की भूमिका महत्वपूर्ण हो गई।

4. **पोषणकर्ता** (Catering Man)— कुछ जागरूक मिल-मालिकों ने अपने कर्मचारियों को कल्याणकारी सुविधाये, जैसे केन्टीन, क्रेश, आवास, चिकित्सा आदि देना प्रारम्भ किया।

NOTES

सेविवर्गीय प्रबन्धक को ये सेवायें उपलब्ध करवाने एवं उनका प्रशासन करने का दायित्व सौंपा गया।

5. **कल्याणकारी व्यक्ति** (Welfare Man)— बढ़ते हुए श्रम कानूनों एवं कारखाना अधिनियमों के कारण श्रमिकों को अधिकाधिक कल्याणकारी सुविधाएँ देना आवश्यक माना गया। इन वैधानिक दायित्वों की पूर्ति के लिए मिल-मालिकों ने श्रम कल्याण अधिकारी की नियुक्ति की तथा सेविवर्गीय प्रबन्धक को विभिन्न श्रम कल्याण गतिविधियों का भार सौंपा गया।

6. **उत्पादकता व्यक्ति** (Productivity Man)— आज सेविवर्गीय प्रबन्धक को **'उत्पादकता व्यक्ति'** के रूप मे देखा जाता है। वह कर्मचारियों के साथ मानवीय सम्बन्धों की स्थापना करते हुए तथा उनकी आर्थिक, सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए उत्पादकता को प्रोत्साहित करता है। आने वाले समय मे सेविवर्गीय प्रबन्धक को उत्तर-औद्योगिक समाज की बदलती हुई आवश्यकताओं को पूरा करने की चुनौती वहन करनी होगी।

प्रमुख प्रश्न
(Important Questions)

I. निबन्धात्मक प्रश्न (Essay-type Questions)

1. 'सेविवर्गीय प्रबन्ध' को परिभाषित कीजिए तथा इसके उद्देश्यों की विवेचना कीजिए।
2. 'प्रबन्ध कार्मिक प्रशासन है ..... यह मनुष्यो का विकास है न कि वस्तुओं का निर्देशन।' इस सन्दर्भ में सेविवर्गीय प्रबन्ध का कार्य समझाइए।
3. मानवीय संसाधन के प्रबन्ध से आपका क्या आशय है? क्या यह एक नवीन अवधारणा है?
4. सेविवर्गीय प्रबन्ध की प्रमुख विशेषताओं का विवेचन कीजिए।
5. 'व्यवसाय के उद्देश्यों की प्राप्ति, सेविवर्गीय प्रबन्ध का उद्देश्य होता है' इन दोनों प्रकार के उद्देश्यों को आप किस प्रकार समायोजित करेंगे?
6. सेविवर्गीय प्रबन्ध एक विधि, एक दृष्टिकोण, एक चिन्तन तकनीक तथा एक दर्शन है। इस कथन को समझाइये तथा सेविवर्गीय प्रबन्ध की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
7. 'सेविवर्गीय प्रशासन पर 'लाइन' जिम्मेदारी है, किन्तु वह 'स्टाफ' कार्य भी।' इस अवधारणा को समझाइये तथा यह स्पष्ट कीजिए कि उद्योगों में सेविवर्गीय अधिकारियों को क्या भूमिका उचित रूप से सौंपी जा सकती है?

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

8. प्रभावी सेविवर्गीय प्रबन्ध किस प्रकार श्रम की कार्यकुशलता को प्राप्त करता है?
9. सेविवर्गीय प्रबन्ध के महत्व की सावधानीपूर्वक विवेचना कीजिए।

II. लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Questions.)

1. सेविवर्गीय प्रबन्ध का क्षेत्र बतलाइए।
2. सेविवर्गीय प्रबन्ध की विषय वस्तु क्या है?
3. भारत तथा विदेशों में सेविवर्गीय प्रबन्ध पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
4. सेविवर्गीय प्रबन्ध के उद्गम व विकास पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

●●●

15

मानव शक्ति नियोजन
(MAN-POWER PLANNING)

मानव शक्ति नियोजन का अर्थ (Meaning of Man Power Planning)- मानव शक्ति नियोजन से तात्पर्य किसी उपक्रम में कर्मचारियों की मांग एवं पूर्ति में सामजस्य तथा संतुलन स्थापित करना है।

प्रत्येक उपक्रम में कर्मचारियों का आना-जाना बना रहता है और इस प्रकार कर्मचारियो की व्यवस्था का कार्य निरन्तर चलता रहता है। प्रबन्धन के लिए कर्मचारियों की व्यवस्था की इस निरन्तर प्रक्रिया में कर्मचारियों की आवश्यकता का अनुमान लगाना, उन्हें खोजना, उनका चयन करना तथा उनका प्रशिक्षण एवं विकास सम्मिलित होता है। कर्मचारी प्रबन्ध की एक प्रक्रिया के रूप मे कर्मचारियों की व्यवस्था का कार्य निश्चित चरणो मे गुजरता है। मानव संसाधन की आवश्यकता का पूर्वानुमान लगाया जाता है। तत्पश्चात् आवश्यकता की पूर्ति के लिए भर्ती की प्रक्रिया प्रारम्भ की जाती है। आवश्यकतानुसार मानव संसाधन की पूर्ति के लिए कर्मचारियों का चयन किया जाता है, चयनित कर्मचारियों को प्रशिक्षित कर उपयुक्त कार्यों पर नियुक्त किया जाता है।

किसी व्यवसायिक संस्था की सफलता कर्मचारियों की व्यवस्था सम्बंधी कार्यों की निपुणता पर ही निर्भर है। अपने इस उद्देश्य में सफलता प्राप्त करने के लिए प्रबन्धन द्वारा मानव संसाधन की आवश्यकता का सही अनुमान लगाया जाना चाहिए ताकि उसके अनुसार उपक्रम में विभिन्न पदों के लिए कर्मचारियों की भर्ती एवं चयन किया जा सके। **स्ट्रास एवं साइल्स** (Strauss and Sayles)के अनुसार, "युक्तिसंगत दृष्टि से किसी फर्म की कर्मचारियों सम्बन्धी क्रिया के विकास का प्रथम चरण संगठन के संचालन के लिए कर्मचारियों को अधिप्राप्ति है। यह केवल प्रथम चरण ही नहीं है, अपितु, किसी व्यवसाय की स्थापना एवं विकास का अत्यन्त महत्वपूर्ण चरण है। योग्य कर्मचारियों की पूर्ति, व्यवसाय की सफलता के अन्य साधन जैसे - धन, सामग्री अथवा बाजार की भाँति ही प्रभावित करती है।" कर्मचारियों की पर्याप्त संख्या में तथा विभिन्न पदों के लिए उपलब्धि सम्भव बनाने के लिए उपक्रम द्वारा ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि आवश्यकता पड़ने पर सही पूर्वनियोजन आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार मानव संसाधन नियोजन,भर्ती एवं चयन से पूर्व सम्पन्न की जाने वाली वह क्रिया है जिसके द्वारा कितने तथा किस प्रकार के कर्मचारी उपक्रम में आवश्यक है इसका पूर्वानुमान लगाया जाता है।

मानव शक्ति नियोजन परिभाषाएँ (Man power Planning Definitions)- मानव शक्ति नियोजन से तात्पर्य किसी संस्था के सन्दर्भ में उसके द्वारा कर्मचारियों की माँग एवं पूर्ति में सामंजस्य स्थापित करना है। यह उपक्रम द्वारा अपनी मानवीय आवश्यकताओं का पूर्वानुमान है। मानव संसाधन की व्याख्या एवं भावी आवश्यकताओं का अनुमान प्रस्तुत किया जाता है। कर्मचारियों की व्यवस्था सम्बन्धी नीति इस अनुमान पर आधारित होती है कि आवश्यकता का यह अनुमान उपक्रम की वर्तमान एवं भावी आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर लगाया जाए।

निम्न मुख्य परिभाषाऐं इस प्रकार हैं-

1. **गोरडन मेकबेथ** (Gorden McBeath) के अनुसार, मानव संसाधन नियोजन में दो चरण (stage) सम्मिलित हैं। प्रथम चरण "मानव संसाधन आवश्यकताओं का नियोजन" तथा द्वितीय चरण "मानव संसाधन की पूर्ति नियोजन"

2. **स्टेनर** के शब्दों में, "संगठन के मानव संसाधन का आधिपत्य, उपयोग, उन्नति, एवं परीक्षण का चक्रव्यूह है। यह मानव शक्ति के कार्य निर्दिष्ट अथवा अवसरों का संख्या, सम्भावित सेविवर्ग और मानव शक्ति के स्त्रोत का निर्धारण करना है।"

3. **एरीक डब्लू. वेटर** (Eric W. Vetter) के अनुसार "मानव संसाधन नियोजन एक प्रक्रिया है जिसके माध्यम से प्रबन्ध यह निश्चय करता है कि संगठन को किस प्रकार से कदम उठाने चाहिए कि वह अपनी विद्यमान मानव संसाधन स्थिति से इच्छित मानव संसाधन स्थिति में पहुँच जाये। आयोजन के माध्यम से प्रबन्ध सही संख्या मे सही प्रकार के व्यक्तियों को, सही स्थानों पर, सही समय में प्राप्त करने में समर्थ होता है। इससे संगठन एवं कार्मिकों दोनों को ही अधिकतम दीर्घकालीन लाभों की प्राप्ति होती है।"

NOTES

4. **डेल योडर** (Dale Yoder) के अनुसार "कर्मचारी व्यवस्था सम्बन्धी नीति सामान्यतः यह धारणा रखती है कि संगठन को वर्तमान एवं भावी मानवीय आवश्यकताओं की व्याख्या उसके गुण के स्तर एवं संस्था के संदर्भ में की जाएगी। जहाँ सम्भव होगा आवश्यकता का पूर्वानुमान किया जाएगा ताकि आवश्यकतानुसार मानव संसाधन उपलब्ध हो सके।"

प्रगतिशील उपक्रम अपनी मानव शक्ति आवश्यकताओं का सावधानीपूर्वक विश्लेषण करते हैं। मानव संसाधन की आवश्यकता उत्पन्न होने तक प्रतीक्षा करने के स्थान पर वे अपनी विद्यमान मानव संसाधन की उपलब्धि, पदोन्नति, भविष्य में उत्पन्न होने वाले सम्भावित रिक्त स्थान एवं विकास के लिए अतिरिक्त कर्मचारियों की आवश्यकता का पहले की अनुमान लगा लेते है। यह अनुमान मानव संसाधन की कमी अथवा आधिक्य दोनों अवस्थाओं से उपक्रम की रक्षा करता है और मानव संसाधन की माँग तथा पूर्ति में ऐसा सन्तुलन स्थापित करने में सहायक होता है इससे मानव संसाधन के अधिकतम उपयोग में सहायता मिलती है।

मानव शक्ति नियोजन की आवश्यकता
(Need for Manpower Planning)

मानव शक्ति नियोजन का लक्ष्य मानव शक्ति के अपव्यय को रोककर उसका प्रभावशाली और अधिकतम उपयोग करना होता है। नियोजन की आवश्यकता कर्मचारियों की भर्ती, चयन, प्रशिक्षण एवं विकास की नीतियों के निर्धारण के लिए होती है। देश में मानवीय श्रम का बाहुल्य तो मानव-संसाधन नियोजन को और भी आवश्यक बना देता है। इसका कारण यह है कि उपलब्ध जन-संसाधन में से उपक्रम अपनी आवश्यकतानुसार कर्मचारियों का चयन कर सके, इसके लिए सावधानी बरतना आवश्यक हो जाता है। यह आवश्यक है कि जिस प्रकार के तथा जिस योग्यता के कर्मचारियों की जब आवश्यकता हो, उपक्रम को उपलब्ध हो सकें। रिक्त स्थानों की पूर्ति सही व्यक्तियों द्वारा हो सके, कर्मचारी लागत न्यूनतम रहे तथा उपक्रम का अच्छा विकास हो, इस आवश्यकता की पूर्ति का एक महत्वपूर्ण तत्व, मानव-संसाधन नियोजन है। एक विकासशील उपक्रम में उसकी निरन्तर बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अतिरिक्त कर्मचारियों की आवश्यकता पड़ती रहती है। पुराने कर्मचारी की मृत्यु, सेवानिवृत्ति, त्यागपत्र आदि कारणों से संस्था में नये कर्मचारियों की भर्ती जरूरी हो जाती है। यह सभी तथ्य उपक्रम के लिए मानव-संसाधन के नियोजन के महत्व को प्रकट करते है। सही कार्य पर सही व्यक्ति की नियुक्ति के लिए उसकी खोज एवं नियुक्ति की आवश्यकता आज अत्यधिक बढ़ गई है। शिक्षा एवं प्रशिक्षण का विकास होने पर भी सही कार्य के लिए सही व्यक्ति की सही समय पर उपलब्धि आज एक समस्या है।

मानव शक्ति नियोजन की आवश्यकता

1. कर्मचारी लागत कम करने में सहायक
2. भर्ती के स्त्रोत ढूँढने मे सहायक
3. चयन, नियुक्ति तथा प्रतिस्थापना में सहायता करना
4. कर्मचारी का विकास
5. कर्मचारी अपव्यय नियन्त्रण
6. कर्मचारी आवर्तन पर नियंत्रण करना
7. निरन्तर उत्पादन को संभव बनाना
8. औद्योगिक शान्ति।

1. **कर्मचारी की लागत कम करने में सहायक** (Useful in reducing Employees Cost)-कच्चे माल के बाद लागत का बड़ा भाग श्रम लागत ही होता है। कर्मचारी या श्रम की लागत को कम करने के लिए इस पर नियंत्रण आवश्यक है। मानव-संसाधन नियोजन कर्मचारी आधिक्य तथा कमी को दूर करके उपक्रम के लिए आदर्श कर्मचारी संसाधन की व्यवस्था करता है। इस प्रकार कर्मचारी संसाधन का पर्याप्त उपयोग होकर उस पर आने वाली लागत न्यूनतम हो जाती है। आर्थिक उदारीकरण के परिपेक्ष्य मे तो यह बात और भी महत्वपूर्ण हो जाती है।

2. **भर्ती के स्त्रोत ढूँढने में सहायक** (Helpful in searching sources of Recruitment)-भविष्य में किस प्रकार के कर्मचारियों की आवश्यकता होगी, इसका निर्धारण हो जाने के पश्चात् ही भर्ती के सही स्त्रोतों का चयन किया जा सकता है। मानव-संसाधन नियोजन में कर्मचारियों में किस गुण स्तर की आवश्यकता होगी, यह भी निश्चित किया जाता है। अतः भर्ती के लिए उपलब्ध विभिन्न स्त्रोतों में किसका उपयोग किया जाए, यह निर्धारित करना प्रबन्धकों के लिए सरल हो जाता है।

3 **कर्मचारियों के चयन, नियुक्ति तथा प्रतिस्थापन में सहायक** (Helpful in Selection, Placement and Replacement of Employees)-किसी उपक्रम में कर्मचारी प्रबन्ध का उद्देश्य सही कार्य पर सही व्यक्ति का चयन एवं नियुक्ति करना होता है। उपक्रम के लिए मानव-शक्ति की आवश्यकता का नियोजन करके सुविधापूर्वक उपयुक्त व्यक्तियों का चयन तथा नियुक्ति की जा सकती है। रिक्त स्थानों पर कर्मचारियों की नियुक्ति में भी नियोजन से सहायता प्राप्त होती है। रिक्त स्थानों के पूर्वानुमान हो जाने पर उनकी पूर्ति की व्यवस्था करना सम्भव हो जाता है।

NOTES

4. **कर्मचारी का विकास** (Employee Development)-कर्मचारियों के विकास-कार्यक्रमों को प्रभावी तभी बनाया जा सकता है। जबकि विकास कार्यक्रमों को मानव-शक्ति नियोजन से सम्बद्ध किया जाए। कर्मचारी के पदों एवं अपेक्षित योग्यताओं का पूर्वज्ञान ही प्रशिक्षण कार्यक्रमों का आधार होता है। पदोन्नति के अवसरों का अनुमान भी इसी द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

5. **कर्मचारी के अपव्यय पर नियंत्रण** (Control on Wastage of Employees)- किसी उपक्रम में सावधानीपूर्वक मानव-शक्ति के नियोजन के द्वारा ही मानव संसाधन के अपव्यय को रोका जा सकता है। मानव-शक्ति नियोजन के अभाव में कर्मचारी की आवश्यकताओं की पूर्ति बिना किसी निश्चित मापदण्डों के हो जाती है और इस प्रकार सम्भव है कि उपक्रम में अनुपयुक्त की भर्ती हो जाये। अनुपयुक्त व्यक्ति में सदैव ही उत्साह का अभाव पाया जाता है ऐसी अवस्था में कर्मचारी का मनोबल नीचा रहता है जिसका प्रभाव उनकी कार्यकुशलता पर पड़ता है। फलस्वरूप मानव-शक्ति का समुचित उपयोग नहीं हो पाता ।

6. **कर्मचारी के आवर्तन पर नियंत्रण करना** (Control on Employees Turnover)-किसी उपक्रम में उपयुक्त कर्मचारियों का चयन एवं नियुक्ति कर्मचारी आवर्तन में कमी लाने में सहायक होते हैं। वैसे किसी बड़े उपक्रम में कर्मचारी आवर्तन की प्रकृति को सर्वथा रोका नहीं जा सकता । जहाँ इस प्रवृत्ति के कुछ संस्थात्मक कारण हो सकते है, वही अनेक व्यक्तिगत कारणों से कर्मचारी आवर्तन उत्पन्न हो जाता है। कर्मचारी आवर्तन की दर अधिक होने से उपक्रम को अनेक हानियों का सामना करना पड़ता है। इसके परिणामस्वरूप उत्पादन की मात्रा कम हो जाती है, प्रशिक्षण के व्ययों में वृद्धि होती है तथा कर्मचारियों का मनोबल गिर जाता है। अतः कर्मचारी आवर्तन की दर को कम करने के प्रयत्न आवश्यक हैं और मानव-शक्ति के नियोजन द्वारा इस दर में कमी लाना सम्भव है।

7. **निरन्तर उत्पादन को सम्भव बनाना** (Possibility of continuous production)-उत्पादन विघटन पर रोक के लिए मानव-शक्ति नियोजन प्रभावकारी साधन है। आवश्यकता पड़ने पर मानव-शक्ति का अभाव ही उत्पादन में बाधा उत्पन्न करता है। मानव संसाधन नियोजनः मानव-शक्ति की माँग तथा पूर्ति में सन्तुलन की स्थापना कर निरन्तर उत्पादन में बाधा उत्पन्न नहीं होने देता ।

8. **औद्योगिक शान्ति** (Industrial peace)-मानव संसाधन नियोजन औद्योगिक अशान्ति में कमी लाने में सहायक होता है। उपयुक्त मानव संसाधन नियोजन से विभिन्न श्रम समस्याएँ तथा श्रम-आवर्तन, श्रम-निष्कासन, पदोन्नति, छँटनी आदि उत्पन्न नहीं होती हैं। फलतः औद्योगिक शान्ति बनी रहती है जिसका वर्तमान उदारीकरण तथा वैश्वीकरण (Globalisation)में काफी महत्व है।

मानव शक्ति नियोजन के तत्व (Elements of Manpower Planning)-मानव संसाधन नियोजन कार्यक्रम के अन्तर्गत परिमाणात्मक एवं गुणात्मक दृष्टि से मानव-संसाधन की आवश्यकताओं का निर्धारण सम्मिलित होता है। कर्मचारी विकास की सम्भावनाओं के सन्दर्भ में यह नियोजन काफी समय पूर्व किया जाना चाहिए। भावी अनुमान के लिए वर्तमान मानव कौशल का मूल्यांकन भी करना आवश्यक है। मानव कौशल का मूल्यांकन विद्यमान मानव कौशल की पूर्ति एवं सगठन में विकसित कौशल का अनुमान लगाने के लिए आवश्यक होता है। अपने अन्तिम चरण में मानव-संसाधन नियोजन का सम्बन्ध मानव कौशल की माँग एवं पूर्ति के अन्तर को ज्ञात करना है। यदि माँग पूर्ति से अधिक है तो इसके लिए आवश्यक व्यवस्था की जानी चाहिए। यहाँ दो बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए-

I. **मानव शक्ति का पूर्वानुमान** (Forecast of Human Resources)-उपक्रम के विकास की सम्भावनाओं पर विचार किया जाना चाहिए तथा मानव-संसाधनों की परिमाणात्मक एवं गुणात्मक आवश्यकताओं का पूर्वानुमान लगाया जाना चाहिए। वर्तमान मानव-संसाधन के मूल्यांकन का सम्बन्ध विद्यमान परिमाणात्मक एवं गुणात्मक मानव संसाधन के स्कन्ध से है। उपक्रम के पास वर्तमान में क्या और कितनी मानव संसाधन उपलब्ध है, इसके द्वारा प्रतिस्थापन की सम्भावना का भी मूल्यांकन किया जाता है।

NOTES

11. वर्तमान संसाधनों का मूल्यांकन करना (Valuation of Present/Existing Human Resources)- वर्तमान मानव संसाधनों के मूल्यांकन द्वारा ऐसे कर्मचारियों की खोज, जो विकास की योग्यता रखते हैं तथा उन्हें विकास के लिए कैसे शिक्षण-प्रशिक्षण की आवश्यकता है, की जा सकती है अर्थात् यह विद्यमान मानव कौशल एवं कर्मचारियों की अन्त: संसाधन का विश्लेषण है। इसी के द्वारा मानव संसाधनों की वास्तविक भावी माँग का पूर्वानुमान लगाया जा सकता है। मानव संसाधनों की आवश्यकता पर कर्मचारी आवर्तन का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ता है।

मानव शक्ति नियोजन की पूर्व-आवश्यकताएँ
(Pre-requisites of Man-Power Planning)

मानव शक्ति नियोजन की सफलता के लिए महत्वपूर्ण पूर्व-आवश्यकतायें निम्नलिखित है:-

(i) उद्देश्यों की स्पष्ट व्याख्या (ii) नियोजन का संगठन

(iii) समय, धन तथा साधनों की आवश्यकता (iv) सूचना प्राप्ति के स्त्रोत

(v) समन्वय तथा एकीकरण (vi) प्रशासकीय समर्थन।

(i) **उद्देश्यों की स्पष्ट व्याख्या** (Clearly defined Objectives)- उद्देश्यों की स्पष्ट व्याख्या नियोजन का आधार मानी जाती है। कर्मचारी प्रबन्ध की किसी क्रिया के नियोजन के लिए भी समग्र कर्मचारी प्रबन्ध एवं क्रिया सम्बन्धी उद्देश्य पूर्व-निश्चित होने चाहिए। इन उद्देश्यों का सामरिक उद्देश्य (Strategic goals) तथा परिचालन उद्देश्य (Operational goals) में विभक्त किया जा सकता है। सामरिक उद्देश्यों दीर्घ समयावधि से होता है और उनका लक्ष्य संगठन के समग्र स्वरूप में परिवर्तन लाकर मानव संसाधन सम्बन्धी समस्याओं का समाधान करना है अर्थात् इन उद्देश्यों का सम्बन्ध दीर्घकालीन मानव संसाधन नियोजन से है।

(ii) **नियोजन का संगठन** (Organisation of Planning)-नियोजन प्रत्येक अधिशासी का कार्य है और इस प्रकार मानव संसाधन नियोजन में भी उपक्रम के सभी विभागों और अधिकारियों का योगदान होता है। परन्तु फिर भी यह आवश्यक है कि मानव संसाधन नियोजन के लिए पृथक् विभाग की स्थापना की जाए तथा उस विभाग का कार्य एक उच्च अधिकारी को सौंप कर उसे इस कार्य के लिए उत्तरदायी बनाया जाए। प्राय: बड़े उपक्रम कर्मचारी प्रबन्धक के आधीन एक पृथक् विभाग की स्थापना इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए करते हैं। यह विभाग विभिन्न विभागों के अधिकारियों द्वारा मानव संसाधन की माँग एवं योजनाओं में सामंजस्य स्थापित कर सम्पूर्ण उपक्रम के लिये मानव संसाधन सम्बन्धी अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन तैयार करता है।

(iii) **समय, धन तथा साधनों की आवश्यकता** (Need of Time, Money and Resources)-प्रभावशाली नियोजन के लिए पर्याप्त समय, धन तथा कर्मचारीरूपी साधनों की आवश्यकता है। नियोजन में मितव्ययिता का अर्थ साधनों की अपर्याप्तता नहीं है। नियोजनकर्ता उपलब्ध साधनों का उपयोग नवीन साधनों के निर्माण के लिए करता है। मानव नियोजन का उद्देश्य प्रभावी मानव संसाधन की उपलब्धि है- अत: समय, धन अथवा अन्य साधनों की कमी इस उपलब्धि में बाधा उत्पन्न कर सकती है।

(iv) **प्रभावी सूचना-प्राप्ति का स्त्रोत** (Source of Effective Information)- मानव संसाधन नियोजन की प्रभावशीलता उससे सम्बन्धित पूर्वानुमानों की यथार्थता एवं परिशुद्धता पर निर्भर करती है। पूर्वानुमानों की यथार्थता एवं परिशुद्धता पर्याप्त एवं शुद्ध सूचनाओं, तथ्यों एवं अभिलेखों पर निर्भर करती है। अत: सूचनाओं के सम्प्रेषण की एक प्रभावी व्यवस्था मानव संसाधन नियोजन में यथार्थता एवं परिशुद्धता लाने के लिए जानी आवश्यक है। सूचनाओं का प्रवाह अथवा सम्प्रेषण व्यवस्था इस प्रकार की होनी चाहिए कि वे सदैव नवीनतम बने रहे । मानव संसाधन के नियोजनकर्ता को अपने उद्देश्य के लिए कर्मचारियों के विषय में उनकी आयु, अनुभव, कुशलता, विशिष्ट दक्षताएँ, अभिवृत्तियां आदि सूचनाओं का एकत्रित करना होता है। भावी अनुमान लगाने के लिए वर्तमान मानव संसाधन के परिमाणात्मक एवं गुणात्मक तत्वों को परीक्षण करने के लिए कर्मचारियों से सम्बन्धी इन सूचनाओं के एकत्रीकरण की आवश्यकता होती है।

(v) **समन्वय तथा एकीकरण** (Co-ordination and Integration)- मानव संसाधन नियोजन का उद्देश्य का उपक्रम की आवश्यकताओं के लिए मानव संसाधन का विकास एवं उपयोग सम्भव बनाना है। मानव संसाधन नियोजन स्वयं में कोई उपलब्धि नहीं है, यह केवल एक साधन है जो उपक्रम की मानव संसाधन सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति करता है। अत: इसे पृथक् में न देखकर सम्पूर्ण व्यवसाय के सन्दर्भ में देखा जाना चाहिए। मानव संसाधन

नियोजन कार्यक्रम का एकीकरण उपक्रम के अन्य कार्यक्रमों से किया जाना चाहिए। उपक्रम की उत्पादन प्रणालियाँ, विपणन व्यवस्था आदि मानव संसाधन की आवश्यकता को प्रभावित करती है। उत्पादन प्रणालियाँ, विपणन व्यवस्था में परिवर्तन मानव संसाधन मे परिवर्तन करती है। उत्पादन प्रणालियाँ, विपणन व्यवस्था मे परिवर्तन मानव संसाधन में परिवर्तन ला देते है। मशीनो एवं कम्प्यूटर के इस युग में मानव संसाधन की आवश्यकता का स्वरूप ही बदल गया है। निर्माताओं की सीधे उपभोक्ताओं को विक्रय की प्रवृत्ति ने विपणन मार्गो मे परिवर्तन लाकर मानव संसाधन नियोजन को भी प्रभावित किया है।

NOTES

एकीकरण की इस आवश्यकता के साथ कर्मचारी प्रबन्ध की अन्य नीतियों के साथ मानव संसाधन नियोजन का समन्वय भी आवश्यक है। कर्मचारी कल्याण, प्रशिक्षण, पदोन्नति आदि नीतियों का मानव संसाधन नियोजन से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। मानव संसाधन नियोजन कार्यक्रम का विकास समग्र कर्मचारी प्रबंध नीति के अंग के रूप में किया जाना चाहिए।

(iv) **प्रशासकीय समर्थन** (Administrative Support)-कर्मचारियों की संतुष्टि का महत्व होते हुए भी सामान्यतः इसे प्रशासकीय समर्थन प्राप्त नहीं होता । प्रायः प्रशासकीय अधिकारी नियोजन को निर्णयक क्रिया समझते है। मानव संसाधन नियोजन के सम्बन्ध मे भी ऐसी धारणा व्याप्त बनी रहती है। मानव संसाधन नियोजन की सफलता उच्च प्रशासकीय समर्थन के अभाव में संदिग्ध बनी रहती है।

मानव शक्ति नियोजन की प्रक्रिया (Process of Manpower Planning)-मानव संसाधन नियोजन की प्रक्रिया का आशय उन चरणो से है जिनके द्वारा मानव संसाधन का नियोजन किया जाता है। मानव संसाधन नियोजन के लिए भी कुछ आवश्यक चरण उठाने पड़ते है, जो अग्रांकित हैं-

(अ) **मानव संसाधन आवश्यकताओं का निर्धारण** (Determination of Man Resource Needs)-प्रत्येक उपक्रम मे मानव संसाधन की आवश्यकता का निर्धारण उसके उत्पादन कार्यक्रम के द्वारा होता है जो स्वयं विक्रय आदेशों पर निर्भर करता है। अर्थात् मानव संसाधनों की आवश्यकता एवं इसमें उच्चावचन को काम करने के लिए विक्रय पूर्वानुमान महत्वपूर्ण योगदान करते हैं। विक्रय अनुमानों से उत्पादन कार्यक्रम निश्चित किया जा सकता है तथा कर्मचारियों की संख्या का अनुमान लगाया जा सकता है एवं कर्मचारी आवर्तन को कम किया जा सकता है। इस प्रकार मानव संसाधन नियोजन कार्यक्रम का उत्पादन तथा विक्रय कार्यक्रमों से समन्वय होना आवश्यक है। मानव संसाधन नियोजन का सफल क्रियान्वयन भी इसी बात निर्भर करता है।

मानव शक्ति की आवश्यकताओ के निर्धारण के लिए उपक्रम द्वारा निम्नांकित चरण उठाये जाते हैं-

(i) **विक्रय पूर्वानुमान** (Sales Forecasting)- प्रत्येक उपक्रम औपचारिक अथवा अनौपचारिक रूप से विक्रय का अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन पूर्वानुमान लगाता है। विक्रय के इन पूर्वानुमानों पर उपक्रम के सम्पूर्ण क्रियाकलाप निर्भर करते हैं। उपक्रम का उत्पादन, वित्त, कर्मचारी आदि नीतियों एवं परिवर्तन को यह पूर्वानुमान विशेष रूप से प्रभावित करते हैं।

(ii) **उत्पादन कार्यक्रम निर्धारण** (Production Scheduling)- प्रत्येक उपक्रम अपने विक्रय पूर्वानुमानों के आधार पर अपने उत्पादन सम्बन्धी अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन कार्यक्रम तैयार करता है। उत्पादन कार्यक्रम के विकास में उत्पादन एवं रोजगार में स्थायित्व पर विशेष ध्यान दिया जाता है। स्थापित्व के इन प्रयत्नों का सम्बन्ध अस्थायी उच्चावचनो से होता है क्योंकि दीर्घकाल में उत्पादन एवं रोजगार उपक्रम की स्थायी नीतियों द्वारा निर्धारित होता है। दीर्घकालीन उत्पादन एवं रोजगार में स्थायित्व लाने के लिए विपणन प्रयासों एवं कार्यक्रमों का सहारा लिया जाता है। उत्पादन में वृद्धि की माँग के लिए विद्यमान मानव संसाधनों के अधिकतम उपयोग की व्यवस्था की जाती है अथवा पूर्वानुमान के आधार पर नवीन भर्ती एवं चयन के कार्यक्रम तैयार किये जाते है। इस प्रकार यद्यपि उत्पादन कार्यक्रम उत्पादन विभाग से सम्बन्धित कार्य है, परन्तु यह कार्यक्रम कर्मचारी प्रबन्ध विभाग के क्रियाकलापों को विशेष रूप से प्रभावित करते है एवं कर्मचारी नीतियों मे परिवर्तन का कारण बनते हैं।

(iii) **पदों की आवश्यकता का निर्धारण** (Determination of Positions needed)-उत्पादन कार्यक्रमों के अनुसार मानव संसाधनो की आवश्यकता (निश्चित कृत्यो एवं पदों) में परिवर्तन करना आवश्यक है। उपक्रम के उत्पादन कार्यक्रम के लिए जिन प्रत्यक्ष एवं परोक्ष कृत्यों की आवश्यकता है उनके लिए मानव संसाधन नियोजन किया जाना चाहिए। उत्पादन कार्यक्रम से मानव संसाधनों में स्थायी परिवर्तन का आयोजन करने में सहायता प्राप्त होती है। इस आयोजन द्वारा मानव संसाधनों के परिमाणात्मक एवं गुणात्मक लक्ष्य निर्धारित किये जा सकते हैं, विभिन्न कृत्यों एवं पदों की परिपूर्ति का प्रबन्ध किया जा सकता है अथवा कर्मचारियों की छँटनी आदि के निर्णय लिए जा सकते हैं।

NOTES

(iv) **पदों की स्वीकृति** (Authorizing Positions)-कृत्यों एवं पदों के निर्धारण से विभिन्न विभागों में मानव संसाधनों की आवश्यकता का यथार्थ अनुमान प्राप्त हो जाता है। इसके आधार पर पदों की स्वीकृति उच्च अधिकारियों द्वारा प्रदान की जा सकती है। उस उद्देश्य के लिए वेतन चिटठा बजट (Payroll Budget) तथा नियतन या मैनिंग तालिकाओं (Allocation or Manning Tables) का उपयोग किया जा सकता है। वेतन चिटठा बजट प्रत्येक विभाग के लिए निर्धारित वेतन की अधिकतम राशि है जिसके अन्तर्गत कर्मचारियों की व्यवस्था की जा सकती है नियतन या मैनिंग तालिका कर्मचारियों की संख्या एवं पदों का निर्धारण करती है।

प्रत्येक विभाग के लिए कर्मचारियों की संख्या एवं पदों का निर्धारण करते समय कर्मचारियों की विभिन्न कारणों से अस्थायी अनुपस्थिति का ध्यान भी रखा जाना चाहिए। यह आवश्यक है कि अनुपस्थिति एवं कर्मचारी आवर्तन के कारणों की जाँच करके उनको नियन्त्रित करने का प्रबन्ध किया जाना चाहिए। ताकि अनावश्यक मानव संसाधनों की आवश्यकता से बचा जा सके।

(ब) **मानव शक्ति आवश्यकताओं को प्रभावित करने वाले तत्व** (Factors affecting Human Resource Needs)-उपक्रम के लिए आवश्यक कर्मचारियों की संख्या एवं उनके प्रकार का निर्धारण अनेक तत्वों पर निर्भर करता है। एक पहिले से ही कार्यरत अर्थात् विद्यमान उपक्रम में मानव उपक्रम में मानव संसाधनों की आवश्कताएँ अग्र तत्वों द्वारा प्रभावित होती है-

(i) वर्तमान मानव संसाधनों की प्रकृति। (ii) कर्मचारी आवर्तन।

(iii) उपक्रम के विकास की दर। (iv) श्रम बाजार की प्रकृति।

(v) आर्थिक जगत में होने वाले परिवर्तन।

(i) **वर्तमान मानव संसाधनों की प्रकृति** (Nature of Present Workforce)-स्ट्रास एवं साइल्स (Strauss and Sayles)के अनुसार, "भर्ती सम्बन्धी प्रबन्धकीय दृष्टिकोण में ऐतिहासिक तत्वों का भी योगदान होता है।" किसी उपक्रम की बदलती हुई आवश्यकताओं के सन्दर्भ में मानव संसाधनों का वर्तमान स्थिति का मूल्यांकन करना आवश्यक है ताकि भावी मानव संसाधनो की आवश्यकता का सही अनुमान लगाया जा सके। उपक्रम की उत्पादन श्रृंखला में निरन्तर वृद्धि एवं उत्पादन तकनीक में नित नवीन पविर्तनों के फलस्परूप उपक्रम की मानव संसाधनो की आवश्यकताओं में परिवर्तन होते रहते है। इस कारण उपयुक्त मानव संसाधनों की निरन्तर पूर्ति के लिए एवं उसे अतिशयता (Redundancy) से बचाने के लिए वर्तमान मानव संसाधनों के स्वरूप का मूल्यांकन परम आवश्यक है। समग्र वर्तमान मानव संसाधनों को निश्चित आधारों पर विभक्त किया जाना चाहिए। यह आधार उपक्रम के लिए आवश्यक कार्य एवं उनसे सम्बन्धित योग्यताएँ हो सकती हैं। तत्पश्चात् उनकी आयु, संख्या एवं सेवा निवृत्ति की तिथि आदि की विस्तृत जानकारी प्राप्त की जानी चाहिए।

(ii) **कर्मचारी आवर्तन** (Employee Turnover)-जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है कर्मचारी आवर्तन संस्था में कार्य कर रहे कर्मचारियों के कार्य छोड़कर चले जाने की प्रवृत्ति को कहा जाता है। यह प्रवृत्ति स्थायी रूप से कर्मचारियों की संख्या पर प्रभाव डालती है। आवर्तन को प्रतिशत के रूप में व्यक्त किया जाता है।

कर्मचारी आवर्तन की दर का ज्ञान मानव संसाधन नियोजन की दृष्टि से अन्तन्त आवश्यक है। कर्मचारी आवर्तन के कम अथवा अधिक होने के कारण ही विभिन्न उपक्रमों की भर्ती सम्बन्धी समस्याएँ अलग-अलग रूप धारण कर लेती हैं। उदाहरण के लिए एक विभागीय भण्डार में जहाँ युवा तथा अविवाहित नारी कर्मचारियों का बाहुल्य हो, कर्मचारी आवर्तन की दर अधिक पाई जाती है। इसके विपरीत अनेक उपक्रमों में जिनमें ऐसे पुरुष कर्मचारियों की संख्या अधिक है जो अधिक समय से एक ही संस्थान में कार्य कर रहे हैं एवं जो प्रबन्धकों की कर्मचारी सम्बन्धी नीतियों से सन्तुष्ट है, भर्ती की समस्या अधिक जटिल नही होती।

कर्मचारी आवर्तन की दर को ज्ञात करने के लिए निम्न सूत्र का उपयोग किया जाता है: कर्मचारी आवर्तन या विच्छेन दर

$$= \frac{\text{उपक्रम को छोड़कर जाने वाले कर्मचारी की संख्या}}{\text{कार्य पर नियुक्त कर्मचारियों की औसत संख्या}} \times 100$$

उच्च कर्मचारी आवर्तन की दर उत्पन्न हानियाँ (Demerits of Higher Employees' Turnover) कर्मचारी आवर्तन से अनेक हानियाँ उत्पन्न हो जाती हैं और यदि आवर्तन की दर अत्यधिक है तो ये हानियाँ भी अधिक होती है। कर्मचारी आवर्तन से उत्पन्न होने वाली हानियाँ निम्नलिखित हैं

(1) **उत्पादन में कमी** - अनुभवी एवं कार्यकुशल कर्मचारियों के संस्थान से बाहर चले जाने का प्रभाव उत्पादन पर पड़ता है। यदि पुराने कर्मचारियों को काम सीखने तथा पुराने कर्मचारियों के समान कार्य-कुशलता प्राप्त करने में समय लगता है।

(2) **उत्पादन लागत में वृद्धि** - नवीन कर्मचारियों द्वारा अनुभव के अभाव मे उत्पादन सामग्री का अपव्यय होता है। उत्पादन सामग्री की मितव्ययिता के अभाव मे लागत बढ़ जाती है।

(3) **नवीन कर्मचारियों की भर्ती से प्रशिक्षण व्यय में वृद्धि**-नये कर्मचारियों के प्रशिक्षण आदि की नये सिरे से व्यवस्था करने की आवश्यकता होती है, फलतः संस्थान का व्यय बढ़ जाता है।

(4) **वर्तमान कर्मचारियों के मनोबल पर प्रभाव**- कर्मचारी आवर्तन कार्यरत कर्मचारियों के मनोबल पर भी विपरीत प्रभाव डालता है। ऐसे कर्मचारियों की कार्य की रुचि घट जाती है और संस्थान के प्रति उनके विश्वास में कमी आती है।

(5) **अस्थायित्व** - जिस संस्थान में कर्मचारी आवर्तन की दर अधिक पाई जाती है उसमें नये व्यक्ति भी आने मे संकोच अनुभव करते हैं। इस प्रकार अवस्था में ऐसा भ्रम फैल जाना स्वाभाविक है कि संस्थान रोजगार में स्थायित्व प्रदान करने में असमर्थ है। अतः ऐसे संस्थान को कार्यकुशल कर्मचारी मिलने में कठिनाई अनुभव होने लगती है।

कर्मचारी आवर्तन के अतिरिक्त नीचे के पदों पर कर्मचारियों की कमी, पदोन्नति, स्थानान्तरण आदि कारण भी अस्थायित्व की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(iii) **उपक्रम के विकास की दर** (Rate of Growth of the Organisation)-नवीन मानव संसाधन की आवश्यकता को प्रभावित करने वाला एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व उपक्रम के भावी विकास की सम्भावना है। विकास स्वयं प्रबन्धकीय नीतियों, प्रतिस्पर्द्धा, देश की अर्थव्यवस्था आदि अनेक कारणों से प्रभावित होता है। उपक्रम के उत्पादन और विक्रय में वृद्धि द्वारा स्वतः ही कर्मचारी की माँग में वृद्धि नहीं हो पाती। तकनीकी विकास के कारण उत्पादन में वृद्धि कभी-कभी तो रोजगार की मात्रा कम कर देती है। अतः उपक्रम के विकास के सन्दर्भ में मानव संसाधनों की आवश्यकता का अनुमान लगाते समय तकनीकी विकास की गति का ध्यान रखना भी आवश्यक है।

(iv) **श्रम बाजार की प्रकृति** (Nature of Labour Market)- श्रम बाजार एक ऐसा भौगोलिक क्षेत्र है जिसमें से नियोक्ता कर्मचारियों की भर्ती करने तथा इच्छुक व्यक्ति रोजगार की खोज करके उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। यह माँग तथा पूर्ति सम्बन्धी तत्वों का मिलन-स्थल है। सामान्यतः किसी भी उपक्रम के लिए एक निर्धारित श्रम क्षेत्र से ही पूर्ति होती है। अपने श्रम-क्षेत्र का ज्ञान उपक्रम को श्रम की सम्भावित पूर्ति का अनुमान लगाने में सहायक करता है। साथ ही उपक्रम को इस बात का पता लगाने में भी सुविधा होती है कि उस श्रम क्षेत्र से किस योग्यता के व्यक्तियों को प्राप्त करने की अपेक्षा की जा सकती है। प्रत्येक उपक्रम कर्मचारियों की भर्ती से पूर्व यह ज्ञात करना चाहता है कि उसके श्रम-क्षेत्र से किस प्रकार के कर्मचारियों को प्राप्त किया जा सकता है तथा उस क्षेत्र के रोजगार प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्ति रोजगार की खोज किस प्रकार करते हैं एवं उनकी अपेक्षाएँ सामान्यतः क्या हैं ?

कोई उपक्रम श्रम-क्षेत्र की सम्पूर्ण उपलब्ध कार्य संसाधन में रुचि नहीं रखता; उसकी रुचि केवल यह ज्ञात करने में होती है कि (1) किस प्रकार का कौशल उपलब्ध है, (2)उपक्रम की परिश्रमिक आदि की व्यवस्था को देखते हुए कितने व्यक्तियो को उपक्रम की ओर आकर्षित किया जाना सम्भव होगा, तथा (3)सम्भावित प्राथियों का उपक्रम के प्रति दृष्टिकोण क्या है? अर्थात् किसी विशेष उपक्रम के लिए कर्मचारियों की पूर्ति इन तीन बातों पर निर्भर करती है-

(1) श्रम बाजार में श्रम संसाधन की उपलब्धि।

(2) उपक्रम तथा कार्य का आकर्षण।

(3) उपक्रम की आवश्यकतानुसार विशिष्ट कौशल की माँग एवं उपलब्धि।

यदि देखा जाए तो मानव संसाधन नियोजन का उपरोक्त तीन बातों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। परिमाणात्मक एवं गुणात्मक मानव संसाधनों की उपलब्धि क्रय बाजार की प्रकृति पर निर्भर करती है। मानव संसाधनों की भावी आवश्यकताओं की पूर्ति का नियोजन इसको ध्यान में रखकर किया जाना आवश्यक है। साथ ही कर्मचारियों के प्रशिक्षण एवं विकास सम्बन्धी योजनाएँ भी श्रम पूर्ति की दशा को ध्यान में रखकर निश्चित की जानी चाहिए।

NOTES

(v) **आर्थिक जगत् में होने वाले परिवर्तन** (Changes in Economic field)-आर्थिक उदारीकरण के फलस्वरूप उद्योगों के क्षेत्र में प्रतिस्पर्द्धा को बढ़ावा मिला है। विकसित देशों के औद्योगिक संस्थानों के लिए, अर्थव्यवस्था के द्वार खुल गए है। औद्योगिक इकाइयों का आकार वृहत्तर होने लगा है। ऐसी स्थिति में इन संस्थानों में लगने वाले संसाधनों मे भी अभिवृद्धि होना स्वाभाविक ही है। सभी संसाधनों में विनियोग दीर्घकालीन अवधि के लिए किए जाते है। अतः मानव ससाधनों का नियोजन अब और अधिक आवश्यक हो गया है।

इसके अतिरिक्त ध्यान देने की बात और भी है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के हमारी अर्थव्यवस्था में प्रवेश का मानव संसाधनों के सन्दर्भ में एक प्रभाव यह पड़ा है कि उच्च-स्तरीय प्रबन्धकों का क्षतिपूरक (वेतनमान तथा सुविधाएँ) एकदम बढ़ गया है। इसके कई कारण है,उच्चस्तरीय प्रबंधकों की माँग में हुई अप्रत्याशित वृद्धि से, प्रबंधकों की माँग और पूर्ति का संतुलन गड़बड़ा गया है, प्रबंधकों के दायित्वों में अभिवृद्धि हो गई है तथा बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के आगमन से प्रबन्धकों को अपेक्षाएँ भी बढ़ गई है। ऐसे में मानव संसाधनों का नियोजन और भी आवश्यक हो गया है।

(स) **मानव संसाधनों की आवश्यकताओं का पूर्वानुमान** (Forecasting Human Resource Requirements)-अन्तिम रूप में उपक्रम द्वारा यह निश्चित किया जाना आवश्यक है कि उसकी मानव संसाधनों की भावी आवश्यकता क्या होगी? भावी आवश्यकता का पूर्वानुमान, संगठन नियोजन (Organisation Planning) तथा कृत्य विशेषताओं में परिवर्तन का सावधानीपूर्वक आंकलन है। संगठन नियोजन का प्रारम्भ सगठन चार्ट में संगठन संरचना की विस्तृत व्याख्या द्वारा होता है। यद्यपि विश्लेषण बाद में परिवर्तन के सुझाव प्रस्तुत कर सकता है, परन्तु अध्ययन की सुविधा के लिए वर्तमान संगठन संरचना को विस्तार से प्रकट करना आवश्यक है। व्याख्यात्मक संगठन चार्ट सम्पूर्ण संगठन के सम्बन्ध में ऐसा चित्र प्रस्तुत करता है जिसके आधार पर भावी स्वरूप के सम्बन्ध में सही निर्णय लिये जा सकते हैं। वर्तमान संगठन दोष तथा कमियाँ भी इससे प्रकाश में आ जाती हैं। संगठन में परिवर्तन की सुविधा के लिए मैनिंग तालिका (Manning Table)का उपयोग किया जा सकता है, जिसमें प्रत्येक कृत्य के लिए कर्मचारियों की संख्या का सारांश दिया जाता है। इसमें प्रत्येक कृत्य को उसके पद के अनुसार वर्णन करके कर्मचारियों की संख्या का उल्लेख होता है। भावी मानव संसाधनों की आवश्यकता के पूर्वानुमान के लिए मैनिंग तालिका (Manning Table) के साथ प्रतिस्थापना तालिका (Replacement Table) का उपयोग भी होता है। इन प्रतिस्थापना तालिकाओं में वर्तमान कर्मचारी का नाम एवं आयु तथा उसके सम्भावित प्रतिस्थापना का नाम दिया जाता है। मैनिंग तालिका के साथ कौशल इन्वेन्टरी (Skill Inventory) और संलग्न की जाती है जिससे प्रत्येक कर्मचारी का वर्गीकरण प्राथमिक एवं गौण कौशल के आधार पर किया जाता है। संगठन नियोजन में भावी आवश्यकताओं के पूर्वानुमान के लिए मैनिंग तालिका प्रतिस्थापना तालिका तथा कौशल इन्वेन्टरी महत्वपूर्ण साधन हैं।

किसी भी उपक्रम की मानव संसाधनों की भावी आवश्यकताओं का पूर्वानुमान निम्नलिखित बातों पर निर्भर करता है-

(1) उत्पाद अथवा सेवा की भावी माँग का अनुमान -बाजार का पूर्वानुमान।

(2) उत्पादन भावी माँग को पूरा करने के लिए वित्तीय साधनों की पर्याप्तता।

(3) उत्पादन में तकनीकी परिवर्तन।

(4) आन्तरिक मानव संसाधन की सामर्थ्य तथा बाह्य श्रम बाजार की सम्भावित अवस्था।

भावी आवश्यकताओं का अनुमान लगाना कठिन कार्य है, विशेषकर दीर्घकालीन पूर्वानुमान की यथार्थता एवं परिशुद्धता में संदेह रहता है। पूर्वानुमान की अवधि जितनी लम्बी होती है, त्रुटि की सम्भावना उतनी ही अधिक होती है। परन्तु इस आधार पर पूर्वानुमान की उपयोगिता को कम करके नहीं आँका जा सकता है। भावी अनुमानों के लिए व्यवसायिक वातावरण के साथ सांख्यिकी एवं गणितीय विधियों का उपयोग भी किया जाता है।

भावी आवश्यकताओं के अनुमान की अवधि क्या हो, यह स्वयं उपक्रम द्वारा निर्धारित किया जाता है। मानव संसाधनों के पूर्वानुमान अल्पकाल (Short term) एवं दीर्घकाल (Long term)दोनों के लिए किये जाते हैं। अनेक उपक्रम मानव संसाधन पूर्वानुमानों को अल्पकाल, मध्यकाल तथा दीर्घकाल में भी विभक्त करते हैं। इस वर्गीकरण के आधार पर पूर्वानुमान एक वर्ष, दो से पाँच वर्ष से अधिक की अवधि के लिए किये जाते हैं।

मानव संसाधनों की नियोजन विधियाँ (Methods of Human Resources Planning)-वर्तमान काल में व्यवसायों द्वारा मानव संसाधन के नियोजन एवं पूर्वानुमान के लिए दो विधियों का उपयोग किया जाता है।

एक विधि का सम्बन्ध अल्पकालीन नियोजन तथा दूसरी का सम्बन्ध दीर्घकालीन नियोजन से है। अल्पकालीन नियोजन एवं दीर्घकालीन नियोजन में अन्तर उसके उद्देश्यों के आधार पर किया जाता है। अल्पकालीन नियोजन का उद्देश्य तुरन्त उत्पन्न होने वाली आवश्यकताओं की पूर्ति करना है। इस कारण अल्पकालीन को काम चलाऊ (Stop gap) भी कहा जाता है। इस नियोजन में उपक्रम के उद्देश्य नवीन बाजार, प्रतिस्पर्द्धा आदि तत्वों पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता है। इसका लक्ष्य केवल कर्मचारियों द्वारा छोड़कर चले जाने, मृत्यु अथवा अवकाश ग्रहण आदि द्वारा रिक्त स्थानों की तत्काल पूर्ति होती है। दीर्घकालीन मानव संसाधन नियोजन संगठन संरचना की भावी आवश्यकताओं का अनुमान आन्तरिक एवं बाह्य परिस्थितियों के सन्दर्भ में करता है। इसका उद्देश्य संगठन की भावी आवश्यकताओं की अनिश्चितताओं को दूर करना है। दीर्घकालीन पूर्वानुमानों के लिए जटिल सांख्यिकी एवं गणितीय तकनीकों का उपयोग किया जाता है। वर्तमान काल में परिचालन शोध (Operations Research) एवं कम्प्यूटर तकनीक का उपयोग बड़ी मात्रा में होने लगा है।

NOTES

(A) **अल्पकालीन मानव संसाधन नियोजन** (Short Term Human Resource Planning)-अल्पकालीन मानव संसाधन नियोजन के दो उद्देश्य है-

(क) **वर्तमान कर्मचारियों की उनके वर्तमान पदों के अनुरूप करना** (Matching present Employees to their present jobs)- यह समस्या तब उत्पन्न होती है जब वर्तमान कर्मचारियों की योग्यता या तो आवश्यक योग्यता से कम होती है अथवा अधिक होती है। इन दोनों अवस्थाओं में अल्पकालीन मानव संसाधन नियोजन किस प्रकार किया जाता है, इसका उल्लेख नीचे किया जा रहा है-

(i) **कर्मचारियों की योग्यता वर्तमान पदों की आवश्यक योग्यता से कम होने की अवस्था में** - इन अवस्था में कर्मचारी को उनके पद के अनुरूप बनाने के लिए निम्नलिखित में से कोई एक कार्य किया जा सकता है:

(अ) **कार्य में परिवर्तन** (Change the job)-इसका अर्थ उपक्रम की संगठन संरचना में हस्तक्षेप से है। इस हस्तक्षेप के तीन रूप हो सकते हैं-(i) कर्मचारी से कुछ कार्यों को लेकर किसी अन्य पद के कार्यों में उन्हें शमिल करना: (ii) विकेन्द्रीयकरण की मात्रा में परिवर्तन करना जिससे अयोग्य कर्मचारी की अपेक्षाकृत कम निर्णय लेने पड़े, तथा (iii) अयोग्य कर्मचारी के लिए सहायक की व्यवस्था करना ताकि दोनों मिलकर कार्य को सुचारु रूप से सम्पन्न कर सकें। कार्य में परिवर्तन द्वारा नियोजन तभी किया जाना चाहिए जब परिवर्तन से अन्य कार्यों पर बहुत अधिक प्रभाव पड़े।

(ब) **कर्मचारी में परिवर्तन** (Change the Incumbent)-कर्मचारी की योग्यता कार्य के अनुरूप बनाने के लिए एक विकल्प कर्मचारी को ही कार्य से हटा लेना है ताकि उसे आवश्यक परामर्श एवं प्रशिक्षण द्वारा कार्य के अनुरूप बनाया जा सके। उदाहरण के लिए यदि किसी विक्रेता द्वारा विक्रय में कमी उसके व्यक्तित्व का दोष न होकर उत्पादन ज्ञान में कमी का परिणाम है तो उस विक्रेता की क्रियाशीलता, परामर्श एवं प्रशिक्षण द्वारा बढ़ाई जा सकती है।

(स) **कार्य तथा कर्मचारी दोनों में परिवर्तन** (Change the job and the Man)-कभी-कभी कार्य तथा कर्मचारी दोनों में ही परिवर्तन किया जा सकता है, यदि इससे अल्पकालीन मानव संसाधन नियोजन की आवश्यकता पूर्ण हो सके। इस व्यवस्था के आधीन एक ओर तो कर्मचारी के कार्य कम किये जा सकते हैं एवं दूसरी ओर कर्मचारी को कार्य से अलग करके प्रशिक्षण की व्यवस्था की जा सकती है।

(द) **कर्मचारी को अपदस्थ करना** (Remove the Incumbent)-यदि कर्मचारी को परामर्श तथा प्रशिक्षण द्वारा उचित समय में कार्य के अनुरूप न बनाया जा सके अथवा उसके कार्य में परिवर्तन सम्भव न हो तो उस कर्मचारी को स्थानान्तरित करना अथवा अपदस्थ करना आवश्यक हो जाता है। परन्तु कर्मचारी के स्थानान्तरण अथवा अपदस्थ करने सम्बन्धी कदम बहुत सोच-विचार के बाद ही उठाया जाना चाहिए क्योंकि ऐसे कदम के गम्भीर परिणाम हो सकते है। साथ ही किसी कर्मचारी को अपदस्थ करने का निर्णय लेते समय अग्रलिखित बातों पर ध्यान देना भी आवश्यक है-

(a) कर्मचारी का सेवाकाल कितना शेष है। यदि कर्मचारी का सेवाकाल बहुत कम रह गया है तो यथासम्भव उसे अपदस्थ न करके कार्य पर बनाये रखने का प्रयत्न करना चाहिए। उसे विभिन्न प्रकार की प्रेरणायें देकर कार्य को यथासम्भव सम्पन्न करने का अवसर प्रदान करना चाहिए और उसके सेवा मुक्त होने तक ही प्रतीक्षा कर लेनी चाहिए। ऐसे अवसर पर ही सहायक की व्यवस्था प्रायः आवश्यक हो जाती है ताकि काम निकाला जा सके।

(b) किसी विशेष समस्या के उत्पन्न होने पर योग्य कर्मचारी की उसके समाधान में सलाह ली जा सकती है।

NOTES

(c) विशेष कार्य जो योग्य व्यक्ति को बार-बार करने के लिए दिए जाते हैं, उसके कार्य के अंग बनाये जा सकते हैं।

(d) किसी कार्य की उचित व्यवस्था न होने पर वह कार्य योग्य को सौंपा जा सकता है। ऐसा देखा जाता है कि योग्य कर्मचारी अपने प्रभाव के आधीन अपने कार्यक्षेत्र से कहीं अधिक अधिकार प्राप्त कर लेते है। परन्तु ऐसी अवस्था में प्रायः योग्य व्यक्ति का मूल कार्य उपेक्षित रह जाता है। इसके अतिरिक्त किसी व्यक्ति पर उपक्रम के कार्यों की अत्यधिक निर्भरता बाद में उपक्रम के लिए भी हानिकारक हो सकती है। ऐसे योग्य कर्मचारी के किसी कारण से कार्य से चले जाने पर पद रिक्तता की पूर्ति कठिन हो जाती है।

योग्य कर्मचारी के लाभ उठाने का अर्थ यह नहीं है कि उसे कार्य भार से दबा दिया जाये। कार्यभार का योग्य व्यक्ति की कार्यक्षमता पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए। इससे अयोग्य कर्मचारियों को मौज करने का अवसर भी नहीं मिलना चाहिए अन्यथा अयोग्य कर्मचारी अपने को और योग्य सिद्ध करके उत्तरदायित्व से मुक्त होने का बहाना खोज सकते हैं।

(ख) उपलब्ध मानव संसाधन द्वारा वर्तमान पर रिक्तियों की सर्वोत्तम ढंग से पूर्ति करना (Recruitment with best available Human Resource)- कर्मचारी द्वारा त्याग-पत्र देने, उनकी मृत्यु हो जाने अथवा उसके अकस्मात् स्थानांतरण किये जाने से अचानक कोई पद रिक्त हो सकता है और उसकी यथाशीघ्र पूर्ति करना आवश्यक हो जाता है। इस अवस्था में सम्भावित प्रत्याशियों में से उपयुक्त व्यक्ति के चयन की समस्या उपस्थित होती है। आवश्यक नहीं कि संस्था के अन्दर उपलब्ध कर्मचारियों में कोई रिक्त हुए पद के उपयुक्त हो। इस स्थिति में चयन किये गये कर्मचारी तथा कार्य में सामंजस्य की समस्या उत्पन्न हो जाती है।

इस सम्बन्ध में निम्नलिखित बातों पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाना चाहिए-

(i) क्या रिक्त पद के कार्य को किसी अन्य पद के कार्य के साथ जोड़ा जा सकता है।

(ii) रिक्त पद पर नियुक्ति किये जाने वाले कर्मचारी की योग्यता क्या है और नियुक्ति के पश्चात् उसे क्या सीखना आवश्यक होगा।

(iii) नियुक्त किये जाने वाले कर्मचारी का जो पद रिक्त होगा उसकी पूर्ति किस प्रकार की जाएगी।

(iv) रिक्त पद उच्चतर कार्य निष्पादन तुरन्त आवश्यक है अथवा उसके लिए कर्मचारी के प्रशिक्षित होने तक प्रतीक्षा की जा सकती है।

(v) यदि रिक्त पद के कार्य का पुनः वितरण किया जाए तो इसका कर्मचारियों के मनोबल पर क्या प्रभाव होगा।

(iv) क्या इस आकस्मिक पद-रिक्ति का उपयोग संगठन संरचना के दोषों को दूर करने के लिए किया जा सकता है।

प्रायः आकस्मिक रिक्त हुए पद पर स्थायी नियुक्ति करने के पूर्व किसी योग्य कर्मचारी को अस्थायी तौर पर रिक्त हुए पद का कार्यभार भी सौंप दिया जाता है। ऐसी अस्थायी व्यवस्था अधिक लम्बे समय तक नहीं रखी जानी चाहिए क्योंकि यह आशावान कर्मचारियों के मनोबल पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है।

(B) **दीर्घकालीन मानव संसाधन नियोजन** (long-term Human Resource Planning)-दीर्घकालीन मानव संसाधन नियोजन के दो उद्देश्य होते हैं-

(1) भविष्य में उपक्रम के अन्दर ऐसी स्थिति उत्पन्न करने का प्रयास करना जिसमें कि समस्त पदों तथा समस्त पदाधिकारियों में पूर्ण अनुरूपता स्थापित हो सके।

(2) भावी पद रिक्तियों के लिए पहले से ही उपयुक्त कर्मचारियों की व्यवस्था करना।

दीर्घकालीन मानव संसाधन नियोजन के लिए किये जाने वाले आवश्यक कार्य निम्नलिखित हैं-

(अ) **भावी मानव संसाधनों का अनुमान लगाना** (Projecting Manpower Requirements)- दीर्घकालीन मानव संसाधन नियोजन के पहले चरण में उपक्रम की भावी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संगठन संरचना सम्बन्धी पूर्वानुमान लगाना आवश्यक होता है। अर्थात् समय के साथ-साथ व्यावसायिक परिस्थितियों में परिवर्तन होता रहता है जिसका प्रभाव उपक्रम की संगठन संरचना पर भी पड़ता है। उपक्रम की क्रियाओं के विकास के साथ नवीन मानव ससाधनों की आवश्यकता होती है। इन नवीन मानव संसाधनों का अनुमान लगाकर इसकी पूर्ति के लिए नियोजन किया जाता है

(ब) **भावी आवश्यकताओं के सन्दर्भ में वर्तमान कर्मचारियों की उपयुक्तता** (Matching People with Requirements)-दीर्घकालीन मानव संसाधन नियोजन के दूसरे चरण में इस बात का ज्ञान प्राप्त किया जाता है कि वर्तमान संसाधन किस सीमा तक भावी मानव संसाधनों के अनुरूप है? इसके अन्तर्गत प्रमुख पदाधिकारियों की योग्यताओं का मूल्यांकन किया जाता है। प्रमुख पदाधिकारियों के साथ ही योग्यता सूची में उन नवयुवकों की योग्यताओं का भी उल्लेख किया जाता है जो अगले कुछ वर्षों में विभिन्न प्रबन्ध पदों का अनुभव प्राप्त करके योग्य प्रबन्धक बनने की क्षमता रखते हैं। इसके पश्चात् भावी पदों के लिए आवश्यक व्यक्ति-योग्यताओं और वर्तमान काल में उपलब्ध व्यक्तियों में साम्य स्थापित किया जाता है। ऐसे साम्य की स्थापना के लिए योग्यताओं का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है-

(i) भावी योग्यताएँ जो वर्तमान योग्यताओं के समान है, (ii) योग्यताएँ जिनके लिए वर्तमान कर्मचारियों की योग्यताओं में परिवर्तन करना है, (iii) नये प्रकार की योग्यताएं, (iv) वर्तमान कर्मचारियों के सेवा निवृत्त हो जाने के कारण की जाने वाली योग्यताएँ।

इस वर्गीकरण द्वारा ज्ञात किया जा सकता है कि भावी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वर्तमान मानव संसाधन कहाँ तक उपयुक्त है, उसकी योग्यताओं में क्या परिवर्तन आवश्यक है तथा कितने और किस प्रकार के नये कर्मचारी और आवश्यक होंगे?

(स) **व्यक्ति विकास का नियोजन** (Planning of Individual Development)-इस चरण में वर्तमान कर्मचारियों के व्यक्तिगत विकास की योजना बनाई जाती है। यह ज्ञात हो जाने पर कि उपक्रम का कौन-सा कर्मचारी भविष्य में किस पद को संभालने के उपयुक्त होगा, भावी पद के सन्दर्भ में उसकी कमियों को ज्ञात किया जाता है। कमियों सम्बन्धी सूचना कमी पत्र (Gap-sheet) पर अंकित की जाती है इसी के आधार पर पदोन्नति किये जाने वाले कर्मचारी तथा भावी कार्य के बीच साम्य स्थापित किया जाता है। इसके अतिरिक्त नये कार्यों के लिए अथवा सेवानिवृत्ति के कारण रिक्त होने वाले ऐसे पदों के लिए जिनके कर्मचारियों को तैयार करने का पर्याप्त समय न हो, अस्थायी अथवा स्थायी नवीन नियुक्तियाँ की जा सकती है। अनके उपक्रम भावी पदों के लिए एक से अधिक कर्मचारियों को प्रशिक्षित करते है और उनमें से योग्यतम कर्मचारी को पदोन्नति करते है परन्तु यह विधि असंतोष को जन्म दे सकती है जब तक कि कर्मचारियों का प्रबन्धकों की निष्पक्षता में पूर्ण विश्वास न हो।

दीर्घकालीन योजना को निश्चित समयावधि के पश्चात् पुनः अवलोकन आवश्यक होता है लम्बे काल की योजनाएँ अनिश्चितताओं से भरी होती हैं तथा उपक्रम की परिस्थितियों में परिवर्तन होते रहते हैं। अतः योजनाओं में संशोधन भी आवश्यक हो जाता है।

प्रश्न
(Questions)

1. मानव शक्ति नियोजन का क्या अर्थ है। इसके उद्देश्य और आवश्यकता को समझाइए।
2. मानव शक्ति नियोजन करते समय आप किन किन तत्वों पर ध्यान देते है? इसकी प्रक्रिया भी समझाइए।
3. मानव शक्ति नियोजन की कितनी विधियाँ हैं?
4. जनशक्ति आवश्यकताओं का अनुमान लगाने की प्रक्रिया का विवेचन कीजिये।

●●●

NOTES

अपनी प्रगति की जाँच क
Test your Progress

16

NOTES

भर्ती चयन एवं प्रशिक्षण
(RECRUITMENT SELECTION AND TRAINING)

भर्ती करने से अभिप्राय उस क्रिया से है जिसके द्वारा कार्य करने वाले इच्छुक व्यक्तियों का पता लगाया जाता है तथा उन्हें नौकरी के लिए आवेदन - पत्र देने को प्रोत्साहित किया जाता है। कर्मचारियों की भर्ती करने का कार्य रोजगार विभाग करता है। यह विभाग कार्य करने वाले इच्छुक व्यक्तियो के आवेदन - पत्रों की जाँच - पड़ताल करने के पश्चात् ऐसे व्यक्तियों का चुनाव करता हैं जो संतोषजनक रूप से कार्य कर सके। आजकल कर्मचारियों के चुनाव को भी एक जटिल समस्या है। यदि कर्मचारियों का चुनाव सोच - विचार कर एवं वैज्ञानिक आधार पर न किया जाये तो उद्योग का सफलतापूर्वक संचालन नहीं किया जा सकता। प्रबंधक को कार्य का विभाजन करते समय श्रमिको की रूचि, मानसिक प्रवृत्ति स्वभाव आदि बातों को ध्यान मे रखकर करना चाहिए।, ताकि मानव - शक्ति का अधिक - से अधिक उपयोग हो सके।

भर्ती का अर्थ (Meaning of Recruitment)- मानव संसाधन की भर्ती एवं चयन इस संसाधन के समुचित उपयोग का एक साधन है किसी भी उपक्रम में सफलता की कुंजी मानव संसाधन की भर्ती एवं चयन की सफलता में निहित है। कृत प्रकृति के अनुरूप तर्कसंगत आधार पर की गई मानव संसाधन की भर्ती चयनकुशलता को बढ़ाती है। इससे उपक्रम की प्रतिस्पर्द्धात्मक शक्ति में अभिवृद्धि होती है। वहीं यदि किसी संगठन मे कर्मचारियों कि भर्ती एवं चयन व्यवस्थित, सुचारू,सही और न्यायपूर्ण तरीके से नहीं की जाती है तो अनेक कर्मचारी अकुशल,अक्षम और अपेक्षाकृत नियत कार्य के लिए अनुपयुक्त हो सकते है। अतः मानव कर्मचारी संसाधन का आधिपत्य अति महत्वपूर्ण कार्य हैं।

किसी व्यवसाय की सफलता अच्छे माल,औजार व भवन से नही आँकी जाती है वरन् उसके श्रमिक/कर्मचारियों से आँकी जाती है। किसी ने ठीक कहा है कि अच्छे कर्मचारी किसी संस्था की अच्छी सम्पत्ति होती है इनके चुनाव,प्रशिक्षण एवं पदोन्नति पर विशेष ध्यान देना चाहिए। किसी व्यावसायिक संस्था का यह सबसे महत्वपूर्ण कार्य होता है कर्मचारियों का सही चुनाव एवं उन्हें प्रशिक्षण देकर उनकी प्रतिभा को निखारना।

प्रत्येक संगठन एक निश्चित मात्रा में कर्मचारी मानव संसाधन नियोजन विश्लेषणानुसार चाहते हैं। यह संगठन के ऊपर निर्भर करता है कि क्या विद्यमान कर्मचारियों को ही उन्नति देकर उच्च पदों पर आसीन किया जाये और अधीनस्थ पदों को बाहरी व्यक्तियों से भरा जाए अथवा बाहरी व्यक्ति भी सीधे उच्च पदों पर लाये जाएँ। संगठन सभी पदों को भरने हेतु चयन एवं भर्ती की प्रक्रिया अपनाते हैं। वास्तव में किसी भी संगठन की सफलता मानव संसाधन के प्रभावी चयन एवं भर्ती की प्रक्रिया पर निर्भर करती है।

उद्यम की सफलता की कुंजी सेविवर्गीय भर्ती एवं चयन की सफलता में निहित है। कार्य की प्रकृति के अनुसार वैज्ञानिक आधार पर की गई सेविवर्गीय भर्ती एवं चयन कार्यकुशलता को बढ़ाती है, जिससे उद्योगों की प्रतिस्पर्द्धात्मक शक्ति में अभिवृद्धि होती है।

भर्ती की परिभाषाएँ (Definitions of Recruitment)- भर्ती एक ऐसी प्रक्रिया है। जिसमें भावी (Future) कर्मचारियों की खोज की जाती है। भर्ती की निम्न परिभाषाएँ हैः

(1) **एडविन बी.फिलिप्पो** के अनुसार, "भर्ती भावी कर्मचारियो की खोज करने और उन्हें रिक्त कार्यो के लिए आवेदन करने के लिए प्रेरणा देने व प्रोत्साहित करने की प्रक्रिया होती है।"

(2) **डेल एस.बीच** के अनुसार, "पर्याप्त मात्रा मे मानव शक्ति स्त्रोतो को बनाये रखना तथा विकास करना भर्ती कहलाती है। भर्ती के अन्तर्गत उपलब्ध कर्मचारियों का एक पूल स्थापित करना होता है जिससे संगठन अतिरिक्त कर्मचारियों की आवश्यकता पड़ने पर वहाँ से उन्हें प्राप्त कर सके।"

फारलैण्ड के अनुसार, " भर्ती से आशय संस्था हेतु सम्भावी कर्मचारियों को आकर्षित करने की प्रक्रिया है। भर्ती नीति का उद्देश्य अच्छे गुणकारी प्रत्याशियों को आकर्षित कर भरोसेमन्द एवं प्रभावी लागत चयन निर्णय है"

भर्ती एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा भावी कर्मचारियों की खोज की जाती है और उन्हें संगठन में आवेदन करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है यह आवश्यक है कि प्रत्येक संस्था की प्रगति के लिए पर्याप्त संख्या में आवश्यक योग्यता वाले कर्मचारी हों।

अच्छी भर्ती नीति की विशेषताएँ (Characterisitcs of a good Recruitment) :-एक श्रेष्ठ भर्ती नीति की निम्न विशेषतायें होनी है।

NOTES

(1) कर्मचारियों की भर्ती संस्था के एक केन्द्रीय स्थान के द्वारा की जानी चाहिए।

(2) भर्ती, संगठन की चालू आवश्यकताओं के अनुसार हो।

(3) भर्ती की नीति स्पष्ट एव व्यापक होनी चाहिए।

(4) भर्ती - नीति लोचदार होनी चाहिए।

(5) किसी नये पद की नियुक्ति हेतु किसी उत्तरदायी अधिकारी की स्वीकृति होनी चाहिए।

(6) भर्ती के संबंध संस्था की ओर से किसी प्रकार का कोई आश्वासन लिखित या मौखिक नहीं दिया जाना चाहिए।

(7) भर्ती योग्यता के आधार पर की जानी चाहिए।

(8) भर्ती से पूर्व कार्य - विश्लेषण कर लेना चाहिए।

(9) भर्ती के स्रोतों को ध्यान में रखकर उनका पूरी तरह सदुपयोग किया जाना चाहिए।

(10) सभी आवेदनों का व्यवस्थित सूक्ष्म परीक्षण किया जाए।

(11) वैधानिक एवं प्रावधानों के अधीन प्रक्रियानुसार हो।

भर्ती को प्रभावित करने वाले घटक (Factors Effecting Recruitment)- संगठनों चाहे आकार में छोटे हो या बड़े, भर्ती से सम्बंधित कार्य करने ही होते हैं। सामान्यतः भर्ती को विभिन्न घटक प्रभावित करते हैं, अतः उन्हें ध्यान में रखकर ही भर्ती क्रिया की जानी चाहिए। भर्ती को प्रभावित करने वाले घटकों में प्रमुख निम्न हैं:

1. संगठन का आकार (Size of Organisation)
2. सेवा की शर्तें (Condition of Service)
3. कार्य दशाएँ। (Working Conditions)
4. उचित पारिश्रमिक। (Reasonable Reward / Wage)
5. संगठन के विकास की दर। (Rate of Development of Organisation)
6. पूर्व में किए गये भर्ती प्रयासों के प्रभाव (Effect of Previous Recruitment)
7. भावी विकास की सम्भावनाएँ । (Possibilities of future Development)
8. आर्थिक, सांस्कृतिक एवं वैधानिक घटक (Economic, Culture and Legal Factors)
9. सरकारी नीतियाँ। (Goverment Policies)
10. प्रतिस्पर्द्धा का स्तर (Competition Level)

माँग के स्त्रोत
(Sources of Demand)

प्रबंधकों को यह निश्चित करना होता है कि संस्था के लिए कर्मचारियों की आवश्यकता होगी, वार्षिक बिक्री कितनी होगी। इसी के आधार पर यह अनुमान लगाया जाएगा। कि संस्था को कितने कर्मचारियों की आवश्यकता होगी। कभी - कभी कुछ कर्मचारी किसी विभाग को छोड़ जाते हैं। उनकी पूर्ति करनी होती है, कभी - कभी नये पद भी बनाये जाते है। जिस अधिकारी को कभी नये कर्मचारी की आवश्यकता होती है।, उसकी जॉब माँग पत्र बनाकर कर्मचारी विभाग को भेज दिया जाता है, यही कर्मचारी माँग विवरण है।

NOTES

भर्ती के स्त्रोत
(Sources of Recruitment)

भर्ती के स्त्रोत (Source of Recruitment) संस्था की मानवीय साधनों सम्बंधी माँग को पूरा करने के लिए मुख्यतः दो स्त्रोत है: (1) बाह्य, (2) आन्तरिक। जब एक संस्था शुरू होती है तब समस्त कर्मचारी बाह्य स्त्रोतों से प्राप्त करने के होते हैं। इनमे रोजगार कार्यालय, श्रम-संघ, शिक्षा-संस्थायें, अन्य संस्थाओं के कर्मचारी आदि आते है। जब संस्था शुरू हो जाती है तब किसी कार्य के लिए संस्था के वर्तमान कर्मचारियों मे से किसी एक को पदोन्नति या हस्तान्तरण की जा सकती है लगभग सभी संस्थाएँ दोनो ही स्त्रोतों में से चुनाव का प्रयोग करती है अधिकतर यह निश्चित कर लिया जाता है कि सभी रिक्त स्थानों का एक निश्चित प्रतिशत आवश्यक रूप से आन्तरिक स्त्रोतों से पूरा किया जाएगा। कुछ संस्थाएँ तो यह निश्चित कर लेती है कि जब आन्तरिक स्त्रोतों से योग्य व्यक्ति प्राप्त हों,बाह्य स्त्रोतों की और ध्यान नहीं दिया जाएगा।

बाह्य (External) श्रम शक्ति की पूर्ति के स्त्रोत निम्न है -

(1) **रोजगार कार्यालय** (Employment Exchanges) जो श्रमिक काम की तलाश में रहते है वे अपना नाम रोजगार कार्यालयों में लिखा देते है। कम्पनी इन रोजगार कार्यालयों से सम्पर्क स्थापित करके अपने श्रमिकों की पूर्ति कर सकती है।

(2) शिक्षण संस्थाएँ (Education Institution)- विद्यालयों और डिग्री कालेजों से सम्पर्क स्थापित करके कम्पनी अपने यहाँ के खाली स्थानों की पूर्ति कर सकती है।

(3) वर्तमान कर्मचारी की सिफारिश (On the Recommendation of Present Employees)- कभी - कभी वर्तमान कर्मचारियों की सिफारिश पर कर्मचारियों को नियुक्ति किया जा सकता है।

(4) श्रमसंघ (Trade Union)- श्रमसंघों के द्वारा श्रमिकों भर्ती की जा सकती है। श्रमसंघ बेरोजगार श्रमिको का लेखा अपने यहाँ रखतें है। और किसी भी संस्था से रिक्त स्थान की सूचना मिलते ही श्रमिको को वहाँ भेज देते हैं।

(5) अन्य संस्थाओं के कर्मचारी (Employees of other Organisation)- कभी - कभी अन्य संगठनों से संपर्क करके वहाँ से कर्मचारियों को भर्ती की जाती है इसके लिए यह आवश्यक है कि दोनों कम्पनियों के कर्मचारी विभागों के बीच सहयोग हो।

(6) विशिष्ट संस्थाएँ (Specialised Institutions)- कुछ व्यावसायिक संस्थाएँ कर्मचारियों का नाम,जिन्हें नौकरी की आवश्यकता होती है। अपने यहाँ रजिस्टर्ड रखते हैं। उनको सूचित करके आवश्यकता योग्यता तथा अनुभव के कर्मचारी संस्था को उपलब्ध हो सकते हैं।

(7) पदोन्नति करके (Pay Promotion)- यदि संस्था में योग्य कर्मचारी उपलब्ध हों तो उनकी पदोन्नति करके नये पद नियुक्त किये जा सकते है। इससे कर्मचारियों का मनोबल ऊँचा रहता है।

(8) स्थानांतरण करके (By Transfer)- कम्पनी के कई विभाग होते हैं। यदि उनमें व्यक्ति सरप्लस (अधिक) हो तो उसको वहाँ से आवश्यकता के स्थान पर स्थानांतर किया जा सकता है।

(9) भूतपूर्व कर्मचारी (Ex - Employees)- यदि कोई भूतपूर्व कर्मचारी आवश्यक योग्यता रखता हो, जिसकी किसी कारण से छँटनी कर दी गई थी, और अब यह कर्मचारी काम पर वापस आना चाहता हो तो उसकी नियुक्ति की जा सकती है।

(10) वर्तमान कर्मचारियों के नियंत्रण एवं मित्रगण एवं रिश्तेदार (Relative of Present Employees)- वर्तमान कर्मचारियों के मित्र एवं परिवार के सदस्य में से यह आवश्यक योग्यता रखते हो तो श्रमशक्ति की पूर्ति की जा सकती है।

बाह्य स्त्रोत से भर्ती के लाभ (Merits of External Source)-बाह्य स्त्रोतों मे भर्ती के प्रमुख लाभ निम्नांकित हैं।

(1) उपक्रम में नवीनतम ज्ञान व सूचना रखने वाले विचारशील एवं सृजनशील लोगों को स्थान दिया जा सकता है।

(2) इस प्रकार के कर्मचारियों में प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं होती है।

(3) विस्तृत एवं विभिन्न प्रकार के अनुभव रखने वाले लोगों को आने का अवसर मिलता है।

(4) कर्मचारी उस संस्था की कार्य - विधि से परिचित होते है।

(5) कर्मचारी अपनी पुरानी मनोवृत्ति व कार्यप्रणाली में बदलाव लाता है।

(6) प्रशिक्षण व्यक्तियों को लेने से उन्हें प्रशिक्षण देने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

NOTES

(7) यह प्रजातान्त्रिक पद्धति है जिसमें सभी योग्य व्यक्तियों को समान अवसर मिलता है।

(8) उपक्रम में जड़ता व रूढ़िवाद कमजोर पड़ता है।

(9) कर्मचारियों में सुरक्षा की भावना का विकास होता है।

बाह्य स्त्रोत के भर्ती के दोष (Demerits of External Source)- बाह्य स्त्रोतों से भर्ती करने के निम्नांकित दोष है।

1. उपक्रम में कर्मचारी का मनोबल कम हो सकता है।
2. विश्वास व निष्ठावान कर्मचारी प्राप्त करना कठिन कार्य है।
3. प्रशिक्षण व्यय में वृद्धि हो सकती है।
4. गलत व्यक्तियों का चयन भी हो सकता है।

(1) आंतरिक स्त्रोत (Internal Source)कभी - कभी उपक्रम के भीतर कार्यरत कर्मचारियों में से ही कुछ की विभिन्न पदों पर भर्ती की जाती है तो इसे आन्तरिक स्त्रोत से भर्ती करना कहते है। (1) एक विभाग से दूसरे विभाग में स्थानांतरण और पद उन्नति द्वारा,(2) विद्यमान सेविवर्गीय हस्तान्तरण और पद उन्नति द्वारा,(3) पुराने कर्मचारियों को फिर से लेना शामिल है। (4) वर्तमान कर्मचारियों के मित्र अथवा रिश्तेदार।

आन्तरिक स्त्रोतों से भर्ती के लाभ (Merits of Internal Source)- जब उपक्रम के भीतर से ही कर्मचारियों को कार्य पर लिया जाता है तो निम्न लाभ होते हैं।

1. कर्मचारी का मनोबल बढ़ता है।
2. कर्मचारी को पदोन्नति के अवसर मिलते हैं।
3. कर्मचारियों के रोजगार में स्थायित्व आता है।
4. कर्मचारियों को ऊँचे पदों पर पहुँचने के लिए प्रोत्साहन मिलता है।
5. आन्तरिक स्त्रोतों के प्रत्याशी परखे हुए होते है,अतः उन पर तत्काल भरोसा व विश्वास किया जा सकता है।
6. इन्हें अधिक प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं होती ।
7. यह सौहार्द्रपूर्ण नियोक्ता - कर्मचारी सम्बंध बढ़ाता है।

आन्तरिक स्त्रोतो से भर्ती की दशा में मानव संसाधन विभाग समाशोधन गृह (Clearing house)के रूप में कार्य करता है। वह आवेदनों की पर्याप्त जाँच - पड़ताल करता है कि अवास्तविक तथा एक ही कर्मचारी के अनेक अनेक आवेदनों को रोका जा सके। साथ ही इसके द्वारा उन कर्मचारियों को परामर्श भी दिया जाता है। जो कृत्यों को बदलने में लगातार विफल रहते हैं।

आन्तरिक स्त्रोतों से भर्ती के दोष (Dements of Internal Source)- इस प्रणाली के निम्नलिखित दोष हैं।

1. कर्मचारियों के चयन का क्षेत्र सीमित हो जाता है।
2. उपक्रम में नई प्रतिभा, शक्ति व सम्भावनाओं का प्रवाह रूक जाता है।
3. पुराने कर्मचारियों की मनोवृत्ति व कार्यप्रणाली में कोई बदलाव नहीं आता है।
4. भाई भतीजावाद को प्रोत्साहन मिलता है।
5. कार्यकुशलता और संगठनात्मक निष्ठा के बजाय व्यक्तिगत निष्ठा को महत्व दिया जाता है।

6. आज के बदलते परिवेश में और ज्ञान व प्रौद्योगिकी बदलते दौर में यह पद्धति अपर्याप्त, अनुपयुक्त व अप्रजातान्त्रिक है।

भर्ती के स्त्रोतों की उपयुक्तता (Suitability of Source Recruitment)- व्यावसायिक संगठन में पदों को निम्न वर्गों में बांटा जा सकता है।

NOTES

1. **उच्च प्रबंधक:** जैसे महा प्रबन्धक, उत्पादन प्रबन्धक, वित्तीय प्रबन्धक आदि

2. **मध्यस्तरीय प्रबन्धक:** जैसे विज्ञापन प्रबन्धक, विपणन अनुसंधान प्रबन्धक, बजट नियन्त्रक आदि।

3. **तकनीकी विशेषज्ञ:** जैसे औद्योगिक इंजीनियर, उत्पादन विकास प्रबन्धक (Product of Development Manager), किस्म नियन्त्रक, आदि।

4. **निम्न स्तरीय प्रबन्धक:** जैसे पर्यवेक्षक लेखाकर, कार्यालय प्रबन्धक, लेखाकर, फोरमैन आदि।

5. **दफ्तरीय कर्मचारी:** जैसे क्लर्क, टाइपिस्ट तथा

6. **कारखाने के कारीगर:**

कर्मचारियों की नियुक्ति के लिए निम्नलिखित भर्ती के स्त्रोत उपयुक्त रहते हैं-

1. **उच्च प्रबन्धक** (Top Managers)-(1) आन्तरिक पदोन्नति, (2) विशिष्ट परामर्श गृह, (3) सहयोगी तथा प्रतियोगी संस्थाएँ, (4) विज्ञापन।

2. **मध्यस्तरीय प्रबन्धक** (Middle Managers)- (1) पदोन्नति व स्थानांतरण, (2) सहयोगी तथा प्रतियोगी संस्थाएँ, (3) विज्ञापन, तथा (4) प्रबन्धकीय शिक्षण संस्थाएँ

3. **तकनीकी विशेषज्ञ** (Technical Experts)- (1) सहयोगी तथा प्रतिस्पर्धी संस्थाएँ (2) तकनीकी शिक्षा संस्थाएँ, (3) विशिष्ट परामर्श गृह, (4) विज्ञापन।

4. **निम्नस्तरीय प्रबन्धक** (Low Level Managers)- (1) प्रबन्धकीय शिक्षण केन्द्र, (2) आन्तरिक पदोन्नति, (3) विज्ञापन।

5. **दफ्तरी कर्मचारी** (Office Personel) (1) वर्तमान कर्मचारियों की सिफारिशें, (2) रोजगार दफ्तर तथा (3) विज्ञापन।

6. **कारखाने के कारीगर** (Operative Force) (1) रोजगार दफ्तर, (2) श्रमसंघ, (3) कारखाने के दरवाजे पर भर्ती, (4) स्थानीय पोलीटैकनीक तथा अन्य औद्योगिक प्रशिक्षण केन्द्र, (5) वर्तमान कर्मचारियों की सिफारिशें।

यदि उपक्रम पूरी तौर से आन्तरिक स्त्रोत पर निर्भर रहता है तो उसे कर्मचारी प्रशिक्षण की व्यापक व्यवस्था करनी पड़ेगी। साथ ही बाहरी प्रतिभा के लिए द्वार बन्द करने से अन्तः प्रजनन (Inbreedling) की जो प्रक्रिया शुरू होती है। वह उपक्रम के दीर्घकालीन हितों की दृष्टि से घातक सिद्ध हो सकती है। इसके अतिरिक्त इससे प्रतिभा के स्थान पर प्रभावशाली कर्मचारियों के चयन व पदोन्नति की सम्भावना बढ़ जाता है वही बाह्य स्त्रोत के भी अपने गुण - दोष हैं।

चयन की अवधारणा
(Concept of Selection)

जहाँ कर्मचारियों की माँग की अपेक्षा कम कर्मचारी बाजार में प्राप्त होते है। वहाँ चुनाव की समस्या नहीं उठती क्योंकि जो भी आवेदक आयेगा उसे ले लिया जायेगा। परन्तु जहाँ एक रिक्त स्थान के लिए हजार प्रार्थना - पत्र आते है। वहाँ अधिकतम कार्यकुशल कर्मचारी का चुनाव करने की समस्या होती है। चुनाव करते समय संस्था की रोजगार नीति (Employment policy) को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। कर्मचारी चुनाव का कार्य बहुत महत्व रखता है। क्योंकि प्रबन्धकों को श्रमिकों से सम्बंधित, जिन समस्याओं का सामना करना पड़ता उनमें से अधिकतर श्रमिकों के गलत चुनाव के कारण पैदा होती है। चुनाव व्यक्ति चुनकर नियुक्त कर दिया जाए। आदर्श चुनाव विधि का प्रभाव संस्था की अल्पकालीन, दीर्घकालीन समस्याओं पर पड़ता है। नया कर्मचारी न केवल वर्तमान संस्था में स्थान ग्रहण करने के योग्य हो अपितु संस्था की प्रगति में चार चाँद भी लगा सकता हो।

चयन की परिभाषा
(Definition of Selection)

डेल योडर ने कहा है कि, "चुनाव से अभिप्राय संभावित नौकरी के लिए विचाराधीन उम्मीदवारों में से आशाहीन दिखाई देने वाले उम्मीदवारों को छाँटकर अलग करने के नकारात्मक व्यवहार से है। इसमें यह निर्णय करना पड़ता है कि पद के लिए अनेक उम्मीदवारों में से किस उम्मीदवार को काम करने का अवसर दिया जाए।'

1. **चयन अधिकार** (Selection Rights)- चयन करने हेतु अधिकारसत्ता होनी चाहिए। ताकि अपेक्षित संख्या में सेविवर्गीयो का चयन किया जा सके। इसका निर्धारण कार्य भार एवं कार्यशक्ति विश्लेषणों द्वारा किया जाता है।

2. **चयन प्रमाप** (Selection Standard) सेविवर्गीय को चुनने का प्रमाप होना चाहिए। जिसके साथ सम्भावित कर्मचारियो की तुलना की जा सकती है। इसका प्रतिनिधित्व कृत्य विशिष्टता करती है, जिसे कृत्य विश्लेषण द्वारा विकसित किया जाता है।

3. **आवेदनकर्ताओ की संख्या** (Number of Applicants) आवेदनकर्ताओं की पर्याप्त संख्या होनी चाहिए। जिसमे से उपयुक्त व्यक्तियों को चुना जाना है। एक नियोजित भर्ती कार्यक्रम के माध्यम से हमें ये आवेदन प्राप्त होते है।

4. **आपसी सम्प्रेषण** (Mutual Communication) चयनकर्ता एवं आवेदनकर्ता में सम्प्रेषण निर्बाध गति से हो ताकि लिये जाने वाले कर्मचारी के विषय में कृत्य अनुरूप पूर्ण जानकारी प्राप्त हो सके।

5. चयन के लिए आन्तरिक एव बाह्य दोनों स्त्रोतो का उपयोग होना चाहिए।

6. चयन में व्यक्ति को महत्व न देकर उसकी योग्यता को महत्व दिया जाना चाहिए।

7. भिन्न - भिन्न पदों के लिए भिन्न - भिन्न चयन विधियों का उपयोग होना चाहिए।

8. चयन प्रक्रिया के प्रत्येक चरण को महत्व दिया जाना चाहिए।

9. चयन नीति उपक्रम की सामान्य नीति के अनुरूप होनी चाहिए।

चुनाव प्रणाली (Selection Procedure)

1. **कार्य विश्लेषण** (Job Analysis)- सर्वप्रथम विज्ञापन देने, प्रार्थना - पत्र तथा साक्षात्कार के परीक्षण के लिए आवश्यक तथा एकत्र करने के लिए कार्य - विश्लेषण किया जाता है तथा कार्य सम्बंधी कार्य प्रमाप तथा कार्य विवरण एकत्र किए जाते हैं। कार्य विवरण कार्य में किए जाने वाले, कार्य प्रयोग की जाने वाली सामग्री तथा यन्त्रों का विस्तृत विवरण होता है। तथा कार्य प्रमाप इन कार्यों के करने के लिए आवश्यक योग्यताओं की सूची होती है। दोनों की चुनाव पद्धति में आवश्यकता पड़ती है।

2. **विज्ञापन** (Advertisement)- कार्य विश्लेषण के आधार पर विज्ञापन बनाया जाता है। जिसमें आवश्यक योग्यताओं, वेतन आदि का उल्लेख होता है।

3. **प्रारंभिक साक्षात्कार** (Preliminary Interview)- हमारे देश में बहुत कम संस्थाएँ इसका प्रयोग करती हैं। विज्ञापन को देखने के बाद प्रार्थना - पत्र फार्मों की माँग की जाती है। जो अधिकाँशतः डाक द्वारा भेज दिये जाते है। कुछ संस्थाएं, डाक द्वारा फार्म न भेजकर कार्यालय में फार्म व्यक्तिगत रूप से देने की व्यवस्था करती है। तथा फार्म देते समय फार्म लेने वाले व्यक्तियों की प्रारम्भिक जाँच करती है। तथा अयोग्य व्यक्तियों को फार्म देने से ही इंकार कर दिया जाता है। फार्म देने का कार्य मानवीय प्रबन्धक या उसके आधीन किसी प्रबन्धक के अधीन कर दिया जाता है। जो फार्म देते समय न्यूनतम योग्यता, व्यक्तित्व सम्बंधी जाँच करता है। तथा कुछ प्रश्न पूछ कर बिल्कुल ही अयोग्य व्यक्ति को उसी स्तर पर निकाल दिया जाता है तथा अन्य को फार्म दे दिये जाते है।

4. **रिक्त प्रार्थना - पत्र** (Application Blank)- प्रत्येक संस्था ऐसे प्रार्थना - पत्रों का प्रयोग करती है जो प्रार्थना-पत्र भेजने वाले को अनिवार्य रूप से प्रयोग करना पड़ता है। ऐसा इसलिए किया जाता है कि प्रार्थी से सम्बंधित प्रत्येक आवश्यक जानकारी व्यवस्थित रूप से प्राप्त हो सके। अधिकाँशतः संस्थाओं के प्रार्थना-पत्रों में समानता पाई जाती है। तथा लगभग वही प्रश्न पूछे जाते हैं। जब ये फार्म भरकर आ जाते हैं। तब इन सभी की जाँच की जाती है। तथा न्यूनतम आवश्यक योग्यता पूर्ण करने वाले प्रार्थियों का चुनाव किया जाता है।

NOTES

5. संदर्भ (Refrences)- अधिकाँशतः प्रार्थना पत्रों में दो या अधिक उत्तरदायी व्यक्तियों के पते माँगे जाते है। जो कि प्रार्थी को जानते है। ये उसके पुराने प्रबन्धक हो सकते है। या वे अच्छे पदों पर लगे उत्तरदायी व्यक्ति होते है। प्रार्थना-पत्रों के अध्ययन के बाद चुने हुए प्रार्थियों के प्रार्थना-पत्रों में दिए गए व्यक्तियों से सम्बंध स्थापित कर उनके विषय मे पूछताछ की जाती है।, जिसके विषय मे जानकारी ठीक प्राप्त नहीं हो उसे साक्षात्कार एव टेस्ट के लिए नही बुलाया जाता है।

6. मनोवैज्ञानिक परीक्षा (Psychological Test)- प्रार्थना - पत्रो से पाये गये उपर्युक्त व्यक्तियों को परीक्षा पर बुलाया जाता है। तथा लिखित परीक्षा लिया जाता है और इसकी सहायता से यह जाना जाता है कि भविष्य में एक व्यक्ति कैसा व्यवहार करेगा। इनकी सहायता से (Inteligence, Attitude, Achievement, Interest, Personality)आदि को मापा जाता है यह टेस्ट लिखित होते है। तथा व्यक्ति द्वारा दिए गए उत्तरों के आधार पर निष्कर्ष निकाले जाते है।

7. चयन साक्षात्कार (Selection Interview)- प्रत्येक कम्पनी कर्मचारियों के चुनाव मे साक्षात्कार का प्रयोग करती है। यह चुनाव की सबसे प्राचीन विधि होने के साथ - साथ सर्वमान्य है। एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों का बोर्ड बनाया जाता है जो (Interview) लेता है। अधिकाँशत बोर्ड का ही प्रयोग होता है, जिसमें अलग - अलग क्षेत्रों के विशेषज्ञों के साथ उस पद के उच्चधिकारी को इसमे सम्मिलित किया जाता है।

8. सर्वेक्षक की स्वीकृति (Approved by Supervisor)- प्रत्येक अवस्था में सुपरवाइजर की इच्छा को चुनाव करते समय ध्यान में रखा जाना चाहिए। क्योंकि उसी ने उस कर्मचारी से काम लेना होता है। यदि बोर्ड में सुपरवाइजर को बैठाया गया है तब अन्तिम फैसला करने का अधिकार उसका होना चाहिए तथा यदि बोर्ड में उसे नही लिया गया है तो साक्षात्कार के बाद भी अन्तिम फैसला करने का उसे अधिकार होना चाहिए।

9. डाक्टरी परीक्षा (Medical Examination)- सुपरवाइजर को सलाह प्राप्त होने के पश्चात कर्मचारियों की योग्य डाक्टरों से जाँच करवाई जाती है। या उन्हें योग्य डाक्टर का प्रमाण - पत्र लाने का कहा जाता हैं ऐसा इसलिए किया जाता है। ताकि संस्था में कमजोर तथा बीमार रहने वाले व्यक्तियों की अपेक्षा स्वस्थ कर्मचारी आये।

10. परिचय (Introduction)- डाक्टरी जाँच के पश्चात प्रार्थी को उसके पद पर लगाया जाता है। जब वह अपनी जगह आता है तो उसे नये - नये साथी एव प्रबन्धक मिलते हैं। उसे नये कार्य एवं अवस्थाओं का सामना करना होता है। अतः वह विधि जिसके द्वारा पुराने कर्मचारियों एवं प्रबन्धकों से नये व्यक्तियों की जानकारी करायी जाती है, परिचय कहलाती है इसके अन्तर्गत कर्मचारी के कार्य करने का ढंग, सहायता के लिए किससे मिलना है। कार्यालय के नियम, कार्यालय के शौचालय, कैन्टीन आदि का रास्ता, उनके कार्य का संस्था में महत्व आदि बतलाया जाता है।

11. नियुक्ति - पत्र जारी करना (Issuing Appointment Letter)- साक्षात्कार एवं परीक्षणों के आधार पर अभ्यर्थी की नियुक्ति करने अथवा न करने सम्बंध में निर्णय लिया जाता है। लेकिन नियुक्ति - पत्र देने के पूर्व अभ्यर्थी के पृष्ठाधार की भली भांति जाँच कर लेनी चाहिए। यदि जल्दी नहीं तो उसी समय नियुक्ति - पत्र नही देना चाहिए। यदि कर्मचारियों की तत्काल आवश्यकता है तो नियुक्ति - पत्र देते समय जानकारी विवरण (Details of Referenceces) की जाँचकर लेनी चाहिए।

प्रशिक्षण का अर्थ

(Meaning of Training)

कर्मचारियों के चुनाव के बाद उपयुक्त कार्य पर लगाने तथा अनुगमन के बाद प्रशिक्षण का कार्य शुरु होता है। जो भी कर्मचारी चुने गये है, यदि संस्था चाहती है कि वह ठीक प्रकार से कार्य करें तब उसे उनके प्रशिक्षण की व्यवस्था करनी होगी। चुने गये कर्मचारी चाहे कितने योग्य व समझदार हों उनसे ठीक कार्य करवाने के लिये उन्हें थोड़ा बहुत प्रशिक्षण देना आवश्यक होता है आधुनिक काल में कर्मचारियों की भर्ती तथा चयन उनके भौतिक तथा मानसिक तत्वों के आधार पर किया जाता है तथा विशिष्ट कार्यों के लिए उन्हें योग्य बनाने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है। यह ही नही,कार्य की बदलती हुई अवस्थाओं से अवगत कराने के लिए वर्तमान कर्मचारियों के निरन्तर पुनः प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाती है 'नवीन विधान,नवीन तकनीकी विकास, नवीन यंत्र तथा कार्याविधियाँ एवं नवीन प्रबन्धकीय पद्धतियों ने प्रशिक्षण को एक कभी न समाप्त होने वाला कार्य बना दिया है। अनुभव इस तथ्य की पुष्टि करता है। कि प्रशिक्षण, कर्मचारी के सेवाकाल की एक सतत् तथा परम आवश्यकता है।

उपक्रम द्वारा अपनी आवश्यकतानुसार चयन किये गये कर्मचारियों एवं विभिन्न पदों पर स्थानांतरित अथवा पदोन्नत किये गये कर्मचारियों को प्रशिक्षण प्रदान करना आवश्यक हो जाता है। नवीन कार्यों को सम्भालने से पूर्व कर्मचारियों की शिक्षा - दीक्षा होनी चाहिए। शिक्षित एवं अपने कार्य में दक्ष कर्मचारी ही अपने कार्य उत्तरदायित्वों को भली - भाँति निभा सकता है। शिक्षा कर्मचारी के सामान्य ज्ञान में वृद्धि करती है। और प्रशिक्षण कर्मचारी को अपने विशेष कार्य के लिए योग्य बनाता है।

NOTES

प्रशिक्षण किसी कर्मचारी को किसी विशिष्ट कार्य को करने के योग्य बनाने की प्रक्रिया है। आधुनिक काल में प्रशिक्षण को किसी उपक्रम के प्रबन्धकों का महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व माना जाता है। इसकी महत्ता इस कारण भी अधिक हो गई है कि प्रशिक्षण को मानव संसाधन के विकास का अंग अस्वीकार किया जाता है प्रशिक्षण को कर्मचारी के कार्य - सम्बंधी ज्ञान एवं कौशल में अभिवृद्धि की विधि मानते हुए कीथ डेविस ने कहा है कि "प्रशिक्षण का उद्देश्य किसी व्यक्ति को ऐसे नवीन अनुभव प्रदान करना है जो उसके ज्ञान, कौशल अथवा दृष्टिकोण में परिवर्तन द्वारा उसके आचरण में परिवर्तन लाये।

प्रशिक्षण की परिभाषाएँ

(Detinitions of Training)

प्रशिक्षण की महत्वपूर्ण परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं।

1. **डेल.एस.बीच** के अनुसार, प्रशिक्षण एक ऐसी संगठित कार्याविधि है जिसके द्वारा व्यक्ति किसी निश्चित उद्देश्य के लिए ज्ञान तथा / अथवा कौशल सीखते हैं।

2. **माइकल जूसियस** के अनुसार, "प्रशिक्षण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा विशेष कार्य के सम्पादन हेतु कर्मचारियों की प्रवृत्तियों, निपुणताओं एवं योग्यताओं में वृद्धि की जाती है।"

3. **फ्लिप्पो** के अनुसार "कर्मचारी में विशिष्ट कार्य को करने के लिए योग्यता की वृद्धि करना ही प्रशिक्षण है।"

4. **प्लांटी, मैकार्ड तथा एफरसन** (Planty, McCord and Efferson) के अनुसार, "प्रशिक्षण सभी स्तर के कर्मचारियों के उस ज्ञान, उस कौशल एवं व्यवहारों का सतत् तथा विधिवत् विकास है जो स्वयं उनके तथा उपक्रम के कल्याण में योगदान करते हैं।"

5. **लिटिलफील्ड रैचल तथा कारूथ** (Littlefiled, Rachel and Caruth) के अनुसार, प्रशिक्षण नियोजित विकास का पर्याय है। प्रशिक्षण में प्रबन्ध का उद्देश्य पर्यवेक्षकों एवं कर्मचारियों का इस प्रकार विकास करना है कि वे अपने कार्य में अधिक दक्ष तथा उत्पादनीय बन जायें।

निष्कर्ष:- प्रशिक्षण, कार्यक्रमिक व्यवहार (Programmed behaviour) की एक श्रंखला को सीखने की एक प्रक्रिया है। यह ज्ञान की प्रयुक्ति का साधन है। इसके माध्यम से व्यक्तियों को अपने व्यवहार के मार्गदर्शन के लिए आवश्यक नियमों एवं कार्यविधियों से अवगत कराया जाता है। फलतः उनकी कार्यक्षमता में वृद्धि होती है। और वे अधिक चुनौतीपूर्ण कार्य को करने के योग्य हो जाते हैं।

प्रशिक्षण की विशेषताएँ

(Features of Training)

प्रशिक्षण में निम्नलिखित विशेषताएँ होती है-

1. प्रशिक्षण कार्य सिखाने की एक व्यवस्थित प्रक्रिया है।
   Training is a Systematic Activity of Learning.
2. प्रशिक्षण एक सतत् प्रक्रिया है।
   Training is a continuous process.
3. प्रशिक्षण तथा शिक्षा में पर्याप्त अन्तर होता है।
   There is a difference between training and education.
4. प्रशिक्षण से कर्मचारी के ज्ञान एवं कौशल में वृद्धि होती है।
   Training increases Knowledge and ability.

NOTES

5. प्रशिक्षण मानव पूँजी में विनियोग है।
It is a human capital investment.

6. प्रशिक्षण उपक्रम का उत्तरदायित्व है।
Training is the duty of the ogranisation.

7. प्रशिक्षण कर्मचारियों की कार्यकुशलता बढ़ाता है।
Training increases employees efficiency.

प्रशिक्षण की आवश्यकता निम्नलिखित कारणों से होती है-

1. कर्मचारियों की उत्पादकता में वृद्धि करने के लिए (To increase productivity of employees),
2. उत्पाद एवं सेवाओं के गुण में सुधार करना (To improve Quality),
3. संगठनात्मक वातावरण को बेहतर बनाने के लिए (To improve Organisational Climate),
4. औद्योगिक दुर्घटनाओं को रोकने के लिए (To Prevent Industrial Accidents.),
5. मानवीय अवशेषों को रोकने के लिए (To Prevent Manpower Obsolescence.),
6. कर्मचारी के विकास के लिए (Personal Growth.),
7. उत्पादन में नई टैक्नोलोजी के बढ़ते हुए प्रयोग के लिए (An increased use of technology in Production),

प्रशिक्षण का महत्व
(Importance of Training)

तकनीकी परिवर्तनों के कारण प्रशिक्षण का महत्व बहुत अधिक हो गया है क्योंकि किसी भी काम में कभी पूर्णता प्राप्त नहीं की जा सकती। प्रशिक्षण कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो नये कर्मचारियों को एक बार दी जाती है अपितु प्रत्येक सुचालित संस्था में उसका लगातार उपयोग किया जाता है।

इस प्रकार प्रशिक्षण से कर्मचारियों के कौशल का पूर्ण रूप से विकास करके उनके प्रयासों का अनुकूलतम उपयोग किया जाता है।

एक संस्था को प्रशिक्षण से निम्नलिखित महत्व इस प्रकार हैं।

1. उत्पादन वृद्धि	2. किस्म सुधार
3. देख-रेख में कमी	4. माल के अपव्यय में कमी
5. दुर्घटनाओं में कमी	6. श्रम परिवर्तन एवं अनुपस्थिति मे कमी
7. साधनों का उत्तम उपयोग	8. संगठन में स्थिरता एवं लोच में वृद्धि
9. मनोबल का ऊँचा करना	10. अच्छे मानवीय सम्बंध

1. उत्पादकता की वृद्धि (Increased Productivity)-प्रशिक्षण द्वारा कर्मचारी को कार्य करने का सही ढंग, से करना सिखाया जाता है। जो अनुभव द्वारा विकसित किए गए है, जिनकी सहायता से उत्पादन में वृद्धि होती है।

2. किस्म में सुधार (Improvement in Quality)-वस्तु निर्माण की प्रमाणिक विधि का प्रयोग होने से वस्तु की किस्म में सुधार होता है।

3. देखरेख में कमी (Reduced Supervision)- प्रशिक्षित कर्मचारी प्रशिक्षण के बाद अपने उच्चाधिकारियों पर निर्भर नहीं रहते तथा देख रेख की आवश्यकता भी कम होती है। एक सर्वेक्षक (Supervisor) अनेक श्रमिको को नियंत्रित कर सकता है। जिससे प्रबन्धकीय व्यय में कमी आती है।

4.माल के अपव्यय में कमी (Reduced Wastage of Scrap) - प्रशिक्षित कर्मचारी अपने कार्य में दक्ष होने के कारण माल को ठीक तरह से प्रयोग करते हैं। जिससे माल का कम अपव्यय होता है।

5 **दुर्घटनाओं में कमी** (Reduced Accidents)- कर्मचारियों को कार्य की सही विधि आने पर दुर्घटनाओं में कमी आती है।

6. **श्रम परिवर्तन एवं अनुपस्थिति में कमी** (Reduced Absentism and Labour Turnover)- प्रशिक्षित कर्मचारी संस्था एवं कार्य से अधिक सन्तुष्ट रहते हैं, जिस कारण अनुपस्थित एवं श्रम परिवर्तन में कमी आती है।

7. **साधनों का उत्तम उपयोग** (Best Utilisation of Resources)- प्रशिक्षित कर्मचारी संस्था के उत्पादन साधनों का अनुकूलतम प्रयोग करने की सामर्थ्य रखते है।

NOTES

8. **संगठनीय स्थिरता एवं लोच में वृद्धि** (Increased Organisational stability and Flexibility)- किसी कर्मचारी के चले जाने के बाद कार्यकुशलता स्थापित करना केवल ऐसी संस्था के लिये ही सम्भव है जो अपने पास कर्मचारियों को सुरक्षित रखती है। साथ ही विभिन्न कार्यों में प्रशिक्षित कर्मचारियों को आवश्यकतानुसार विभिन्न कार्यों में रखा जा सकता है जिससे संस्था में स्थायित्व रहता है।

9 **मनोबल का ऊँचा उठना** (Raise Moral)-प्रशिक्षण प्राप्त करने के बाद श्रमिकों का मनोबल बढ़ जाता है क्योंकि प्रशिक्षण के बाद जॉब की सुरक्षा बढ़ जाती है। तथा पदोन्नति की आशा भी बढ़ जाती है।

10. **अच्छे मानवीय सम्बंध** (Better Human Relations)- प्रशिक्षित श्रमिक अपनी संस्था तथा प्रबन्धकों के प्रति अधिक सम्मान रखता है जिन्होंने उसे प्रशिक्षण दिया है। जिससे स्वामी को प्रबन्धकों एवं कर्मचारियों में मधुर सम्बंध स्थापित करने में सहयोग प्राप्त होता है।

11. **समस्याओं की गहन जानकारी** (Extensive Knowledge of Problems)- प्रशिक्षण का उद्देश्य कर्मचारियों को उन नयी समस्याओं की जानकारी देना है। जो प्रायः कार्य करते समय उनके समक्ष उपस्थित हो सकती हैं। प्रशिक्षणकाल में कर्मचारी समस्याओं के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन एवं उनके वैकल्पिक समाधानों पर विचार कर सकते है। इससे उन्हें कार्य सम्बंधी कठिनाइयों का ज्ञान और उनका समाधान प्राप्त होता है।

12. **अच्छे निर्णय** (Better Decision)-कार्य तथा कार्य सम्बंधी समस्याओं की जानकारी कर्मचारी को उपयुक्त निर्णय लेने में सहायता करती है प्रशिक्षण के समय पारस्परिक विचार - विनिमय कर्मचारियों की विचार शक्ति निश्चित मार्ग पर आधार करने में सहायक होता है। और फलस्वरूप वे कार्य सम्बंधी उत्तम निर्णय ले सकते है। इस प्रकार कर्मचारी प्रशिक्षण का उद्देश्य कर्मचारियों प्रशिक्षण का उद्देश्य कर्मचारियों के ज्ञान को बढ़ाकर उनके निर्णय कौशल में वृद्धि होती है।

13.दूसरों के दृष्टिकोण की जानकारी (Understanding Other's Points of View)- प्रशिक्षण का एक उद्देश्य कर्मचारियों को एक साथ लाकर उनके दृष्टिकोण,भावना आदि का ज्ञान एक दूसरे को बाँटना है। कर्मचारियों द्वारा एक दूसरे को समझने का अच्छा अवसर प्राप्त होता है जो आगे उनके सामूहिक जीवन एवं कार्यों में भाईचारे की भावना को बढ़ाता है।

प्रभावी प्रशिक्षण कार्यक्रम के आवश्यक तत्व (Essentials of Effective Training Programme)- प्रशिक्षण की प्रभावशीलता उन अवस्थाओं पर निर्भर करती है जिनमें कर्मचारी को प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है। प्रशिक्षण अधिकारी या निदेशक उन अवस्थाओं को किसी सीमा तक नियंत्रित कर पाता है। एवं प्रशिक्षण कार्यक्रम को कर्मचारियों के कितना अनुकूल बना पाता है, ये प्रशिक्षण व्यवस्था की सफलता की सीमा निर्धारित कर देते हैं। **लिटिलफील्ड, रैचल एवं कारुथ** (Littlefied, Rachel and Caruth) ने उन अवस्थाओं के नियन्त्रण के तीन सिद्धांत बताये है जो प्रभावी प्रशिक्षण के लिए आवश्यक हैं। उनके अनुसार प्रभावी प्रशिक्षण के ये सिद्धांत अथवा तत्व निम्नांकित हैं।

1. प्रशिक्षण अत्यधिक प्रभावी तब होता है जब यह उन अवस्थाओं में प्रदान किया जाए जो उन अवस्थाओं के समान हों जिनका कर्मचारी को कार्य करते हुए सामना करना पड़ेगा।
2. प्रशिक्षण अत्यधिक प्रभावी तब होता है जब संगठन में किसी व्यक्ति को प्रशिक्षार्थी की प्रगति के लिए उत्तरदायी बना दिया जाता है
3. प्रशिक्षण उस समय अत्यधिक प्रभावी सिद्ध होगा जब प्रशिक्षार्थी को सहायक, मित्रवत् एवं वैयक्तिक रूप से प्रशिक्षण दिया जाए।

NOTES

प्रशिक्षण कार्यक्रम की प्रभावशीलता अनेक बातों पर निर्भर करती है। प्रशिक्षण **कार्यक्रम की प्रभावशीलता के कुछ महत्वपूर्ण तत्व निम्न प्रकार हैं-**

1. प्रशिक्षण के उद्देश्य स्पष्ट होने चाहिए।
2. प्रशिक्षण, रेखा एवं प्रशिक्षण अधिकारियों के सहयोग एवं समन्वय पर आधारित होना चाहिए।
3. प्रशिक्षण कार्यक्रम में सभी कर्मचारियों को सम्मिलित करने के की व्यवस्था होनी चाहिए।
4. प्रशिक्षण कार्यक्रम उपक्रम एवं कर्मचारी दोनों के लिए लाभकारी होना चाहिए।
5. प्रशिक्षण कार्यक्रम के लिए कर्मचारियों का सक्रिय सहयोग प्राप्त किया जाना चाहिए।
6. प्रशिक्षण में कर्मचारियों की वैयक्तिक ग्रहणशीलता को ध्यान में रखा जाना चाहिए।
7. प्रशिक्षण के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक दोनों पक्षों पर बल दिया जाना चाहिए। तथा प्रशिक्षार्थी में आत्मविश्वास एवं स्वय सीखने की भावना जाग्रत करनी चाहिए।

प्रशिक्षण की विधियाँ (Methods of Training)- प्रशिक्षण की विधियों को दो भागों में बाटा जा सकता है। (1) प्रबंधकों को प्रशिक्षण देने की विधियाँ एवं (2) श्रमिकों को प्रशिक्षण देने की विधियाँ इन दोनों में पर्याप्त अन्तर होता है, क्योंकि श्रमिको के विशेष कार्य को प्रशिक्षण दिया जाता है। जबकि प्रबंधकों को सामान्य ज्ञान की शिक्षा दी जाती है। दोनों के लिए मुख्य विधियाँ निम्न प्रकार में प्रदर्शित की गई हैं।

कर्मचारियों को प्रशिक्षण देने की विधि
(Methods of Training of Employees)

श्रमिकों को प्रशिक्षण देने की विधियों का संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित है:

(A) कार्य पर प्रशिक्षण (On the Job Training)- यह श्रमिकों को प्रशिक्षण देने की सबसे प्राचीन विधि है। यह सरल है। तथा सबसे अधिक प्रयोग में आती है। इस विधि के अन्तर्गत श्रमिक वास्तविक कार्य करते हुये कार्य सीखता है। जो संस्था इस विधि को अपनाती है वह श्रमिकों को कुशल पर्यवेक्षकों की देख रेख में वास्तविक कार्य पर छोड़ देती है तथा वह पर्यवेक्षक उन्हें समय - समय पर निर्देश देते समय रहते हैं। इस तरह अनुभव द्वारा श्रमिक अपना कार्य सीख जाता है। प्रशिक्षण उस समय तक चलता रहता है जब तक कि प्रशिक्षार्थी कार्य को सही ढंग से नही सीख जाता। कार्य पर प्रशिक्षण पर्यवेक्षकों द्वारा कुशल एवं अनुभवी प्रदान किया जाता है। कर्मचारियों द्वारा अथवा विशिष्ट रुप में प्रशिक्षित प्रशिक्षकों द्वारा प्रदान किया जाता है। कर्मचारियों को कार्य करने का निर्देश देकर उससे स्वयं कार्य कराया जाता है तथा ज्यों - ज्यों कर्मचारी कार्य में निपुण होता जाता है, निर्देशन में कमी आती जाती है।

कार्य पर प्रशिक्षण विधि की उपयोगिता प्रशिक्षकों की योग्यता पर निर्भर करती है। इस विधि में प्रशिक्षकों का पर्याप्त निपुण एवं कार्यकुशल होना आवश्यक है। यदि प्रशिक्षक कार्य में दक्ष एवं निपुण हैं तो श्रमिकों को इस विधि द्वारा अपने कार्य में शीघ्रता से प्रशिक्षित किया जा सकता है। प्रशिक्षकों द्वारा इस विधि के अन्तर्गत मौखिक एवं लिखित निर्देशों के अतिरिक्त प्रक्रिया चार्ट, चित्र, प्रदर्शन, टेप रिकॉर्ड आदि का उपयोग भी प्रशिक्षण के लिए किया जा सकता है।

लाभ (Advantages)- प्रशिक्षण की इस विधि के अनेक लाभ है।

(1) इस विधि के अन्तर्गत कर्मचारी कार्य को स्वयं करके सीखता है, इस प्रकार कार्य के वास्तविक वातावरण में उत्पन्न कठिनाईयों का निवारण सरलता से किया जा सकता है।

(2) इस विधि के अन्तर्गत प्रशिक्षार्थी कार्य करते हुए नियमों, नियमनों तथा कार्य प्रणाली को सीखता है। फलस्वरुप उसे प्रबंधको का दृष्टिकोण विदित हो जाता है।

(3) यह विधि एक ऐसी कम्पनी के लिए अधिक उपयोगी है जिसके कर्मचारी कई प्रकार के कृत्यों में संलग्न रहते है। प्रत्येक कर्मचारी को उसके कृत्य के अनुरूप प्रशिक्षण दिया जा सकता है।

(4) कार्य पर प्रशिक्षण में कर्मचारी स्वयं समस्त क्रियाओं को देखते तथा सम्पन्न करते हैं। इससे प्रशिक्षण के समय मे ही पर्याप्त कमी हो जाती है।

(5) इस विधि मे प्रशिक्षार्थी को पर्याप्त अनुप्रेरण भी प्राप्त होता है। प्रशिक्षार्थी अन्य कर्मचारियो की भाँति ही कार्य करता है और उसमें कार्य संतोष की भावना बनी रहती है।

(6) कर्मचारी को अपने कार्य की प्रगति देखने का अवसर मिलता है तथा वह अपने कार्य की निपुणता बढ़ाने का प्रयास करता है।

(7) प्रशिक्षण के लिए कृत्रिम वातावरण के निर्माण की आवश्यकता न होने के कारण यह विधि पर्याप्त मात्रा मे मितव्ययी भी मानी जाती है।

NOTES

दोष (Disadvantages)- कार्य पर प्रशिक्षण विधि के कुछ दोष भी है-

(1) इस विधि का मुख्य दोष यह है कि इसमें जो निर्देश दिये जाते है वे कई कारणों से असंगठित एव अव्यवस्थित होते हैं और उनका ठीक तरह से पर्यवेक्षण नहीं होता ।

(2) इससे कार्य में बाधा उत्पन्न होती है। कार्य पर प्रशिक्षण का उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। यदि कर्मचारी द्वारा उत्पादन पर ध्यान दिया जाता है जो उसे कार्य में निपुणता प्राप्त करने का अवसर प्राप्त नहीं होता।

(3) यह विधि प्रशिक्षण की अव्यवस्थित विधि है। इसमे प्रशिक्षण सम्बधी आदेश एव निर्देश मे क्रमबद्धता का अभाव होता है।

(4) प्रशिक्षक को यदि प्रशिक्षण कार्य के लिए पर्याप्त समय प्रदान न किया जाए तो वह प्रशिक्षण को अधिक महत्व नही देगा। इससे या तो प्रशिक्षण अपर्याप्त रह जायेगा या प्रशिक्षण मे अधिक समय लगेगा।

(5) इस प्रकार के प्रशिक्षण में पर्यवेक्षक प्रशिक्षक का कार्य करते है जो स्वयं प्रशिक्षक की हैसियत से प्रशिक्षित नही होते। उनसे वैज्ञानिक रूप से प्रशिक्षण की उम्मीद नही की जा सकती।

(6) कार्यस्थल पर ही कार्य सीखने में कर्मचारी की एकाग्रता भी भंग होती है। इसका उसके कार्य सीखने की इच्छा या लगन पर भी प्रभाव पड़ता है।

कार्य पर प्रशिक्षण विधि वहीं उपयुक्त होती हैं जहाँ (1) प्रशिक्षार्थी की संख्या कम हो, (2) कार्य सरल प्रकृति का हो, (3) कार्य के लिए कृत्रिम वातावरण उत्पन्न करके कार्य में दक्षता प्रदान करना सम्भव न हो, (4) प्रशिक्षण का उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव न हो, (5) कार्य को तुरन्त सिखाकर कर्मचारी को कार्य पर लगाना नितान्त आवश्यक हो। सामान्यतः कार्य पर प्रशिक्षण का उपयोग अकुशल एवं अर्द्धकुशलता शारीरिक श्रम के कार्यो, लिपिकों एवं विक्रेताओं के प्रशिक्षण के लिए किया जाता है। कुशल श्रम एवं तकनीकी कार्य, पर्यवेक्षको एवं प्रबंधकों के प्रशिक्षण में, जिसके लिए कार्य के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक दोनों पक्षों का व्यापक प्रशिक्षण प्रदान करना आवश्यक होता है, कार्य पर प्रशिक्षण ही पर्याप्त नहीं होता। इस विधि से प्रशिक्षण के साथ अन्य विधियों का उपयोग आवश्यकतानुसार किया जाता है।

(B) द्वार प्रकोष्ठ प्रशिक्षण (Visible School Trainng)- कार्य पर प्रशिक्षण के अन्तर्गत श्रमिक द्वारा वास्तविक कार्य करने के कारण उत्पादन की किस्म तथा मात्रा प्रभावित होती है। इसलिए इस कठिनाई से बचने के लिए बड़ी-बड़ी संस्थाएँ अपनी फैक्टरी के समीप श्रमिकों को प्रशिक्षण देने के लिए प्रशिक्षण केन्द्र का निर्माण करती हैं तथा इस केन्द्र पर नए श्रमिकों को प्रशिक्षण दिया जाता है। इस केन्द्र पर कार्य सम्बंधी समस्त यंत्र व औजार होते हैं तथा प्रशिक्षण देने के लिए प्रशिक्षण विशेषज्ञ होते हैं। वास्तव में इस केन्द्र में फैक्टरी जैसा ही वातावरण बनाया जाता है तथा श्रमिकों कार्य पर प्रशिक्षण के समान ही प्रशिक्षण दिया जाता है। यह विधि अधिक खर्चीली होने के कारण केवल बडी संस्थाएँ ही इसका प्रयोग करती है। प्रशिक्षण के दौरान कार्य में आने वाले यंत्रों, एवं मशीनों जैसे ही संसाधन प्रयोग में लाये जाते है। यह प्रशिक्षण कार्य से पृथक वातावरण में दिये जाने के कारण अधिक रुचिकर होता है। वर्तमान में अनेक तकनीकी प्रशिक्षण केन्द्रों द्वारा अधिक इच्छुक व्यक्तियों को इस विधि से माध्यम से प्रशिक्षण दिया जा रहा है। कई स्थानों पर तो ये प्रशिक्षण केन्द्र सरकार अथवा कल्याणकारी संस्थाओं द्वारा संचालित किये जा रहे है। अर्द्ध-कुशल कर्मचारियों के लिए यह प्रशिक्षण काफी लाभप्रद है। यह प्रशिक्षण उस स्थान पर अधिक प्रभावी सिद्ध होता है जहाँ अधिकांश विषय-सामग्री को विचारों, सिद्धांतों, नीतियों आदि के रूप में समझाना आवश्यक होता है।

लाभ (Advantages)- (1) यह प्रशिक्षण कार्य-स्थल से पृथक् स्थान पर दिया जाता है। अतः कार्य में व्यवधान उत्पन्न नहीं होता है।

(2) इसमें प्रशिक्षण सुनियोजित एवं विधिवत् ढंग से दिया जाता है। अतः प्रशिक्षार्थी अधिक लाभान्वित होते हैं।

NOTES

दोष (Disadvantages):(1) यह खर्चीली पद्धति है।

(2) प्रशिक्षण के समय की स्थिति कार्य की वास्तविक स्थिति से भिन्न होती है। अतः यह अधिक उपयोगी साबित नहीं होता है।

(C) नव सिखिया प्रशिक्षण (Apprenticeship Training)- यह विधि प्रायः कर्मचारियों को विशिष्ट कौशल सिखाने के लिए प्रयोग की जाती है। इसके अन्तर्गत अलग कक्षाओं में अध्ययन होता है तथा जॉब पर भी वास्तविक कार्य करवाते है। इस तरह उन्हें जॉब का अनुभव तथा ज्ञान दोनों प्रदान किए जाते हैं। प्रशिक्षण की अवधि सामान्यतः छः माह से पाँच छः वर्ष तक की होती हैं। इस प्रकार का प्रशिक्षण ऐसे उद्योगों एवं पेशों में दिया जाता है जिनमें निपुणता प्राप्त करने में अधिक समय लगता है। सामान्यतः शिक्षु प्रशिक्षण का उपयोग मशीन-मैन, प्रिण्टर, औजार बनाने वाले, बढ़ई, लुहार, सुनार,फिटर,ड्राफ्टमैन, निर्माण कार्य करने वाले आदि के लिए किया जाता हैं। प्रशिक्षण के व्यय भार का वहन अंशतः उद्योग द्वारा किया जाता है। परन्तु आजकल जो उद्योग मानव शक्ति की निरन्तर व्यवस्था के रूप में शिक्षु प्रशिक्षण की व्यवस्था करते हैं, स्वयं प्रशिक्षण का भार वहन करते हैं तथा शिक्षुओं को कुछ पारिश्रमिक भी प्रदान करते हैं। शिक्षु विधि में प्रत्येक प्रशिक्षक के अधीन कुछ शिक्षुओं को रखा जाता है तथा शिक्षु उस प्रशिक्षक के आदेश एवं निर्देश में कार्य करके उसे सीखते है।

शिक्षार्थी अधिनियम, 1961 (The Apprentices Act,1961) के अन्तर्गत कुछ निर्दिष्ट उद्योगों में शिक्षु प्रशिक्षण की व्यवस्था करना अनिवार्य है। सन् 1974 में किए गए संशोधन के द्वारा अब शिक्षु प्रशिक्षण के लिए अनुसूचित जातियों एवं जन जातियों के लिए स्थान सुरक्षित कर दिए गए हैं।

आजकल प्रबंधको के विकास कार्यक्रम में शिक्षु विधि का प्रतिरूप अण्डरस्टडी (Understudy) का महत्व भी कम नहीं है जिसके अन्तर्गत प्रशिक्षार्थी प्रबंधक को किसी अधिकारी के आधीन कार्य सीखने के लिए रख दिया जाता है। प्रशिक्षार्थी प्रबन्धक अपने अनुभव, अवलोकन एवं अध्ययन द्वारा कार्य में निपुणता प्राप्त करता है। प्रशिक्षण की इस विधि को इन्टर्नशिप (Internship) भी कहा जाता हैं। कार्य की निर्धारित अवधि में सीखने के लिए अधिकारी के अधीन एक साथ कई नवसिखिये रखे जा सकते हैं।

लाभ (Merits) इस विधि के निम्न लाभ हैं-

(1) प्रशिक्षण की यह विधि तकनीकी एवं प्रबन्धकीय दोनों प्रकार के कार्यों के लिए उपयुक्त है। (2) ऐसे कार्यों के प्रशिक्षण में जिनमें प्रशिक्षक के निरन्तर पर्यवेक्षण में ही कार्य में दक्षता प्राप्त करना सम्भव हैं, शिक्षु विधि का उपयोग वांछनीय होता हैं। (3) दीर्घकालीन क्रमबद्ध प्रशिक्षण प्रदान करने में यह पद्धति सक्षम है। (4) प्रशिक्षार्थी को प्रशिक्षण काल में प्रायः पारिश्रमिक भी प्राप्त होता है।

हानियाँ (Disadvantages)- (1) प्रशिक्षण कार्यक्रम की अवधि लम्बी होने तथा निरन्तर पर्यवेक्षण की आवश्यकता के कारण यह पद्धति अत्यंत खर्चीली होती है (2) जब शिक्षु प्रशिक्षण उपक्रम की मानव-शक्ति व्यवस्था का अंग नहीं होता तो प्रशिक्षण के पश्चात् भी प्रशिक्षार्थी को कार्य मिल जाने की निश्चितता नहीं होती। (3) उपक्रम को भी सीखे-सिखाये कर्मचारी के चले जाने की हानि उठानी पड़ सकती है।

(D) अनुभवी कर्मचारियों द्वारा प्रशिक्षण (Training by Experienced Staff)- इस विधि के अन्तर्गत सुपरवाइजर की बजाय नये कर्मचारी को अनुभवी तथा कार्यकुशल पुराने कर्मचारी की देख-रेख में प्रशिक्षण दिया जाता हैं। प्रत्येक औद्योगिक संस्था में कुछ कर्मचारी ऐसे होते है जो अपने कार्य में पूर्ण दक्ष होते हैं तथा उत्पादन में बहुत अच्छा रिकार्ड बनाये होते है। एक संस्था जिसके सुपरवाइजरों के पास श्रमिकों को प्रशिक्षण देने के लिए पर्याप्त समय नहीं होता हैं तथा जो अन्य विधि पर भारी व्यय न कर सकती हो, इन अनुभवी तथा कार्यकुशल श्रमिकों का लाभ उठाती है। यह विधि छोटे आकार की संस्थाओं में अधिक लोकप्रिय है। इस विधि के अन्तर्गत विद्यार्थी को प्रशिक्षण पाठ्यक्रम पूरा करने हेतु एक निश्चित समय तक जो सामान्यतः 3 से 12 माह तक का हो सकता है, पाठशालाओं में नियमित अध्ययन करना होता है। तत्पश्चात एक निश्चित समय तक कारखाना या कार्यालय में कार्य करना होता है। जब तक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम पूरा नहीं हो जाता, यह क्रम चलता रहता है अर्थात नियमित कक्षाओं के माध्यम से अध्ययन और किसी कारखाने या कार्यालय में कार्य करना। इस प्रकार

के प्रशिक्षण कार्यक्रम सामान्यतः उच्च पेशे वाले कृत्यों के लिए आयोजित किये जाते है। इस प्रकार के प्रशिक्षण से चयनित विद्यार्थी पाठ्यक्रम के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक दोनों ही पहलुओं के बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त कर लेते हैं और अपने भावी जीवन को उसी ओर मोड़ लेने के योग्य हो जाते है। कम्पनी को भी आवश्यकता होने पर उपयुक्त कर्मचारी को अधिक तलाश नही करनी पड़ती। इस प्रकार यह प्रशिक्षण नियमित विद्यार्थी और प्रशिक्षण में सहयोग देने वाली कम्पनी दोनो के लिए लाभकारी होता है।

प्रशिक्षण का मुख्य दोष यह है कि इसमें समय अधिक लगता है जिससे प्रशिक्षार्थी एवं प्रशिक्षण प्रदान करने वाले (पर्यवेक्षक या निर्देशक) दोनों का ही उत्साह समाप्त हो जाता है तथा व्यवसाय में आर्थिक मन्दी के समय जब तालाबन्दी की जाती है तो विद्यमान कर्मचारी यह महसूस करते है कि इन्टर्नस को उनके खर्चे पर अर्थात् हितों की अवहेलना करके प्रशिक्षण दिया जा रहा है।

प्रबन्धकों को प्रशिक्षण देने की विधि (Methods of Training to Managers) - श्रमिकों के प्रशिक्षण तथा प्रबन्धकों के प्रशिक्षण में आधारभूत अन्तर होता है। श्रमिकों को एक विशेष कार्य विधि का प्रशिक्षण देना होता है जिसके लिये उन्हें विशेष मशीन, औजार व उत्पादन विधि के प्रयोग करना सिखलाया जाता है जबकि प्रबन्धकों को विशेष तकनीक या विधि की बजाय व्यवसाय का सामान्य ज्ञान सिखलाया जाता है। उनके प्रशिक्षण की विधियाँ ऐसी है जो उनमें सामान्य विकास, व्यक्तित्व व नेतृत्व के गुण उत्पन्न करती है यही कारण है कुछ प्रबन्ध विद्वानों ने 'प्रबन्धकों के प्रशिक्षण ' के स्थान पर 'प्रबन्धकों का विकास' शब्द का प्रयोग किया है। प्रबन्धकों के विकास की मुख्य विधियाँ निम्न है-

(A) कार्य पर प्रशिक्षण (On the Job Training)- प्रदान करना सदैव सम्भव नहीं होता, इसलिए उपक्रम द्वारा कार्य से पृथक (Off the Job) प्रशिक्षण की व्यवस्था करना आवश्यक हो जाता है कार्य से पृथक् प्रशिक्षण विधियों में द्वार प्रकोष्ठ प्रशिक्षण (Vestibule Training) विधि का विशेष महत्व है। वैस्टीबुल से अभिप्राय एक हाल अथवा बड़े कमरे से लिया जाता है जिसमें कारखाने जैसा वातावरण एवं कार्य स्थिति उपलब्ध करके प्रशिक्षण व्यवस्था की जाती है। प्रकोष्ठ अथवा प्रशिक्षणहाल में वास्तविक उत्पादन में काम आने वाली मशीनों के मॉडल लगे होते है। कर्मचारी को इन मॉडल मशीनों पर प्रशिक्षण दिया जाता है। एवं कार्य सिखाने का उत्तरदायित्व कुशल पर्यवेक्षक अथवा फोरमैनों को सौंपा जाता है। प्रशिक्षण अवधि कुछ दिन से लेकर कई मास तक विस्तृत हो सकती है। यद्यपि इस प्रशिक्षण में अभ्यासात्मक प्रशिक्षण पर अधिक बल दिया जाता है, किन्तु कार्य के सैद्धांतिक पक्ष की व्याख्या के लिए भी यह पद्धति उपयुक्त होती है। द्वार प्रकोष्ठ प्रशिक्षण की प्रमुख विशेषता प्रशिक्षण अवस्थाओं का सावधानीपूर्वक किया गया नियंत्रण हैं जिनके प्रशिक्षार्थी 'कार्य पर प्रशिक्षण ' के दोनों से मुक्त वातावरण में प्रशिक्षण प्राप्त करता हैं।

लाभ (Advantages)- द्वार प्रकोष्ठ प्रशिक्षण विधि से उत्पन्न होने वाले लाभ इस प्रकार हैं-

(1) कार्य से पृथक् प्रशिक्षण होने के कारण कार्य या उत्पादन में व्यवधान उत्पन्न नहीं होता है।

(2) नये कर्मचारियों को जटिल कार्यों का विशेष प्रशिक्षण आसानी से दिया जा सकता है।

(3) एक साथ अधिक संख्या में कर्मचारियों को प्रशिक्षण देने के लिए यह विधि उपयुक्त मानी गयी है।

(4) द्वार प्रकोष्ठ प्रशिक्षण में विशिष्टीकरण के सिद्धांत का पालन होता है। प्रशिक्षक कार्य की पूर्ण जानकारी रखते हैं तथा अन्य प्रकार के कार्यों का भार न होने के कारण भली-भाँति प्रशिक्षण प्रदान करते है।

(5) प्रशिक्षण की यह विधि 'कार्य पर प्रशिक्षण' विधि के दोषों से मुक्त होती है और उसके समस्त लाभ इसके अन्तर्गत भी प्राप्त हो जाते हैं। उदाहरण के लिए इस विधि में प्रशिक्षार्थी पर कार्य का दबाव नही होता और वे सीखने पर अपना सम्पूर्ण ध्यान केन्द्रित कर पाता है तथा कार्य को अपेक्षाकृत जल्दी सीख पाता है।

(6) प्रशिक्षक स्वयं प्रशिक्षित होते है। अतः विधि पूर्वक प्रशिक्षण कार्य को सम्पन्न करने की सामर्थ्य रखते है।

(B) सम्मेलन विधि (Conference Methods)- सम्मेलन विधि निर्देशित सामूहिक विचार-विनिमय द्वारा सूचनाओं एवं विचारों के आदान-प्रदान की एक सक्षम विधि स्वीकार की जाती है। इस विधि में सम्मेलन में भाग लेने वाले व्यक्ति अपने विचारों एवं अनुभवों को प्रकट करने में स्वतंत्र होते है। यदि सम्मेलन का संचालन कुशलापूर्वक किया जाए तो प्रशिक्षार्थी आपसी विचार-विमर्श से काफी कुछ सीखते है। सम्मेलन विधि का उपयोग सम्बंध कि

NOTES

विभिन्न स्तरीय प्रशिक्षण के लिए किया जाता है सम्मेलन विधि का प्रवचन विधि के दोषों को दूर कर देती है, क्योंकि इसमे प्रशिक्षार्थी केवल सुनने वाले नहीं रहते वरन् प्रशिक्षण में सक्रिय योगदान भी करते है।

सम्मेलन प्रशिक्षण के मुख्यतः दो प्रदान होते है-

(अ) निदेशित सम्मेलन (Directed Conference)- प्रशिक्षक अपने विचार एवं निष्कर्ष प्रस्तुत कर देता है तथा प्रशिक्षार्थी से उन विचारों एव निष्कर्षों की सीमा में ही विचार करने को कहा जाता है प्रशिक्षक के द्वारा पूर्वनिर्धारित निर्देशों की आधारशिला पर ही प्रशिक्षार्थी अपने विचारों का संयोजन करते है। आवश्यकतानुसार प्रशिक्षक विषय कि नवीन तत्वों पर भी प्रकाश डालता रहता है। यह विधि प्रशिक्षार्थीयों को निदेशित मार्ग से गुजर कर निश्चित निणयों पर पहुँचने में सक्षम बनाती है।

(ब) अनिदेशित सम्मेलन (Non-Directed Conference)- यह विधि सदस्य केन्द्रित होती है। इसमें निदेशक प्रशिक्षण मे भाग लेने वाले कर्मचारियों को विषय की रूपरेखा स्वयं तैयार करने का अवसर देता है निदेशित सम्मेलन की भाँति इसमें विषय की रूपरेखा एवं निष्कर्ष पूर्वनिर्धारित नहीं होते। इस प्रकार अनिदेशित सम्मेलन अधिक अनुपनिबोधक वातावरण प्रस्तुत करता है एवं अधिक रचनात्मक सिद्ध हो सकता है।

लाभ (Advantages)-(1) यह विधि प्रशिक्षार्थी की प्रशिक्षण में रूचि बनाये रखने में सहायक होती है। (2) प्रशिक्षार्थी कोई नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत कर सके,इस कारण दूसरो के विचारों को ध्यान से ग्रहण करता है।

(3) यह विधि कर्मचारियों के बौद्धिक विकास में सहायक होती है।

(4) कर्मचारी में दूसरों के विचारों से समन्वय करने की भावना उत्पन्न होती है।

दोष (Disadvantages)-(1) सम्मेलन की उपयोगिता उसके आकार पर निर्भर करती है। इसके लिए समूह छोटा होना आवश्यक है।

(2) यही एवं पर्याप्त निदेशन के अभाव में असंगत बातों पर विचार-विमर्श से समय की बर्बादी होती है।

(3) प्रत्येक व्यक्ति के विचार प्रकट करने की चेष्टा से चाहे उसके विचार पूर्व प्रकट विचारों के समान ही हो, तो समय का आकार अपव्यय होता है।

(4) यह विधि ऐसे विषयो के प्रशिक्षण के लिए उपयोगी है जिन पर मौलिक विचार विनिमय किया जा सकता है, विशष्ट प्रकार के व्यावहारिक ज्ञान के लिए इसका उपयोग सम्भव नहीं है।

(C) **समस्या का अध्ययन** (Case Study)- इस विधि के अन्तर्गत प्रबन्धकों के पद के लिए चुने हुए व्यक्तियों को समय-समय पर कुछ लिखित समस्याएँ दी जाती हैं जिनके अध्ययन के बाद उन्हें निश्चित करना होता है कि उन्हें उन हालातों में प्रबन्ध के रूप में क्या करना है। इस तरह उन्हे समस्या सुलझाने, निर्णय होने का प्रशिक्षण व ज्ञान प्राप्त होता है। इस पद्धति में किसी समस्या से सम्बंधित तथ्यों को प्रशिक्षाथियों के समक्ष रख दिया जाता है तथा वह समस्या प्रशिक्षार्थीयों के निर्णय के लिए छोड़ दी जाती है। प्रशिक्षार्थी समस्या के तथ्यों का विश्लेषण करके उसका हल प्रस्तुत करता है। यह पद्धति प्रशिक्षाथियों को समस्या समाधान का व्यावहारिक प्रशिक्षण प्रदान करती है। समस्या अध्ययन विधि यह मानकर चलती है कि प्रशिक्षार्थी को विषय का सैद्धांतिक ज्ञान एवं अनुभव पहले से ही प्राप्त है। समस्या अध्ययन 'सम्मेलन विधि' का प्रमुख अंग है। समस्या अध्ययन विधि में प्रशिक्षार्थी समस्या के विभिन्न पहलुओं पर विचार करके निश्चित निर्णय पर पहुँचने का प्रयत्न करता है। अन्य व्यक्तियों के विचारों से समस्या के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश पड़ता है और अनेक भ्रमों का निवारण होता है तथा सही निर्णय पर पहुँचना सम्भव हो जाता है। प्रशिक्षार्थीयों के समक्ष समस्याएँ दो प्रकार से प्रस्तुत की जा सकती है। एक तो प्रशिक्षक समस्या प्रस्तुत करने से पूर्व विषय के सैद्धांतिक पक्ष पर प्रकाश डाल सकता है तथा इन सिद्धातों के प्रयोग से समस्या समाधान के लिए प्रशिक्षार्थियो को कहता है। दूसरे प्रशिक्षक समस्या को ज्यों-का-त्यों रख देता है तथा प्रशिक्षाथियों से अपने ज्ञान एवं अनुभव के आधार पर समाधान खोजने को कहता है। इस विधि का ध्येय प्रशिक्षार्थी द्वारा स्वयं सीखना है।

समस्या विधि का एक विशेष रूप जिसका विकास अभी कुछ समय पूर्व प्रो.पाल पिगर्स (Paul pigors) ने किया है,"प्रसंग विधि या प्रक्रिया (Incident Process) है। समस्या विधि की सामान्य धारणा के विपरीत इस विधि में प्रसग अथवा घटना को संक्षिप्त समाचार के रूप में दिया जाता है। प्रशिक्षकों को प्रसंग या घटना का पूर्ण ब्यौरा ज्ञात होता है। प्रशिक्षार्थी इस प्रकार इस विधि में प्रशिक्षार्थी स्वयं प्रश्नों द्वारा समस्या की व्याख्या प्राप्त करते हैं, अर्थात समस्या की सामान्य विधि में जो बातें प्रशिक्षक स्वयं प्राशक्षाथियों को बताता है, वे बातें स्वयं

प्रशिक्षार्थी मालूम करना है -जैसे (1) समस्या के तथ्य, (2) आधारभूत प्रश्न (3) समस्या से सम्बंधित प्रबन्धकीय सिद्धांत।

लाभ (Advantages)- इस विधि के निम्नलिखित लाभ हैं-

(1) प्रशिक्षण स्वयं-शिक्षण द्वारा प्राप्त होता है। (2) समस्याएँ वास्तविक होती है, अतः कर्मचारी कौशल बनी रहती है। (3) इसके द्वारा प्रशिक्षार्थी में तार्किक बुद्धि एवं विश्लेषण योग्यता का विकास होता है। (4) कर्मचारी का दृष्टिकोण व्यापक होता है क्योंकि उसे अपने समाधान की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए दूसरों की कटुता सहन करनी पड़ती है। (5) इस विधि द्वारा प्रशिक्षार्थी के सैद्धांतिक ज्ञान का परीक्षण सरलता से हो जाता है।

हानियाँ (Demerits)- इस विधि के निम्नलिखित हानियाँ हैं-

(1) किसी समस्या का कोई निश्चित समाधान नहीं हो सकता, अतः प्रशिक्षार्थी में अनिश्चितता की भावना उत्पन्न हो सकती है।

(2) इस विधि में समस्याओं का नियंत्रित वातावरण में समायोजन खोजा जा सकता है। यह समाधान व्यावहारिक वातावरण से भिन्न हो सकता है पूर्ण सावधानी के अभाव में यह विधि प्रशिक्षार्थी में अतिरिक्त उत्पन्न कर सकती है।

(D) **भूमिका अदा करने की विधि** (Role Playing) - इस विधि के अन्तर्गत चुने गए व्यक्तियों को विभिन्न रोल अदा करने को कहा जाता उदाहरण उन्हें एक औद्योगिक संघर्ष की समस्या देकर श्रमिक प्रतिनिधि तथा प्रबन्ध के रोल अदा करने को कहा जाता है। इस तरह विभिन्न दशाओं में उनको रोल अदा कराया जाता है जिससे वह विभिन्न स्थिति में आने वाली कठिनाईयों तथा वैसी ही स्थिति में भविष्य में समस्या सुलझाने योग्य हो जाते हैं।

इस विधि के अन्तर्गत प्रशिक्षार्थी को अपने पद की भूमिका का निर्वाह केवल अभिनय मात्र से करना होता है किन्तु इसके द्वारा प्रशिक्षार्थी कार्य से भलीभाँति परिचित हो जाता है उदाहरण के लिए दो प्रशिक्षार्थीयों मे से एक को अधिकारी की भूमिका तथा दूसरे को कर्मचारी की भूमिका देकर उनके बीच किसी शिकायत पर बात-चीत करने को एवं किसी निष्कर्ष पर पहुँचने को कहा जा सकता है। भूमिका निर्वाह करने वाले प्रशिक्षार्थी को प्रदोशिक आवश्यकता निर्देश देते रहते है ताकि वह अपनी त्रुटियों को जान सकें। भूमिका निर्वाह प्रशिक्षण के लिए प्रशिक्षार्थीयों को मानवीय सम्बंधों की जानकारी दी जाती है एवं व्यवहार में सुधार करने का अवसर दिया जाता है।

लाभ (Advantages)- (1) भूमिका निर्वाह करते समय प्रशिक्षार्थी को अपने सैद्धांतिक ज्ञान के उपयोग का पर्याप्त अवसर मिलता है। (2) इसके द्वारा कार्य के व्यावहारिक पक्ष का भूमिका परिवर्तन द्वारा प्रत्येक प्रशिक्षार्थी अन्य व्यक्ति को समझने में समर्थ होना है। (4) भूमिका परिवर्तन द्वारा प्रत्येक प्रशिक्षार्थी अन्य व्यक्ति का दृष्टिकोण समझ पाता है। (5) प्रशिक्षण एवं योग्यता का तत्काल मूल्यांकन हो जाता है (6) प्रशिक्षार्थी की प्रशिक्षण में रूचि बनी रहती है। (7) प्रशिक्षार्थी में आत्मविश्वास उत्पन्न होता है।

दोष (Disadvantages)- (1) यह विधि सामान्यतः उच्च प्रबन्धकीय पदों के लिए ही अधिक उपयुक्त हैं, (2) इस विधि का अकेला उपयोग सम्भव नहीं है। प्रशिक्षार्थी को सर्वप्रथम सैद्धांतिक प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए विधियों का उपयोग आवश्यक है ।

(E) सहायक पद विधि (Assistant to Positions) कुछ संस्थाएँ अपने प्रबन्धकों सामूहिक विचार-विमर्श में प्रशिक्षण देने के लिए संगठन के विभिन्न स्तर पर अपने समितियों की व्यवस्था करती है। कुछ संस्थाएँ तो संगठन में जूनियर संचालक बोर्ड बनाती है जिसमें भविष्य में ऊँचे पदों पर आने वाले प्रबन्धक होते है। इन सभी को संस्था की वास्तविक समस्याएँ दी जाती है। जिन्हें वह द्वितीय स्तर के रूप में सुलझाते हैं। इस तरह उन्हें ऐसे कार्य का अनुभव हो जाता है तथा भविष्य मे वह सरलता से ऐसे कार्य कर सकते है।

कार्यक्रमात्मक प्रशिक्षण पद्धति का विकास ओहियो स्टेट यूनिवर्सिटी के **प्रो.एस.एल प्रेसे** (Pro.S.L.Pressey) द्वारा किया गया है इनके द्वारा 1924 में एक प्रशिक्षण विधि का विकास किया गया जो शिक्षण एवं प्रशिक्षण के क्षेत्र मे अत्यंत लोकप्रिय हुई। कार्यक्रमात्मक प्रशिक्षण के लिए कम्प्यूटर का उपयोग विकसित देशों में कर्मचारियों एवं पर्यवेक्षको के प्रशिक्षण के लिए व्यापक रूप में किया जाने लगा है। मध्यवर्ती एवं पर्यवेक्षकों के प्रशिक्षण के लिए कार्यक्रमात्मक प्रशिक्षण विधि का प्रयोग शनैः शनैः बढ़ रहा कार्यक्रमात्मक प्रशिक्षण में यंत्र कार्यक्रमात्मक पुस्तकें अथवा चलचित्रों का उपयोग किया जाता है कार्यक्रमात्मक प्रशिक्षक परम्परात्मक प्रशिक्षण से भिन्न एक

NOTES

NOTES

ऐसी तकनीक है जिसमें प्रशिक्षण सामग्री का संयोजन इस प्रकार किया जाता है कि प्रशिक्षार्थी बिना प्रशिक्षक के निर्देश के उसकी सहायता से प्रशिक्षण प्राप्त कर सकता है इस पद्धति में सम्पूर्ण सूचना को चरणों या इकाइयों में विभक्त किया जाता है जिन्हें 'फ्रेम' कहा जाता है एक सम्पूर्ण कार्यक्रमात्मक विषय अनेक फ्रेमों का एक समूह होता है जो एक-दूसरे से निश्चित क्रम में सम्बद्ध किया जाते हैं। विषय का संयोजन इस प्रकार होता है कि प्रत्येक चरण पर प्रशिक्षार्थी की प्रगति का स्वतः मूल्यांकन होता रहे। इस प्रकार कार्यक्रमात्मक प्रशिक्षण के दो महत्वपूर्ण घटक होते है।

(1) सम्पूर्ण कार्यक्रम का चरणों में विभाजन एवं उनको सम्बद्धता तथा (2) सम्पूर्ण कार्यक्रम के प्रस्तुतीकरण एवं प्रशिक्षार्थी की प्रगति की जाँच का रचनातंत्र। बीच (Beach) के अनुसार कार्यक्रमानुसार प्रशिक्षण के प्रमुख लक्षण निम्नांकित हैं:

1. प्रशिक्षार्थी अपनी गति (Pace) से ही प्रशिक्षण प्राप्त कर पाता है
2. प्रशिक्षक प्रशिक्षण का महत्वपूर्ण अंग नहीं होता।
3. विषय को छोटी-छोटी इकाइयों या चरणों में विभक्त किया जाता है।
4. प्रत्येक अगली इकाई या चरण पूर्व-चरण पर आधारित होता है।
5. प्रशिक्षार्थी को अपने उत्तर के सही अथवा गलत होने का तुरन्त पता चल जाता है।
6. कार्यक्रम के प्रत्येक चरण पर प्रशिक्षार्थी का सक्रिय योगदान होता है

लाभ (Advantages) (1) प्रशिक्षार्थी अपनी इच्छानुसार किसी भी स्थान पर तथा किसी भी समय प्रशिक्षण प्राप्त कर सकता है। (2) प्रशिक्षक के निर्देश की आवश्यकता नहीं होती। (3) प्रशिक्षार्थी को अपनी प्रगति का पता तुरन्त लग जाता है। (4) प्रशिक्षार्थी की रूचि एवं उत्साह बना रहता है, (5) भिन्न बौद्धिक स्तर के व्यक्ति एक ही कार्यक्रम से प्रशिक्षण प्राप्त कर सकते हैं।

दोष (Disadvantages) (1)कार्यक्रमात्मक प्रशिक्षण का उपयोग उन्हीं दशाओं में किया जा सकता है जिनमें प्रश्नों के निश्चित उत्तर सम्भव हों। उदाहरण के लिए इसका उपयोग उत्पादन अनुसूचियन के लिए तो सम्भव है, परन्तु पर्यवेक्षीय कौशल के लिए इसका उपयोग सरल नहीं है (2) कार्यक्रमात्मक प्रशिक्षण का उपयोग तथ्यों की जानकारी के लिए किया जा सकता है, परन्तु व्यवहार सम्बन्धी प्रशिक्षण प्रदान करने यह अधिक सक्षम नहीं है। (3) यह विधि खर्चीली पद्धति है।

(F) व्याख्यान विधि (Lecture Method)- विद्यालयों एवं महाविद्यालयों में व्याख्यान विधि द्वारा शिक्षा प्रदान करने का सर्वाधिक उपयोग किया जाता है। व्याख्यान विधि में प्रशिक्षक मौखिक निदेशन,भाषण के रूप में प्रस्तुत करता है प्रशिक्षक को व्याख्यान कला एवं विषयवस्तु के सम्बन्ध में अच्छा ज्ञान होना आवश्यक है इस विधि में प्रशिक्षक को प्रभावी सम्प्रेषक होना चाहिए। तथा श्रोताओं की जिज्ञासाओं को शांत करने की उसमें क्षमता होनी चाहिए। व्याख्यान के समय श्रोतागण वार्ता को सुनते हुए यह विधि उत्तम रहती है।

लाभ (Advantages)(1) व्याख्यान विधि द्वारा एक साथ बड़ी संख्या में कर्मचारियों को प्रशिक्षित किया जा सकता है (2) इस विधि में प्रति व्यक्ति प्रशिक्षण लागत कम आती है। (3) व्याख्यान विधि में प्रशिक्षक अपने विचारों का संयोजन करके उन्हें श्रंखलाबद्ध एवं सुस्पष्ट रीति से प्रस्तुत कर सकता है।

दोष (Disadvantages) (1) व्याख्यान विधि का केवल सैद्धांतिक ज्ञान तक सीमित होता है, व्यावहारिक प्रशिक्षण में यह उपयोगी नहीं हो सकता। (2) इस विधि के द्वारा नीचे के स्तर के एवं कम शिक्षित तथा कम बुद्धि वाले कर्मचारियों को प्रशिक्षित नहीं किया जा सकता है (3) इस विधि म एक तरफा सम्प्रेषण होता है। (4) प्रशिक्षार्थी की प्रगति का मूल्यांकन करना कठिन है।

(G) सहायक प्रणाली (Assistant to Positions) इस पद्धति के अन्तर्गत संस्था में प्रत्येक प्रबन्धकों के साथ एक-एक सहायक प्रबन्धक की नियुक्ति की जाती है जो प्रबन्धकों के कार्य में सहायता देने के साथ-साथ उनकी कार्य-विधि को बहुत ही नजदीक से देखते है। इस तरह उन्हें प्रबन्धकों की कार्यविधि का अनुभव प्राप्त होता है तथा आवश्यकता के समय उन प्रबन्धकों के स्थान पर कार्य कर सकते है। इस तरह संस्था में प्रत्येक प्रबन्ध के जॉब के योग्य प्रशिक्षित व्यक्तियों की व्यवस्था रहती है तथा संस्था को पबन्धकों के लिए बाहर साधनों पर निर्भर नहीं रहना पड़ता है।

व्याख्यान विधि के विपरीत प्रदर्शन विधि मे प्रशिक्षक करने के स्थान पर कार्य को करके प्रदर्शित करता है। कार्य की सम्पूर्ण विधि प्रशिक्षक स्वय करके दिखाता है प्रदर्शन विधि 'कार्य पर प्रशिक्षण' का महत्वपूर्ण अग है। इस विधि का एकल उपयोग सामान्यतः नही होना। प्रदर्शन विधि को प्रशिक्षण की अन्य विधियों जैसे व्याख्यान आदि के साथ सम्बद्ध किया जाता है ताकि उन विधियों की उपयोगिता बढ़ाई जा सके।

प्रदर्शन विधि का लाभ इस बात मे निहित है कि इसके अन्तर्गत प्रशिक्षार्थी को कार्य का क्रियात्मक रूप दिखाया जाता है। परन्तु यह विधि कौशल प्रशिक्षण के लिए ही विशेष उपयोगी होती है। प्रबन्धकीय प्रशिक्षण में इसका अधिक महत्व नहीं होना क्योंकि प्रबन्धकीय प्रशिक्षण का मूल ध्येय बौद्धिक एवं तार्किक स्तर में अभिवृद्धि है।

(H) अस्थायी पदोन्नति (Temporary Promotion) बहुत सी बड़ी संस्थाएँ इस विधि का प्रयोग करती हैं। वे कुछ प्रबन्धकीय जॉब खाली है व प्रबन्धको को छुट्टी लेने को प्रोत्साहित करती है ताकि उनके कर्मचारियों को कार्य करने का अवसर प्रदान किया जाए जब प्रबन्ध अनुपस्थित होते हैं उस समय उसके स्थान पर अन्य योग्य कर्मचारियों को अस्थायी पदोन्नति देकर उस जॉब पर कार्य करवाया जाता है जिससे वह उस जॉब को करने योग्य हो जाता है

(I) विशिष्ट संस्थाओं मे परीक्षण (Specialised Institutional Training) प्रत्येक देश में प्रबन्धकीय शिक्षण देने वाली विशिष्ट संस्थाएँ होती है जो प्रबन्धकीय शिक्षण सुविधा प्रदान करने के साथ-साथ प्रबन्धकों को प्रबन्ध की नई-नई तकनीकों की जानकारी देने के लिए व्यावसायिक प्रबन्धकों के लिए विशिष्ट कोर्स की व्यवस्था करती है। हमारे देश मे (Administrative Staff College of India, Hyderabd) ऐसी ही संस्था है। लगभग सभी बड़ी-बड़ी संस्थाएँ अपने प्रबन्धकों को इन संस्थाओं में भेजती है।

प्रश्न
(Question)

1. भर्ती की आवश्यकता किन कारणों से होती है? भर्ती की विभिन्न विधियों का संक्षेप में वर्णन कीजिये।
2. एक अच्छी भर्ती नीति की विशेषतायें समझाइए।
3. भर्ती क्या है? भर्ती की आन्तरिक विधियाँ समाझाइए।
4. चयन प्रक्रिया का अर्थ एवं प्रकृति को समझाइए।
5. चयन की अवधारणा क्या है? इसकी प्रक्रिया का उल्लेख कीजिए।
6. प्रशिक्षण से क्या तात्पर्य है? कर्मचारी प्रशिक्षण का महत्व समझाइए।
7. प्रशिक्षण की विभिन्न विधियों को विस्तार से समझाइए।

●●●

अपनी प्रगति की जाँच क
Test your Progress

17

NOTES

उत्पादन प्रबन्ध : अवधारणा एवं महत्व
(PRODUCTION MANAGAMENT : CONCEPT & IMPORTANCE)

प्रत्येक उपक्रम के अन्तर्गत दो प्रमुख कार्य सम्पन्न किये जाते हैं - एक, वस्तुओं का निर्माण तथा दूसरा, उनका विपणन। वस्तु निर्माण का कार्य आवश्यक साधनों को एकत्रित करने एवं उनके प्रयोग से सम्बन्ध रखता है, जबकि विपणन का कार्य निर्मित वस्तुओं को उपभोक्ताओं तक पहुँचाने से सम्बन्ध रखता है। **प्रबन्ध की वह विशिष्ट शाखा जो इन निर्माणी क्रियाओं से जुड़ी हुई, उत्पादन प्रबन्ध कहलाती है।** इसका सम्बन्ध साधनों के एकत्रीकरण एवम् उन्हें उत्पादनशील बनाने से ही नहीं है, बल्कि उपलब्ध साधनों का अधिकतम उपयोग करने तथा न्यूनतम लागत पर अधिक उत्पादन करने से भी है। वस्तुतः उत्पादन का सम्बन्ध रूप उपयोगिता के सृजन से है।

विश्व के अधिकांश राष्ट्र आज पिछड़े तथा विकासमान स्थिति में हैं तथा उनके समक्ष तीव्र आर्थिक विकास तथा विशाल उपलब्ध संसाधनों के समुचित उपयोग की एक ज्वलंत समस्या बनी हुई है। इस समस्या का हल उत्पादन वृद्धि में ही निहित है **उत्पादन प्रबन्ध एक ऐसी विधा है जो निर्माणी क्रियाकलापों के समुचित नियोजन, निर्देशन, नियन्त्रण द्वारा वस्तुओं एवम् सेवाओं को न्यूनतम लागत पर समुचित मात्रा में उपलब्ध करा सकती है।** इसलिए विकासशील राष्ट्रों के संदर्भ में उत्पादन प्रबन्ध अधिक महत्त्वपूर्ण है।

उत्पादन का अर्थ
(Meaning of production Management)

'उत्पादन प्रबन्ध' शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है - **'उत्पादन** तथा **प्रबन्ध'**। इन दोनों शब्दों का अभिप्राय समझे बिना उत्पादन प्रबन्ध के अर्थ को समझ पाना कठिन है। उत्पादन से हमारा आशय कच्चे माल को पक्के माल में परिवर्तित करने की प्रक्रिया से है। अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से किसी वस्तु की उपयोगिता में वृद्धि करना ही उत्पादन कहलाता है। **बेथल एवं स्मिथ के शब्दों में, ''उत्पादन से आशय कारखाना पद्धतियों की सहायता से कच्चे माल को समाज द्वारा वांछित वस्तुओं में रूपान्तरित करने से है।'' मेयर** के शब्दों में, **''निर्माणी संस्थान में, मनुष्यों, सामग्रियों एवं उपकरणों द्वारा भौतिक वस्तुओं का निर्माण करना तथा सेवा संगठनों में किसी उपयोगी कार्य का सम्पादन करना 'उत्पादन' कहलाता है।''** उत्पादन प्रबन्ध के दूसरे शब्द 'प्रबन्ध' से हमारा अभिप्राय व्यवस्था से होता है। **टैरी** के शब्दों में -प्रबन्ध, **नियोजन, संगठन, उत्प्रेरण एवं नियन्त्रण की वह विशिष्ट प्रक्रिया है जो व्यक्तियों व अन्य साधनों की सहायता से उद्देश्यों का निर्धारण करती है और उनको प्राप्त करती है।''**

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि **'उत्पादन प्रबन्ध' उत्पादन से सम्बन्धित समस्त क्रिया - कलापों के नियोजन, संगठन, समन्वय एवं नियन्त्रण की प्रक्रिया है।**

उत्पादन प्रबन्ध को कुछ प्रमुख विद्वानों ने निम्न प्रकार परिभाषित किया है -

(1) ई. एफ. एल. ब्रीज. के अनुसार - ''उत्पादन प्रबन्ध , किसी उपक्रम की उन क्रियाओं के प्रभावी नियोजन एवं नियमन की प्रक्रिया है जो सामग्रियों को निर्मित उत्पादों में रूपान्तरित करने के लिये उत्तरदायी है।''

(2) एलवुड एस. बफा के अनुसार - ''उत्पादन प्रबन्ध, उत्पादन प्रक्रियाओं से सम्बद्ध निर्णय लेने की प्रक्रिया है जिसके फलस्वरूप विशिष्ट विवरणों के अनुसार वांछित मात्रा में वांछित समय पर तथा न्यूनतम लागत पर वस्तुओं अथवा सेवाओं का उत्पादन किया जाता हैं।''

(3) विलियम बोरिस के अनुसार, - ''उत्पादन प्रबन्ध से आशय इनपुट - आउटपुट प्रणालियों की उन प्राय: जटिल श्रृंखलाओं के प्रबन्ध से है जो कि परियोजनाओं एवं उत्पादों की डिजायन से लेकर उत्पाद के प्रेषण तक के क्रम में एक साथ जुड़ी हुई है।''

(4) रेमोण्ड आर. मेयर के शब्दों में, '' एक निर्माणी संगठन में मनुष्यों, सामाग्रियों और साज - सामान के प्रयोग द्वारा एक भौतिक उद्देश्य प्राप्त करना ही उत्पादन है। एक सेवा संगठन में ऐसे कार्यो का सम्पादन करना, उत्पादन कहलाता है जिसकी कोई उपयोगिता हो। इसका विस्तार ऐसे कार्यो तक है जैसे मोटर की मरम्मत से लेकर एक मुवक्किल को कानूनी सलाह देना।''

(5) प्रो. आर. एल. पाटनी के अनुसार, ''उत्पादन प्रबन्ध उत्पादन से सम्बन्धित क्रिया -कलापों के नियोजन, संगठन, समन्वय एवं नियन्त्रण की प्रक्रिया है।''

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर हम यह कह सकते है कि 'उत्पादन प्रबन्ध व्यावसायिक एवं औद्योगिक प्रबन्ध की वह विशिष्ट शाखा है जो उत्पादन क्रियाओं के नियोजन, नियमन एवं नियन्त्रण से सम्बन्ध रखती है ताकि समाजोपयोगी वस्तुयें एवं सेवाएं आवश्यक मात्रा में न्यूनतम लागत पर उपलब्ध की जा सकें।''

उत्पादन प्रबन्धक के कार्य
(Functions of Production Management)

व्यावहारिक जगत में उत्पादन प्रबन्धक अनेक महत्वपूर्ण कार्य करता है एवं अनेक उत्तरदायित्वों का निर्वाह करता है जिनमें से कुछ प्रमुख कार्य एवं उत्तरदायित्व निम्नांलिखित हैं -

(1) **उत्पादन नियोजन** (Production Planning)- उत्पादन प्रबन्धक का सबसे महत्वपूर्ण कार्य है - उत्पादन से सम्बन्धित योजना बनाना, इसके अन्तर्गत यह तय किया जाता है कि क्या उत्पादन करना है, कब उत्पादन करना है कितनी मात्रा में उत्पादन करना है, किस प्रकार उत्पादन करना है, आदि। उत्पादन नियोजन के परिणामस्वरूप संस्था अपने ग्राहकों को निश्चित समय पर तथा निश्चित दरों पर माल की पूर्ति करके अधिक लाभार्जन कर सकती है।

(2) **उत्पादन नियन्त्रण** (Control of Production)- उत्पादन प्रबन्धक का दूसरा महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व उत्पादन पर नियन्त्रण स्थापित करना है। उत्पादन पर नियन्त्रण रखने के लिये उत्पादन प्रबन्धक निम्न कार्य करता है-

उत्पादन का मार्ग अर्थात् उत्पादन की प्रक्रिया निर्धारित करना, अनुसूचीयन कार्य - आदेशन, अनुवर्तन, गुण एवं लागत पर नियन्त्रण, उत्पादन के लिये प्रमाणित समय का निर्धारण आदि ।

(3) **किस्म एवं गुण नियन्त्रण** (Quality of Control)- उत्पादन में उत्तम गुणों को बनाये रखना उत्पादन प्रबन्धक का महत्वपूर्ण दायित्व है। उत्पादित वस्तु अच्छी किस्म की हो, इसके लिये वस्तु की किस्म पर कड़ा नियन्त्रण रखा जाना बहुत आवश्यक है। किस्म नियन्त्रण की प्रक्रिया के अन्तर्गत तैयार होने वाले माल को अपेक्षित विवरणों के अनुरूप बनाने तथा दोषपूर्ण माल को पृथक् करने का कार्य किया जाता है।

(4) **संयन्त्र - विन्यास** (Plant Lay out)- संयन्त्र विन्यास के अन्तर्गत मशीनों,एवं उपकरणों को सही तरीके से यथास्थान इस प्रकार से स्थापित किया जाता है कि वस्तुओं का उत्पादन कम से कम दूरी तथा कम से कम समय में व्यवस्थित तरीके से सम्भव हो सकें तथा उत्पादन प्रक्रिया निर्विघ्न रूप में चलती रहे।

(5) सामग्री हस्तन पर नियन्त्रण (Control on Handling of Inventories)- सामग्री हस्तन की आदर्श स्थिति वह है कि जिसमें सामग्री हस्तन की आवश्यकता ही न रहे, लेकिन इस स्थिति को प्राप्त करना सम्भव नहीं है। अतः उत्पादन प्रबन्ध का दायित्व यह रह जाता है कि सामग्री हस्तन लागत कम से कम रहे जिससे मानव, मशीन एवं माल (कच्ची सामग्री) का उचित विदोहन सम्भव हो सके।

(6) सामग्री नियन्त्रण (Inventory Control)- सामग्री नियन्त्रण, उत्पादन प्रबन्धक का वह कार्य है जिसके द्वारा मितव्ययी आदेश मात्राओं तथा आदेश बिन्दुओं का निर्धारण करके सामग्री अभाव एवं अनावश्यक आधिक्य लागतों को समाप्त करना है। यह कार्य सामग्री के वित्तीय पहलुओं एवं भौतिक नियन्त्रण से सम्बन्धित है।

(7) कार्य मापन (Work Measurement)- श्रमिकों द्वारा किये गये कार्य की जाँच करना उत्पादन प्रबन्धक का महत्वपूर्ण कार्य है। उत्पादन की श्रम सम्बन्धी लागतों को कम करने के लिये इस बात की जाँच आवश्यक है कि कोई श्रमिक अथवा कर्मचारी औसत निष्पादन स्तर से नीचे तो कार्य नही कर रहा है। कार्य मापने हेतु समय अध्ययन, गति अध्ययन विधियों का प्रयोग किया जा सकता है।

(8) विधि विश्लेषण (Process Analysis)- विधि विश्लेषण मानवीय एवं यान्त्रिक स्थितियों का विशद् अध्ययन है जो उत्पादन की श्रेष्ठ पद्धतियों के विकास को सम्भव बनाता है। उत्पादन प्रबन्धक का यह कर्त्तव्य है कि उत्पादन की विभिन्न विधियों का विश्लेषण करके उत्पादन की उस पद्धति को अपनाये जो अच्छी एवं मितव्ययी हो।

NOTES

(9) लागत पर नियन्त्रण (Cost Control) उत्पादन प्रबन्धक का एक महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व यह है कि वह कम से कम लागत पर अधिकतम उत्पादन सम्बन्धी प्रयास करे इसके लिये उत्पादन लागत को नियन्त्रित किया जाना आवश्यक है। लागत को नियन्त्रित करने के लिये सामग्री के दुरूपयोग, समय एवं श्रम के दुरूपयोग, अनावश्यक व्यय आदि को कम किया जाना आवश्यक है।

(10) मजदूरी प्रेरणायें (Wages Incentives) - मजदूरी प्रेरणायें श्रम लागत की तुलना मे कार्यक्षमता का विकास करती है तथा उत्पादन लागत को न्यूनतम करती है। अतः उचित एवं आवश्यक मजदूरी प्रेरणाओं को उपक्रम में लागू करना उत्पादन प्रबन्धक का महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व है।

(11) भण्डार - रक्षक (Store Keeping)- उत्पादन प्रबन्धक का यह दायित्व सामग्री के भौतिक संग्रहण संचयन, नियंत्रण एवं उसकी सुरक्षा से सम्बन्ध रखता है। इस कार्य का एक मात्र लक्ष्य संग्रहण लागत को न्यूनतम करना होता है।

(12) अभिलेख तथा उत्पादन मापन (Record and Measurement of Production)- उत्पादन प्रबन्धक का एक प्रमुख दायित्व अथवा कार्य यह भी है कि वह दिन प्रतिदिन के कुल उत्पादन की गणना करके उसका उचित अभिलेख रखे जिससे कि कर्मचारियों की उत्पादकता का मापन संभव हो सके। इस प्रकार वह श्रम लागतों को कम करने के लिये प्रभावी उपाय अपना सकता है।

(13) अन्य कार्य - उत्पादन प्रबन्धक उपरोक्त वर्णित कार्यों के अतिरिक्त कुछ अन्य कार्य भी करता है जो कि निम्नलिखित हैं -

(i) संवेष्टन एवं परिवहन व्यवस्था,

(ii) मूल्य विश्लेषण एवं निर्धारण,

(iii) त्रुटियों की पुनरावृत्ति पर रोक,

(iv) सफलता - असफलता का मूल्यांकन,

(v) आधुनिकतम उत्पादन तकनीकों के सम्पर्क में रहना,

(vi) अनुसन्धानकर्त्ताओं से विचार - विमर्श करना आदि।

प्रबन्धशास्त्री एफ. जी. मूरे (F.G.Moore) ने उत्पादन प्रबन्ध के निम्नांकित कार्यों का उल्लेख किया है -

(1) अनुसूचियन के लक्ष्यों की पूर्ति हेतु भावी विक्रय सम्बन्धी पूर्वानुमानों में सहायता प्रदान करना।

(2) नये कार्यक्रम के सम्बन्ध में लागत का अनुमान लगाना ।

(3) उत्पादन के लिये विक्रय विभाग से आदेश प्राप्त करना ।

(4) भावी अनुसूचियों को मानव शक्ति की आवश्यकताओं में बदलना ।

(5) भावी अनुसूचियों को यन्त्रों की आवश्यकताओं में बदलना ।

(6) उत्पादन में आवश्यक निर्मित उत्पादों का निर्धारण ।

(7) उत्पादन के लिये कच्चे माल का अनुमान लगाना ।

(8) गोदामों में कच्चे माल को न्यूनतम आवश्यकता के स्तर पर बनाये रखना ।

(9) उत्पादन प्रक्रिया का निर्धारण करना ।

(10) आवश्यक यन्त्रों व यन्त्रों में संलग्न वस्तुओं का निर्धारण ।

(11) उत्पादन प्रक्रियाओं का क्रम निर्धारित करना ।

(12) उत्पादन आदेश तैयार करना ।

(13) उत्पादन अनुसूचियाँ बनाना।

(14) यह सुनिश्चित करना कि उत्पादन के लिये सभी सुविधायें तैयार है।

(15) विशेष व्यक्तियों एवं यन्त्रों को कार्य सौंपना ।

(16) उत्पादन करने के लिये आदेश निर्गमित करना ।

(17) कच्चे माल को कारखाने में भेजने के आदेश देना ।

(18) सम्पूर्ण सम्पादित कार्यों का प्रतिवेदन प्राप्त करना तथा निष्पादन का मूल्यांकन करना ।

(19) अभिकल्पना में परिवर्तनों को प्रभाव में लाना।

(20) परिमाण और अनुसूची मे परिवर्तनों को प्रभाव में लाना ।

(21) मूल योजना के स्थान पर संशोधित योजना बनाना।

(22) योजनाओं की असफलताओं की पुनरावृत्ति रोकना ।

(23) निर्मित माल के भण्डार पर नियन्त्रण स्थापित करना ।

(24) तैयार किस्मों के भण्डार पर नियन्त्रण रखना।

(25) विक्रय विभाग की सुपुर्दगी की तिथियों से गणित करना ।

(26) कम्पनी के अगले भाण्डागों को नियन्त्रित करना ।

NOTES

उत्पादन प्रबन्ध का क्षेत्र
(Scope of Production Management)

उत्पादन प्रबन्ध का कारखाना प्रबन्ध से घनिष्ठ एवं निकटतम सम्बन्ध है क्योंकि उत्पादन प्रबन्ध का विकास एवं विस्तार मुख्य रूप से कारखाना प्रणाली के परिणामस्वरूप हुआ। कारखानों में जैसे -जैसे उत्पादन सम्बन्धी समस्यायें एवं जटिलतायें बढ़ती गयीं वैसे -वैसे उत्पादन प्रबन्ध का कार्य क्षेत्र बढ़ता गया । उत्पादन प्रबन्ध का कार्य क्षेत्र काफी विस्तृत है। मुख्य रूप से उत्पादन के पाँच घटकों - माल,मशीन,मनुष्य, मुद्रा एवं विधियों का सर्वोत्तम उपयोग करना तथा उच्च कोटि के उत्पाद का निर्माण करना उत्पादन प्रबन्ध के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत सम्मिलित है।

वर्तमान समय में उत्पादन प्रबन्ध का कार्यक्षेत्र काफी विस्तृत हो गया है इसके कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत सामान्यतया अग्रांकित क्रियाओं एवं गतिविधियों को सम्मिलित किया जाता है -

(1) **उत्पादन परिकल्पना** (Desiging the Product)- उपक्रम द्वारा निर्मित किये जाने वाले सम्भावित उत्पादन की रूपरेखा तैयार करना उत्पादन प्रबन्ध के क्षेत्र के अन्तर्गत आता है तथा यह कार्य उपक्रम के तकनीकी विभाग द्वारा सम्पन्न किया जाता है इसके अन्तर्गत उपक्रम के तकनीकी विभाग द्वारा उत्पाद के आकार -प्रकार, रंग -रूप आदि का निर्धारण किया जाता है। उत्पादन का स्तर निर्धारित किया जाता है, उत्पादन सम्बन्धी सूत्र एवं निर्देश तैयार किए जाते हैं तथा ग्राहकों की माँग के अनुसार पूर्वानुमान लगाये जाते हैं।

(2) **उत्पादन प्रशासन** (Production Administration)- उत्पादन प्रशासन से सम्बन्धित क्रियायें, जो कि निम्नलिखित हैं, उत्पादन प्रबन्ध के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत आती हैं -

(i) **उत्पादन इन्जीनियरिंग** (Product Engineering)- इसके अन्तर्गत उत्पादन कार्य की विधि का निर्धारण किया जाता है। विधि अर्थात् उत्पादन पद्धति का निर्धारण करते समय औजार - संयन्त्र कार्य की माप कार्य में लगने वाला प्रमापित समय आदि का निर्धारण भी किया जाता है।

(ii) **उत्पादन नियोजन** (Production Planning)- उत्पादन नियोजन की प्रक्रिया के अन्तर्गत मार्ग का अनुसूचीयन का कार्य सम्पन्न होता है। इसके अन्तर्गत सामग्री तथा स्कन्ध के विभिन्न रिकार्ड तैयार करना, निर्माण के कार्यक्रम सम्बन्धी योजना बनाना, मशीन का भरण प्रगति की समीक्षा आदि सम्मिलित है।

(iii) **उत्पादन नियन्त्रण** (Production Control)- उत्पादन प्रशासन की इस क्रिया के अन्तर्गत योजनाओं का वास्तविक क्रियान्वयन होता है तथा इस बात की जाँच की जाती है कि कार्य निर्धारित रीति-नीति के अनुसार हो रहा है अथवा नहीं ।

(3) **योजना का कार्यान्वयन** (Execution)- इसके अन्तर्गत उत्पादन सम्बन्धी कागजी योजनाओ को वास्तविक रूप प्रदान करने के लिये विभिन्न संगठनों एवं नियंत्रण सूत्र की व्यवस्था की जाती है। किसी भी योजना का क्रियान्वयन करने के लिये योग्यता का एकीकरण, कर्मचारियों का चयन एवं प्रशिक्षण, पारितोषण , प्रेरणा, सहयोग एवं प्रोत्साहन आदि अनेक कार्य सम्पन्न करने होते है।

NOTES

(4) **सहायक सेवायें एवं अन्य विभागों की क्रियायें** (Auxillary Services and Departments) - उत्पादन से सम्बन्धित सहायक कार्य करने के अतिरिक्त अन्य विभाग की कुछ क्रियाये भी उत्पादन प्रबन्ध के कार्य - क्षेत्र के अन्तर्गत आती है तथा ये क्रियायें अपेक्षित रूप से उत्पादन को प्रभावित करती है। अतः उत्पादन प्रबन्धक की देख रेख में सम्पन्न होती है। ये सहायक एवं अन्य विभागीय क्रियायें निम्नलिखित है -

(i) कच्चे माल का क्रय,(ii) संग्रहण एवं भण्डारण, (iii) किस्म नियन्त्रण,(iv) संयन्त्र एवं उपकरणों का रख -रखाव, (v) सामग्री का रख -रखाव, (vi)निरीक्षण एवं स्कन्ध नियन्त्रण (vii) वित्त एवं पूँजी लागत नियन्त्रण, (viii) संयन्त्र विन्यास, (ix) विधि विश्लेषण, (x) कार्य मापन आदि।

उपरोक्त अध्ययन के आधार पर हम कह सकते है कि आधुनिक उत्पादन प्रबन्ध के कार्यक्षेत्र का दायरा काफी विस्तृत है, उत्पादन की कल्पना से लेकर वास्तविक उत्पादन तथा इससे भी बहुत आगे तक के कार्य इसके कार्यक्षेत्र की परिधि में आते है। उत्पादन प्रबन्ध के कार्यक्षेत्र का दायरा निरन्तर बढ़ता ही जा रहा है

उत्पादन प्रबन्ध की समस्यायें

(Problems of Production Management)

उत्पादन प्रबन्ध के कार्यो का प्रभावी निष्पादन करते समय कुछ ऐसी समस्यायें उत्पन्न हो जाती है जिनका सामना उत्पादन प्रबन्धक को करना पड़ता है। इसके समक्ष मुख्य रूप से निम्न दो समस्यायें होती है। - प्रथम, पद्धति परिकल्पना के सम्बन्ध में और द्वितीय, उस पद्धति के परिचालन और नियन्त्रण के सम्बन्ध में। इन दोनों समस्याओं का विस्तृत विवेचन निम्न प्रकार है -

(I) उत्पादन पद्धति की परिकल्पना सम्बन्धी समस्यायें

इसके सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रमुख समस्यायें का सामना करना पड़ता है -

(1) **उत्पादन संयन्त्र के स्थान - निर्धारण की समस्या** - उत्पादन प्रणाली के परिकल्पना की सबसे महत्वपूर्ण और प्रथम समस्या उत्पादन संयन्त्र के स्थान - निर्धारण की है , क्योंकि एक बार संयन्त्र स्थापित किये जाने वाले स्थान का चुनाव होने और उसे उस स्थान पर स्थापित किये जाने पर संयन्त्र को पुनः दूसरे स्थान पर ले जाना काफी कठिन और खर्चीला होता है। यदि स्थान का चुनाव सही न हुआ हो तो इससे कम्पनी की प्रतियोगी - स्थिति निर्बल पड़ सकती है ओर इसका उत्पादन लागत पर भी प्रभाव पड़ सकता है।

(2) **संयन्त्र अभिन्यास की समस्या** - उत्पादन प्रबन्ध की दूसरी महत्वपूर्ण समस्या संयन्त्र अभिन्यास की है। इसके अन्तर्गत उत्पादन प्रबन्धक को ध्यान रखना अति आवश्यक होता है कि विभिन्न संयन्त्र एवं प्रक्रियायें इस प्रकार स्थापित किये जायें कि उत्पादन के मार्ग में कोई कठिनाई उत्पन्न न हो। इसके लिये उत्पादन प्रबन्ध को प्रवाह प्रक्रिया चार्ट, प्रवाह रेखाचित्र, टेम्प्लेट्स, स्केल मॉडल्स आदि युक्तियों का प्रयोग करना चाहिये।

(3) **सामग्री हस्तन की समस्या** - उत्पादन प्रबन्ध की एक यह भी महत्वपूर्ण समस्या है। सामग्री को एक स्थान से उनके लक्ष्य तक पहुँचाना, न्यूनतम लागत में हस्तन की समस्याः यथासम्भव न्यूनतम सामग्री हस्तन की समस्याः समय पर बिना किसी दुर्घटना के सामग्री हस्तन की समस्या आदि कुछ सामग्री हस्तन की समस्यायें हैं जो समुचित समाधान चाहती है।

(4) **उत्पादन अभिकल्पन एवं निर्माण की समस्या** - गत कुछ वर्षो से उत्पादन प्रबन्धक के सामने यह महत्वपूर्ण समस्या उत्पन्न हो गयी है कि उत्पादन का डिजाइन क्या हो? किस डिजाइन का उत्पादन किया जाये? क्योंकि उत्पादन के डिजाइन के परिवर्तन होने पर उसके संयन्त्र और विन्यास में भी परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है जो कि संस्था के लिये काफी जटिल एवं खर्चीला होता है। अतः प्रबन्धक को इस समस्या पर गहन रूप से अध्ययन करने के बाद ही इस सम्बन्ध में निर्णय लेना चाहिये।

(5) **कम्प्यूटरों व स्वचालित उपकरणों के प्रयोग की समस्या** - उत्पादन प्रणालियों के परिकल्पना से जुड़ी हुयी यह भी महत्वपूर्ण समस्या है कि यह निश्चित कर पाना कठिन है कि कम्प्यूटरों व स्वचालित उपकरणों का प्रयोग किया जाये या नहीं? यदि करना है तो किस स्तर के कम्प्यूटरों व स्वचालन उपकरणों का प्रयोग किया जाये? प्रबन्धक को इस सम्बन्ध में समस्या दीर्घकाल तक बनी रहेगी।

[II] परिचालन एवं नियन्त्रण योजना सम्बन्धी समस्यायें

परिचालन एवं नियन्त्रण योजना से सम्बन्धित निर्णय में प्रबन्धक को निम्न समस्याओं का सामना करना पड़ता है -

(1) **सामग्री एवं उत्पादन नियन्त्रण की समस्या** - उत्पादन प्रबन्धक के सामने, वस्तु के उत्पादन हेतु कच्ची सामग्री व उत्पादन किस मात्रा में तथा कब किया जाये यह महत्वपूर्ण समस्या है। तैयार वस्तुओं के नियन्त्रण की समस्या भी काफी जटिल है। इसके लिये मितव्ययी आदेश मात्रा, पुन: आदेश बिन्दु सामग्री नियन्त्रण कीABC तकनीक तथा उत्पादन के प्रवाह को नियन्त्रित किया जाना आवश्यक है

(2) **किस्म नियन्त्रण की समस्या** - उत्पादन प्रबन्ध की यह भी समस्या है कि उत्पादन की किस्म को पूर्व निर्धारित प्रमापों के अन्तर्गत नियंत्रित किया जाये। इस समस्या के समाधान हेतु उत्पादन निरीक्षण, सांख्यिकीय किस्म नियन्त्रण आदि की विभिन्न तकनीकें आदि प्रयोग की जा सकती है।

(3) **श्रम नियन्त्रण की समस्या** - वर्तमान युग में श्रम शक्ति संगठित है तथा उसी मानव शक्ति को यन्त्रवत् प्रयोग में नहीं लिया जा सकता। श्रम घटक की पूरी क्षमता का उपयोग करना आवश्यक बहुत है किन्तु आसान नहीं। श्रम घटक पर नियन्त्रण स्थापित करने की कठिन समस्या का सामना उत्पादन प्रबन्धक को हमेशा करना पड़ता है।

(4) **कार्यविधि निर्धारण की समस्या** - उत्पादन एवं उससे सम्बद्ध क्रियाओं के सम्पादन की श्रेष्ठ विधि क्या हो, का निर्धारण भी उत्पादन प्रबन्ध क्षेत्र की एक अन्य जटिल समस्या है। श्रेष्ठ कार्यविधियों के अभाव में न तो कार्य समय पर समाप्त हो पाता है और न ही निर्धारित मानदण्डों के अनुसार होता है। इसके फलस्वरूप संस्था की कार्यकुशलता एवं लाभ प्रभावित होते है।

(5) **लागत नियन्त्रण एवं सुधार की समस्या** - उत्पादन पर्यवेक्षकों को प्राय: ऐसे निर्णय लेने होते है जो श्रम सामग्री तथा कुछ ऊपरी लागतों में सन्तुलन स्थापित करने में सहायक हो। लागत पर नियन्त्रण स्थापित करना तथा उसमें निरन्तर सुधार की आवश्यकता महसूस की जाती है तथा उत्पादन प्रबन्धक इस समस्या से जूझता है।

इस प्रकार उत्पादन प्रबन्धक को उपर्युक्त वर्णित समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इन समस्याओ का सापेक्षिक महत्व भी है, क्योंकि इन समस्याओं के निराकरण के क्रम में सदैव उत्पाद की गुण स्थिति में सुधार तथा लागतों में कमी आती है।

उत्पादन प्रबन्ध की प्रकृति
(Nature of Production Management)

'उत्पादन प्रबन्ध' की प्रकृति को उसकी निम्न विशेषताओं के सन्दर्भ में समझा जा सकता है -

(1) 'उत्पादन प्रबन्ध' सामान्य प्रबन्ध की एक अभिन्न शाखा है जो उत्पादन क्रियाओं के बारे में निर्णय लेती हैं तथा उनको क्रियान्वित करती है।

(2) 'उत्पादन प्रबन्ध' एक अन्तर्विषयक दृष्टिकोण है। अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, गणितशास्त्र, इंजीनियरिंग, मनोविज्ञान, औद्योगिक एवं अन्य व्यवहारवादी विज्ञानों की ज्ञान सामग्री में उत्पादन प्रबन्ध को वर्तमान स्वरूप उपलब्ध किया है। इन विज्ञानों की नित - नूतन उपलब्धियाँ उत्पादन प्रबन्ध को परिवर्तित और समुन्नत कर रही हैं।

(3) 'उत्पादन प्रबन्ध' विपणन, वित्त एवं कर्मचारी प्रबन्ध से घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है। इस दृष्टि से 'उत्पादन प्रबन्ध' व्यवसाय एवं उद्योग की अन्य क्रियाओं से पूर्णत: अन्तर्संबंधित है। वस्तुत: यह नहीं कहा जा सकता कि उत्पादन प्रबन्ध इस बिन्दु से प्रारम्भ होकर उस बिन्दु पर समाप्त होता है।

(4) 'उत्पादन प्रबन्ध' का क्षेत्र काफी व्यापक है। इसमें रूपान्तरण प्रक्रियाओं का प्रबन्ध ही सम्मिलित नहीं, अपितु सेवा संगठनों द्वारा उपलब्ध की जाने वाली सेवाओं का प्रबन्ध तथा प्रबन्ध भी सम्मिलित है। उदाहरण के लिए, पूर्णत: शोध एवं विकास क्रियाओ का प्रबन्ध तथा इंजीनियरिंग फर्म की डिजायनिंग क्रियाओ का प्रबन्ध 'उत्पादन प्रबन्ध' मे सम्मिलित है।

(5) 'उत्पादन प्रबन्ध' कला एवं विज्ञान दोनों है। 'कला' करना सिखाती है और 'विज्ञान' जानना सिखाता है। 'विज्ञान' क्यों का कारण स्पष्ट करता है और 'कला' अभ्यास पक्ष को प्रस्तुत करती है। उदाहरण के लिए, किसी मशीन शॉप में फोरमैन द्वारा प्राप्त कार्य आदेशों को पूरा करने हेतु मशीनमैनों को कार्य आवंटन करना और उनकी क्रियाओं में समन्वय रखना उत्पादन प्रबन्ध का कलात्मक पहलू है। किन्तु मशीनमैनो का चयन, मशीनो की क्षमता दशा आदेशों के प्राप्त होने का क्रम, आदेशों की पूर्ति के साथ जुड़ी लाभदेयता आदि बातों को ध्यान में रखकर करना होता है। यह उत्पादन -प्रबन्ध का वैज्ञानिक पहलू है। विज्ञान के रूप में उत्पादन प्रबन्ध ने कई

NOTES

सिद्धान्तों विधियों, तकनीकों एवं प्रणालियों का विकास किया है और के रूप में उनका व्यावहारिक उपयोग कर रहा है।

(6) 'उत्पादन प्रबन्ध' एक विशेषज्ञ प्रकार है। जटिल उत्पादन प्रक्रियाओं ने तथा प्रमापीकरण, सरलीकरण, उत्पाद- विशाखन, स्वचालन एवं विशिष्टीकरण जैसी तकनीकों के विकास ने उत्पादन प्रबन्ध को गहन अध्ययन का विषय तथा व्यवहार में विशेषज्ञों का क्रिया क्षेत्र बना दिया है।

उत्पादन विभाग का अन्य विभागों से सम्बन्ध

(1) **उत्पादन विभाग एवं विपणन विभाग** - विपणन विभाग उत्पादन विभाग को विक्रय पूर्वानुमान लगाकर उत्पादों की माँग के बारे मे सूचना देता है ताकि समुचित उत्पादन नियोजन एवं नियन्त्रण किया जा सके और पूर्ति पक्ष कमजोर न रह सके। विपणन विभाग ग्राहक सूचियों, किस्म अपेक्षाओं, नये उत्पादों, नयी प्रक्रियाओं एवं ग्राहक शिकायतों के बारे में भी उत्पादन विभाग को सूचित करता है, ताकि उत्पादन विभाग अनुकूल कार्यवाही करता रह सके और फर्म की प्रतिष्ठा खराब न हो। इसी प्रकार उत्पादन विभाग समय पर सही किस्म की वस्तुयें उत्पादित कर विपणन विभाग को विक्रयण में अपूर्व सहयोग कर सकता है। स्पष्ट है कि दोनों विभागों की माँग एवं पूर्ति में साम्य स्थापित करने की दृष्टि से परस्पर संबंधित होना परमावश्यक है।

(2) **उत्पादन विभाग एवं वित्त विभाग** - वित्त विभाग संस्था के अन्य विभागों को आवश्यक पूँजी उपलब्ध कराता है ताकि वे अपने दायित्वों को निभा सकें। वित्त विभाग संपूर्ण संस्था का वित्त बजट तैयार करता है। उत्पादन विभाग को भी आवश्यक धन 'उत्पादन बजट' के आधार पर मिलता है। इस प्रकार, नवीन संयन्त्र स्थापना, मशीन एवं उपकरण सुधार नवीन उत्पादन डिजाइन परीक्षण आदि कार्यो के लिये भी वित्त विभाग के साथ विचार - विमर्श करना होता है। वित्त विभाग भी हानि - लाभ खाते, बैलेन्स शीट एवं अन्य कई प्रकार के स्टेटमेंट तैयार करता है ताकि संस्था की वित्तीय स्थिति को जाना जा सके। इन विवरणों को तैयार करने में उत्पादन विभाग में बहुमुल्य जानकारी उपलब्ध करता है। उत्पादन लागतों, स्टॉक - स्थिति, दुरूपयोग -दर आदि से सम्बन्धित सूचनायें वित्त एवं लेखा - विभाग को उत्पादन विभाग से ही प्राप्त होती है।

(3) **उत्पादन विभाग एवं क्रय विभाग** - 'उत्पादन' एवं 'क्रय' विभागों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है। क्रय विभाग आवश्यक कच्चे माल की खरीद करता है तथा मशीनें, उपकरण, आपूर्तियाँ, सेवायें व सुविधायें जुटाता है। यदि क्रय विभाग सही समय पर सही वस्तुओं, सामग्रियों तथा उपकरणों की खरीद करके न दे तो उत्पादन विभाग का कार्य रूक जाता है। किन्तु, उत्पादन विभाग को चाहिये कि वह जिन सामग्रियों, मशीनों, उपकरणों, या आपूर्तियों को जरूरत अनुभव करे, उनके बारे में काफी पहले से ही क्रय विभाग को सूचित कर दें ताकि क्रय विभाग शिकायत के साथ समय पर उनको उपलब्ध करा सके। इन दोनों विभागों के बीच प्रभावपूर्ण समन्वय रहने पर इन्वेन्ट्री नियंत्रण की समस्या काफी दूरी तक हल की जा सकती है।

(4) **उत्पादन विभाग एवं कार्मिक विभाग** - कार्मिक विभाग उत्पादन क्रियाओं को सम्पन्न करने हेतु वांछित मात्रा में योग्य कर्मचारियों व अधिकारियों की भर्ती, चयन, प्रशिक्षण, पदोन्नति, पारिश्रमिक भुगतान, सुरक्षा एवं श्रम कल्याण सम्बन्धी कार्यो की सम्पन्न करता है। उत्पादन कर्मचारियों के साथ मधुर सम्बन्ध बनाये रखकर निर्बाध उत्पादन में भी कार्मिक विभाग सहयोग करता है। किन्तु कार्मिक विभाग अपना कार्य भली प्रकार से तभी सम्पन्न कर सकता है जबकि उत्पादन विभाग यह बतला दे कि कैसे कर्मचारी चाहियें, कब चाहियें और कितने कर्मचारी चाहियें? इसी प्रकार उत्पादन विभाग की सफलता से कार्मिक विभाग कर्मचारियों की योग्यता का अंकन कर सकता है। प्रशिक्षण आवश्यकताओं एवं व्यवस्थाओं के बारे में भी सहभागी निर्णय दोनों विभाग मिल कर लेते हैं। सुरक्षा योजनाओं, कल्याण कार्यक्रमों तथा प्रेरणा योजनाओं का क्रियान्वयन भी इन विभागों के बीच पास्परिक सहयोग एवं सद्भाव की अपेक्षा रखता है।

उत्पादन प्रबन्ध का महत्व

(Importance of Production Management)

उत्पादन उद्योग एवं व्यवसाय की आधारशिला है। सरल शब्दों में, उत्पादन वह धुरी है जिसके चारों और अन्य सभी क्रियायें चक्कर काटती रहती हैं। आर्थिक क्रियाओं के क्षेत्र के अन्तर्गत उपयोग, उत्पादन विनिमय, वितरण तथा राजस्व आदि को सम्मिलित किया जाता है, लेकिन इन सब में से उत्पादन ही एक ऐसी क्रिया है जो अन्य सभी क्रियाओं को गति प्रदान करती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'उत्पादन' की सफलता एवं असफलता पर उपक्रम की सफलता एवं असफलता निर्भर करती है, अतः उत्पादन का प्रबन्ध काफी सतर्कता एवं सावधानी के साथ किया जाना चाहिये।

आज का युग प्रतिस्पर्धा का युग है आज किसी भी वस्तु के निर्माण से पूर्व बाजार की वस्तु स्थिति का ज्ञान होना आवश्यक है। अतः उत्पादन प्रबन्ध के महत्व की चर्चा करना असंगत नहीं अपितु अति आवश्यक है। एक उपक्रम में उत्पादन प्रबन्ध का वही स्थान होता है जो मानव शरीर में हृदय का । उत्पादन का कार्य वह मूल कार्य है जिस पर उपक्रम की अन्य सभी क्रियाऐं निर्भर करती हैं। उत्पादन सभी क्रियाओं का केन्द्र बिन्दु है उत्पादन प्रबन्ध का वह महत्वपूर्ण क्रियात्मक क्षेत्र है जो विपणन - कार्य, वित्त-कार्य तथा कर्मचारी प्रबन्ध आदि सभी से अभिन्न रूप से अन्तर - सम्बन्धित है। उत्पादन प्रबन्ध का मुख्य उद्देश्य न्यूनतम लागत पर अच्छे गुण स्तर का अधिकतम उत्पादन करना तथा उसे समय पर उपभोक्ताओं को उपलब्ध कराना है। उत्पादन प्रबन्ध के लाभों को निम्न क्रम में प्रस्तुत किया जा सकता है -

(1) उपभोक्ता को सेवा एवं उत्पादन प्रबन्ध,

(2) सामग्री का निर्बाध प्रवाह एवं उत्पादन प्रबन्ध,

(3) अनुकूलतम सामग्री स्तर बनाये रखने में,

(4) उत्पादकता में वृद्धि,

(5) उत्पादन एवं रोजगार में स्थिरता,

(6) न्यूनतम लागत एवं अधिकतम उत्पादन।

अब इन महत्वपूर्ण बिन्दुओं का विस्तृत अध्ययन करेंगे -

(1) **उपभोक्ता की सेवा एवं उत्पादन प्रबन्ध** - जब तक उपभोक्ता को अच्छी सेवा नहीं मिल पाती जब तक किसी संस्था को स्थायी लाभ प्राप्त करने की स्थिति में नहीं माना जा सकता। अधिकतम लाभ कमाने की आकांक्षा रखने वाली संस्थाओं को उपभोक्ता का मन जीतना होता है। जब उत्पादन ही उपभोक्ता की पसन्द के अनुसार किया जाता है तो उपभोक्ता को मनपसन्द वस्तु की यथासमय प्राप्ति होगी। आज उत्पादन प्रबन्ध अपनी योजनाओं का निर्माण करते समय बाजार का अध्ययन करता है। ग्राहक की इच्छा एवं क्रयशक्ति को मद्दे - नजर रखते हुये ही उत्पादन किया जाता है। ऐसी स्थिति में ग्राहक को मनपसन्द वस्तु तथा संस्था को उत्पादन का समुचित लाभ मिलता है।

(2) **सामग्री का निर्बाध प्रवाह एवं उत्पादन प्रबन्ध** - उत्पादन प्रबन्ध आवश्यक कच्चे माल का भी प्रवाह बनाये रखता है। निश्चित समय सारणी के अनुरूप उत्पादन करने के लिये सामग्री का निर्बाध गति से प्रवाह अत्यन्त आवश्यक है। आज उत्पादन प्रबन्ध सामग्री एवं उत्पादन क्रम का निर्धारण कर न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन करने का प्रयत्न करता है। यदि नियोजित ढाँचे की उपेक्षा होती है तो उत्पादन लागतों में वृद्धि होगी। उत्पादन प्रबन्ध व्यवस्था में लागतों को न्यूनतम बनाये रखने का प्रयास किया जाता है।

(3) **अनुकूलतम सामग्री स्तर बनाये रखने में उत्पादन प्रबन्ध सहायक** - उत्पादन प्रबन्ध कच्चे माल का भण्डार अनुकूलतम स्तर पर करने का प्रयत्न करता है। इससे उत्पादन चक्र भी नियमित रूप से चलता है तथा अनावश्यक पूँजी भी विनियोजित नहीं करनी पड़ती। यह स्थिति उत्पादन लागत को न्यूनतम करने में सहायक होती है।

(4) **उत्पादकता में वृद्धि** - उत्पादन प्रबन्ध का ध्येय न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन करना है, अतः यहाँ पर इस प्रकार की विधि प्रयोग में लायी जाती है जिससे उत्पादन के सभी साधनों यथा मनुष्य,माल, मुद्रा तथा मशीनों का पूरा - पूरा उपयोग हो सके। उत्पादन का चक्र निर्बाध गति से चलता रहे तथा सांगठनिक संरचना में अन्तर - सम्बन्ध अच्छे हों जिससे सभी विभागों के मध्य समन्वय स्थापित हो सके। यह सभी स्थितियाँ उत्पादकता वृद्धि में सहायक होती हैं।

(5) **उत्पादन एवं रोजगार में स्थिरता** - उत्पादन प्रबन्ध जो भी योजना बनाता है, वह एक निर्धारित समयावधि के लिये होती है। इस अवधि की माँग का आंकलन किया जाता है तथा सम्भावित उच्चावचनो को भी ध्यान में रखा जाता है। इस प्रकार उत्पादन की गति एवं रोजगार पर इस घटना चक्रों तथा उच्चावचनों का प्रभाव नहीं हो पाता।

(6) **न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन** - उत्पादन प्रबन्ध का प्राथमिक लक्ष्य है न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन करना । अच्छी योजनाओं, सामग्री नियन्त्रण तथा अनुसूचियन के अध्ययन से उत्पादन प्रबन्धक यह प्रयत्न करता है कि सभी साधनों का पूरा प्रयोग हो जिससे निर्धारित समय में अच्छे गुण स्तर की अधिकतम सामग्री का निर्माण हो सके।

उपर्युक्त विभिन्न शीर्षकों के माध्यम से यह दर्शाने का प्रयत्न किया गया है कि आधुनिक व्यवसाय जगत में उत्पादन प्रबन्ध का अत्यधिक महत्व है। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आज प्रतिस्पर्धी परिस्थितियों में उत्पादन प्रबन्ध का विशिष्ट स्थान है। इस क्रिया के माध्यम से ही बाजार पर अधिकार करने हेतु अच्छी किस्म का तथा उपभोक्ता की आवश्यकता के अनुरूप उत्पाद बाजार में प्रस्तुत किया जाता है।

NOTES

उत्पादन के प्रकार
(Types of Production)

वास्तव में, उत्पादन एक बहुत विस्तृत शब्द है केवल औद्योगिक शब्द के प्रयोग से उसका क्षेत्र अधिक विस्तृत नहीं किया जा सकता है। इसके अन्तर्गत न केवल औद्योगिक उत्पादन ही आता है, बल्कि औद्योगीकरण से सम्बन्धित सभी उत्पादन आते हैं। सभी प्रकार के उत्पादनों को पाँच प्रमुख वर्गों में विभक्त किया जा सकता है-

(1) खान और खदान (Mines and Quarries);

(2) कृषि और मत्स्यपालन (Agriculture and Fisheries);

(3) भवन तथा नागरिक इंजीनियरी (Building Civil Engineering);

(4) यातायात, गोदी और जन उपयोगिता (Transport, Dock and Public Utilities),

(5) निर्माणी (Manufacturing)।

उपर्युक्त में से प्रत्येक समूह में, विस्तृत रूप से तीन प्रकार के उत्पादन होते हैं। दूसरे शब्दों में, उत्पादन तीन मानों पर किया जाता है -

(i) जॉब या ठेके पर (Job)- यह सामान्यतः छोटे पैमाने पर होता है;

(ii) समूह में (Batch)- यह सामान्यतः मध्यम पैमाने पर होता है; तथा

(iii) प्रवाह या बड़े परिमाण में (Flow or Mass)

(i) **जॉब या ठेके पर उत्पादन** (Job Production)- ठेके पर उत्पादन का सम्बन्ध किसी एक ही ग्राहक की व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये एक ही प्रकार के उत्पादों (Single Products; 'One Off) से है। प्रत्येक जॉब या आदेश अकेला होता है और उसके पुनरावृत्ति की सम्भावना नहीं होती है। कोई भी दो कार्य बिल्कुल एक ही समान नहीं होते और एक ही उत्पादन पर दीर्घकालीन माँग असामान्य होती है। क्योंकि ये छोटे उत्पादन होते है, और स्वामी ही कम्पनियों के अधिकाश या सभी अधिशासी कार्यों (Executive Works) का सम्पादन करता है, अतः प्रायः यह माना जाता है कि छोटी कम्पनियाँ वैज्ञानिक प्रबन्ध के आधुनिक विकासों का प्रयोग नहीं कर सकती हैं, अथवा उन्हें इन सभी प्रकार की पद्धतियों की आवश्यकता नहीं होती है। लेकिन, वास्तविकता यह है कि इन छोटी कम्पनियों में ही उत्पादन प्रबन्ध के सुदृढ़ सिद्धान्तों और उत्पादन प्रशासन की सरल पद्धतियों का प्रयोग करके उनकी प्रभावशीलता में सुधार किया जा सकता है।

(ii) **समूह उत्पादन** (Batch Production)- जहाँ एक ही समय में किसी विशिष्ट वस्तु या उसके भाग का एक निश्चित मात्रा में उत्पादन किया जाता है, लेकिन ऐसा उत्पादन निरन्तर रूप से नहीं किया जाता वहाँ समूह उत्पादन पद्धति का प्रयोग किया जाता है। यह पद्धति वहाँ लागू होती है जहाँ भण्डार बनाने के लिये विभिन्न प्रकार के उत्पादन किये जाते हैं, और जहाँ आदेश विविध प्रकार के, लेकिन पर्याप्त बड़ी मात्रा में होते हैं। लेकिन समूह उत्पादन का शायद सबसे सामान्य कारण यह है कि इनमें विभिन्न उत्पादों और प्रतिरूपों (Models) में प्रमापित संघटकों का प्रयोग किया जाता है। इससे जटिलताये और उत्पादन प्रशासन को कठिन समस्याये उत्पादन होती है। समूह उत्पादन में सामान्य प्रयोग की साज - सज्जा, मशीन और औजार संगठन में लोचशीलता, तथा अग्रव्यक्ति (Foreman) और अधिशासी स्तर पर उच्च स्तर की योग्यता की आवश्यकता होती है। यद्यपि सभी परिचालकों की योग्यता ठेके पर उत्पादन करने वाली फैक्टरियों के परिचालकों (Operators) की योग्यता के अनुसार - उच्च न हो, तथा औजार उतने जटिल नहीं हों, जितने वृहद् उत्पादन पर होते हैं, तथापि एक कार्य को करने के लिये बहुत प्रभावशाली नीति निश्चित करने और संयन्त्र तथा कार्य निर्धारित करने के लिये उच्च स्तर की योग्यता आवश्यक होती है। सभी उद्योगों में इस प्रकार के उत्पादन में नियन्त्रण करना बहुत कठिन होता है, और घटिया रूप से अभिकल्पित (Designed) और विस्तृत पद्धतियाँ और कागजी कार्यवाही सरलता से उत्पादन चक्र (Production Cycle) में बाधा उत्पन्न कर सकती है तथा उत्पादन में कमी कर सकती है।

(iii) **प्रवाह या विशाल उत्पादन** (Flow or Mass Production)- प्रवाह या विशाल उत्पादन सामान्यतया विशाल स्तर की इकाइयों तक सीमित है। यद्यपि इसमें निरन्तर या प्रवाह परिचालन (Continuous of Flow Operations) का प्रयोग होता है; लेकिन ऐसा बहुधा तथा लाभदायक रूप से समूह उत्पादन वाली फैक्टरियों में कुछ विशेष उत्पादों या प्रक्रियाओं के लिये ही होता है। इस प्रकार के उत्पादन मे एक ही प्रकार के उत्पादों या हिस्सों (Parts) का निरन्तर उत्पादन होता है तथा जिसमें परिचालनो (Operations) का यथार्थ रूप से एक ही क्रम होता है और सभी संसाधन इकाइयों (Processing Units)- मशीन, संयन्त्र अथवा कार्यवाही - को सदैव एक ही प्रकार की प्रक्रिया करने के लिये प्रयोग मे लाया जाता है। वृहद् उत्पादन ऐसी मशीनों के विकास पर निर्भर है जो एक ही प्रयोजन की (Single Purpose Type of Machines) हैं। ऐसा बहुधा केवल एक ही उत्पाद, और एक अथवा सम्भवतः दो या तीन प्रतिरूपों (Models) या श्रेणी की वस्तुओं का उत्पादन होता है तथा उत्पादन की गति अधिक होती है। अपनी सबसे विकसित अवस्था में विशाल उत्पादन प्रक्रिया उद्योगों, जैसे आटा पीसना और ऐसे कारखानों में क्रियाशील होता है जो प्रमाणिक वस्तुओं का उत्पादन करते है, जैसे घरेलू रेफ्रिजरेटर, निर्वात क्लीनर (Vaccum Cleaners) आदि। वृहद् स्तर का उत्पादन करने वाली फैक्टरियाँ प्रायः बड़ी होती है और जहाँ हजारों व्यक्तियों को नियुक्तियाँ की जाती है। इस प्रकार की फैक्टरियों में प्रबन्ध की कई समस्यायें उत्पन्न होने के कुछ कारण निम्नलिखित है - इकाई के बड़े आकार के कारण शीर्ष प्रबन्ध (Top Management) और प्रचालन के मध्य सम्पर्क की कमी, योग्यता के आधार पर कार्य नहीं देने के कारण उनमें उत्पन्न असंतोष, आदि।

उद्योगों में लागू होने वाले उत्पादन के प्रकार

उद्योग	जॉब (Job)	उत्पादक के प्रकार समूह (Batch)	प्रवाह (Flow)
(1) खानें और खदानें (Mines and Quarries)	वास्तुकला (Architecture) के लिए विशेष कार्य पर खदानें (Quarries)।	सामान्य खानें (Normal Mines)	तेल के कुयें (Oil Wells)
(2) कृषि और मत्स्य पालन (Agriculture & Fisheries)	सामान्य मिश्रित खेती।	विशेष भण्डार और मुर्गीपालन ।	हेल का शिकार, हिलसा (Herring), नमक लगाकर सुखाई गई मछली (Kippering) और सामान के डिब्बे में भरना (Salmon Canning)।
(3) भवन तथा नागरिक इंजीनियरी (Building and Civil Engineering)	पुल तथा व्यक्तिगत भवन।	गृह सम्पदा (Housing) (Estates), सार्वजनिक कार्यो का रख - रखाव Maintenance)	आधुनिक सड़कों को सुधारना।
(4) निर्माण Manufac-turing)	विशेष कार्यो की मशीन आदि, आदि प्रारूप Prototype कार्य।	सभी निर्माणी वस्तुयें, और अधिकाँश इंजीनियरी तथा उपभोग उद्योग Consumer Industries)	कार, निर्वात स्वच्छता Vaccum Cleaners), टेलीफोन, बिजली के लट्टू, चीनी बनाने के कारखाने, आटा पीसने के उद्योग।
(5) यातायात Transport)	सामान-असबाब हटाना, विशेष वायुयान Chartered Plane)	सभी प्रकार के यातायात।	सार्वजनिक यातायात और विशेष उद्योग, जैसे दूध।

उत्पादन प्रणालियों के प्रकार
(Types of Production System)

औद्योगीकरण की तेज रफ्तार के साथ-साथ देश में अनेक उत्पादन प्रणालियाँ विकसित हुयी हैं। प्राचीन समय में उत्पादन एवं उपभोग में प्रत्यक्ष सम्बन्ध होने की वजह से उत्पादन पद्धतियाँ सरल एवं आसान थी लेकिन

NOTES

समय व्यतीत होने के साथ-साथ जैसे -जैसे उत्पादन एवं उपभोग के मध्य दूरी बढ़ती जा रही है, वैसे - वैसे उत्पादन पद्धतियाँ घुमावदार एवं जटिल होती जा रही हैं। वर्तमान समय में देश में अनेक उत्पादन प्रणलियाँ प्रचलन में हैं, जिन्हें अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से निम्न दो भागों में बाँटा जा सकता है -

(I) स-विराम उत्पादन पद्धति (Intermittent Production System)

जैसे कि इनके नाम से ही स्पष्ट है- उत्पादन की इस पद्धति के अन्तर्गत उत्पादन कार्य रुक-रुक कर होता है। इस पद्धति में कोई एक उत्पादन अधिक समय तक उत्पादित नहीं होता है, थोड़े-थोड़े अन्तराल के पश्चात उत्पादन बदल जाता है। स-विराम उत्पादन पद्धति के निम्न उपभेद किये जा सकते हैं -

(1) **ठेके पर उत्पादन** (Job Order Production)-इस उत्पादन पद्धति के अन्तर्गत ग्राहक के आदेशानुसार वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है तथा आदेश की पूर्ति होते ही उत्पादन कार्य समाप्त हो जाता है तथा एक ग्राहक की आवश्यकता की पूर्ति होने के पश्चात् दूसरे ग्राहक के आदेशानुसार उसकी आवश्यकता की वस्तु का उत्पादन किया जाता है। ग्राहक बदलने के साथ-साथ उत्पाद, उत्पादन प्रक्रिया आदि में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो जाता है। वायुयान, जहाजों, बायलर्स, भारी पूँजीगत वस्तुओं, विशिष्ट उद्देश्यों वाली मशीनों आदि का निर्माण ठेका पद्धति के द्वारा होता है।

(2) **समूह उत्पादन** (Batch Production)- इस उत्पादन पद्धति के अन्तर्गत एक ही प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन 'समूह' में किया जाता है। जिसका उद्देश्य किसी विशेष ग्राहक की आवश्यकता की पूर्ति करने, के साथ-साथ संभावित भावी माँग की पूर्ति करने हेतु स्टॉक करना भी हो सकता है। मुख्य रूप से रसायन, दवाइयाँ आदि का निर्माण समूह उत्पादन पद्धति के अनुसार होता है।

ठेके पर उत्पादन एवं समूह उत्पादन पद्धति की समीक्षा

ठेके पर उत्पादन एवं समूह उत्पादन पद्धति बहुत कुछ मिलती-जुलती है, अन्तर सिर्फ यह है कि ठेके उत्पादन के अन्तर्गत जब ठेका बदलता है तो उत्पाद भी बदल जाता है लेकिन समूह उत्पादन में एक समूह का उत्पादन कार्य समाप्त होने के पश्चात् जब दूसरे समूह का उत्पादन कार्य आरम्भ होता है तो उत्पादन वही रहता है, उत्पादन नहीं बदलता है।

(II) अ-विराम उत्पादन पद्धति (Continuous Production System)

जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है -उत्पादन की इस पद्धति के अन्तर्गत उत्पादन कार्य बिना किसी विराम के निरन्तर चलता रहता है। इस पद्धति में एक ही वस्तु का नियमित रूप से उत्पादन होता रहता है तथा उत्पादन किसी ग्राहक विशेष के लिये नहीं वरन् सामान्य उपभोक्ता वर्ग के लिये होता है। इस उत्पादन प्रणाली में निर्माण प्रक्रिया निरन्तर जारी रहती तथा उत्पाद विधियाँ परस्पर एक-दूसरे से सम्बन्धित रहती है जिन पर आसानी से नियन्त्रण स्थापित किया जा सकता है। अ-विराम पद्धति में प्रमाणित वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है। मुख्य रूप से पैट्रोल रिफाइनरीज,कागज एवं गत्ता, संयन्त्र आटोमोबाइल्स, घरेलू उपकरण आदि बनाने वाले संयन्त्र अ-विराम सतत् उत्पादन प्रणालियों को अपनाते है।

'अ-विराम उत्पादन' दो प्रकार का हो सकता है-

(1) **वृहत् परिमाण उत्पादन पद्धति** (Mass Production)- इस उत्पादन पद्धति में एक ही वस्तु का बहुत बड़े पैमाने पर उत्पादन किया जाता है तथा उत्पादन कार्य निरन्तर होता है। इस उत्पादन पद्धति में एक ही साज-सज्जा से बिना अधिक उलट-फेर किये विभिन्न वस्तुयें उत्पादित की जा सकती हैं। इस पद्धति में उत्पादन कार्य युद्ध स्तर पर चलता रहता है।

(2) **प्रवाह उत्पादन पद्धति** (Flow Production)- इस उत्पादन पद्धति में एक ही प्रवाह में एक जैसी वस्तुओं का उत्पादन एक ही साज-सज्जा एवं संयन्त्रों से निरन्तर होता रहता है लेकिन उत्पादन का प्रवाह बदलने पर संयन्त्र एवं साज-सज्जा में परिवर्तन करना बहुत जरूरी है।

'स' विराम एवं 'अ' विराम उत्पादन प्रणालियों का समीक्षात्मक अध्ययन एवं अन्तर

औद्योगिक जगत में प्रचलित विभिन्न उत्पादन पद्धतियों को मुख्य रूप से दो भागों में बाँटा जा सकता है-'स' विराम उत्पादन पद्धति तथा 'अ' विराम उत्पादन पद्धति। उत्पादों की प्रकृति के स्वरूप के अनुसार इन दोनों पद्धतियों को आवश्यकतानुसार उपयोग में लाया जाता है। इन दोनों उत्पादन पद्धतियों में मौलिक अन्तर

यह कि 'स' विराम उत्पादन प्रणाली में उत्पादन कार्य अन्तराल व मध्यान्तरों के साथ- रुक-रुक कर होता है, जबकि 'अ' विराम उत्पादन प्रणाली में उत्पादन कार्य निरन्तर बिना रुके होता रहता है, इस मौलिक अन्तर के अलावा भी इन दोनों पद्धतियों में बहुत से अन्तर हैं, जिनमें से कुछ प्रमुख का वर्णन नीचे दिया गया है-

(1) **उत्पाद का स्वरूप** - 'स' विराम उत्पादन में विभिन्न प्रकार के उत्पाद उत्पादित होते रहते है जबकि अ विराम उत्पादन में कुछ निश्चित प्रकार के उत्पाद ही उत्पादित होते है।

NOTES

(2) **उत्पादन की मात्रा** -'स' विराम उत्पादन में उत्पादन की मात्रा कम रहती है जबकि अ विराम उत्पादन में उत्पादन अधिक मात्रा में होता है।

(3) **उत्पादन उद्देश्य**- 'स' विराम उत्पादन का उद्देश्य विशिष्ट ग्राहक की आवश्यकता की पूर्ति करना होता है जबकि 'अ' विराम उत्पादन का उद्देश्य स्टॉक करना होता है

(4) **उत्पाद नियन्त्रण**- 'स' विराम उत्पादन में उत्पादों की विभिन्नता की वजह से उत्पाद नियन्त्रण कुछ कठिन है जबकि 'अ' विराम उत्पादन में उत्पाद नियन्त्रण अपेक्षाकृत आसान है।

(5) **प्रति इकाई लागत**- 'स' विराम उत्पादन में भिन्न- भिन्न प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन होने के कारण प्रति इकाई लागत अधिक रहती है, जबकि अ विराम उत्पादन में एक समान वस्तुओं का उत्पादन होने के कारण प्रति इकाई लागत कम रहती है।

(6) **उत्पादन समय**-'अ' विराम उत्पादन पद्धति में उत्पादन में समय अधिक लगता है जबकि अ विराम उत्पादन में समय कम लगता है।

(7) **विनियोजन राशि**- 'स' विराम उत्पादन पद्धति में विनियोजित राशि अपेक्षाकृत कम रहती है जबकि 'अ' विराम उत्पादन पद्धति में बड़े पैमाने पर उत्पादन होने की वजह से विनियोजित राशि अधिक रहती है।

प्रश्न
(Questions)

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न:

1. उत्पादन प्रबन्ध से आप क्या समझते हैं ?
2. उत्पादन प्रबन्ध के क्षेत्र की क्रियाएँ बताइये ।
3. उत्पादन कार्य से आप क्या समझते हैं?
4. उत्पादन प्रकिया से आप क्या समझते हैं?

लघुत्तरात्मक प्रश्न :

1. उत्पादन प्रबन्ध की प्रकृति को समझाये।
2. उत्पादन प्रबन्ध क्या है? इकाई उत्पादन प्रणाली को समझाइये।
3. निरन्तर उत्पादन प्रणाली तथा समूह (बैच) उत्पादन प्रणाली को समझाइये।
4. अविराम एवं सविराम उत्पादन प्रणाली में अन्तर बताइये।

अपनी प्रगति की जाँच क
Test your Progress

निबन्धात्मक प्रश्न:

1. 'उत्पादन प्रबन्ध की परिभाषा दीजिये। उत्पादन प्रबन्ध के कार्यों को स्पष्ट रूप से समझाइये।
2. उत्पादन से आप क्या समझते है? विभिन्न उत्पादन प्रणालियों को समझाइये।
3. उत्पादन प्रबन्ध से आप क्या समझते है एक औद्योगिक संगठन में उत्पादन प्रबन्ध के महत्व को स्पष्ट कीजिये।
4. उत्पादन प्रक्रिया से आप क्या समझते है? इसकी प्रकृति स्पष्ट कीजिये तथा उत्पादन प्रक्रियाओं के प्रकार बताइये।
5. उत्पादन प्रणाली के विभिन्न प्रकारों को समझाइये।

●●●

18

NOTES

उत्पादन नियोजन एवं नियंत्रण
PRODUCTION PLANNING AND CONTROL

"उत्पादन नियोजन प्रबंध का वह कार्य है जो यह तय करने से सम्बन्ध रखता है कि किन उत्पादन सुविधाओं की आवश्यकता है, इन्हें उत्पादन - स्थल पर किस प्रकार विन्यासित किया जाना चाहिए।,तथा उत्पादो के निर्माण हेतु इनका उपयोग किस तरह किया जाना चाहिए," **बरब्रिज** के अनुसार उत्पादन"नियोजन " के दो महत्वपूर्ण अंग हैं एक उत्पादन क्रियाओं का मार्ग - निर्धारण (Routing) तथा दूसरा,उत्पादन सुविधाओं का विन्यास। वस्तुतः 'उत्पादन नियोजन' का प्रबंध कार्य उत्पादन लक्ष्यों को तय करने, उत्पादन साधनों को निर्धारित करने, उत्पादन योजनाएँ बनाने तथा उनको क्रियान्वित करने से सम्बन्ध रखता है ताकि संयंत्र की सुविधाओं,क्षमताओं एवं लक्ष्यों के बीच उपयुक्त समायोजन रह सके और संस्था के उत्पादन उद्देश्य भली प्रकार प्राप्त हो सके यह बात ध्यान देने योग्य है कि 'उत्पादन नियोजन ' एवं 'उत्पादन नियत्रण' परस्पर सम्बन्धित प्रकार्य है। किन्तु, दोनों की प्रकृति तथा कार्यक्षेत्र पृथक-पृथक हैं। उत्पादन नियोजन उत्पादन योजनाओं के विकास का कार्य है और 'उत्पादन नियंत्रण' यह देखने का कार्य है कि उत्पादन योजनाओं के अनुसार कार्य हो रहा है या नहीं यदि नहीं तो उसे किस प्रकार योजनाओं के अनुरूप सम्पन्न किया जा सकता है।

उत्पादन नियोजन परिभाषायें
(Production Planning Definition)

उत्पादन नियोजन से आशय उस प्रविधि से है, जिसके द्वारा यह निश्चित किया जाता है कि उत्पादन निश्चित योजना के अनुसार होता है या नहीं।'उत्पादन नियोजन' उत्पादन प्रबंध का निर्धारणात्मक पहलू है।

उत्पादन नियोजन की कुछ प्रमुख विद्धानों ने परिभाषायें दी है।, जो इस प्रकार हैं-

ब्रिटिश स्टेन्डर्ड बुकलेट के अनुसार -"उत्पादन नियोजन वह साधन है जिसके द्वारा एक निर्माणी योजना निश्चित की जाती है,सूचनायें उसकी क्रियान्विति के लिये दी जाती है और समंक एकत्रित व अभिलिखित किये जाते है जिससे कि संयत्र को सभी चरणों पर नियंत्रित किया जा सके"

चेज एवं अक्युइलानों के अनुसार-"उत्पादन नियोजन, उत्पादन प्रणाली के लिये कार्यवाही के विशिष्ट मार्ग के विकास से संबंधित संपूर्ण नियोजन है।"

ई.एफ.एल.ब्रीच के अनुसार -"उत्पादन नियोजन,- जो कब कार्य किया जाना है। - के लिये अनुसूचियों को निश्चित और निर्गमित करता है,और सामग्रियों तथा भण्डार अभिलेखों,दीर्घ और अल्पकालीन निर्माण कार्यक्रमों की तैयारी,कर्मशाला और मशीन भरण,और प्रगति उत्कीर्ण को व्याप्त करता है।"।

विलियम ग्रेगल के अनुसार -"वह तकनीक अथवा प्रक्रिया जिसके द्वारा प्रबंध यह निश्चित करता हैं कि किस वस्तु का उत्पादन किया जायेगा,उसका उत्पादन कब होगा,कहाँ उसका उत्पादन संग्रहण होगा यह कागजी कार्यवाही,विस्तृत विवरण,तथा उन पूर्व निश्चित योजनाओं को पूरा करने के लिये आवश्यक निर्देशात्मक विवरण की स्थापना करता है,यह वास्तव मे निर्धारित कार्य के संपादन के लिये निर्माणक इकाई को आवश्यक आंकड़े देता है, और यह आगे की क्रियाओं के पथ - प्रदर्शन के लिये तथा वर्तमान संपादनों पर नियंत्रण के रू मे उन पर प्रतिवेदनों का संग्रह करता है।"

बेथल,अटवाटर,स्मिथ और स्कैटमैन के अनुसार- "उत्पादन नियोजन एक नहीं अपितु कई विभागीय समूहों द्वारा सम्पादित सम्बद्ध और समन्वित गतिविधियों का एक क्रम है,जिसमें प्रत्येक गतिविधि अपने - अपने क्षेत्र में अग्रिम रूप में निर्माणी प्रयत्नो को क्रमबद्ध करता है।"।

सेम्यूल ईलन के शब्दों में, "उत्पादन नियोजन संक्षेप में, फर्म की सामग्री एवं भौतिक सुविधाओं का वह निर्देशन एवं समन्वय है जो उपलब्ध सर्वाधिक कुशल तरीके से पूर्व निर्धारित उत्पादन लक्ष्यों की प्राप्ति की दिशा में सहयोग करता है।"

किम्बाल एवं किम्बाल के अनुसार- "औद्योगिक क्रियाओं के नियोजन के चार विचारणीय बातें अन्तर्निहित हैं। क्या कार्य किया जायेगा,कैसे किया जायेगा,कहाँ किया जायेगा,और कब किया जायेगा।"

उपरोक्त परिभाषाओं के उपरान्त हम निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि - उत्पादन 'नियोजन' उपक्रम के उत्पादों की माँग का पूर्वानुमान लगाने तथा संयन्त्र की क्षमता एवं साधनों के ऐसे संयोजन का चयन करने का कार्य है,जिससे कि कुशलतम तरीके से माँग की पूर्ति हेतु आवश्यक उत्पादन किया जा सके।"

उत्पादन नियोजन की विशेषतायें
(Characteristics of Production Planning)

उत्पादन नियोजन की उपर्युक्त परिभाषाओं का विश्लेषण करने पर इसकी निम्न विशेषतायें स्पष्ट होती है।

(1) 'उत्पादन नियोजन' सम्पूर्ण उत्पादन क्षेत्र में सर्वव्यापी एवं सार्वभौमिक क्रिया है।

(2) उत्पादन नियोजन की प्रक्रिया बौद्धिक,मानसिक एवं जागरूक प्रक्रिया है।

(3) 'उत्पादन नियोजन' में उत्पादन क्रियाओं का मार्ग निर्धारण तथा उत्पादन सुविधाओं का विन्यास किया जाता है।

(4) उत्पादन नियोजन का उद्देश्य प्रणाली के अंगों के मध्य संयत्र क्षमता का किसी निश्चित समयावधि के लिये आबटन करना तथा प्रभावपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना होता है।

उत्पादन नियोजन के तत्व
(Element of Production Planning)

उत्पादन नियोजन के कार्य ही उत्पादन नियोजन के अंग है। उत्पादन नियोजन के क्षेत्र में जिन कार्यों को सम्मिलित किया जाता है,वे सभी उत्पादन नियोजन के मूल आवश्यक तत्व उत्पादन नियोजन का कार्यक्षेत्र अति विस्तृत अतः इसके कार्यों को इसके सांगठनिक ढाँचे में एक - एक अंग के समान देखा जाता है। उत्पादन नियोजन में उत्पादन नियंत्रण को भी शामिल किया जाता है। क्योंकि नियोजन को मूर्त रूप देने के लिये उस पर गहरी दृष्टि रखना आवश्यक होता है। अन्यथा अच्छी से अच्छी योजना कागजी घोड़ा बनाकर रह जाती है।

उत्पादन नियोजन के अंगो तत्वों का एक ही क्रम में निम्न बिन्दुओं द्वारा विवेचन किया जा सकता है।

(1) माँग एवं विक्रय का पूर्वानुमान लगाना:- किसी भी योजना की सफलता के लिये आवश्यकता है। कि हम उसे यथार्थपरक बनायें। यथार्थ - परता के लिये अनुमान लगाना आवश्यक माना जाता है। माँग का पूर्वानुमान आज की माँग तथा भविष्य की स्थिति की कल्पना करके ही किया जाता है। अनुभव एवं पूर्वकाल के यथार्थ संमको के आधार पर भावी.माँग तथा विक्रय का पूर्वानुमान कर लेने के पश्चात प्रबंधक यन्त्रों की क्षमता,कच्चे माल का क्रय,उत्पादन की आपेक्षित मात्रा तथा गुण स्तर के बारे में विस्तृत निर्णय ले सकते हैं। पूर्वानुमान के बिना किया गया उत्पादन या तो आवश्यक स्टॉक बन सकता है या ग्राहकों की माँग को पूरा करने में कमी पड़ सकती है अतः यह कहा जा सकता है कि उत्पादन - नियोजन के लिये पुर्वानुमान एक महत्वपूर्ण कार्य है।

(2) उत्पादन की अपेक्षित मात्रा का निर्माण:- माँग एवं विक्रय का पूर्वानुमान लगाने के पश्चात उत्पादन की कुल मात्रा और किस्म का निर्धारण किया जाता है। उत्पादन की मात्रा निश्चित करते समय पुराने बचे हुये स्टॉक,उत्पादन में लगी हुयी मशीनें,श्रमिकों तथा उत्पादन तन्त्रों का सम्पूर्ण उपयोग, उपलब्ध उत्पादक सुविधायें,संस्थापित क्षमता,वित्तीय पर्याप्तता आदि तत्वों पर विचार कर लेना चाहिये।

(3) उत्पादन की रीति नीति का निर्धारण:-उत्पादन की मात्रा का निर्धारण करने के पश्चात यह तय किया जाता है कि उत्पादन किस रीति से किया जाना चाहिये? आज उत्पादन की अनेक विधियाँ उपलब्ध है अतः उत्पाद की प्रकृति एवं साधनों की उपलब्धता को मद्देनजर रखते हुये उस विधि का चयन किया जाना चाहिए जो आर्थिक स्तर पर अनुकूलतम हो।

(4) संयन्त्र अभिन्यास की तैयारी एवं मूर्त रूप देना:- उत्पादन प्रक्रिया को सुचारू रूप से संचालित करने के लिये उत्तम संयन्त्र अभिन्यास की आवश्यकता होती है संयन्त्र विन्यास की तैयारी के अंतर्गत यंत्रों का स्थान, देखभाल व सुरक्षा आदि की व्यवस्था को सम्मिलित किया जाता है। उत्तम संयन्त्र अभिन्यास लक्ष्य पूर्ति में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

NOTES

(5) सामग्री की व्यवस्था करना:- नियोजन के अंगो में समिति प्रबंध को भी सम्मिलित किया जाता है समिति प्रबंध के संदर्भ में नियोजन का कार्यकलाप यह है कि कच्चा माल कहाँ उपलब्ध होगा, औजार कहाँ से क्रय किये जायेगे,इनका गुण स्तर क्या होगा,किस माध्यम से इन्हें कारखाने तक लाया जायेगा। माल तैयार होने के पश्चात् गोदामों में रखा जायेगा,गोदाम किस क्षमता एवं किस बात - स्तर के होंगे।

(6) उत्पाद अभिकल्पन एवं विकास:- प्रत्येक वस्तु को व्यावसायिक स्तर पर उत्पादन करने तथा विक्रय करने के लिये उसका अभिकल्पन एवं विकास किया जाता है वर्तमान युग में वस्तु की माँग स्थायी नहीं क्योंकि फैशन के अनुरूप वस्तु का डिजायन बदलता रहता है अतः प्रत्येक अवसर के लिये उत्पाद को उपयुक्त बनाये रखने हेतु अभिकल्पन एवं विकास का कार्य सतत् चलता रहता है। यह कार्य प्रारंभिक उत्पादन से पूर्व प्रारंभ होता है तथा उत्पादन क्रम के साथ चलता रहता है।

(7) उत्पादन पथ - चयन या-निर्धारण:- उत्पादन के प्राथमिक चरण की समाप्ति के पश्चात् क्रियात्मक चरण या कार्यकारी दौर प्रारंभ होता है। नियोजन - प्रक्रिया को उपक्रियाओं में विभाजित कर उसके व्यावहारिकता को और अधिक सार्थक बनाया जाता है उत्पाद आदेशों के प्रसारण के क्रम में उत्पादन हेतु पथ - निर्धारण किया जाता है।

(8) अनुसूचीयन एवं समय - निर्धारण:- उत्पादन के पथ - निर्धारण के पश्चात् उत्पादन के समय का भी निर्धारण किया जाता है। विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन का क्रम तथा लगने वाले समय का निश्चित करना एक कठिन कार्य है। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि सर्वप्रथम वस्तुओं की माँग एवं महत्व के अनुसार उनको क्रमानुसार अनुसूची में स्थान दिया जाये तत्पश्चात यन्त्रों एवं व्यक्तियों को पूरी क्षमता के साथ उपयोग में लाने के लिये कार्य का समय निर्धारित कर दिया जाये।

(9) अनुवर्तन या अनुसरण - अनुपालन:- यह स्थिति भी कार्यकारी स्थिति है यहाँ पर योजना को मूर्त रूप देने का प्रयास होता है। निर्णय लेना तथा क्रियान्वयन के लिये आदेश प्रसारित करना ही काफी नहीं है अपितु कार्य की प्रगति का आंकलन, प्रगति - प्रतिवेदन, समीक्षा, समय सारणी की पुष्टि आदि कार्य भी अति आवश्यक है। ये सभी कार्य अनुवर्तन की श्रेणी में आते है।

(10) निरीक्षक एवं पर्यवेक्षण:- नियोजन को मूर्त रूप देने के लिये यह आवश्यक है कि समस्त कार्य - कलापों का निरीक्षण एवं पर्यवेक्षण हो। कार्ययोजना के अनुरूप चल रहा है तथा उसकी प्रगति संतोषजनक है तो प्रत्येक नवीन आदेश का अनुसरण सहज एवं स्वाभाविक रूप से होता रहेगा, किन्तु यदि योजना के क्रियान्वयन में समस्या आती है और उसके निदान के लिये पर्यवेक्षण नहीं है तो कार्य रूक जायेगा। कार्मिक के कार्य - कलापों पर कड़ी दृष्टि भी आवश्यक है।

उत्पादन नियोजन को प्रभावशाली एवं सरल कैसे बनाया जाये
(How can Production Planning be Easy and Effective?)

यदि नियोजन के कार्य को पूर्व घोषित तत्वों के क्रम में संपादित किया जाता है तो निःसन्देह एक प्रभावशाली नियोजन के ढाँचे का निर्माण होता है। प्रभावशाली नियोजन वही है जो व्यावहारिक हो तथा उसे मूर्त रूप देने में किसी किस्म की कठिनाई न हो।

नियोजन को सरल बनाने हेतु यह सुझाव दिया जा सकता है कि नियोजन के प्रत्येक अंग का विश्लेषण किया जाये तथा उसे समझने एवं अनुसरण करने योग्य बनाया जाये। योजना के ढाँचे को इतना स्पष्ट होना चाहिये कि प्रत्येक सम्बंधित व्यक्ति उसे देखते ही समझ जाये। सभी प्रकार्यो तथा उपकार्यो का विभाजन स्पष्ट एवं सरल होना चाहिये। साधारणतया कागजी योजनायें देखने में अत्यंत लुभावनी होती है किन्तु उन्हे कार्यरूप देते समय अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है अतः यह सुझाव दिया जा सकता है कि योजना को प्रभावोत्पादक बनाने के लिये उसका ड्राफ्ट अति विस्तृत एवं प्रत्येक बिन्दु को स्पष्ट करने वाला होना चाहिये।

उत्पादन नियोजन के उद्देश्य
(Objectives of Production Planning)

एक संस्था में उत्पादन नियोजन का नियोजन अनेक महत्वपूर्ण उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये किया जाता है उत्पादन नियोजन का मुख्य उद्देश्य उत्पादन कार्य इस प्रकार से संचालित करना होता है जिससे कि निम्नलिखित उद्देश्यों की प्राप्ति हो सके-

(1) विभिन्न विभागों में समन्वय स्थापित करना,ताकि उत्पादन कार्य में संतुलन स्थापित किया जा सके।

(2) संयन्त्र क्षमता एव सुविधाओं का पूर्ण उपयोग करना।

(3) पूर्व निर्धारित कुशलता स्तर पर संयन्त्र का संचालन करना।

(4) विक्रय पूर्वानुमानों के अनुसार उत्पादन की व्यवस्था करना।

(5) उत्पादन आवश्यकताओं की उपलब्धि के बारे में आश्वस्त होना,ताकि निश्चित विशिष्ट कार्य सम्पादित किये जा सकें।

(6) स्थायी रोजगार अवसरों को प्रदान करना जिससे कार्य न होने पर रोजगार में जबरन छुट्टी न करनी पड़े तथा कार्य होने पर नियुक्ति न करनी पड़े।

(7) कार्य स्थिरता को बनाये रखना तथा श्रम शक्ति मे भावी उच्चावचनों को न्यूनतम करना जिससे अच्छे श्रम सम्बंध बने रहे तथा संस्था की जन प्रतिष्ठा भी खराब न हो।

(8) ग्राहकों के आदेशों को पूर्व निर्धारित समय पर, अंकित मात्रा में, अंकित किस्म की वस्तुओं की पूर्ति की व्यवस्था करना।

उत्पादन नियोजन की प्रक्रिया
(Process of Production Planning)

एक संस्था के उत्पादन को अनेको चरणों या प्रक्रियाओ में से होकर गुजरना पड़ता है। उत्पादन नियोजन के अंतर्गत उत्पादन विभाग के माँग पूर्वानुमानों को उत्पादन में बदल दिया जाता है। उत्पादन नियोजन प्रक्रिया में सामान्यता निम्नलिखित चरण होते है–

(1) **सूचनाओं का संग्रहण एवं व्याख्या** (Collection and Interpreatation of Information)- उत्पादन नियोजन की प्रक्रिया के अंतर्गत सर्वप्रथम उत्पादन से सम्बंधित अनेक महत्वपूर्ण सूचनाओं एवं जानकारियों का संग्रहण एवं व्याख्या की जाती है जैसे- उपलब्ध कच्ची सामग्री एवं पूँजी,मशीनी उपकरण एवं औजार, बाजार विशेषताओं से सम्बंधित सूचनायें इत्यादि। इन सूचनाओं का संग्रहण चेम्बर ऑफ कॉमर्स, स्थानीय संस्थाओं के प्रकाशन,सरकारी प्रकाशन, संस्था के प्रलेख एवं अभिलेख,विभाग व कर्मचारी, बैंक एवं जनोपयोगी कम्पनियों व अनेक अन्य साधनों से किया जा सकता है

इन सूचनाओं की उपलब्धि समय पर, पर्याप्त मात्रा में, उपयुक्तता एवं विश्वास के साथ होनी चाहिये क्योकि इसके संग्रहण एवं विवेचन के द्वारा ही अनेक महत्वपूर्ण तत्वों का पता चलता है जो उत्पादन योजनाओं में सहायक होता है इन तत्वों में माँग पूर्वानुमान,मशीनों एवं संयन्त्रों की क्षमता एवं सुविधायें, उत्पादन के लिये आवश्यक सामग्री की उपलब्धि आदि मुख्य है।

(2) **योजनाओं को विकसित करना** (Developing Plans)- उत्पादन नियोजन के इस चरण के अंतर्गत उत्पादन से सम्बंधित विभिन्न प्रकार की योजनाओं जैसे - उद्देश्य नीतियाँ, बजट कार्यक्रम आदि का विकास करना होता है ये योजनाये ही नियोजन की मुख्य तत्व होती हैं उत्पादन योजनाओं का विकास करने के लिये उत्पादन नियोजन की अनेक प्रचलित तकनीकों का प्रयोग किया जाता है, जैसे - लेखाचित्रीय चार्ट तकनीक,क्रिया अनुसंधान तकनीके, ह्यूरिस्टिक (Heuristic) तकनीकें आदि मुख्य है योजनाओं के विकास के अंतर्गत विक्रय बजटों अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन उत्पादन बजटों एवं योजनाओं में विभक्त किया जाता है

(3) **योजनाओं को लागू करना** (Putting Plants into Operation)- उत्पाद योजनाओं के विकास के बाद उनके लागू करने एवं क्रियान्वयन की व्यवस्था करना एवं आवश्यकतानुसार,सुधारात्मक कार्यवाही करना उत्पादन नियोजन प्रक्रिया का अंतिम चरण है। इसके अंतर्गत उत्पादन से सम्बंधित योजनाओं या आदेशों को उत्पादन में परिवर्तित करने के लिये सम्बंधित अधिकारीयो या फोरमैनों तक औपचारिक रूप से पहुँचाया जाता है। इससे सम्बंधित अधिकारी द्वारा ही योजनाओं के लागू करने के लिये कुछ आवश्यक साधन उपलब्ध कराये जाते हैं उत्पादन योजनाओं के लागू हो जाने के दौरान यदि कुछ आवश्यक समायोजन या सुधारात्मक कार्यवाही की आवश्यकता होती है तो वह सब उत्पादन नियोजन विभाग द्वारा आवश्यक विचार - विमर्श के पश्चात उत्पादन नियोजन की प्रक्रिया के अंतर्गत ही किये जाते हैं फिर से संशोधित योजनायें सम्बंधित कार्यकारी अधिकारियों तक आवश्यक कार्यवाही हेतु भेज दी जाती है

NOTES

उत्पादन नियोजन की तकनीकें
(Techniques of Production Planning)

उत्पादन नियोजन की प्रमुख तकनीकें निम्नलिखित हैं-

(1) **लेखाचित्र तकनीक** (Graphical Techniques)- इस तकनीक के अंतर्गत नियोजनकर्ता संचयी उत्पाद आवश्यकताओं का एक लेखाचित्र तैयार करता है इन संचयी उत्पाद आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु इन्वेन्ट्री स्तरो, उत्पाद दरों, कार्यशक्ति आकार आदि में परिवर्तन करते हुये विभिन्न वैकल्पिक रीति - नीतियाँ विकसित की जाती हैं। नियोजनकर्त्ता इन वैकल्पिक योजनाओं में से उस श्रेष्ठ उत्पादन योजना का चयन करता है जो लागत की दृष्टि से न्यूनतम लागत'वाली होती है।

(2) **गणितीय अथवा क्रिया अनुसंधान तकनीकें** (Mathematical or Operation Research Techniques)- इस तकनीक के अंतर्गत रेखीय कार्यक्रम, प्रतीक्षा रेखा तकनीक क्रीड़ा सिद्धांत, खोज सिद्धांत,आदि प्रमुख है। इन तकनीकों के माध्यम से संयन्त्र विन्यास,कार्यभार आबटन,किस्म एव उप - उत्पादकों से सम्बंधित समस्यायें, भण्डारण की समस्यायें मौसमी माँग वाली वस्तुओं के उत्पादन से सम्बंधित समस्याओं के समाधान में महत्वपूर्ण सहयोग मिलता है।

(3) **ह्यरिस्टिक तकनीकें** (Heuristic Techniques)- इस तकनीक को 'अंगूठे का नियम' (Rule of Thumb) के नाम से भी जाना जाता है इस तकनीक के अंतर्गत तक पूर्ण मान्यताओं के आधार पर विभिन्न समस्याओं के समाधान किये जाते हैं।

उत्पादन नियोजन एवं नियंत्रण की परिभाषा
(Definition of Production Planning & Control)

"उत्पादन का नियोजन से आशय एक निर्माणी संस्था में यह निश्चित करना है कि उत्पादन कार्य **क्या** होगा, किस समय होगा, कितनी मात्रा में होगा उसे पूरा करने के लिये श्रेष्ठ एवं मितव्ययी पद्धति **कौन- सी होगी।**" इसी प्रकार उत्पाद के नियंत्रण से आशय उत्पादन क्रियाओं का संचालन निर्देशन एवं नियंत्रण करने से है। सरल शब्दों में हम उत्पादन नियोजन एवं नियंत्रण की परिभाषा इस प्रकार दे सकते हैं कि उत्पादन के नियोजन एवं नियंत्रण से अभिप्राय संस्था के निर्माणी प्रक्रिया के नियोजन तथा उसके विधिवत् संगठन से है। इसके अन्तर्गत विशेषतया सामग्रियों, विधियों, यन्त्रों आदि का मार्गदर्शन, अनुसूचीयन निष्पादन, निरीक्षण एवं नियंत्रण आदि आते है।

उत्पादन नियोजन एवं नियंत्रण के कार्य या तत्व
(Functions of Production Planning & Control or Elements)

उत्पादन नियोजन का उत्पादन नियंत्रण से घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक निर्माणी संस्था द्वारा उत्पादन नियोजन एवं नियंत्रण के सम्बंध में निम्नलिखित कार्य किये जाते है। इन्हें उत्पादन नियोजन एवं नियंत्रण के मूल तत्वों के नाम से भी जाना जाता है—

(1) माँग का पूर्व निर्धारण:- किसी भी संस्था का प्रबंधक अपनी उत्पादित वस्तु के भावी माँग का पूर्व निर्धारण के पश्चात् ही उत्पादन की भावी मात्रा के सम्बंध में सही एवं उचित निर्णय लेता है। माँग का पूर्व निर्धारण निर्माणी संस्था के लिये अत्यंत महत्वपूर्ण है। यदि माँग का पूर्व निर्धारण नही किया गया तो ऐसी स्थिति संस्था के लिये हानिकारक हो सकती है, इसके अभाव में या तो संस्था के पास आवश्यकता से अधिक या कम स्टॉक हो जायेगी।

(2) उत्पादन की भावी मात्रा का निर्धारण:- प्रबंधक द्वारा माँग का पूर्व निर्धारण के बाद उत्पादन की भावी मात्रा और किस्म का निर्धारण किया जाता है। उत्पादन की मात्रा तय करते समय पुराने बचे हुये स्टॉक, उत्पादन में लगी हुयी मशीनें, श्रमिकों तथा उत्पादन तन्त्रों का संपूर्ण उपयोग, उपलब्ध उत्पादक सुविधायें संस्थापित क्षमता, वित्तीय पर्याप्तता आदि तत्वों पर विचार कर लेना चाहिये।

(3) उत्पादन प्रक्रिया का निर्धारण:- किसी वस्तु का उत्पादन प्रक्रिया का निर्धारण करना उत्पादन नियोजन एवं नियंत्रण का एक महत्वपूर्ण कार्य या मूल तत्व है किसी भी वस्तु का उत्पादन करने के लिये अनेक उत्पादन विधियों का प्रयोग किया जाता है उत्पादन नियोजन एवं नियंत्रण के अन्तर्गत इन विधियों का गहन अध्ययन करके सर्वश्रेष्ठ उत्पादन विधि का चुनाव किया जाता है।

(4) सामग्री का प्रबंध:- उत्पादन का कार्य कच्चे माल के बिना सम्भव नही होता। एक उद्योग मे उत्पादन कार्य हेतु अनेक प्रकार की सामग्री काम मे आती है जैसे कच्चा माल, छोटे - मोटे औजार, मशीने आदि। सामग्री प्रबंध के सन्दर्भ में उत्पादन नियोजन व नियंत्रण का यह कार्य है कि कच्चा माल कहाँ उपलब्ध होगा, औजार कहाँ से उपलब्ध होंगे, वस्तु का गुण स्तर क्या होगा आदि की व्यवस्था करना है।

(5) उत्पाद अभिकल्पन एवं विकास:- प्रत्येक वस्तु को व्यावसायिक स्तर पर उत्पादन करने तथा विक्रय करने के लिये उसका अभिकल्पन तथा विकास किया जाता हैं वर्तमान युग में वस्तु की माँग स्थायी नही है क्योकि फैशन के अनुरूप वस्तु का डिजाइन बदलता रहता है अतः प्रत्येक अवसर के लिये उत्पाद को उपयुक्त बनाये रखने हेतु अभिकल्पन एवं विकास का कार्य सतत् चलता रहता है। यह कार्य प्रारंभिक उत्पादन से पूर्व प्रारंभ होता हैं तथा उत्पादन क्रम के साथ चलता रहता है।

(6) निरीक्षण एवं पर्यवेक्षण:- नियोजन को मूर्त रूप देने के लिये यह आवश्यक है कि समस्त कार्यकलापों का निरीक्षण एवं पर्यवेक्षण हो। योजना के अनुरूप चल रहा हो तथा उसकी प्रगति संतोषजनक हो। तो प्रत्येक नवीन आदेश का अनुसरण सहज एवं स्वभाविक रूप मे होता रहेगा। किन्तु यदि योजना के क्रियान्वयन में समस्या आती है और उसके निदान के लिये पर्यवेक्षण नहीं है तो कार्य रूक जायेगा। कार्मिक के कार्यकलापो पर कड़ी दृष्टि भी आवश्यक है।

(7) आन्तरिक परिवहन व्यवस्था:- वर्तमान समय में उत्पादन वृहत स्तर पर किया जाता है। आधुनिकतम एवं सुविकसित उद्योगों में आन्तरिक परिवहन व्यवस्था के ढाँचे के बारे में पूर्व में विचार करना आवश्यक माना जाता है। उत्पादन संगठन को सजीव एवं कम लागत का बनाये रखने के लिये आवश्यक है कि आन्तरिक परिवहन व्यवस्था सुगठित हो।

(8) संयन्त्र अभिन्यास की तैयारी:- उत्पादन प्रक्रिया को सुचारू रूप से संचालित करने के लिये उत्तर संयन्त्र अभिन्यास की आवश्यकता होती है संयन्त्र विन्यास की तैयारी के अंतर्गत यन्त्रों का स्थान,देखभाल व सुरक्षा आदि की व्यवस्था को शामिल किया जाता है उत्तम संयन्त्र अभिन्यास लक्ष्य पूर्ति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

(9) मार्ग निर्धारण :- उत्पाद आदेशो के प्रसारण क्रम में उत्पादन हेतु मार्ग - निर्धारण किया जाता है। मार्ग निर्धारण की प्रक्रिया कार्य - प्रवाह तय करती है, कच्चे माल एवं अर्द्ध - निर्मित माल भण्डारण की व्यवस्था करती है। वास्तव में,मार्ग निर्धारण उत्पादन प्रक्रिया का वह आधारभूत कार्य है जिस पर आगामी नियोजन की सफलता निर्भर करती है।

(10) अनुसूचीयन:- उत्पादन का मार्ग निर्धारण कर लेने के पश्चात् समय का निर्धारण करना भी आवश्यक होता हैं। इसके अन्तर्गत विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन के बीच प्राथमिकता निश्चित की जाती है तथा कार्य को समय के आधार पर इस प्रकार बाँटा जाता है कि न तो कोई यन्त्र या श्रमिक व्यर्थ ही रहे और न कहीं पर किसी समय कार्य का भार अत्यधिक बढ़ जाये। अनुसूचनीय समय पर कार्य की मार्ग - दर्शिका हैं।

(11) कार्य आदेशन:- यह वह प्रक्रिया है जो नियोजन को क्रियान्वित करती है। इसके अन्तर्गत यन्त्रों, श्रमिकों, कार्य केन्द्रों आदि का वितरण किया जाता है। तथा उत्पादन के लिये आदेश दिये जाते हैं। यह कार्य केन्द्रित तथा विकेन्द्रित दोनों प्रकार से किया जा सकता है यहाँ पर प्रबंधक का यह दायित्व होता है। कि वह समस्त कार्य योजना के अनुरूप करवाये।

(12) अनुसरण:- निर्णय लेना तथा क्रियान्वयन के लिये आदेश प्रसारित करना ही काफी नहीं है अपितु कार्य की प्रगति का आकलन, प्रगति - प्रतिवेदन,समीक्षा, समय सारणी की पुष्टि आदि कार्य भी अति आवश्यक है। ये सभी कार्य अनुसरण की श्रेणी में आते हैं। अनुसरण नियन्त्रण का प्रभावशाली शस्त्र है जो प्रगति को गति देता है तथा कार्य पर कड़ी दृष्टि रखता है।

(13) मूल्यांकन:- मूल्यांकन का कार्य नियोजन की सफलता का आकलन है। तथा साथ ही नियंत्रण की सार्थकता का भी द्योतक है। अब तक इस कार्य का कोई महत्व नहीं दिया गया किन्तु आधुनिक गत्यात्मक युग में यह कार्य अत्यंत महत्वपूर्ण बन रहा है। यह भावी नियोजन की सुदृढ़ नींव तथा सुधार संशोधन का समुचित आधार प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

NOTES

उत्पादन नियोजन की सीमाएँ
(Limitation of Production Planning)

उत्पादन नियोजन की प्रमुख सीमाएँ निम्नलिखित है।

(1) उत्पादन नियोजन काफी खर्चीला एवं समय - साध्य कार्य है। इसमें काफी समय, साधनों एवं श्रमशक्ति का उपयोग होता है। छोटी फर्में इन व्ययों को वहन नहीं कर पाती है किन्तु उत्पादन नियोजन पर होने वाले व्यय की तुलना में प्राप्त होने वाले लाभ कई गुना ज्यादा होते है। व्यवस्थित उत्पादन प्रक्रिया अपने आप में कई लाभ मितव्ययिताओं एवं बर्बादी की रोकथाम के रूप मे दे देती है।

(2) उत्पादन नियोजन से लिपिकीय कार्य बढ़ जाता है।

(3) उत्पादन नियोजन कितना ही लोचपूर्ण क्यों न हो, किन्तु वह छोटे परिवर्तनों का ही समायोजन कर पाता है। बड़े परिवर्तन सम्पूर्ण उत्पादन नियोजन को बदल देते है। पूर्तिकर्ताओं की स्थिति एवं व्यवहारों, ग्राहक - रूचियों, उत्पादन प्रक्रियाओं, पद्धतियों, यन्त्रों - उपकरणों आदि में परिवर्तन होते रहते है। इसलिए, इनके लिए योजनाएँ बनाना उपयुक्त नहीं है। किन्तु, यह दोष भी सही नहीं है। कारण कि श्रेष्ठ उत्पादन नियोजन इन परिवर्तनों को आत्मसात करने के लिए ही किया जाता है। श्रेष्ठ नियोजन पहले से ही इन परिवर्तनों को बतला भी देता हैं तथा उनके अनुसार कार्यवाही करने पर भी बल देता है।

(4) उत्पादन नियोजन प्रबंधकों की वैयक्ति प्रेरणाओं को समाप्त कर देता है।, क्योंकि वे पूर्व निर्धारित योजनाओं व कार्यक्रमों से बँध जाते हैं।

(5) उत्पादन नियोजन की विधियाँ अभी पूर्णरूपेण विकसित नहीं हो सकी है। क्रिया - अनुसंधान (O.R) सभी क्षेत्रों मे लागू नही हो पाया है। भावी परिस्थितियों के बारे में सही अनुमान लगाना भी कठिन होता है उत्पादन नियोजन पर सरकार, श्रम संघ, स्वचालन माँग आदि घटकों का प्रभाव पड़ता है। नियोजनकर्त्ताओं की पूर्व - धारणाएँ भी उत्पादन योजनाओं को प्रभावित कर सकती हैं। कुल मिलाकर, नियोजन की परिशुद्धता का विश्वास नही हो पाता है। इन सब सीमाओं की विद्यमानता के बावजूद भी उत्पादन नियोजन किये बिना समय पर उत्पादन करना सम्भव नहीं हो पाता है। पूर्व - निर्धारित किस्म, लागत - सीमा एवं पर्याप्त मात्रा में उत्पादन करने के लिए उत्पादन नियोजन का कोई विकल्प नहीं है।

उत्पादन नियन्त्रण
(Production Control)

" नियन्त्रण" व्यवसाय के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए पथ - प्रदर्शन एवं नियमन का कार्य करता है। इसका उद्देश्य यह देखना होता है कि एक मानवीय - समूह अपने लक्ष्यों की प्राप्ति अपनी योजनाओं के अनुसार कर पा रहा है अथवा नही। यदि नही कर पा रहा है। तो उसके क्या कारण है, उसके मार्ग में क्या बाधाएँ हैं? और उन बाधाओं को दूर करने के लिए कौन - कौन से कदम उठाये जा सकते है? स्पष्ट है कि नियोजन मूलतः 'क्या, कब तथा कैसे किया जाना चाहिए' - के निर्णयन से सम्बंध रखता है, जबकि 'नियन्त्रण ' योजनाओं एवं कार्यक्रमों के क्रियान्वयन, अनुगमन एवं समायोजन से सम्बन्ध रखता हैं।

कई व्यक्ति ' उत्पादन नियन्त्रण ' को ऐसा कार्य मानते हैं जो ' उत्पादन नियोजन ' एवं ' उत्पादन नियन्त्रण' दोनों को अपने में सम्मिलित करता है। ऐसी धारणा स्वभाविक है, क्योंकि नियन्त्रण क्रियाओं के उद्देश्यों का निर्धारण करता है और ' नियन्त्रण' क्रियाओं का संचालन, पर्यवेक्षण एवं नियमन द्वारा उन तथ्यों को सामने रखता है जो पुनर्योजनाओं को जन्म देते है। यदि 'उत्पादन नियन्त्रण' को व्यापक अर्थ में स्वीकार किया जाये तो 'उत्पादन नियोजन' इसमें सम्मिलित हो जाता है। यदि 'उत्पादन नियोजन' को तकनीकी अर्थ में स्वीकार करे तो मानना होगा कि यह 'उत्पादन नियोजन' के बाद प्रारंभ होने वाला कार्य है, इसलिए उससे पृथक् अस्तित्व रखता है व्यवहार में 'नियंत्रण' संचालनात्मक एवं नियमात्मक प्रबंध का कार्य माना जाता है और नियोजन एवं पुनर्विचार प्रशासनिक प्रबन्ध का कार्य माना जाता है इतने पर भी दोनों ही कार्य अभिन्न रूप से परस्पर जुड़ हुए है। नियोजन की महत्ता एवं उपयोगिता, ' नियन्त्रण' में निहित है।

प्रबन्ध क्षेत्र के विचारको का यह चिन्तन कितना सही है कि " केवल नियोजन का कोई महत्व नहीं है जब तक कि वास्तव में उत्पादन नही किया जाता है। यह उत्पादन नियन्त्रण ही है जो कि उत्पादन के प्रवाह को इस भाँति निर्देशित करता है कि वस्तुएँ श्रेष्ठ एवं मितव्ययी विधि से निर्मित होती है, उनकी किस्म भी निर्धारित मानदण्डों के अनुरूप होती है और वे विक्रय हेतु सही समय पर बन कर तैयार हो जाती हैं"

उत्पादन नियन्त्रण का आशय
(Meaning of Production Control)

'उत्पादन नियन्त्रण' दो शब्दों से मिलकर बना है - उत्पादन एवं नियन्त्रण। उत्पादन से आशय कच्चे माल को पक्के माल में परिवर्तित करने की प्रक्रिया से है **मेयर** के शब्दों में, "निर्माणी संस्थान में मनुष्यों, सामाग्रियों एवं उपकरणों द्वारा भौतिक वस्तुओं का निर्माण करने से है" दूसरा शब्द 'नियन्त्रण ' है। उत्पादन प्रबंध के अन्तर्गत 'नियन्त्रण' से आशय उत्पादन को निर्देशन देने एवं प्रतिबन्धित करने से है। इस प्रकार 'उत्पादन नियन्त्रण' से आशय निर्माणी क्रियाओं का उचित प्रबन्ध, निर्देशन और प्रतिबन्धित करने से है।

NOTES

उत्पादन नियन्त्रण की कुछ प्रमुख परिभाषायें निम्नानुसार है–

विलियम बोरिस के शब्दों में, **" उत्पादन नियन्त्रण निर्माणी योजनाओं के अनुरूप निर्माणी क्रियाओं का समन्वय कार्य हैं, जिससे कि अनुकूलतम् मितव्ययिता और कुशलता के साथ पूर्व विचारित अनुसूचियाँ प्राप्त की जा सके।"**

एडविन स्टॉक रोस्को के अनुसार, **" उत्पादन नियन्त्रण, गतिविधियों का वह समूह हैं जो पृथक - पृथक उत्पादन आदेशों की योजना बनाने, उन्हे उत्पादन हेतु देने और उनको पूर्ण किये जाने तक अनुगमन** करने से निर्मित हैं।

बेथन,वाल्टर स्मिथ एवं स्टेकमेन के शब्दों में - **" उत्पादन नियन्त्रण आवश्यक तौर पर निर्माण में परिणाम का नियन्त्रण है"**

एच.एन.ब्रूम के मतानुसार - **" उत्पादन नियन्त्रण तक निर्माण, संयन्त्र में सुविधा सेवा कार्य है इसका सम्बन्ध उत्पादन के नियोजन व समय अनुसूचियन तथा निर्माणी क्रियाओं के कुशल समन्वय से है ताकि समय सारणी के अनुसार उत्पाद संयन्त्र से प्रभावित होता रहता है"**

इस प्रकार उपरोक्त विभिन्न परिभाषाओं का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि **उत्पादन नियन्त्रण एक निर्माणी संयन्त्र में सुविधा सेवा कार्य है। इसके अन्तर्गत उत्पादन क्रियाओं में सामन्जस्य स्थापित किया जाता है, जिसके कि उत्पादन कार्य पूर्व निर्धारित योजना के अनुरूप हो सके।**

उपरोक्त तथ्यों के विश्लेषण द्वारा उत्पादन नियन्त्रण में निम्नलिखित विशेषतायें स्पष्ट होती है–

(1) 'उत्पादन नियन्त्रण' उत्पादन क्रियाओं के नियमन, प्रतिबन्धन तथा निरीक्षण का कार्य है।

(2) 'उत्पादन नियन्त्रण' उत्पादन क्रियाओं के समन्वय का कार्य है, ताकि योजनानुसार उत्पादन समय पर हो सके।

(3) 'उत्पादन नियन्त्रण' अपने में न केवल मात्रा नियन्त्रण 'किस्म नियन्त्रण' अपितु लागत एवं विधि नियन्त्रण को भी सम्मिलित करता है।

उत्पादन नियन्त्रण के उद्देश्य
(Objectives of Production Control)

(1) उपलब्ध उत्पादन सुविधाओं का अधिकतम उपयोग करना जिससे लागत कम से कम हो तथा आवश्यकता पड़ने पर वस्तुयें उपलब्ध हो सकें।

(2) किस्म नियन्त्रण एवं निरीक्षण की क्रियाओं की व्यवस्था करना जिससे कि वस्तुयें पूर्व निर्धारित प्रभावों एवं विशिष्टताओं के अनुसार उत्पादित हो सकें।

(3) मितव्ययी क्रय आदेश तथा संचालन का अनुक्रम का निर्धारण करना जिससे स्थापना लागत कम हो सके।

(4) कार्य के मार्ग एवं प्रगति का मूल्यांकन करना तथा उसके उचित निर्देशन एवं नियन्त्रण की व्याख्या करना।

(5) विभिन्न विभागों में समन्वय स्थापित करना जिससे कि उत्पादन लागतों में कमी लायी जा सके।

संक्षेप में, **विलियम बोरिस** के शब्दों में **"उत्पादन नियन्त्रण का उद्देश्य उत्पादन से सम्बंधित सभी कार्यों का समन्वय करना है, ताकि कम पूँजी विनियोग के साथ उपयुक्त किस्म की वस्तुयें न्यूनतम लागत एवं वचनबद्ध सुपुर्दगी तिथियों पर निर्मित की जा सके"**

NOTES

उत्पादन नियन्त्रण का महत्व
(Importance of Production Control)

उत्पादन नियन्त्रण के महत्व का विवेचन करते हुये प्रसिद्ध विद्वान व्हीलर ने लिखा है कि "उत्पादन नियन्त्रण, उत्पादन के नियमन समन्वय एवं मार्गदर्शन हेतु प्रबंध द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली क्रियाये एवं विधियाँ है। नियन्त्रण द्वारा प्रबन्ध यह निर्धारित करता है कि कहाँ, कब और कैसे कार्य किया जाना है। उत्पादन के विभिन्न चरणों मे उत्पादन नियन्त्रण सामग्री तथा प्रक्रियाओं के व्यवस्थित प्रवाह को नियमित करता है" वास्तव में, आधुनिकिकरण के इस युग में जटिल एवं स्वचालित उत्पादन प्रक्रियाओं की उपस्थिति में, उत्पादन नियन्त्रण का महत्व बहुत अधिक हो गया है उत्पादन नियन्त्रण को यदि कारखाने का स्नायु मण्डल (Nervous System) कहा जाये तो उसमें कोई अतिशयोक्ति नही होगी। वस्तुतः उत्पादन नियन्त्रण के महत्व अथवा लाभ को निम्नलिखित बातो से जाना जा सकता है।

(1) उत्पादन नियन्त्रण से नियोजन को मूर्त रूप देने से सरलता रहती है।

(2) उत्पादन नियन्त्रण से लागत मे बचतें की जा सकती हैं। उचित रूप से संरचित और प्रस्तुत की गयी उत्पादन नियन्त्रण पद्धति अधिकाँशतः लिपिको द्वारा लागू की जा सकती है।

(3) उत्पादन नियन्त्रण से ग्राहक - आदेशो की पूर्ति के उत्पादन समयानुसार प्रवाहित होता है

(4) अनुसूची के अनुसार सदैव गतिशील कार्य के उत्पादन सम्भवानुसार प्रवाहित होता है।

(5) उत्पादन नियन्त्रण निर्माणाधीन सामग्री तथा निर्मित सामग्री के स्टॉक को वांछित सीमाओ मे रखकर पूँजी विनियोजन को कम करता है तथा उत्पादन को नियमित बनाता है।

(6) प्रभावशाली उत्पादन नियन्त्रण से औद्योगिक लय (Industrial Rhytum) स्थापित करने से सहायता मिलती है।

(7) 'उत्पादन नियन्त्रण' सम्पूर्ण निर्माणी संस्था की क्रियाओं को समन्वित करके उत्पादन लक्ष्यों की दिशा में निर्देशित करता है।

(8) इससे श्रमिको को सन्निकट अस्थायी छँटनी, स्थानांतरण आदि के सम्बंध में अग्रिम में ही सूचना मिल सकती है।

(9) उत्पादन नियन्त्रण से साज - सामान और सामग्रियो के विलम्बित क्रयों, महँगे अधिसमय और मशीनों और मनुष्यों की निष्क्रियता को भी कम किया जा सकता है।

(10) उत्पादन नियन्त्रण जहाँ एक और संस्था अनेक लाभों एवं मितव्ययिताओं की प्राप्ति करता है, वहाँ दूसरी और एक उत्पादक संस्था के सामाजिक दायित्वों की पूर्ति करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। अर्थात उत्पादन नियन्त्रण उपभोक्ताओं को उचित मात्रा में, उचित समय पर तथा उचित किस्म एवं मूल्य पर वस्तुयें उपलब्ध करता है। उत्पादकों को अपने कर्मचारियों को पर्याप्त मजदूरियाँ देने, रोजगार स्थिरता बनाये रखने, कार्य - दशाओं को श्रेष्ठ बनाये रखने एवं कार्य - संतुष्टि उपलब्ध कराने में सहयोग करता है इसी प्रकार राष्ट्रीय आय एवं उत्पादन को बढ़ाने तथा दुर्लभ साधनों के सदुपयोग को अधिकाधिक करने में सहयोग करता है।

उत्पादन नियन्त्रण के कार्य
(Fuaction of Production Control)

उत्पादन विभाग के नियोजन को मूर्त रूप देना ही उत्पादन नियोजन का मूलभूत कार्य होता है। मूर्त रूप देने के क्रम में जो भी कार्य सम्पादित किये जाते है वे सभी कार्य उत्पादन नियन्त्रण के कार्य कहलाते है **बुफा के अनुसार "उत्पादन नियन्त्रण विभाग का प्रमुख कार्य उत्पादन एवं इन्वेन्ट्री स्तरों को विक्रय अनुभवों को ध्यान में रखते हुये समायोजित करना है"** ओ, डोनेल ने अपनी पुस्तक "Production Control" में लिखा है कि उत्पादन विभाग समूह का कार्य उत्पादन के साधनों को समन्वित करना है ताकि उत्पादन लागतों को न्यूनतम किया जा सके....श्रम का विशिष्टीकरण प्रबन्ध का एक आधारभूत सिद्धांत है....उत्पादन नियन्त्रण प्रबन्ध की उत्पादन विभाग में विशिष्टीकरण की स्वीकृति देता है। संक्षेप में, उत्पादन नियन्त्रण के प्रमुख कार्यों की सूची में निम्नलिखित कार्यों को शामिल किया जाता है -

(1) अनुसूचियन के प्रयोजनार्थ भावी विक्रयो का पूर्वानुमान लगाना।

(2) विक्रय विभाग से उत्पाद आदेश प्राप्त करना तथा सामग्री आवश्यकताओं का निर्धारण करना।

(3) भावी अनुसूचियों को कर्मचारी आवश्यकताओं एवं मशीन आवश्यकताओं में रूपान्तरित करना।

(4) कच्चे माल के स्टॉक को बनाये रखना।

(5) आवश्यक परिचालनों एवं उनके क्रम को निर्धारित करना।

(6) उत्पादन आदेश तैयार करना एवं उत्पादन अनुसूचियन करना।

NOTES

(7) कर्मचारियों एवं मशीनों को कार्य - आबंटन करना।

(8) आवश्यक आदेश एवं निर्देश उत्पादन हेतु निर्गमित करना।

(9) कार्य की प्रगति के बारे में रिपोर्ट प्राप्त करना तथा निष्पादन का मूल्यांकन करना।

(10) वर्तमान विक्रयों के मिश्रण के समान, अलग - अलग उत्पादों द्वारा और योग में, आय व्यय पत्रित विक्रयों और उत्पादन के संशोधन में सहायता।

(11) वर्कशाप प्रतिवेदनों, पूरे किये गये साज - समानों, मशीनों की खराबियों आदि द्वारा प्रगति की जाँच करना।

(12) योजना की विफलताओं को पैदा होने से रोकना तथा भूल योजना के क्रियान्वित न किये जाने की स्थिति में पुनर्योजना बनाना।

(13) निर्मित उत्पादों, पुर्जो एवं आपूर्तियों के स्टॉक को कम्पनी तथा उसके गोदामों में नियन्त्रित करना।

(14) वांछित मशीनों एवं औजारों को सम - सामयिक बनाये रखना।

(15) विक्रय विभाग को सुपुर्दगी तिथियों की सूचना देना।

उत्पादन नियन्त्रण की विधियाँ
(Techniques of Production Control)

उत्पादन नियन्त्रण के लिये अनेक तकनीकों का प्रयोग किया जाता है साधारण तथा निर्माणी संस्थाओं द्वारा जिन तकनीकों का प्रयोग किया जाता है वे निम्नलिखित है।

(1) अवलोकन (Observation)- प्रायः निर्माणी संस्था के उच्च अधिकारियों द्वारा निरीक्षण एवं संदर्शन की प्रत्यक्ष अवलोकन विधि का प्रयोग करके नियन्त्रण स्थापित किया जाता है।

(2) नीतियाँ (Policies)- नीतियों का क्रियान्वयन उत्पादन कार्य को सही दिशा प्रदान करता है तथा उत्पादन अनुक्रम के निर्धारण में सहायता प्रदान करता है। इस प्रकार नीतियाँ उत्पादन की दिशा में महत्वपूर्ण नियन्त्रण स्थापित करती हैं।

(3) अभिलेख एवं प्रतिवेदन (Records & Reports)- प्रत्येक निर्माणी संस्था में अभिलेख एवं प्रतिवेदन भी नियन्त्रण के साधन होते हैं। समय - समय पर अभिलेख एवं प्रतिवेदन की प्राप्ति से उत्पादन विभाग एवं इसके कर्मचारियों के कार्य - कलापों पर नियन्त्रण स्थापित किया जाता है।

(4) चार्ट एवं नियम पुस्तिका (Charts & Manuals)- चार्ट द्वारा निर्माणी संस्था के कार्यों का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। नियम - पुस्तिका में अधिकारियों के अधिकार क्षेत्र एवं दायित्व का उल्लेख होता है इससे अधिकारी स्वयं नियन्त्रण में रहकर कार्य करते हैं इस प्रकार चार्ट एवं नियम पुस्तिका निर्माणी संस्थान में नियन्त्रण कार्य में सहायक होते है।

(5) बजट (Budget)- बजट एक अनुमानित आय - व्यय पत्रक होता है प्रत्येक संस्था में बजट आय व्ययों के माध्यम से नियन्त्रण का मूल साधन माना जाता है बजट में दिये गये मदों के अनुसार ही व्यय किये जाते है। इसके अतिक्रमण करने से उत्पादन कार्य में कई व्यवधान उपस्थित हो सकते है। आर्थिक क्रियाओं तथा उत्पादन लागतों पर नियन्त्रण स्थापित करने के लिये यह महत्वपूर्ण शस्त्र है

(6) लेखांकन (Accounting)- उत्पादन नियन्त्रण में लेखांकन प्रयुक्त होने वाला महत्वपूर्ण साधन है आय,व्यय, कोष, सम्पत्ति एवं दायित्वों का नियन्त्रण बिना लेखांकन के सम्भव नही है। लागत लेखांकन एवं प्रबन्धकीय लेखांकन को नियन्त्रण का महत्वपूर्ण आधार माना जाता है।

(7) लिखित आदेश (Written Orders)- लिखित आदेश नियन्त्रण में सहायक होते है। आदेश व निर्देश लिखित रूप से दिये जाने पर कार्य के लिये उत्तरदायी ठहराना आसान होता है।

(8) अंकेक्षण (Auditing)- अंकेक्षण वित्तीय लेखांकन का किया जाता है। अंकेक्षण के प्रतिवेदन से उत्पादन लागतों की सही स्थिति का ज्ञान होता है तथा न्यूनतम पर कार्य करने के लिये मार्गदर्शन मिलता है।

NOTES

(9) सम - विच्छेद विश्लेषण (Break -even Analysis)- जिस बिन्दु पर न हानि हो न लाभ उसे सम - विच्छेद बिन्दु कहते हैं। इस विश्लेषण के माध्यम से आगम तथा लागत की स्थिति को ज्ञात किया जाता है। इससे उत्पादन की उस मात्रा का निर्धारण किया जाता है जिसकी लागत एवं आगम बराबर हो। इस विश्लेषण का प्रयोग नियन्त्रण के क्षेत्र में अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इससे लाभ उत्पादन की मात्रा की सुरक्षा आदि का नियन्त्रण सम्भव होता है।

(10) अन्य तकनीकें (Other Techniques)- उपर्युक्त वर्णित विधियों के अलावा निम्न विधियाँ भी उत्पादन नियन्त्रण में प्रयुक्त की जाती है।

1. अवलम्ब पद्धति (Supporting System)
2. अनुपात विश्लेषण पद्धति (Ratio Analysis Method)
3. प्रमापित परिव्यय पद्धति (Standard Costing Method)
4. प्रबन्धकीय सांख्यिकी (Managerial Statistics)
5. पर्ट एवं सी पी.एम. (Pert & C.P.M)
6. आदेश नियन्त्रण, प्रवाह, नियन्त्रण, जत्था नियन्त्रण (Other Control, Flow Control, Block, Control)
7. कम्प्यूटर यन्त्र (Computer Machine)
8. परिचालन अनुसंधान (Operational Research)
9. मन्द चक्र जॉब आदेश वर्कशॉप (Slow Cycle Job Order Shop)
10. शीघ्र चक्र जॉब आदेश वर्कशॉप (Quick Cycle Job Order Shop)

प्रश्न
(Question)

1. उत्पादन नियोजन क्या है? इसकी तकनीक या विधियों को समझाइए।
2. उत्पादन नियोजन के क्या उद्देश्य है? इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये किन विधियों का प्रयोग किया जाता है।
3. उत्पादन नियोजन एवं नियन्त्रण की परिभाषा दीजिये। इसके मूल तत्व अथवा कार्य कौन कौन से हैं।
4. उत्पादन नियन्त्रण क्या है? इसकी विधियों को समझाइए।
5. उत्पादन नियोजन एवं उत्पादन नियन्त्रण में अन्तर की विवेचना कीजिये।

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

●●●

19

उत्पाद अवधारणा
[CONCEPT OF PRODUCT]

उत्पाद का अर्थ
(Meaning of Product)

विपणन के क्षेत्र में ''उत्पाद'' को दो अर्थों में परिभाषित किया जा सकता है। (i) **संकीर्ण अर्थों में** (ii) **विस्तृत अर्थों में। सामान्यत: उत्पाद का अर्थ उन दृष्टिगोचर भौतिक और रासायनिक लक्षणों से है जो कि आसानी से पहचान में आने वाली आकृति, आकार, परिणाम आदि में संग्रहीत हों।** दूसरे शब्दों में, उत्पाद से आशय सदृश्य, भौतिक और रासायनिक गुणों से निहित पहचान योग्य आकृति से है।

विपणन की दृष्टि से 'उत्पाद' शब्द अधिक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता है । इसके अन्तर्गत प्रत्येक ब्राण्ड एक अलग उत्पाद है, जैसे - 'सर्फ' और 'निरमा' दोनों डिटरजेण्ट पाउडर पृथक-पृथक उत्पाद कहलायेंगे, जबकि संकीर्ण अर्थ मे दोनों एक ही उत्पाद कहलायेंगे।

प्रत्येक व्यावसायिक फर्म उत्पाद विक्रय का कार्य करती है, भले ही वह दिखाई दे या नहीं। कोई भी फर्म, जो किसी उत्पाद का विक्रय करती है, वास्तव में, उस उत्पाद के एक भाग के रूप में सेवाओं का भी विक्रय करती है। एक उपभोक्ता उत्पाद का क्रय इसीलिए करता है क्योंकि उसको उस उत्पाद से अनेक मनोवैज्ञानिक एवं भौतिक सन्तोष प्राप्त होते है। अत: एक विक्रेता वास्तव में किसी उत्पाद का विपणन नहीं करता बल्कि उसके माध्यम से इन भौतिक एवं मनोवैज्ञानिक सन्तोषों का विपणन करता है।

उत्पाद की परिभाषाएँ
(DEFINITIONS OF PRODUCT)

उत्पाद की परिभाषा विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न शब्दों में दी है। इनमें से कुछ प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं :

(1) **डब्ल्यू.एल्डरसन** (W. Alderson) के अनुसार, "उत्पाद उपयोगिताओ का एक पुलिन्दा है जिसमें उत्पाद के विभिन्न लक्षण और उसके साथ दी जाने वाली सेवाएँ सम्मिलित हैं।"[2]

(2) **विलियम जे. स्टेण्टन** (William J. Stanton) के अनुसार, "एक उत्पाद दृश्य एवं अदृश्य विशेषताओं का सम्मिश्रण है जिसमें पैकेजिंग, रंग, कीमत, निर्माता की ख्याति, फुटकर विक्रेता की ख्याति और निर्माता एवं फुटकर विक्रेता सम्मिलित है जिन्हें उपभोक्ता अपनी आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने के लिए स्वीकार कर सकता है।"

(3) **फिलिप कोटलर** (Philip Kotler) के अनुसार, "एक उत्पाद क्रेता को सन्तुष्टियाँ अथवा सुविधाएँ प्रदान करने की क्षमता वाले भौतिक, सेवा एवं चिह्नात्मक विवरणों का पुलिन्दा है।"

(4) **डॉ. रुस्तम एस.डावर** (Dr. R.S.Davar) के शब्दों मे, "विपणन के दृष्टिकोण से एक उत्पाद का उन सुविधाओं का पुलिन्दा कहा जा सकता है जो कि उपभोक्ताओं को प्रस्तुत की जा रही हों।"

उत्पाद की अवधारणा
(CONCEPT OF PRODUCT)

'उत्पाद अवधारणा' शब्द सबसे पहले **थियोडोर लेविट** (Theodore Levitt) द्वारा प्रयोग में लाया गया था उनके अनुसार, **''उत्पाद अवधारणा से आशय उपयोगिताओं के योग से है जिसमें विभिन्न उत्पाद विशेषताएँ तथा सेवाएँ सम्मिलित होती हैं।''**

(i) **सामाजिक आयाम** (Social Dimensions)-इसके अन्तर्गत यह माना जाता है कि उत्पाद के क्रय

NOTES

से न केवल तुरन्त सन्तुष्टि प्राप्त होगी अपितु इसमें उपभोक्ता का दीर्घकालीन कल्याण होगा, जैसे-आवश्यक वस्तुएँ, तैयार उत्पाद, उपभोक्ताओं की सुरक्षा, सीमित संसाधनों का सर्वश्रेष्ठ उपयोग।

(ii) **उपभोक्ता आयाम** (Consumer Dimensions)-उपभोक्ता इस आशय से किसी उत्पाद को खरीदता है कि उसके द्वारा उसकी आवश्यकताओं एवं आशाओं की सन्तुष्टि होगी। यदि उसकी आवश्यकता एवं आशाओं की सन्तुष्टि होती है तो वह उसे पुन: खरीदने का निर्णय लेता है।

(iii) **प्रबन्धकीय आयाम** (Managerial Dimensions)-प्रबन्धकीय आयाम में कुल उत्पाद सम्मिलित होता है जो कि विपणनकर्ता द्वारा बाजार में विक्रय हेतु प्रस्तुत किया जाता है। इसमें निम्न बातें सम्मिलित होती हैं-**(अ) मुख्य उत्पाद** (Core Product), **(ब) सम्बन्धित उत्पाद लक्षण** (Related Product Features), **(स) सम्बन्धित उत्पाद सेवाएँ** (Related Product Services)।

उत्पाद का महत्व
(IMPORTANCE OF PRODUCT)

विपणन क्रियाओं के केन्द्र-बिन्दु के साथ-साथ समस्त नियोजन सम्बन्धी क्रियाओं का आरम्भ बिन्दु 'उत्पाद' ही है। वास्तव में, **''उत्पाद ही समस्त विपणन क्रियाओं का केन्द्र-बिन्दु है।''** बिना उत्पाद के कोई विपणन क्रिया सम्भव नहीं है। चाहे उत्पादन हो या विक्रय, विज्ञापन हो या विक्रय संवर्द्धन, कीमत हो या वितरण; सभी क्रियाओं का आधार उत्पादन ही होता है। उत्पाद के विक्रय हेतु ही एक कम्पनी अपना समस्त विपणन कार्यक्रम तैयार करती है।

एक विपणन प्रबन्धक को व्यावसायिक सफलता के लिए अपने उत्पाद के गुणों एवं उत्तमताओं की सुव्यवस्था पर अधिकाधिक जोर देना आवश्यक है। यह कहा जाता है कि जहाँ विपणन का आधार 'ग्राहकों को जानना है', वहाँ अपने उत्पाद को जानना भी आवश्यक है। उत्पाद के महत्व को निम्न बिंदुओं के आधार पर जाना जा सकता है-

(I) **क्रेता की दृष्टि**- क्रेताओं की दृष्टि से उत्पाद का भारी महत्व है। इसका कारण यह है कि उनके उपभोग का एक मात्र केन्द्र-बिन्दु उत्पाद ही तो है। उपभोग की दृष्टि से आवश्यक एवं उत्तम उत्पादों का अभाव मानव जीवन को अभावों, कुण्ठाओं, कठिनाइयों एवं अशान्तपूर्ण बातों से भर देता है जिसे कोई भी सभ्य एवं जागरूक समाज अथवा सरकार सहन नहीं कर सकती।

(II) **विक्रेताओं की दृष्टि से** - विक्रेताओं के दृष्टिकोण से 'उत्पाद' के महत्व को निम्नलिखित बिन्दु भली प्रकार स्पष्ट करते हैं:

(i) वर्तमान में विश्व के लगभग सभी राष्ट्रों की अर्थव्यवस्थाओं में 'विक्रेता-बाजारों' के स्थान पर 'क्रेता-बाजारों' की स्थापना होने लगी है। इस परिवर्तन के परिणामस्वरूप, क्रेता अर्थव्यवस्था का सम्राट बनता जा रहा है। अधिकतर अर्थव्यवस्था ग्राहकोन्मुखी (Customer-oriented) होती जा रही है। सरकारें भी जन-कल्याण एवं सामाजिक जीवन स्तर की उत्तरोत्तर वृद्धि को ध्यान में रखते हुए अनैतिक व्यावसायिक व्यवहारों पर कड़ी नजर रखने लगी है और उनकी रोकथाम के लिए प्रभावी व्यवस्थाएँ करने लगी है।

(ii) 'उत्पाद' ही संस्था के लाभों का बुनियादी निर्धारक होता है और व्यावसायिक संस्था की प्रगति तथा विकास-स्तर का कारण होता है। ग्राहकों के उत्पाद-स्वीकरण पर ही संस्था का अस्तित्व, उसका विकास-स्तर, उसके लाभ, उसकी भावी योजनाएँ आदि निर्भर करती है। किसी भी घटना उत्पाद को लम्बे समय तक एक संस्था के प्रबन्धक अपने उत्तम निर्णयों अथवा संवर्द्धन कार्यक्रमों की सहायता से नहीं बेच सकते। अन्तिमत: तो अच्छे उत्पाद ही दीर्घकाल में जाकर माँग को स्थायी तौर पर उत्तरोत्तर बढ़ाते है, नये ग्राहकों का निर्माण करते है; फर्म के लाभों में वृद्धि करते है।

(iii) 'उत्पाद' विपणन कार्यक्रमों का जन्मदाता है और उनकी आधारशिला है। अक्सर यह कहा जाता है कि 'जब तक कोई व्यक्ति कुछ नहीं बेचता है, तब तक कुछ भी घटित नहीं होता है।'। इस विचार में तनिक भी असत्यता नहीं है किन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि विक्रय के लिए 'विक्रय-वस्तु' का होना जरूरी है और ऐसी 'विक्रय-वस्तु' कोई 'उत्पाद' या 'सेवा' या 'विचार' हो सकता है।

(III) **समाज की दृष्टि से महत्व** (Importance from Society View)

सामाजिक दृष्टिकोण से भी उत्पाद काफी महत्वपूर्ण है। एक ओर जहां इसमें उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं

की सन्तुष्टि होती है, वहाँ दूसरी ओर, करोड़ों लोगों को रोजगार भी मिला हुआ है। अन्त में यह कहना पर्याप्त होगा कि उत्पाद ही विपणन की आत्मा है।

उत्पाद या वस्तु का वर्गीकरण
(CLASSIFICATION OF PRODUCT)

NOTES

किसी भी उत्पाद के विपणन कार्यक्रम बनाने से पहले उत्पाद की विशेषताओं से परिचित होना आवश्यक होता है। उत्पाद की विशेषताओं के आधार पर उत्पाद का वर्गीकरण निम्नानुसार दो वर्गों में बाँटा जाता है।

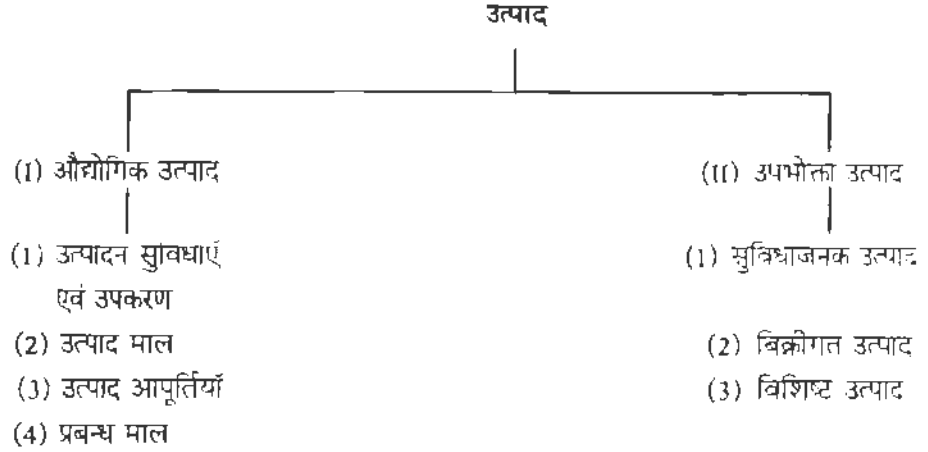

उपरोक्त अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उत्पाद निम्न प्रकार के होते है :

(I) औद्योगिक उत्पाद (Industrial Products)

अमेरिकन मार्केटिंग एसोसिएशन की परिभाषा समिति के अनुसार, "औद्योगिक उत्पाद वे है जो मुख्यत: अन्य माल (उत्पाद) के उत्पादन में अथवा सेवाएँ प्रदान करने में प्रयोग हेतु बनाये जाते हैं। इनमें साज-सामान, संघटक हिस्से, अनुरक्षण, मरम्मत, परिचालन आपूर्तियाँ, कच्चा माल और गढ़ी हुई सामग्रियाँ सम्मिलित हैं।"[2] इस प्रकार ये उत्पाद उपभोक्ताओं के उपयोग हेतु नहीं होते बल्कि कारखानों में उपभोक्ता माल बनाने के काम आते है। औद्योगिक उत्पाद की विभिन्न श्रेणियों का विस्तृत विवरण निम्न प्रकार है।

(i) **उत्पादन सुविधाएँ एवं उपकरण** (Production Facilities and Equipment)-इस श्रेणी में संस्थापन, छोटे उपकरण, प्लाण्ट एवं भवन सम्मिलित किये जाते हैं।

(अ) **संस्थापन या निवेशन** (Installations)-निवेशन या संस्थापन के क्रय में अपेक्षाकृत काफी राशि व्यय की जाती है, अत: क्रय सम्बन्धी निर्णय में कच्चे प्रबन्ध और सम्बन्धित विभागीय प्रमुख के अनुमोदन की आवश्यकता होती है। इस प्रकार के उत्पाद विक्रेता को उत्पाद के आदेश की प्राप्ति के लिये अनेक व्यक्तियों को सन्तुष्ट करना होता है।

(ब) **छोटे उपकरण** (Minor Equipment)-इसमें उपकरणों के टुकड़ों को सम्मिलित किया जाता है जिन्हें औद्योगिक प्रयोगकर्ता अपने उत्पाद अथवा सेवा के उत्पादन में प्रयोग करता है। इनकी क्रय-विधि दैनिक या नियमित होती है। ऐसे उत्पादों का क्रय बार-बार किया जाता है, विक्रेता को सम्भावित क्रेताओं से निरन्तर सम्पर्क बनाये रखना होता है।

(स) **प्लाण्ट एवं भवन** (Plants and Buildings)-ये औद्योगिक प्रयोगकर्ता क्रियाकलापों के लिए आवश्यक होते हैं और पूँजी विनियोगों का एक बड़ा भाग प्लाण्ट एवं भवन के क्रय पर व्यय किया जाता है।

(ii) **उत्पादन माल** (Production Materials)-इस श्रेणी में कच्चा माल, अर्द्धनिर्मित वस्तुएं और गढ़ाई का सामान आदि सम्मिलित किये जाते हैं। इनका वर्णन संक्षेप में निम्न प्रकार से किया गया है:

(अ) कच्चा माल (Raw Materials)-खेतों, खानों एवं वनों के ये आधारभूत उत्पाद होते है जो निर्मित वस्तुओं के उत्पादन में प्रयुक्त होते है। कच्चे माल की क्रय विधि में भिन्नता देखने को मिलती है। कुल उत्पादन

NOTES

लागत के अनुसार और बाजारों की दशाओं का इस पर प्रभाव पड़ता है।

(ब) अर्द्ध-निर्मित वस्तुएँ (Semi-manufactured Goods)-ऐसी वस्तुओं में स्टील, शीशा, निरर्थक पदार्थ (Lumber) आदि को सम्मिलित किया जा सकता है। ऐसी वस्तुएँ एक कम्पनी के लिए निर्मित वस्तु हो सकती है और अन्य के लिए कच्चा माल। कच्चे माल की तुलना में इनकी कीमतों में अपेक्षाकृत अधिक स्थायित्व होता है।

(स) गढ़ाई के सामान के हिस्से (Fabricating Parts)-ये निर्मित वस्तुएँ होती हैं जिनके रूप में पर्याप्त परिवर्तन के बिना ही जिन्हें निर्मित उत्पादों में प्रयुक्त किया जाता है। स्पार्क प्लग (Spark Plugs), मोटरों के टायर आदि इसके उदाहरण है।

(iii) **उत्पादन आपूर्तियाँ** (Production Supplies)-ये उत्पाद औद्योगिक प्रयोगकर्ता के व्यावसायिक क्रियाकलापों के लिए आवश्यक होते है, परन्तु निर्मित उत्पादों के भाग नहीं होते। इनमें कोयला, तेल, मशीनों और कल-पुर्जों को चिपकाने वाले पदार्थ (Lubricants) आदि सम्मिलित किये जाते हैं। औद्योगिक प्रयोगकर्ता के क्रय अधिकारी का यह उत्तरदायित्व होता है कि वह उत्पादन आपूर्तियों का क्रय करे।

(iv) **प्रबन्ध माल** (Management Materials)-इस श्रेणी मे कार्यालय उपकरण और आपूर्तियों को सम्मिलित किया जाता है। कुछ कार्यालय उपकरणों को क्रय करने के स्थान पर प्राय: पट्टे पर प्राप्त किया जाता है, जैसे-इलेक्ट्रॉनिक कम्प्यूटर्स, समंक विधायन मशीनें (Data Processing Machines) आदि क्योंकि ये बहुत कीमती होते हैं। सम्बन्धित विभाग या कर्मचारी क्रय-विभाग को अपनी आवश्यकता से अवगत करा देता है। स्टेशनरी, टाइपराइटर रिबन, पेन्सिल छीलने के चाकू आदि कार्यालय उपकरण क्रय-विभाग द्वारा नियमित रूप से खरीदे जाते है।

(II) उपभोक्ता उत्पाद (Consumer Products)

अमेरिकन मार्केटिंग एसोसियेशन की परिभाषा समिति के अनुसार, "उपभोक्ता उत्पाद वे हैं जो अन्तिम उपभोक्ताओं या परिवारों के प्रयोग के लिए बने है और ऐसी शक्ल में हैं कि बिना किसी व्यापारिक विधायन के उन्हें प्रयोग में लाया जा सकता है।"[1] इससे स्पष्ट है कि उपभोक्ता उत्पादों को बिना व्यापारिक विधायन के बेचा जा सकता है। ये उत्पाद अंतिम उपभोक्ताओं उपयोग के लिए बनाए जाते है।

(i) **सुविधा युक्त उत्पाद** (Convenient Products)-सुविधा उत्पाद वे हैं जिन्हें उपभोक्ता बार-बार, तुरन्त एवं न्यूनतम तुलना करके एवं अपेक्षाकृत बहुत कम क्रय प्रयासों से खरीदता है, जैसे-सिगरेट, साबुन, समाचार-पत्र, दियासलाई, दवाइयाँ आदि। ऐसे उत्पादों का उपभोक्ताओं द्वारा बार-बार क्रय किया जाता है और प्राय: बड़ी मात्रा में वे इन्हें अग्रिम (Advance) रूप से खरीदकर नहीं रखते। आदत की शक्ति द्वारा उपभोक्ता को क्रय सम्बन्धी निर्णय लेने में सरलता रहती है।

(ii) **बिक्रीगत उत्पाद** (Shopping Products)-बिक्रीगत या सौदे के उत्पाद वे होते हैं जिनका चुनाव और क्रय करने से पूर्व उपभोक्ता उपयुक्तता, किस्म, कीमत और शैली आदि आधारों पर विभिन्न निर्माताओं के उत्पादों से तुलनाएँ करता है। इन उत्पादों में फर्नीचर, महिला परिधान एवं जूते, बढ़िया चीनी के बर्तनों के सेट, कीमती साड़ियाँ आदि को सम्मिलित किया जा सकता है।

ऐसे उत्पादों के निर्माता की विपणन समस्याएं सुविधा उत्पादों की विपणन समस्याओं से भिन्न होती है। इन उत्पादों को सभी स्थानों पर पहुँचाने की आवश्यकता नहीं होती। प्राय: ऐसे उत्पाद नगर के उस स्थान या स्थानों पर भेजे जाते है जो इस प्रकार के उत्पादों के बाजार केन्द्र होते है। ऐसे उत्पादों का विक्रय करने वाली संस्थाएँ प्राय: बड़े आकार की होती है और वे बड़ी मात्र मे माल खरीदती हैं।

(iii) **विशिष्ट उत्पाद** (Speciality Products)-विशिष्ट उत्पाद से आशय ऐसे उत्पादों से है जिनमें कुछ ऐसी अद्वितीय विशेषताएँ होती हैं जिनके कारण एक विशिष्ट क्रेता समूह अपनी आदतवश ऐसे उत्पादों के क्रय हेतु विशेष प्रयत्न करने को भी तत्पर रहता है। रेफ्रीजरेटर, कारें, मूल्यवान विद्युत उपकरण, खाने का कीमती सामान, एकत्र किये जाने वाले स्टाम्प एवं सिक्के आदि विशिष्ट उत्पादों के कुछ उदाहरण हैं। ऐसे उत्पादों के क्रेता अपनी आवश्यकता के उत्पाद या ब्राण्ड को जानते हैं और उसे प्राप्त करने के लिए विशेष प्रयास करने को भी तत्पर रहते हैं।

उपभोक्ता उत्पाद और औद्योगिक उत्पाद में अन्तर
(Difference between Consumer Products and Industrial Products)

अन्तर का आधार	उपभोक्ता उत्पाद (Consumer Products)	औद्योगिक उत्पाद (Industrial Products)
1. **विपणन रीति-नीति**	उपभोक्ता उत्पादों की अधिक बिक्री के लिए विस्तृत कार्यक्रमों पर अधिक ध्यान दिया जाता है।	औद्योगिक उत्पादों की अधिक बिक्री के लिए क्रेताओं के साथ व्यक्तिगत सम्बन्धों पर अधिक ध्यान दिया जाता है।
2. **बाजार का विस्तार**	उपभोक्ता उत्पादों का बाजार अधिक विस्तृत होता है।	औद्योगिक उत्पादों का बाजार अपेक्षाकृत कम होता है।
3. **उत्पाद विश्लेषण**	उपभोक्ता उत्पाद के क्रेता उत्पादों के सापेक्षिक गुणों और अवगुणों से भली-भाँति परिचित नहीं होते। अत: वे ऐसे उत्पादों को प्रयोग करने से पहले उनका इतनी गहनता से विश्लेषण नहीं करते।	औद्योगिक उत्पाद के क्रेता उत्पादों के सापेक्षिक गुणों और अवगुणों से परिचित होते हैं। अत: वे ऐसे उत्पादों का प्रयोग करने से पहले उनका गहन विश्लेषण करते हैं।
4. **माँग की प्रकृति**	उपभोक्ता उत्पाद की माँग प्रत्यक्ष रूप से की जाती है अर्थात् उपभोक्ता उत्पाद की माँग स्वयंजनित माँग (Autonomous Demand) होती है।	औद्योगिक उत्पाद की माँग अप्रत्यक्ष रूप से की जाती है अर्थात औद्योगिक उत्पाद की माँग व्युत्पन्न माँग (Derived Demand) होती है।
5. **ग्राहकों की संख्या**	उपभोक्ता उत्पादों के ग्राहकों की संख्या अधिक होती है।	औद्योगिक उत्पादों के ग्राहकों की संख्या कम होती है।
6. **ग्राहकों की प्रकृति**	उपभोक्ता उत्पाद के ग्राहक अन्तिम उपभोक्ता होते है।	औद्योगिक उत्पाद के ग्राहक उद्योगपति या निर्माता होते हैं।

टिकाऊ या अटिकाऊ उत्पाद
(DURABLE AND NON-DURABLE PRODUCTS)

उत्पादों को टिकाऊ और अटिकाऊ वर्गों में भी विभाजित किया जा सकता है। **"टिकाऊ उत्पाद वे दृश्य उत्पाद होते हैं जो साधारणतया अनेक प्रयोगों तक बने रहते हैं।"**[1] इसके विपरीत, **"अटिकाऊ उत्पाद वे दृश्य** उत्पाद **हैं जो कि सामान्यत: एक या कुछ प्रयोगों के बाद समाप्त हो जाते हैं।"**[2]

प्रमुख उत्पाद निर्णय
(MAJOR PRODUCT DECISIONS)

आधुनिक समय में अधिकांश निर्माताओं द्वारा अनेक प्रकार के उत्पादों का निर्माण किया जाता है जिससे उपभोक्ताओं की विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा किया जा सके। उत्पाद निर्णय के प्रमुख क्षेत्र निम्न है :

(1) **उत्पाद मद** (Product Item)-इसका आशय एक उत्पाद के विशिष्ट वर्णन से है जिसके लिए विक्रेता सूची में पृथक् से नाम दिया होता है।

(2) **उत्पाद पंक्ति** (Product Line)-इसका आशय "उत्पादों के एक समूह से है जो एक दूसरे के निकट रूप से सम्बन्धित होते है क्योंकि या तो वे एक वर्ग की आवश्यकता को सन्तुष्ट करते हैं अथवा एक साथ काम में लाये जाते हैं।"[3]

(3) **उत्पाद मिश्र** (Product Mix)-उत्पाद अन्तर्लय या उत्पाद मिश्र से आशय "फर्म या व्यावसायिक इकाई द्वारा विक्रय हेतु प्रस्तुत किये जाने वाले उत्पादों के समूह से है।"[4]

(4) **उत्पाद संघटक मिश्र** (Product Component Mix)- उत्पाद संघटक अन्तर्लय या मिश्र से आशय "भौतिक उत्पाद, उत्पाद सेवाओं, ब्राण्ड तथा संवेष्टन को एक साथ रखकर किये गये संयोजन अथवा समूह से है जो बाजार में ग्राहकों की आवश्यकताओं की अपील (Appeal) करता है।"

NOTES

उत्पाद अन्तर्लय या उत्पाद मिश्र
(PRODUCT MIX)

'उत्पाद अन्तर्लय या मिश्र' का अर्थ किसी संस्था द्वारा विपणित किये जाने वाले उत्पादों की पूर्ण सूची से होता है। यदि एक संस्था साबुन, ब्लेड, रेजर, हेयर ऑयल, क्रीम, टेल्कम पाउडर, शेविंग क्रीम, टूथ-ब्रुश, टूथ-पेस्ट, हेयर-पिन्स, नेल पॉलिश, महिला-वस्त्र आदि वस्तुओं का उत्पादन अथवा विक्रय करती है तो विपणन हेतु प्रस्तुत इन समस्त वस्तुओं की पूर्ण सूची अथवा समूह उत्पाद मिश्र कहलाता है।

एलेक्जेण्डर, कॉस एवं **हिल** के शब्दों में, "एक फर्म का सम्पूर्ण उत्पाद-समूह उत्पाद अन्तर्लय मिश्र कहलाता है।"[1] **लिपसन** एवं **डारलिंग** के शब्दों में, "एक व्यवसाय प्रणाली द्वारा विक्रय के लिए प्रस्तुत की गयी समस्त वस्तुओं की पूर्ण सूची उत्पाद अन्तर्लय या मिश्र कहलाती है।"[2] **विलियम जे.स्टेन्टन** के शब्दों में, "उत्पाद अन्तर्लय या मिश्र से आशय एक कम्पनी द्वारा विक्रय हेतु प्रस्तुत किये जाने वाले समस्त उत्पादों की एक पूर्ण सूची से है।" **अमेरिकन मार्केटिंग एसोसिएशन** की परिभाषा समिति के शब्दों में, "किसी फर्म या व्यावसायिक इकाई द्वारा विक्रय के लिए प्रस्तुत किये गये उत्पाद-समूह को उत्पाद अन्तर्लय मिश्र कहा गया है।"[3] **इस प्रकार किसी भी व्यावसायिक संस्था की विपणन हेतु प्रस्तुत समस्त उत्पाद-सूची अथवा उत्पाद-रेखा का कुल जोड़ 'उत्पाद अन्तर्लय या मिश्र' के नाम से जाना जा सकता है और जिसकी संरचना के तीन पहलू होते हैं-विस्तार पहलू, गहराई पहलू** तथा **अनुरूपता पहलू**।

उत्पाद मिश्र का विस्तार पहलू (Width Side of the Product Mix) - उत्पाद अन्तर्लय के विस्तार पहलू से आशय एक कम्पनी में कितनी उत्पाद पंक्तियाँ हैं अर्थात् उत्पाद पंक्तियों की कुल संख्या ही उत्पाद अन्तर्लय का विस्तार कहलाती है। इसे उत्पाद अन्तर्लय की चौड़ाई भी कहा जाता है।

उत्पाद मिश्र का गहराई पहलू (Depth Side of Product Mix) - उत्पाद अन्तर्लय के गहराई पहलू से आशय एक कम्पनी द्वारा प्रत्येक उत्पाद पंक्ति में प्रस्तुत किये जा रहे उत्पादों की औसत संख्या से है। उदाहरण के लिए, मान लीजिए, एक कम्पनी की कुल उत्पाद पंक्तियों की संख्या 5 है। प्रत्येक उत्पाद पंक्ति में उत्पादों की संख्या निम्न प्रकार है :

उत्पाद पंक्तियाँ	उत्पादों की संख्या
प्रथम उत्पाद पंक्ति	2
द्वितीय उत्पाद पंक्ति	4
तृतीय उत्पाद पंक्ति	3
चतुर्थ उत्पाद पंक्ति	4
पंचम् उत्पाद पंक्ति	2

ऐसी अवस्था में औसत गहराई $\left(\frac{2+4+3+4+2}{5}\right)$ होगी।

उत्पाद मिश्र का अनुरूपता पहलू (Consistency Side of Product Mix)-उत्पाद अन्तर्लय की अनुरूपता से आशय यह है कि विभिन्न उत्पाद पंक्तियाँ, अन्तिम उपयोग, उत्पादन आवश्यकताएँ, वितरण वाहिकाएँ या अन्य किसी दृष्टि से आपस में कितने घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। भारत में फिलिप्स इण्डिया लिमिटेड द्वारा अनेक उत्पादों का निर्माण किया जाता है, जैसे-रेडियो, बिजली के बल्ब, ट्यूबलाइट आदि।

उत्पाद मिश्र पर कम्पनी के उद्देश्यों का प्रभाव
(INFLUENCE OF COMPANY OBJECTIVES ON THE PRODUCT MIX)

लाभ (Profit)

(1) **विक्रय वृद्धि** (Sales Growth)- अनेक कम्पनियों का उद्देश्य समयानुसार विक्रय करना होता है। विक्रय वृद्धि की दर उत्पाद अन्तर्लय के विभिन्न उत्पादों के जीवन-चक्रों (Life Cycles) और उन योजनाओं पर निर्भर करती है जो उत्पाद वृद्धि (Product Additions) और उत्पाद परित्याग के सम्बन्ध में बनायी जाती है।

निम्नांकित श्रेणियों के उत्पाद कम्पनी के उत्पाद मिश्र में सम्मिलित है:

(i) **असफल उत्पाद** (The Failures)-ऐसे उत्पाद जो पूर्णत: असफल हो चुके है।

(ii) **ये भी चालू** (The "Also Runs")-ऐसे उत्पाद जिनसे पिछले दिनों काफी आशा की गई थी एवं जो अच्छा कार्य नहीं दिखा सके, किन्तु पूर्ण रूप से असफल भी नहीं हुए।

(iii) **पिछले दिन कमाई करने वाले** (Yesterday's Bread Winners)-ऐसे उत्पाद जिनका विक्रय परिमाण काफी ऊँचा है, परन्तु जिनका विक्रय विशिष्ट और छोटे आदेशों में बुरी तरह से बिखरा हुआ है।

(iv) **वे उत्पाद जो लाभों में अंशदायी बन सकते हैं बशर्ते कुछ विशेष कदम उठाये जायें** (Products capable of becoming net contributors provided something drastic is done)-ऐसे उत्पाद लाभों में तभी योगदान दे सकते हैं, जबकि उत्पाद परिवर्तन सम्बन्धी कुछ तीव्र कदम उठाये जायें।

(v) **आज कमाई करने वाले** (Today's Bread Winners)-इनमें उन पुराने उत्पादों को सम्मिलित किया जाता है जिनका नवीनीकरण कर दिया गया है।

(vi) **कल कमाई करने वाले** (Tomorrow's Bread Winners)-इसमें वे उत्पाद सम्मिलित किये जाते है जो नये है या कल कमाई करने वाले है।

(II) **विक्रय स्थायित्व** (Sales Stability)- प्रत्येक कम्पनी का यह उद्देश्य होता है कि एक अवधि से दूसरी अवधि तक विक्रय में स्थायित्व बना रहे। विक्रय मात्रा में अत्यधिक परिवर्तन कम्पनी के लिए हानिकारक होते है।

एक कम्पनी को इस सम्बन्ध में विचार करना होता है कि उत्पाद अन्तर्लय के वैकल्पिक समायोजन विक्रय स्थायित्व को किस प्रकार प्रभावित करते हैं। तीन **नये उत्पादकों** को उत्पाद अन्तर्लय में सम्मिलित किये जाने के सम्बन्ध में निर्णय लिया जाना है। **प्रथम**, उत्पाद अत्यन्त स्थिर विक्रय वाला है। **द्वितीय**, उत्पाद वर्तमान उत्पादों से सम्बन्धित नहीं है और **तृतीय**, उत्पाद का विक्रय वर्तमान कुल विक्रय के साथ अत्यन्त ऋणात्मक सह-सम्बन्ध (Negative Correlation) है।

(यदि **प्रथम** उत्पाद को उत्पाद अन्तर्लय में सम्मिलित किया जाये तो इसकी वर्तमान विक्रय परिवर्तनशीलता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा क्योंकि उसके विक्रय में उच्च स्थायित्व है। चूँकि **द्वितीय** उत्पाद वर्तमान विक्रय से सह-सम्बन्धित नहीं है अत: उसे उत्पाद अन्तर्लय में सम्मिलित करने की स्थिति में विक्रय परिवर्तनशीलता के स्तर में वृद्धि हो जायेगी। केवल **तृतीय** उत्पाद जिसका वर्तमान विक्रय से ऋणात्मक रूप से सह-सम्बन्ध है, कुल विक्रय परिवर्तनशीलता में कमी ला सकता है।)

(III) **लाभ** (Profit)- एक कम्पनी द्वारा अर्जित किये जा सकने वाले लाभ की राशि अन्तिम रूप से उत्पाद अन्तर्लय पर निर्भर करती है। कम्पनी का वर्तमान उत्पाद अन्तर्लय एक निश्चित स्तर पर विक्रय और लाभों का अर्जन करता है। कम्पनी का उत्पाद अन्तर्लय वास्तव में कम्पनी के सम्भावित लाभों की ऊपरी सीमा निर्धारित करता है, जबकि कम्पनी का विपणन कार्यक्रम यह निर्धारित करता है कि लाभ की उस सीमा के कितने निकट पहुँचा जा सकता है। विभिन्न उत्पाद मदों के सापेक्षिक लाभों के योगदान की जानकारी उनके सापेक्षिक विक्रय से नहीं होती। प्रत्येक उत्पाद के लाभों के योगदान के ज्ञात करने के लिए उत्पाद से अपार्जित आय और उस पर आने वाली लागत के अन्तर को मापा जाना चाहिए।

उत्पाद अन्तर्लय अथवा मिश्र को प्रभावित करने वाले घटक (Factors influencing Product Mix)

औद्योगिक उत्पाद एवं उपभोक्ता उत्पाद दोनों के सम्बन्ध में निर्माता के उत्पाद अन्तर्लय को निम्नांकित घटक प्रभावित करते हैं :

(1) **कम्पनी छवि में परिवर्तन की इच्छा** (Desire to Change Company's Image)-कम्पनी छवि में परिवर्तन के प्रयास में उत्पाद अन्तर्लय को बदलना ऊर्ध्वमुखी व्यापार एवं अधोमुखी व्यापार (Trading Up and Trading Down)-रीति-नीति से सम्बन्धित है। आजकल अनेक निर्माताओं ने अपने उत्पाद अन्तर्लय में श्रेष्ठ किस्म या ऊँची कीमत के उत्पादों को जोड़कर कम्पनी छवि को ऊँचा उठाने का प्रयास किया है।

(2) **वित्तीय प्रभाव** (Financial Influence)-अनेक वित्तीय कारण भी उत्पाद अन्तर्लय को प्रभावित करते हैं। एक फर्म अपने वित्तीय साधनों का अधिक अच्छी प्रकार से प्रयोग करने के लिए सामान्यत: विविधीकरण (Diversification) का सहारा लेती है। नवीन प्रतिस्पर्द्धी उत्पाद, माँग में परिवर्तन आदि कारणों से एक उत्पाद

NOTES

NOTES

तेजी से अप्रचलन की स्थिति में पहुँच सकता है। कभी-कभी एक फर्म वित्तीय कारणों से सरलीकरण (Simplification) का भी निर्णय लेती है। कुछ उत्पादों पर बहुत अधिक पूँजीगत विनियोग करना पड़ता है, जबकि उनसे मिलने वाला प्रतिफल अपेक्षाकृत कम होता है। इसी प्रकार स्लो मूविंग (Slow Moving) उत्पादों के परित्याग का भी निर्णय लिया जा सकता है।

(3) **उत्पादन प्रभाव** (Production Influence)-एक कम्पनी के उत्पाद अन्तर्लय को उत्पादन भी प्रभावित करता है। एक निर्माता अपनी उत्पादन क्षमता का अधिक अच्छा प्रयोग करने और शुद्ध उत्पादन लागतों को कम करने के लिए उत्पाद अन्तर्लय में परिवर्तन करने का निर्णय ले सकता है। बड़े पैमाने पर उत्पादन करने से प्रति इकाई लागत में कमी होती है।

(4) **विपणन प्रभाव** (Marketing Influences)-विपणन अन्तर्लय में नये उत्पाद को सम्मिलित करने के निम्न दो मुख्य कारण होते है-**प्रथम**, नये बाजारों की खोज करने या वर्तमान बाजारों का विस्तार करके विक्रय में वृद्धि करना। **द्वितीय**, विक्रेताओं, शाखा कार्यालयों आदि का अधिक अच्छा प्रयोग करके फर्म को विपणन क्षमता का प्रभावशाली ढंग से प्रयोग करना।

कुछ दशाओं में उत्पाद पंक्ति में सरलीकरण (Simplifying) द्वारा भी विपणन प्रभावशीलता मे वृद्धि की जा सकती है। **बीमार** (Sick) और अप्रचलित (Obsolete) उत्पादों का परित्याग करके फर्म शेष उत्पादों के विपणन की ओर अधिक ध्यान देने में समर्थ हो सकती है।

(5) **प्रतिस्पर्द्धी क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ** (Competitive Actions and Reactions) -प्रतिस्पर्द्धा का प्रभावशाली ढंग से सामना करने के लिए एक कम्पनी अपनी उत्पाद पंक्ति में अन्य कम्पनियों से भिन्नता रख सकती है जिससे कीमत अन्तर सम्भव न रहे। यह विभेदीकरण (Diversification) का सहारा लेकर प्रतिस्पर्द्धी से कुछ छुटकारा प्राप्त कर सकती है। प्रतिस्पर्द्धी क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ भी उत्पाद अन्तर्लय को प्रभावित करती हैं।

(6) **बाजार माँग में परिवर्तन** - (Change in Market Demand) - उपभोक्ता, जनसंख्या क्रय शक्ति, व्यवहार आदि में परिवर्तन के कारण एक उत्पाद की बाजार माँग में परिवर्तन हो सकता है। उपभोक्ता जनसंख्या संरचना में परिवर्तन होते रहते हैं। जब उपभोक्ताओं की क्रय शक्ति में परिवर्तन हो जाये तो एक निर्माता को उत्पाद अन्तर्लय में परिवर्तन के लिए बाध्य होना पड़ता है, जैसे- यदि उपभोक्ताओं की आय में वृद्धि हो जाने से उनकी क्रय शक्ति बढ़ जाये तो निर्माता को निम्न श्रेणी की वस्तुओं का उत्पाद बन्द करना पड़ता है। इसी प्रकार उपभोक्ता व्यवहार का परिवर्तन भी उत्पाद अन्तर्लय को प्रभावित करता है। उपभोक्ताओं की आदतें, प्राथमिकताएँ, अभिप्रेरणाएँ, प्रवृत्तियाँ आदि में परिवर्तन हो जाने पर उन्हीं के अनुरूप उत्पाद अन्तर्लय में परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है।

अनुकूलतम उत्पाद अन्तर्लय
(THE OPITMAL PRODUCT MIX)

फिलिप कोटलर के अनुसार, "यदि कम्पनी उत्पाद अन्तर्लय में किसी भी प्रकार के समायोजन द्वारा अपने लक्ष्यों में वृद्धि न कर सके तो कहा जाता है कि कम्पनी का चालू उत्पाद अन्तर्लय अनुकूलतम है।"[1] सभी कम्पनियों के लिये अनुकूलतम उत्पाद अन्तर्लय भिन्न-भिन्न होता है। यदि किसी कम्पनी का मुख्य उद्देश्य लाभों को अधिकतम करना है तो उत्पाद अन्तर्लय उस समय तक अनुकूलतम कहलायेगा, जबकि पुराने कुछ उत्पादों का परित्याग करके या संशोधित करके या नवीन उत्पादों को सम्मिलित करके भी लाभों में वृद्धि करना सम्भव न हो।

उत्पाद पंक्ति अथवा उत्पाद रेखा
(PRODUCT LINE)

उत्पाद पंक्ति अथवा रेखा का अर्थ (Meaning of Produce Line)

डब्ल्यू.जे.स्टेण्टन (W.J.Stanton) के अनुसार, "आवश्यकीय रूप में समान उपयोगों एवं समान भौतिक विशेषताओं वाले उत्पादों का एक विस्तृत समूह उत्पाद रेखा कहलाता है।" जिन्हे किन्हीं किसी भी निम्न कारणों से सम्बन्धित किया जा सकता है तो वे उत्पादों की एक पंक्ति के रूप में दृष्टिगोचर होते है, उत्पाद रेखा कहलाते हैं :

(i) जिन्हे एक मूल्य क्षेत्र में सम्मिलित किया जाता है।

(ii) जिनकी विपणन विधियाँ एक समान होती है।

(iii) जिनका प्रयोग एक-दूसरे के साथ किया जाता है।

(iv) वे समान प्रकार के उपभोक्ता समुदाय की आवश्यकताओं की पूर्ति करते है।

प्रमुख उत्पाद पंक्ति अथवा रेखा रीति-नीतियाँ (Major Product Line Strategies)

NOTES

आधुनिक समय मे यह देखने में आता है कि अनेक फर्मों ने उत्पादो के पुराने मॉडलों को त्याग कर नवीन मॉडलो को अपनाना प्रारम्भ कर दिया है। कुछ फर्में उत्पाद विविधीकरण का सहारा ले रही है। इसी प्रकार कुछ फर्में नियमित रूप से केवल फैशन की नवीनतम वस्तुओं का ही विक्रय कर रही है।

औद्योगिक या उपभोक्ता उत्पादों के विपणन में निर्माताओं और मध्यस्थों द्वारा अनेक प्रमुख उत्पाद-पंक्ति रीति-नीतियों का प्रयोग किया जाता है। इनमें से अनेक रीति-नीतियाँ उत्पाद अन्तर्लय के परिवर्तन को भी सम्मिलित करती है। प्रमुख उत्पाद-पंक्ति रीति-नीतियाँ निम्नलिखित हैं :

(1) **उत्पाद विभिन्नीकरण एवं बाजार विभक्तीकरण सम्बन्धी रीति-नीति** (Product Differentiation and Market Segmentation Strategy)-इन रीति-नीतियों का प्रयोग उन कम्पनियों द्वारा किया जा सकता है जो अपूर्ण या एकाधिकारिक प्रतियोगिता वाले बाजारों में कीमत विहीन प्रतिस्पर्द्धा (Non-price Competition) करना चाहती है। उत्पाद विभिन्नीकरण और बाजार विभक्तीकरण के ये दो सम्बद्ध उत्पाद रीति-नीतियाँ है।

उत्पाद विभिन्नीकरण की रीति-नीति द्वारा बाजार विस्तार का प्रयास करने वाले विक्रेता को अनेक प्रकार के बाजार दबावों का सामना करना पड़ता है। बाजार जितना अधिक व्यापक होता है, सभी उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं को एक ही उत्पाद द्वारा सन्तुष्ट करना उतना ही कठिन होता है। ऐसी परिस्थितियों में उपभोक्ता प्राथमिकताओं के प्रभाव को कम करने के लिए उत्पाद विभिन्नीकरण की रीति-नीति का प्रयोग करने वाले विक्रेता को अधिक संवर्द्धन-व्यय करने पड़ते है।

इस प्रकार बाजार विभक्तीकरण के अन्तर्गत एक ही उत्पाद से सभी ग्राहकों की आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने के स्थान पर ग्राहक विशेषताओं के अनुसार भिन्न-भिन्न उत्पादों का विकास किया जाता है। उसे उत्पाद अन्तर्लय के विस्तार की रीति-नीति से सम्बन्धित कहा जा सकता है। बाजार विभक्तीकरण की अवस्था में भी विज्ञापन और अन्य संवर्द्धनात्मक प्रयासों की आवश्यकता पड़ती है।

(2) **ऊर्ध्वमुखी व्यापार एवं अधोमुखी व्यापार सम्बन्धी रीति-नीति** (Trading Up and Trading Down Strategy)- ऊर्ध्वमुखी बाजार एवं अधोमुखी बाजार मूल रूप से उत्पाद-पंक्ति विस्तार की रीति-नीतियाँ हैं, परन्तु ये संवर्द्धनात्मक रीति-नीति के रूप में भी प्रयुक्त होती है। सामान्य रूप से एक कम्पनी अपना उत्पाद-पंक्ति विस्तार या तो ऊर्ध्वमुखी व्यापार द्वारा करती है या अधोमुखी व्यापार द्वारा। वह एक साथ दोनों ही रीति-नीतियों का प्रयोग नही करती।

एक कम्पनी उस समय अधोमुखी व्यापार (Trading Down) की रीति-नीति का प्रयोग करती हुई मानी जाती है जबकि वह प्रतिष्ठा उत्पादों की पंक्ति में इस आशय से एक कम कीमत का उत्पाद सम्मिलित करती है जो मूल उत्पाद को खरीदने में असमर्थ थे, वे भी उसे क्रय करना चाहेंगे।

यह उल्लेखनीय है कि ऊर्ध्वमुखी व्यापार और अधोमुखी व्यापार रीति-नीतियाँ दोनों ही अत्यन्त जोखिमपूर्ण है क्योंकि यह आवश्यक नही है कि निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति हो ही जाए। हो सकता है कि नया उत्पाद उपभोक्ताओं में भ्रम पैदा करने वाला सिद्ध हो यह रीति-नीतियाँ उस समय भी किसी उद्देश्य को पूरा नहीं करतीं जबकि पुराने उत्पादों की लागत पर नये उत्पाद के विक्रय में वृद्धि हो अर्थात् पुराने उत्पादो के विक्रय मे कमी हो जाये और नये उत्पाद के विक्रय मे वृद्धि हो जाये।

अधोमुखी व्यापार की दशा में यह भय रहता है कि वह नवीन उत्पाद कम्पनी की ख्याति को हानि पहुँचायेगा। इसके विपरीत, ऊर्ध्वमुखी व्यापार की मुख्य समस्या यह है कि कम्पनी को अपनी छवि (Image) बदलनी पड़ती है। यह कार्य काफी कठिन है।

(3) **विद्यमान उत्पादों के नये प्रयोगों की विकास सम्बन्धी रीति-नीति** (Development of the New Uses for Existing Products Strategy)-इस रीति-नीति का प्रयोग भी अनेक निर्माताओ द्वारा किया जाता है। इसके अन्तर्गत विद्यमान उत्पादों के नवीन प्रयोग खोजे जाते हैं। यद्यपि एक कम्पनी विक्रय परिमाण और लाभों में वृद्धि हेतु केवल इसी रीति-नीति पर पूर्ण रूप से निर्भर नहीं रह सकती तथापि नये बाजारों को खटखटाने की दृष्टि से यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

NOTES

(4) **विद्यमान उत्पादों की परिवर्तन सम्बन्धी रीति-नीति** (Alteration of Existing Products Strategy)- एक कम्पनी नवीन उत्पादों के विकास के स्थान पर विद्यमान उत्पादों में ही उचित परिवर्तन की नीति अपना सकती है।

(5) **उत्पाद अन्तर्लय या मिश्र संकुचन सम्बन्धी रीति-नीति** (Contraction of Product Mix Strategy)- उत्पाद अन्तर्लय का संकुचन भी निम्न दो प्रकार से किया जा सकता है- **प्रथम**, कुछ पंक्तियों का परित्याग करके एवं **द्वितीय**, सरलीकरण (Simplification) करके। उदाहरण के लिए, यदि कोई कम्पनी जो चार उत्पाद-पंक्तियों का निर्माण कर रही है, उनमें से एक या अधिक उत्पाद-पंक्तियों का निर्माण बन्द करके उत्पाद अन्तर्लय का संकुचन कर सकती है।

(6) **उत्पाद अन्तर्लय अथवा मिश्र की विस्तार रीति-नीति** (Expansion of Product Mix Strategy)- एक कम्पनी द्वारा उत्पाद अन्तर्लय विस्तार निम्न दो प्रकार से किया जा सकता है-**प्रथम**, उत्पाद-पंक्तियों की संख्या में वृद्धि करके; **द्वितीय**,उत्पाद-पंक्ति में विस्तार करके। यह आवश्यक नहीं है कि नवीन पंक्तियाँ वर्तमान उत्पादों से सम्बन्धित ही हों।

उपरोक्त विवेचन यह स्पष्ट करता है कि उत्पाद विभिन्नीकरण द्वारा समस्त बाजार की सामान्य सेवा करने का उद्देश्य होता है, जबकि बाजार विभक्तीकरण का उद्देश्य एक सीमित बाजार की विशेष सेवा करना होता है।

उत्पाद सरलीकरण एवं विविधीकरण
(PRODUCT SIMPLIFICATION AND DIVERSIFICATION)

प्रत्येक उपक्रम के प्रबन्धकों को यह एक आधारभूत निर्णय लेना होता है कि वे अनेक उत्पादों के निर्माण का कार्य करेंगे या एक अथवा कुछ ही उत्पादों का। कुछ कम्पनियाँ एक ही वस्तु का निर्माण करके उस पर ही पूरा ध्यान केन्द्रित करती हैं, जबकि कुछ कम्पनियाँ एक से अधिक ऐसी वस्तुओं का निर्माण करती हैं जो परस्पर सम्बन्धित होती हैं।

उत्पाद सरलीकरण (Product Simplification)

अर्थ (Meaning)- सरलीकरण के अन्तर्गत अनावश्यक वस्तुओं का निर्माण बन्द कर दिया जाता है। सरलीकरण के पक्ष वालों का कहना है कि इसके कारण फुटकर व्यापारी, थोक व्यापारी, उत्पादनकर्ता आदि कुछ ही वस्तुओं में व्यवहार करने के कारण अधिक कुशलता से कार्य कर पाते हैं, क्योंकि यह स्पष्ट है कि कुछ ही वस्तुओं में व्यवहार करना सरल होता है। सरलीकरण में केवल वर्तमान लाभदायकता को ही सम्मिलित नहीं किया जाता। कभी-कभी कीमत, संवर्द्धन या विपणन वाहिकाओं में परिवर्तन द्वारा अलाभप्रद उत्पाद भी लाभप्रद उत्पाद बन जाते हैं। इसके अतिरिक्त, मध्यस्थगण पूर्ण पंक्ति (Full Line) की माँग करते है। ऐसी अवस्था में उत्पाद-पंक्ति की पूर्णता हेतु अलाभप्रद उत्पादों को भी उत्पाद-पंक्ति से नहीं निकाला जाता।

सरलीकरण के लाभ (Advantages of Simplification) - सरलीकरण के कारण एक निर्माता को मिलने वाले लाभों में मुख्य रूप से निम्नांकित को सम्मिलित किया जा सकता है:

(1) **विपणन संगठन में सुगमता**-कम उत्पादों के होने के कारण विपणन संगठन सम्बन्धी कार्य काफी सरल हो जाता है। इसी के साथ उत्पाद नियन्त्रण में भी काफी आसानी हो जाती है।

(2) **विशिष्ट यन्त्रों एवं विधियों का प्रयोग**-सरलीकरण की अवस्था में निर्माता के लिए विशिष्ट यन्त्रों एवं विधियों का प्रयोग सम्भव है। प्रमापित उत्पादन विधि को अपनाकर कुछ उत्पादों में विशिष्टता प्राप्त की जा सकती है।

(3) **लागतों में कमी**-कम उत्पादों के कारण निरीक्षण व्यय मे कमी हो जाती है, साथ ही कुछ ही यन्त्र रखने होते हैं। अनेक उत्पादों का थोड़ी मात्रा में उत्पादन करने की तुलना में कुछ ही उत्पादों का अधिक मात्रा में उत्पादन करना उत्पादन लागतों में पर्याप्त कमी करता है।

(4) **व्यवसाय के लाभों में वृद्धि**-सरलीकरण की नीति का प्रयोग करने पर व्यवसाय के लाभों में वृद्धि होना स्वाभाविक ही है। इसके अन्तर्गत अलाभप्रद उत्पादों का उत्पादन बन्द कर दिया जाता है।

सरलीकरण का दोष (Disadvantages of Simplification)-सरलीकरण के विरुद्ध निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं:

(1) **औद्योगिक अस्थिरता में वृद्धि**-एक या कुछ ही उत्पादों के होने पर उनके असफल होने या बाजार में उस उत्पाद विशेष की मांग में अचानक कमी आ जाने से या सरकारी नीति में किसी प्रकार विपरीत परिवर्तन हो जाने पर संस्था के बन्द होने की सम्भावनाएँ बढ़ जाती है।

(2) **अधिक विकास नहीं**-सरलीकरण संस्था के विकास को सीमित कर देता है। यह स्वत: स्पष्ट है कि उत्पादों की संख्या अधिक होने पर संस्था का तेजी से विकास होता है और उत्पादो की कमी विकास को भी सीमित कर देती है।

NOTES

(3) **विभिन्न आवश्यकताओं की सन्तुष्टि सम्भव नहीं**-सरलीकरण के अन्तर्गत उत्पादित वस्तुओं की संख्या कम कर देने के कारण उपभोक्ताओं की विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं को सन्तुष्ट नही किया जा सकता।

उत्पाद विविधीकरण (Product Diversification)

अर्थ (Meaning)-उत्पाद विविधीकरण से आशय एक निर्माता या वितरक द्वारा एक से अधिक उत्पादों का निर्माण या वितरण करना है। उत्पाद विविधीकरण की नीति का प्रयोग करने वाला निर्माता अपने उत्पादो की संख्या मे वृद्धि का प्रयास करता है। आज लोगों की आवश्यकताओं में निरन्तर वृद्धि हो रही है। अत: इन आवश्यकताओ को सन्तुष्ट करने और प्रतिस्पर्द्धा का सामना करने के लिए उत्पाद विविधीकरण की नीति का प्रयोग किया जाता है।

उत्पाद विविधीकरण के प्रकार (Forms of Product Diversification)-इसके प्रमुख रूप निम्नलिखित है

(1) **उत्पाद प्रतिस्थापन** (Product Replacement)-इसे कम्पनी द्वारा अपनायी जाने वाली सुरक्षात्मक नीति भी कहा जा सकता है। इसके अन्तर्गत एक बाजार खण्ड से प्राप्त होने वाले विक्रय के स्तर को बनाए रखने का प्रयत्न किया जाता है। अत: पुराने उत्पाद जिनका विक्रय कम होने लगा है, उनके स्थान पर उसी प्रयोग में आने वाले नवीन उत्पादों को प्रस्तुत किया जाता है।

(2) **बिना मिलती-जुलती उत्पाद-पंक्तियों में विविधीकरण** (Diversification into Unrelated Product Lines)-इसके अन्तर्गत विद्यमान उत्पाद-पंक्तियों से बिना मिलती-जुलती उत्पाद-पंक्तियों को उत्पाद अन्तर्लय में जोड़ा जाता है। ऐसी पंक्तियों को पूर्णत: भिन्न बाजारों में बेचा जाता है। इसका प्रयोग एक कम्पनी तभी करती है, जबकि नये बाजारों के लिए उत्पादों के विकास की लाभप्रद सम्भावनाओं का पता चलता है।

(3) **मिलती-जुलती उत्पाद पंक्तियों में विविधीकरण** (Diversification into related Product Lines)-कम्पनियाँ उत्पाद अन्तर्लय में विद्यमान पंक्तियों से मिलती-जुलती पंक्तियों को सम्मिलित करने का निर्णय मुख्य रूप से निम्न दो कारणों से लेती है-(अ) कम्पनी के ज्ञान (Know-how) का विशिष्ट बाजार खण्डों में अधिक उपयोग करने के लिए एवं (ब) वर्तमान उत्पाद-पंक्ति में अप्रचलनता की जोखिम को कम करने के लिए।

उत्पाद विविधीकरण को प्रेरित करने वाले घटक (Factors Motivating Product Diversification)-निम्नलिखित घटकों अथवा तत्वों से प्रेरित होकर ही एक कम्पनी उत्पाद विविधीकरण का सहारा लेती है:

(1) **उच्च प्रबन्ध**-यदि उच्च प्रबन्ध संस्था के विकास में दिलचस्पी लेता है, महत्वाकांक्षी है तो नवीन उत्पादों के विकास की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं। नवीन प्रयोगों के कारण विविधीकरण के लिए प्रेरणा मिलती है।

(2) **वैज्ञानिक और प्राविधिक परिवर्तन**-निरन्तर हो रहे वैज्ञानिक और प्राविधिक परिवर्तन भी कम्पनी को उत्पाद विविधीकरण के लिए प्रेरित करते हैं। जब नवीन आविष्कारों के फलस्वरूप बाजार में नयी वस्तुएँ लोकप्रिय होने लगती हैं तो निर्माता को विविधीकरण के लिए प्रेरणा मिलती है।

(3) **उपयुक्त क्षमता**-यदि किसी संस्था में साधन क्षमता का पर्याप्त उपयोग नहीं हो रहा है तो इस अप्रयुक्त क्षमता का प्रयोग करने के लिए भी विविधीकरण किया जाता है। एक कम्पनी को अप्रयुक्त वित्त सुविधाएँ, प्रबन्ध सुविधाएँ, वितरण सुविधाएँ आदि विविधीकरण के लिए प्रेरित करती है।

विविधीकरण के लाभ (Advantages of Diversification) -कम्पनियों द्वारा विविधीकरण की नीति का प्रयोग जिन कारणों से किया जाता है, उनमें मुख्य रूप से निम्नांकित को सम्मिलित किया जा सकता है:

(1) **लाभों में वृद्धि** की जा सकती है।

(2) **मौसमी उच्चावचनों को कम** किया जा सकता है।

NOTES

(3) **लागतों में कमी** की जा सकती है।

(4) विभिन्न प्रकार के उत्पादों को प्रस्तुत कर **नये मध्यस्थों या व्यापारियों को आकर्षित** किया जा सकता है।

(5) **वितरण वाहिकाओं की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए** भी कुछ कम्पनियाँ उत्पाद विविधीकरण का सहारा लेती है। कभी-कभी मध्यस्थ सम्पूर्ण उत्पाद-पंक्ति (Full Product Line) की माँग करते है। ऐसी स्थिति मे उत्पाद-पंक्ति को पूरा करने हेतु भी कुछ नवीन उत्पाद, उत्पाद-पंक्ति में सम्मिलित किये जाते है।

(6) **कुछ कम्पनियाँ विद्यमान उत्पादों के विक्रय में वृद्धि हेतु** भी उत्पाद विविधीकरण की नीति का प्रयोग करती हैं।

(7) **विद्यमान प्रतिष्ठा का लाभ उठाने के लिए** भी विविधीकरण की नीति का प्रयोग किया जाता है जब एक कम्पनी कुछ उत्पाद बाजार में सफलतापूर्वक प्रस्तुत कर लेती है तो बाजार में कम्पनी की प्रतिष्ठा बन जाती है। लोग उस कम्पनी के उत्पादों को अच्छी निगाह से देखने लगते है।

(8) **ग्राहकों की प्रार्थनाओं** (Request) को पूरा करने के लिए भी विविधीकरण का प्रयोग किया जा सकता है। यह बात औद्योगिक वस्तुओं के सम्बन्ध में विशेष रूप से लागू होती है। कभी-कभी ग्राहक भी कम्पनी से नवीन उत्पादों के उत्पादन के लिए प्रार्थना करते है।

(9) **विद्यमान विक्रय और वितरण सुविधाओं का अधिक प्रभावपूर्ण उपयोग** करने के लिए विविधीकरण की नीति का प्रयोग किया जाता है। उत्पादों की संख्या में वृद्धि करने पर यह आवश्यक नहीं कि विक्रय और वितरण सुविधाओं में भी वृद्धि हो क्योंकि बेकार पड़ी शक्ति का प्रयोग हो जाता है।

उत्पाद विविधीकरण के दोष (Disadvantages of Diversification)-जहाँ उत्पाद विविधीकरण की नीति अपनाने से कुछ दोष भी हैं, जो अग्रलिखित है

(1) **प्रबन्ध सम्बन्धी कठिनाइयाँ**- उत्पादों और उत्पाद-पंक्तियों की संख्या अधिक होने के कारण प्रबन्ध कार्य में जटिलताएँ बढ़ जाती हैं।

(2)**विशेषज्ञता का अभाव**-अनेक उत्पादों का निर्माण और विक्रय करने के कारण कम्पनी बाजार में उन सभी उत्पादों के सम्बन्ध में विशेषता की स्थिति प्राप्त नहीं कर सकती। यह तो केवल एक या कुछ उत्पादों की अवस्था में ही सम्भव है।

(3) **नवीन उत्पादों की असफलता का भय**-कम्पनी को नवीन उत्पादों की असफलता से उत्पन्न जोखिम का भी सामना करना पड़ता है। यदि नवीन उत्पाद असफल हो जाता है तो उसे काफी हानि उठानी पड़ती है।

(4) **विक्रय तथा वितरण कर्मचारियों पर अतिरिक्त भार**-उत्पाद विविधीकरण के कारण कम्पनी के विक्रय और वितरण कर्मचारियों के कार्य में वृद्धि नहीं की जाती। सामान्यतः उत्पादों की संख्या में वृद्धि के परिणामस्वरूप कर्मचारियों की संख्या में वृद्धि नहीं की जाती।

भारत में उत्पाद विविधीकरण (Product Diversification in India)-वर्तमान में हमारे देश में उत्पाद विविधीकरण की नीति लोकप्रिय है। अधिकाधिक निर्माता उत्पाद विविधीकरण की नीति का प्रयोग कर रहे हैं। इण्डियन टोबैको कम्पनी द्वारा सिगरेट के साथ-साथ मछलियों का निर्यात व होटल व्यवसाय शुरू करना, डी.डी.एम. द्वारा कपड़े के साथ-साथ घी, इलेक्ट्रॉनिक केलकुलेटर आदि का निर्माण करना।

प्रश्न

(QUESTIONS)

दीर्घ उत्तरीय/निबन्धात्मक प्रश्न (Long Answer/Essay Type Questions)

1. उत्पाद पंक्ति की नीतियों तथा युक्तियों की विस्तार में विवेचना कीजिए।
2. उत्पाद विविधीकरण से आप क्या समझते हैं? इनसे प्रेरित होने वाले तत्वों का वर्णन कीजिए। भारत में उत्पाद विविधीकरण के कुछ उदाहरण दीजिए।
3. "विपणन विभाग उत्पाद विविधीकरण की नीति को प्रोत्साहित करते है, जबकि उत्पादन विभाग अपने प्रचलन सुगम बनाने को।" इस कथन के सभी पहलुओं की विवेचना कीजिए।
4. उत्पाद मिक्स का अर्थ समझाइए। उत्पाद मिक्स में परिवर्तनों को कौन-कौन से घटक प्रभावित करते हैं?

5. उत्पाद अन्तर्लय (मिश्र) से आप क्या समझते है? निर्माता लोग अपने उत्पाद अन्तर्लय (मिश्र) को समय-समय पर बदलना क्यों आवश्यक समझते है? कारण सहित लिखिए।

6. उपभोग और औद्योगिक वस्तुओं को समझाइए। क्या इन दोनों प्रकार की वस्तुओं के विपणन में अन्तर है?

7. एक उत्पादन नीति के अंशों के रूप में मरलीकरण तथा विभक्तिकरण की विवेचना कीजिए।

NOTES

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Type Questions)

1. किन्हीं दो उत्पाद निर्णयों को स्पष्ट कीजिए।
2. उत्पाद वर्गीकरण संक्षेप में स्पष्ट कीजिए।
3. उत्पाद अन्तर्लय (मिश्र) का अर्थ समझाइए।
4. उत्पाद रेखा को स्पष्ट कीजिए।
5. उत्पाद अवधारणा को समझाइए।

●●●

अपनी प्रगति की जाँच क
Test your Progress

NOTES

20

उत्पाद विकास
(PRODUCT DEVELOPMENT)

उत्पाद विकास का अर्थ एवं परिभाषाएँ (Meaning and Definitions of Product Development)

यह वह प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत चलन से बाहर हुए उत्पादों को तकनीकी एवं विपणन क्षमताओं से संयोजित कर नये उत्पाद अथवा संशोधित उत्पाद के रूप में बाजार में प्रस्तुत किया जाता है। साधारण अर्थों में उत्पाद विकास से आशय उत्पाद पंक्ति (रेखा) में नवीन उत्पाद को जोड़ना अथवा पुराने उत्पाद में डिजाइन, इन्जीनियरिंग एवं किस्म में सुधार करना है। उपभोक्ताओं की बदलती हुई माँग, रुचियों को सन्तुष्ट करने, नवीन अनुसन्धानों एवं आविष्कारों का लाभ उठाने, बाजार में अपने उत्पाद की बिक्री में वृद्धि करने तथा अपने विपणन एवं सम्पूर्ण विपणन संगठन का अधिकाधिक लाभ उठाने के लिए नवीन उत्पाद का निर्माण अथवा नवाचार किया जाता है। इसकी सहायता से ही उत्पाद विभिन्नताएँ प्रदर्शित की जा सकती है; लागतों में कमी की जा सकती है; प्रतिस्पर्द्धा का सामना किया जा सकता है। वस्तु उत्पादन के संबंध में प्रमुख विद्वानों की परिभाषाएँ निम्न प्रकार हैं-

(1) **विलियम जे. स्टेण्टन** (William J. Stanton) के अनुसार "उत्पाद अनुसन्धान, इन्जीनियरिंग एवं डिजाइन से सम्बन्धित तकनीकी क्रियाएँ उत्पाद विकास कहलाती है।"[1]

(2) **विलियम लेजर** (William Lazer) के अनुसार, "उत्पाद विकास वह प्रक्रिया है जो तकनीकी एवं विपणन क्षमताओं को संयोजित करती है और पतनोन्मुख उत्पादों के पुनर्स्थापनों के रूप में उत्पाद अथवा संशोधित उत्पाद बाजार में प्रस्तुत करती है।"

(3) **लिपसन तथा डार्लिंग** (Lipson and Darling) के अनुसार, "उत्पाद विकास वह प्रक्रिया है जिसमें सामान्यत: एक वर्ष की दी हुई अवधि के लिए उत्पाद रेखा में नवीन उत्पाद जोड़े जाते हैं, चालू उत्पाद हटाये जाते हैं एवं संशोधित किये जाते हैं।"[2]

अत: उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर **"नवीन उत्पाद विकास का अर्थ उत्पाद रेखा में नवीन उत्पादों को जोड़ने, चालू उत्पादों की डिजाइनों, आकारों, उपयोगों, गुणों एवं पैकेज विशेषताओं में सुधार करने तथा अवांछित उत्पादों को पृथक करने से होता है।"**

उत्पाद विकास का क्षेत्र
(scope of product development)

उत्पादन विकास का क्षेत्र बहुत विशाल है। इसके क्षेत्र में निम्न बातें आती है -

(1) उत्पाद में नवाचार (Innovation in Product)

(2) अन्तिम रिप्लेसमेण्ट (Ultimate Replacement)

(3) पर्याप्त विक्रय उपरान्त सेवा (Adequate after Sales Service)

(4) प्रभावी पैकेजिंग, ब्राण्डिंग एवं लेबिलिंग (Effective Packaging, Branding and Labelling)

(5) मितव्ययी उत्पादन (Economical Production)।

(6) गहरी एवं व्यापक पर्याप्त वितरण व्यवस्था (Depth Wide and Adequate Distribution System)।

(7) सन्तोषजनक निष्पादन (Satisfactory Performance)।

(8) उपभोक्ता अथवा ग्राहक द्वारा स्वीकृति (Consumer or Customer Acceptance)।

उत्पाद विकास का महत्व
(IMPORTANCE OF pRODUCT DEVELOPMENT)

नवीन उत्पाद विकास किसी भी व्यावसायिक फर्म, समाज और राष्ट्र के दृष्टिकोण से एक अत्यन्त महत्वपूर्ण क्रिया है। इसके महत्व/लाभ के प्रमुख बिन्दु निम्नलिखित है :

NOTES

(1) **बाजार का विस्तार** (Expansion of Market)-नवीन उत्पाद का विकास होने से उसके बाजार का विकास होता है। बाजार का क्षेत्र स्थानीय सीमाओं को पार करके राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय सीमाओं को पार करके अन्तर्राष्ट्रीय सीमाओं में प्रवेश कर लेता है।

(2) **प्रतिस्पर्द्धियों से सामना** (Facing Competition)-नवीन उत्पाद विकास से उत्पाद की किस्म में सुधार होता है जिसके परिणामस्वरूप उसकी प्रतिस्पर्द्धा करने की शक्ति में वृद्धि होती है।

(3) **उत्पाद जीवन-चक्र में वृद्धि** (Increase in Product Life-cycle)-नवीन उत्पाद विकास से उत्पाद के जीवन-चक्र में वृद्धि होती है। उत्पाद अपेक्षाकृत अधिक अवधि तक चलता है।

(4) **कम्पनी की ख्याति में वृद्धि** (Increase in Company Goodwill)-कम्पनी द्वारा नवीन उत्पाद विकास कार्यक्रम को नियमित रूप से चलाये जाने के कारण उसके उत्पाद बाजार में दिनों-दिन लोकप्रिय होते जाते है। उत्पादों के लोकप्रिय होने से उनके निर्माता अथवा कम्पनी की ख्याति में वृद्धि होती है।

(5) **फर्म के लाभों में वृद्धि** (Increase in Firm's Profit)-नवीन उत्पाद विकास कार्यक्रम फर्म के लाभों में वृद्धि करते है, क्योंकि नवाचार फर्म की निष्क्रिय क्षमता को प्रयुक्ति एवं नूतन औद्योगिकी के लाभों की उपलब्धि को नव उत्पादों के विकास द्वारा सम्भव बनाता है। इस प्रकार फर्म की प्रतिस्पर्द्धी स्थिति एवं लाभों की मात्रा में सुधार होता है।

(6) **विक्रय की मात्रा में वृद्धि** (Increase in Amount of Sales)-नवीन उत्पाद विकास के परिणामस्वरूप उत्पाद की किस्म मे सुधार होता है जिसके कारण ग्राहक सन्तोष में वृद्धि होती है। ग्राहक सन्तोष वृद्धि के परिणामस्वरूप विक्रय की मात्रा में तीव्र गति से वृद्धि होती है।

(7) **ग्राहक-सन्तोष में वृद्धि** (Increase in Customer-satisfaction)-नवीन उत्पाद विकास फर्म की तकनीकी एवं विपणन क्षमताओं को बाजार माँग के साथ इस प्रकार संयोजित करता है, ताकि फर्म की उत्पाद रेखाएँ विविध ग्राहक-आवश्यकताओं की पूर्ति अधिकतम सन्तुष्टि उपलब्ध करते हुए कर सकें। नवाचार नये उत्पादों के विकास को सम्भव बनाता है तथा सरलीकरण उत्पाद रेखाओं की अनावश्यक जटिलता को दूर करके ग्राहकों के उत्पाद चयन को विवेकपूर्ण सुगमता उपलब्ध कराता है।

(8) **औद्योगिक स्थिरता को प्रोत्साहन** (Incentive to Industrial Stability)-व्यावसायिक संस्थाओं के नवीन उत्पाद विकास कार्यक्रम उत्पाद रेखाओं का विस्तार तथा संकुचन करते है जिससे अर्थव्यवस्था में माँग-पूर्ति सन्तुलित रहती है; रोजगार के अवसरों में कमी नहीं होने पाती और परिणामस्वरूप आर्थिक प्रगति में स्थायित्व आता है।

उत्पाद विकास की प्रक्रिया
(product development process)

उत्पाद विकास की सामान्य प्रक्रिया निम्न अवस्थाओं से गुजरती है:-

I. समन्वेषण (Exploration)

यह उत्पादन विकास प्रक्रिया की प्रथम अवस्था है। किसी नवीन उत्पाद के विकास के लिए यह परम आवश्यक है कि फर्म को निरन्तर नवीन विचारों की प्राप्ति होती रहे। इन विचारो की प्राप्ति के लिए अनेक स्रोत हो सकते है। इनमे से प्रमुख स्रोत निम्न है- (i) उच्च प्रबन्ध (Top Management), (ii) विश्वविद्यालय एवं सरकारी अनुसन्धान प्रयोगशालाएँ (Universities and Government Research Laboratories), (iii) वैज्ञानिक एवं तकनीकी विशेषज्ञ (Scientists and Technical Experts), (iv) प्रतिस्पर्द्धी उत्पाद (Competitive Product), (v) कर्मचारीगण विक्रेताओं सहित (Employees indcluding Salesmen), (vi) ग्राहक (Customers), तथा (vii) अन्य स्रोत (Other Sources)।

II. मार्जन (Screening)

समन्वेषण से प्राप्त विभिन्न उत्पाद विचारों को मार्जन प्रक्रिया के अन्तर्गत फर्म के विभिन्न उद्देश्यो के संदर्भ में परखा जाता है। यह प्रक्रिया उत्पादन विकास का द्वितीय चरण है। यह प्रक्रिया निम्न प्रकार सचालित होती है-

NOTES

(i) **उत्पाद सम्बन्धी विचारों के क्रम निर्धारण की युक्तियाँ** (Product-Idea Rating Devices)-जो कम्पनियाँ बड़ी मात्रा में विचारों को एकत्र करती है, उनके सामने एक मुख्य समस्या प्रस्तावों के महत्वानुसार क्रम प्रदान करने की है जिससे वे प्रसाधनों के अनुसार सर्वाधिक आकर्षक प्रस्ताव को चुन सकें। इस कार्य हेतु कम्पनियाँ जाँच सूचियों (Check Lists) का प्रयोग करती है। इन घटकों में विक्रय परिमाण, कच्चे माल, उत्पादन भार, वर्तमान उत्पादों पर प्रभाव आदि को सम्मिलित किया जा सकता है।

(ii) **छानबीन विधि** (A Screening Procedure)-नवीन उत्पाद विकास प्रक्रिया के इस चरण में सबसे पहले विचारों का मूल्यांकन कम्पनी के उद्देश्यों और संसाधनों के सन्दर्भ में किया जाता है। जो विचार कम्पनी के उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायक नहीं होता उन्हें छोड़ दिया जाता है।

III. व्यावसायिक विश्लेषण (Business Analysis)

नवीन उत्पाद विकास प्रक्रियाँ के इस चरण के अन्तर्गत विचार पर ठोस कार्य प्रारम्भ हो जाता है। इस चरण में प्रबन्ध मुख्य रूप से निम्न कार्य करता है-(i) उत्पाद की व्यावहारिकता के सम्बन्ध में गहन अध्ययन हेतु उत्तरदायित्व सौंपना, (ii) उत्पाद के विकास हेतु कार्यक्रम तैयार करना, (iii) बाजार माँग और उत्पाद की लाभदायकता का अनुमान लगाना एवं (iv) उत्पाद विशेषताओं की पहचान करना।

IV. उत्पाद विकास (Product Development)

प्रक्रिया के इस चरण के अन्तर्गत एक विचार को, जो अब तक कागजों पर ही था, भौतिक उत्पाद (Physical Product) में परिवर्तित किया जा सकता है। निर्धारित विशिष्ट विवरणों (Specifications) के अनुसार उत्पाद का थोड़ी मात्रा में उत्पादन किया जाता है या उत्पाद मॉडल बनाये जाते हैं। उत्पाद के इन्जीनियरिंग और उत्पादन व्यावहारिकता के निर्धारण के लिए आवश्यक प्रयोगशाला परीक्षण और अन्य प्राविधिक मूल्यांकनों का कार्य किया जाता है।

सामान्यत: नवीन उत्पाद के विकास में निम्न अवस्थाएँ होती हैं- (i) ब्राण्ड एवं पैकेजिंग (Brand and Packaging), (ii) उपभोक्ता रुचि परीक्षाएँ (Consumer Teste Testing), एवं (iii) आदर्श रूपों का विकास (Developing Prototypes)।

(i) **ब्राण्ड एवं पैकेजिंग** -उपभोक्ता रुचि के निर्धारण के बाद ब्राण्ड और पैकेजिंग की समस्या आती है।

(ii) **उपभोक्ता रुचि परीक्षाएँ** -तकनीकी विभाग द्वारा बनाये गये मॉडलों या आदर्श रूपों के सम्बन्ध में उपभोक्ताओं की रुचि का पता लगाया जाता है। उपभोक्ता रुचि परीक्षाओं द्वारा विभिन्न मॉडलों के सम्बन्ध में उपभोक्ताओं की प्राथमिकताओं का ज्ञात करके सर्वोत्तम मॉडल का चुनाव किया जाता है।

(iii) **आदर्श रूपों का विकास** -व्यावसायिक विश्लेषण की व्यवस्था को पार करने पर विचार को तकनीकी विभाग को सौंप दिया जाता है जिससे वह उत्पाद के ऐसे आदर्श रूप या मॉडल का निर्माण एवं विकास कर सके जो ग्राहकों को पसन्द आने वाले हों, जिनका निर्माण मितव्ययी हो और जो अन्य कठिनाइयों से भी मुक्त हो।

V. परीक्षात्मक विपणन (Test Marketing)

नवीन विकसित वस्तु को बड़े पैमाने पर व्यावसायिक आधार पर बाजार में प्रस्तुत करने से पूर्व एक विपणनकर्ता को परीक्षात्मक विपणन करना चाहिए। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रयोगशाला से प्राप्त निष्कर्ष व्यावसायिक आधार (Commercial Basis) पर उत्पाद को प्रस्तुत करने पर प्राप्त होने वाले निष्कर्षों से भिन्न हो सकते हैं। अत: नवीन उत्पादों को पहले एक चुने हुए बाजार भाग में ही प्रस्तुत करना चाहिए जिससे उत्पाद में उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं के अनुरूप आवश्यक संशोधन किये जा सकें।

फिलिप कोटलर (Philip Kotler) के अनुसार, "परीक्षात्मक विपणन वह स्थिति है जिसमें सम्पूर्ण उत्पाद और विपणन कार्यक्रम को सर्वप्रथम छोटी संख्या में अच्छी प्रकार से चुने हुए सुनिश्चित विक्रय वातावरण में आजमाया जाता है।"

परीक्षात्मक विपणन में नवीन उत्पाद को सम्पूर्ण बाजार में प्रस्तुत नहीं किया जाता, बल्कि बाजार के कुछ ही भाग में प्रस्तुत किया जाता है और जिसका चुनाव बहुत सावधानी से किया जाता है। यह ग्राहकों की प्रतिक्रियाओं का भी पता लगाने के लिए किया जाता है। इसमें वस्तु के साथ-साथ विपणन कार्यक्रम की भी जाँच की जाती

है। परीक्षात्मक विपणन के लिए वस्तु का उत्पादन थोड़ी संख्या में ही किया जाता है। अच्छे परिणामों की प्राप्ति पर वस्तु को बड़े पैमाने पर व्यावसायिक आधार पर समस्त बाजार में प्रस्तुत किया जाता है।

परीक्षात्मक विपणन के कारण (Reasons for Test Marketing)-परीक्षण विपणन के अनेक कारण हो सकते हैं। उनमें से प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं .

(1) **विकल्पों का पता लगाना** (To know Alternatives)-विकल्प का अर्थ है कि जिस वस्तु का परीक्षात्मक विपणन हो रहा है, उपभोक्ता उसको ग्रहण न करके किस प्रकार की वस्तु ग्रहण कर सकता है, उसका पता लगाना है जिससे कि उसी प्रकार का नमूना (Model) बनाकर फिर परीक्षात्मक विपणन करके व्यवसाय में आवश्यक फेर-बदल करके लाभ कमाया जा सके।

(2) **उपभोक्ता की प्रतिक्रिया का पता लगाना** (To know Consumer's Reaction)-परीक्षात्मक विपणन का एक कारण उपभोक्ता प्रतिक्रिया का पता लगाना है जिससे कि किसी वस्तु की विक्रय क्षमता का अनुमान लगाया जा सके और भावी हानि से बचा जा सके।

परीक्षात्मक विपणन की क्रियाविधि (Procedure for Test Marketing)-परीक्षात्मक विपणन करते समय लिये जाने वाले निर्णयों में निम्न को सम्मिलित किया जा सकता है- (1) परीक्षण के बाद की जाने वाली क्रिया (What action should be taken after the test?), (2) एकत्रित की जाने वाली सूचनाएँ (What informations should be collected during the test?), (3) परीक्षण की अवधि (Duration of Test), (4) शहरों का चयन (The Selection of the Cities) एवं (5) शहरों की संख्या (How many Test Cities?)।

(1) **परीक्षण के बाद की जाने वाली क्रिया** (What action should be taken after the test?)-प्राप्त सूचनाओं के आधार पर नवीन उत्पाद के सम्बन्ध में परीक्षण के परिणामों को निम्न तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है-(अ) काफी अच्छी बिक्री, (ब) सन्तोषजनक बिक्री एवं (स) अपर्याप्त या असन्तोषजनक बिक्री।

यदि नवीन उत्पाद के परीक्षण से ज्ञात हो कि बिक्री बहुत अच्छी रही है तो उस उत्पाद को व्यावसायिक रूप से प्रस्तुत करने का निर्णय लिया जा सकता है।

यदि बिक्री सन्तोषजनक है तो निम्न में से कोई भी निर्णय लिया जा सकता है-(अ) नवीन परीक्षात्मक विपणन करना; (ब) व्यावसायिक स्तर पर प्रस्तुतीकरण; (स) उत्पाद संशोधन एवं (द) उत्पाद विचार छोड़ना।

यदि बिक्री असन्तोषजनक होती है तो निर्णय सम्बन्धी विकल्प निम्न होंगे-(अ) नवीन परीक्षात्मक विपणन करना, (ब) उत्पाद संशोधन करना एवं (स) उत्पाद विचार छोड़ना

(2) **एकत्रित की जाने वाली सूचनाएँ** (What informations should be collected during the test?)-उत्पाद के विक्रय, भण्डार के लदान, ग्राहकों की प्रतिक्रियाओं, उत्पादित वस्तु की माँग और प्रकृति के सम्बन्ध में सूचनाएँ एकत्रित की जानी चाहिए। ये सूचनाएँ निम्नलिखित साधनों से प्राप्त की जाती हैं-(अ) क्रय की मात्रा (Purchase Quantity), (ब) उपभोक्ता सूचियाँ (Consumer Panels) एवं (स) क्रेता सर्वेक्षण (Buyer Surveys)।

(3) **परीक्षण की अवधि** (Duration of Test)-सामान्यतः परीक्षात्मक विपणन कुछ महीनों या दिनों से लेकर कुछ वर्षों के लिए किया जा सकता है। परीक्षण के समय के सम्बन्ध के लिये जाने वाले निर्णय को अनेक घटना प्रभावित करते हैं जिनमें से निम्न तीन विशेष महत्वपूर्ण है-(अ) औसत पुनः क्रय अवधि (Average Repurchase Period), (ब) प्रतिस्पर्द्धी स्थिति (Competitive Situation) एवं (स) परीक्षात्मक विपणन लागत (Cost of Test Marketing)।

(4) **शहरों का चयन** (The Selection of the Cities)-वैसे तो कोई शहर ऐसा नहीं होता जो पूरी तरह से सम्पूर्ण देश का प्रतिनिधित्व कर सके। फिर भी कुछ शहर अन्य शहरों की अपेक्षा सम्पूर्ण राष्ट्रीय विशेषताओं का अधिक अच्छा प्रतिनिधित्व करते है। वस्तु की प्रकृति के अनुसार ही शहरों का चयन किया जाना चाहिए।

(5) **शहरों की संख्या** (Number of Test Cities?)-परीक्षात्मक विपणन के लिए प्रयोग किये जाने वाले शहरों की संख्या में काफी भिन्नता देखने को मिलती है। कुछ क्षेत्र का सही प्रतिनिधित्व करने के लिए यह आवश्यक है कि शहरों की संख्या अधिकाधिक रखी जाये परन्तु शहरों की संख्या के साथ-साथ परीक्षात्मक विपणन में आने वाली लागत में भी वृद्धि होती जाती है।

VI. व्यवसायीकरण (Commercialization)

जब एक नवीन वस्तु के विकास की सभी प्रारम्भिक अवस्थाएँ पूरी हो जाती हैं और वस्तु परीक्षात्मक विपणन में खरी उतरती है तो ऐसी अवस्था में वस्तु के वाणिज्यीकरण की समस्या आती है। इसके अन्तर्गत उत्पाद

NOTES

NOTES

को व्यावसायिक आधार पर बाजार मे प्रस्तुत किया जाता है। वस्तु को बाजार मे प्रस्तुत करने से पूर्व कम्पनी को उत्पाद की विशेषताओं के साथ-साथ ब्राण्ड पैकेजिंग के सम्बन्ध मे भी अन्तिम निर्णय लेना पड़ता है। वास्तव में, नवीन उत्पाद के विकास मे अब तक व्यय की गई राशि से कही अधिक राशि व्यय करनी पड़ती है।

प्राय: कम्पनियाँ किसी नवीन उत्पाद को सम्पूर्ण बाजार में एक साथ प्रस्तुत नही करती बल्कि कुछ प्रमुख क्षेत्रों में उत्पादन को प्रारम्भ में प्रस्तुत किया जाता है और बाद में धीरे-धीरे सम्पूर्ण बाजार क्षेत्र में वह उत्पाद प्रचलित किया जाता है। इसे नियोजित बाजार विस्तार की नीति भी कहा जा सकता है। जब कुछ कम्पनियों को अपने उत्पाद की सफलता मे कुछ सन्देह होता है तो ये धीमी गति में बाजार में प्रवेश करती हैं जिससे वे सम्भावित हानि को सीमित रख सकें।

उत्पाद विकास के सिद्धान्त
(PRINCIPLES OF PRODUCT DEVELOPMENT)

(1) **उपयुक्तता का सिद्धान्त** (Principles of Suitability)-उपयुक्तता के सिद्धान्त के अनुसार जिस उद्देश्य मे उत्पाद का विकास किया जा रहा है, उसी के अनुसार उत्पाद का विकास होना चाहिए। इसके अभाव मे उत्पाद के असफल होने की सम्भावना है।

(2) **विशिष्टीकरण का सिद्धान्त** (Principle of Specialization)-विशिष्टीकरण का सिद्धान्त उत्पाद विकास के क्षेत्र मे आवश्यक रूप से उत्पाद विविधीकरण को समाप्त करने तथा फर्म द्वारा केवल उन्हीं वस्तुओं के उत्पादन करने पर बल देता है जिनके उत्पादन मे फर्म को कुशलता प्राप्त होती है। इस सिद्धान्त का प्रयोग करके संस्था अपने संसाधनों का अधिकतम उपयोग कर सकती है।

(3) **सरलीकरण का सिद्धान्त** (Principle of Simplification)-सरलीकरण का सिद्धान्त यह बताया है कि उत्पाद रेखाओं (Product Lines) को सरल बनाकर ही न्यूनतम लागत पर अधिकतम लाभ अर्जित किया जा सकता है। उत्पाद विकास के क्षेत्र में इस सिद्धान्त को अपनाने का आशय उत्पाद रेखाओं से अनावश्यक किस्मों (Varieties), आकारों (Sizes), रूपों, तत्वों आदि को दूर करने से है, ताकि उत्पाद रेखा को उपभोक्ता एवं फर्म की दृष्टि से अधिक उपयोगी बनाया जा सके।

(4) **प्रमापीकरण का सिद्धान्त** (Principle of Standardisation)-प्रमापीकरण का सिद्धान्त यह बताता है कि प्रत्येक उत्पाद निश्चित गुण, शक्ति, आकार, रूप, रंग, मात्रा का होना चाहिए। उद्योग में प्रत्येक उत्पाद का उत्पादन/निर्माण करने से पूर्व एक प्रमाप निश्चित कर लिया जाता है तथा सभी उत्पादन की इकाइयाँ उसी प्रमाप के अनुकूल होती हैं।

नवीन उत्पादों की असफलता
(FAILURE OF NEW PRODUCTS)

सामान्यत: बहुत कम नवीन उत्पाद बाजार में सफलता प्राप्त कर पाते हैं। नवीन उत्पादों की असफलता का प्रतिशत 80 से 90 तक पाया जाता है। जहाँ तक कि सुनियोजित उत्पाद नियोजन वाली फर्मों के भी काफी उत्पादों को असफलता का सामना करना पड़ता है। विभिन्न सर्वेक्षणों से यह सिद्ध हो गया है कि ऐसे उत्पाद, जिनका पूर्ण अनुसन्धान, विकास और वाणिज्यीकरण किया गया है, वे भी बाजार में सफलता प्राप्त नहीं कर पाये।

केडबरी टिफू लिमिटेड (Cadbury Typhoo Ltd.) नामक ब्रिटेन की प्रसिद्ध फर्म ने अपने 18 उत्पादों की असफलता के कारणों के सम्बन्ध में निम्नांकित जानकारी दी है :

असफलता का कारण	असफल उत्पादों की संख्या
उत्पाद बनाने का नुस्खा (Prescription)	7
वैचारिक दोष (Conceptual Shortcomings)	4
कीमत (Price)	3
पैकेज (Package)	2
कम विस्तार या फैलाव (Low Volume)	2

नवीन उत्पादों की असफलता के कारण (Causes of Failure of New Products)

नवीन उत्पादों की असफलता के कारणों में मुख्य रूप से निम्नांकित को सम्मिलित किया जा सकता है:

(1) **अनुपयुक्त समय** (Unsuitable Timings)-किसी नवीन उत्पाद को बाजार में प्रस्तुत करने का भी समय है। किसी उत्पाद को समय से पहले अथवा समय के निकल जाने या देर में प्रस्तुत करने पर वह असफल हो जाता है।

(2) **विक्रय-शक्ति की दुर्बलता** (Weakness of Sales-force)-नवीन उत्पाद की असफलता विक्रय कर्मचारियों पर भी निर्भर करती है। यदि विक्रय कर्मचारी अयोग्य हों, अपने कार्य के सम्बन्ध में प्रशिक्षण प्राप्त किये हुए न हों या अभिप्रेरित (Motivated) न हों तो भी उत्पाद असफल हो जाते है।

NOTES

(3) **विपणन प्रयास में कमी** (Insufficient Marketing Effort)-अपर्याप्त विपणन प्रयास के कारण भी नवीन उत्पाद असफल हो जाते हैं। प्राय: साधनों के अभाव की स्थिति में कम्पनी विपणन की ओर समुचित ध्यान नहीं दे पाती।

(4) **वितरण सम्बन्धी दुर्बलताएँ** (Weaknesses in Distribution)-कभी-कभी वितरण सम्बन्धी दोषों के कारण भी नवीन उत्पाद असफल हो जाते हैं। उत्पाद का बाजार में समुचित वितरण न होने पर समय पर उत्पाद के बाजार में न मिलने के कारण अथवा मध्यस्थों का समुचित सहयोग न मिल पाने के कारण नवीन उत्पाद बाजार में आशातीत सफलता प्राप्त नहीं कर पाते।

(5) **प्रतियोगिता** (Competition)-प्रतियोगिता का सामना न कर पाने के कारण भी अनेक उत्पाद असफल हो जाते हैं। उदाहरण के लिए, यदि प्रतिस्पर्द्धी अपने उत्पाद की कीमत कम कर देते है तो नवीन उत्पाद के विकास में कमी आना स्वाभाविक है।

(6) **अपर्याप्त बाजार विश्लेषण** (Inadequate Market Analysis)-जब नवीन उत्पाद के विकास के पूर्व पर्याप्त बाजार विश्लेषण नहीं किया जाता तो भी अनेक उत्पाद असफल हो जाते हैं, जैसे-माँग का सही अध्ययन न किया जाना या बाजार की आवश्यकताओं को ठीक प्रकार से न समझना आदि।

(7) **उत्पाद का मूल्य** (Price of the Product)-उत्पाद का अधिक मूल्य निर्धारित करने के कारण भी नवीन उत्पाद असफल हो जाते हैं। जब लागत ज्यादा आती है तो मूल्य भी अधिक रखने पड़ते है, परिणामस्वरूप विक्रय की मात्रा कम हो जाती है।

(8) **उत्पाद सम्बन्धी दोष** (Product Defects)-प्राय: नवीन उत्पाद स्वयं के दोषों के कारण ही असफल होते है। इन दोषों में उत्पाद की खराब डिजाइन, आकार, टिकाऊपन का अभाव, खराब किस्म, उत्पाद का ठीक प्रकार से कार्य न करना एवं खराब पैकेजिंग आदि सम्मिलित किये जा सकते हैं।

नये उत्पाद की असफलता को रोकने के सुझाव
(SUGGESTIONS TO PREVENT FAILURE OF NEW PRODUCT)

नेशनल इण्डस्ट्रियल कॉन्फ्रेन्स बोर्ड के नवीन उत्पाद की असफलता को रोकने के लिए निम्न सुझाव दिये है :

(1) नये उत्पाद विकास कार्यक्रम को प्रभावी बनाना चाहिए तथा उपभोक्ताओं के बारे में अनुसन्धान कार्य निरन्तर चलता रहना चाहिए।

(2) प्रवर्तन कार्यवाहियों तथा सन्देशवाहन व्यवस्थाओं में आवश्यक सुधार करके प्रभावशाली बनाना चाहिए।

(3) उस वस्तु विशेष की किस्म में आवश्यक सुधार करना चाहिए तथा किस्म नियन्त्रण को लागू करना चाहिए।

(4) उपक्रम के संगठन में उपयुक्त सुधार करके संगठन की सभी क्रियाओं को उत्पाद की विपणन क्रियाओं की ओर प्रेषित करना चाहिए।

(5) उपक्रम के शोध तथा विकास सम्बन्धी कार्यों को अधिक मजबूत बनाया जाना चाहिए।

(6) विपणन संगठन में उपयुक्त सुधार किया जाना चाहिए।

(7) प्रारम्भिक विचारों तथा वस्तुओं के निर्माण के समय पूर्ण विश्लेषण किया जाना चाहिए तथा परिस्थितियों को प्रभावित करने वाले सभी घटकों के सम्बन्ध में सही सूचनाएँ प्राप्त करनी चाहिए।

(8) उत्पाद असफलता के कारणों की खोज करके उनका उन्मूलन करना चाहिए।

NOTES

उत्पाद विकास की समस्याएँ
(PROBLEMS OF PRODUCT DEVELOPMENT)

एक व्यावसायिक उपक्रम द्वारा किसी नयी वस्तु का विकास करना कोई आसान कार्य नहीं है। नयी वस्तुओं का विकास करते समय एक फर्म को निम्न समस्याओं का सामना करना पड़ता है :

(1) **प्रभावशाली सम्प्रेषण की समस्या** -नये उत्पाद के लिए ग्राहकों, मध्यस्थों तथा सामान्य जनता की भावनाओं की जानकारी प्रबन्धकों को होनी चाहिए। इसके लिए प्रभावशाली एवं खुले सम्प्रेषण की कठिनाई उपस्थित होती है।

(2) **विश्लेषण की समस्या** -नये उत्पाद का विकास करते समय पर्याप्त मात्रा में व्यावसायिक विश्लेषण किया जाना चाहिए। व्यावसायिक विश्लेषण के लिए समय, सही सूचनाओं का प्राप्त होना तथा विश्लेषण की उपयुक्त तकनीकों का चुनाव आदि की कठिनाई होती है।

(3) **नियन्त्रण एवं अनुगमन की समस्या** -बहुत से उत्पाद अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही इसलिए असफल हो जाते हैं कि उन पर प्रभावशाली ढंग से नियन्त्रण नहीं किया जाता और बाजार परीक्षण के दौरान प्राप्त सुझावों का अनुगमन नहीं किया जाता है।

(4) **निश्चित उद्देश्यों की समस्या** -स्पष्ट एवं सुनिश्चित उद्देश्यों एवं निर्देशों के अभाव में नये उत्पाद के विकास में कठिनाई होगी। प्राय: कोई भी उच्च प्रबन्ध नव उत्पाद की पूर्ण योजना की जिम्मेदारी अपने ऊपर नहीं लेता है। सार्वजनिक उपक्रमों में यह समस्या अधिक पायी जाती है।

(5) **प्रशासनिक एवं संगठनात्मक समस्या** -नई वस्तु का उत्पाद करने पर कम्पनी के सामने उस वस्तु के उत्पादन, वितरण आदि कार्यों के लिए अतिरिक्त मात्रा में कर्मचारियों की व्यवस्था करने की समस्या आती है। इससे प्रशासनिक कठिनाइयाँ बढ़ती हैं।

प्रश्न
(QUESTIONS)

दीर्घ उत्तरीय/निबन्धात्मक प्रश्न (Long Answer/Essay Type Questions)

1. "एक नई वस्तु के विकास की प्रक्रिया विचारों के प्रादुर्भाव से प्रारम्भ होती है तथा वस्तु को अपनाने के साथ समाप्त होती है।" व्याख्या कीजिए।
2. नवीन उत्पाद विकास की व्यूह रचना की विस्तृत विवेचना कीजिए।
3. नवीन उत्पाद विकास से आप क्या समझते हैं? नवीन उत्पाद विकास के महत्व की विवेचना कीजिए।
4. नवीन उत्पाद विकास का अर्थ समझाइए। उत्पाद विकास की चार अवस्थाओं का वर्णन कीजिए।
5. नई वस्तु के विकास की प्रक्रिया अच्छे विचारों की खोज से प्रारम्भ होती है। एक कम्पनी के खोज-प्रयत्नों को परिभाषित करने वाली कुछ धारणाओं का सुझाव दीजिए।

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

6. परीक्षात्मक विपणन से आप क्या समझते हैं? आप परीक्षात्मक विपणन से किन लाभों की आशा रखते हैं? आप नगरों की पसन्द एवं परीक्षण अवधि का निर्धारण कैसे करेंगे?
7. एक नवीन उत्पाद के विकास की प्रक्रिया को समझाइए। वे क्या कारण हैं जो नवीन उत्पाद के विफल बनाने में योगदान देते हैं?
8. उत्पाद विकास से आप क्या समझते हैं? इसके प्रमुख सिद्धान्तों एवं लाभों को बताइए।

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Type Questions)

1. नवीन उत्पाद की असफलता को रोकने के कोई तीन सुझाव दीजिए।
2. नवीन उत्पादों की असफलता के कोई तीन कारण बताइए।
3. नवीन उत्पाद विकास के किन्हीं दो सिद्धान्तों को समझाइए।
4. नवीन उत्पाद विकास का अर्थ समझाइए।

●●●

21

उत्पाद नियोजन
(PRODUCT PLANNING)

उत्पाद नियोजन का अर्थ
(Meaning of Product Planning)

उत्पादन नियोजन एक प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत एक उत्पादक संस्था भविष्य के निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए अपने सीमित साधनों का अधिकाधिक उपयोग करने हेतु रीति-नीतियों का निर्धारण करती है। सामान्य अर्थ में उत्पाद नियोजन से आशय उत्पादित की जाने वाली वस्तु या उत्पाद के बारे में विस्तृत योजना बनाने से है। किसी उत्पाद का कब, कितनी मात्रा में, किस आकार में, किस भार में, किस ब्राण्ड में एवं किस पैकिंग में उत्पादन किया जाये, इसका पहले से ही निर्धारण किया जाना उत्पाद नियोजन कहलाता है।

उत्पाद नियोजन की परिभाषाएँ (Definitions of Product Planning):- उत्पाद नियोजन के संबंध में विभिन्न विद्वानों की परिभाषा निम्न प्रकार है-

(1) **विलियम जे.स्टेण्टन** के अनुसार, "उत्पाद नियोजन में वे समस्त क्रियाएँ सम्मिलित होती हैं जिनके द्वारा निर्माता एवं मध्यस्थ यह निर्णय करते हैं कि कम्पनी की उत्पाद पंक्ति में कौन-कौन सी वस्तुएँ रखी जानी चाहिए। एक आदर्श उत्पाद-नियोजन यह निश्चित करता है कि कम्पनी के सभी उत्पाद पारस्परिक रूप से युक्तिसंगत ढंग से सम्बद्ध रहें। उनमें से प्रत्येक वस्तु उचित हो और कम्पनी की प्रतियोगितात्मक एवं लाभ स्थिति मजबूत बने।"

(2) **मैसन एवं रथ** के अनुसार, "एक उत्पाद के जीवन में उसके जन्म (उत्पत्ति) से लेकर उसका कम्पनी की उत्पाद-पंक्ति से परित्याग तक के नियोजन, निर्देश एवं नियन्त्रण की सभी स्थितियाँ उत्पाद नियोजन कहलाती हैं।"

(3) **जॉनसन** के अनुसार, "उत्पाद नियोजन उत्पाद की उन विशेषताओं का निर्धारण करता है जिससे कि उपभोक्ताओं की अनन्त इच्छाओं को सर्वोत्तम ढंग से पूरा किया जा सके और वस्तुओं में विक्रय योग्यता को जोड़ा जा सके और उन विशेषताओं को अन्तिम उत्पादों में सम्मिलित किया जा सके।"[3]

(4) **कार्ल एच. टिटजिन** के अनुसार, "नये उत्पादों के सम्बन्ध में खोज, जाँच-पड़ताल, विकास एवं उनका वाणिज्यीकरण, वर्तमान शक्तियों में सुधार तथा सीमान्त या अलाभकारी मदों का परित्याग करने से सम्बन्धित क्रियाओं को चिह्नित करना एवं उनका परिवीक्षण करना वस्तु-नियोजन कहलाता है।"

(इस प्रकार उत्पाद नियोजन में मुख्य रूप से तीन विचारणीय बातें सम्मिलित हैं- **प्रथम** , नवीन उत्पादों का विकास, **द्वितीय** , उपभोक्ता की बदलती हुई आवश्यकताओं और प्राथमिकताओं के सन्दर्भ में वर्तमान उत्पाद पंक्तियों में किया जाने वाला आवश्यक सुधार और **तृतीय** , सीमान्त तथा अलाभप्रद उत्पादों का परित्याग करना।)

"उत्पाद नियोजन, उत्पाद प्रबन्ध का वह भाग है जो उत्पाद विकास की भावी सम्भावनाओं को निर्धारित करता है, किन वस्तुओं को बाजार में प्रस्तुत करना है और किनको समाप्त करना है, इसे निश्चित करता है तदुपरान्त वस्तु की विशेषताओं को तय कर उन्हें अन्तिम उपभोक्ताओं तक पहुँचाने की व्यवस्था करता है।" उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर उत्पादन नियोजन की निम्न विशेषताएँ बतलाई जा सकती है-

(1) उत्पाद नियोजन विपणन कार्यक्रम का प्रारम्भिक बिन्दु होता है अर्थात् सम्पूर्ण विपणन कार्यक्रम उत्पादों को ध्यान में रखकर ही बनाया जाता है।

(2) अलाभकर वस्तुओं के बारे में सूचनाएँ एकत्रित करके यदि भावी लाभदायकता की सम्भावना न रहे तो उनके उत्पाद को बन्द करना।

(3) यदि वर्तमान उत्पाद में कुछ परिवर्तन करने से उसकी माँग में वृद्धि होने की सम्भावना है तो इस सम्बन्ध में तर्कों को एकत्र करना एवं उनके अनुरूप उत्पादों में परिवर्तन करना उत्पाद नियोजन में आता है।

(4) उत्पाद पंक्तियों (Product lines) में फेर-बदल करने का निर्णय लेना।

(5) उत्पाद नियोजन में उपभोक्ता व्यवहार को प्रभावित करने वाली बातों का पता लगाकर उत्पादों को व्यावहारिक बनाने का प्रयास किया जाता है।

(6) नये उत्पादों का उत्पादन करने से पूर्व जाँच-पड़ताल की जाती है, ताकि ग्राहकों की आवश्यकताओं के अनुसार उत्पादन किया जा सके।

NOTES

उत्पाद नियोजन का महत्व
(IMPORTANCE OF PRODUCT PLANNING)

उत्पाद नियोजन के महत्व को हम निम्न तथ्यों के आधार पर स्पष्ट कर सकते है :

(1) **व्यापक क्षेत्र** (Wide Scope)-उत्पाद नियोजन का क्षेत्र अति व्यापक है। इसमें वस्तु का विकास, नवाचार, नाम, रंग, रूप, आकार, मूल्य, किस्म, ब्राण्ड, पैकेजिंग आदि महत्वपूर्ण क्षेत्रों का समावेश है

(2) **प्रतिस्पर्द्धा** (Competetion) -प्रतियोगी वस्तुओं की तुलना में कम्पनी के किसी उत्पाद का अस्तित्व बनाये रखने के लिए तथा उचित लाभ के साथ वस्तुओं का विक्रय करने के लिए उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन किया जाना चाहिए जिनकी बाजार में माँग है। वर्तमान गलाकाट प्रतिस्पर्द्धा के युग में उत्पाद नियोजन का महत्व और भी बढ़ गया है।

(3) **प्रबन्धकीय कुशलता को वृद्धि में सहायक** - उत्पाद नियोजन से प्रबन्धकीय कुशलता में वृद्धि होती है। इससे उत्पाद कार्य आसान हो जाता है। उत्पाद नियोजन के अभाव में फर्म की वही स्थिति होगी जो एक नाव को समुद्री लहरों के सहारे छोड़ने पर नाव की होती है।

(4) **उपक्रम के साधनों का उचित उपयोग** (Optimum Utilisation of Enterprise Resources)-उपक्रम के साधनो का सर्वोत्तम उपयोग करने में भी उत्पाद नियोजन का महत्वपूर्ण स्थान होता है। उत्पाद नियोजन इस प्रकार किया जाता है कि कोई साधन बेकार न पड़ा रहे तथा किसी साधन का आवश्यकता से अधिक उपयोग न किया जाये।

(5) **उपक्रम की लाभ क्षमता में वृद्धि** (Increase in Profit Capacity of the Enterprise)-विपणनकर्ता का प्रमुख उद्देश्य दीर्घकाल में अपने लाभों को अधिकतप करना होता है। उत्पाद नियोजन की सहायता से यह निश्चित किया जाना सरल होता है कि केवल उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन किया जावे जिनको लाभों के साथ आसानी से बेचा जा सके।

(6) **सामाजिक उत्तरदायित्व की पूर्ति का साधन** (Means of Meeting Social Responsibility)-एक विपणनकर्ता का सामाजिक उत्तरदायित्व होता है कि वह उसी प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन करे जो समाज के जीवन-स्तर को ऊँचा उठा सके।

(7) **विपणन कार्यक्रम का आधार** (Basis of Market Programme)-उत्पाद नियोजन सम्पूर्ण विपणन कार्यक्रम का आधार होता है। विपणन कार्यक्रम की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि उपक्रम का उत्पादित माल बिक जाए।

उत्पाद नियोजन का क्षेत्र
(SCOPE OF PRODUCT PLANNING)

उत्पाद नियोजन के क्षेत्र में निम्न बातों का समावेश किया जाता है

(1) **उत्पाद नवाचार** (Product Innovation)-उत्पाद नवाचार उत्पाद नियोजन का महत्वपूर्ण अंग है। उत्पाद नवाचार से आशय उत्पाद में नवीनता लाना है।

(2) **उत्पाद के नये उपयोग** -उत्पादित उत्पादों को उपभोक्ताओं के लिए अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए उसके नये-नये प्रयोग खोजे जाते हैं, ताकि उसकी माँग को बढ़ाया जा सके।

(3) **उत्पाद शैली** (Product Style)-शैली का आशय किसी उत्पाद को विशिष्ट कलात्मक तरीके से प्रस्तुतीकरण, निर्माण तथा क्रिया-वयन से लिया जाता है। **नाइस्ट्रोंग** के शब्दों में, "शैली का आशय किसी कला के क्षेत्र में विशिष्ट या भिन्नात्मक तरीके का प्रदर्शन करने या उसे ग्रहण करने से होता है।"

(4) **उत्पाद की किस्म** (Quality of the Product)-उत्पाद नियोजन में उत्पाद की किस्म का भी विशेष स्थान होता है। उपभोक्ता प्राय: अपनी सीमित आय का इस प्रकार उपयोग करना चाहते हैं कि उनकी क्रय-शक्ति का पूरा-पूरा सदुपयोग हो सके।

(5) **उत्पादों की ब्राण्ड, पैकेजिंग तथा लेबलिंग** (Product Brand, Packaging and Labeling)-उत्पाद नियोजन में उत्पाद की ब्राण्ड, पैकिंग तथा लेबलिंग का विशेष स्थान होता है। ब्राण्ड वह चिह्न या नाम है जिससे किसी उत्पाद को पहचाना जाता है तथा उसको याद रखा जाता है। पैकेजिंग किसी उत्पाद के ग्राहक तक सुरक्षित पहुँचाने के उद्देश्य तथा ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए की जाती है।

(6) **उत्पाद का मूल्य** (Product Price)-किसी भी उत्पाद का मूल्य उसकी बिक्री को अधिक मात्रा में प्रभावित करता है। अत: उत्पाद नियोजन में उत्पाद की कीमत पर विशेष ध्यान दिया जाता है। उत्पाद की कीमत काफी सोच-समझकर ही निर्धारित की जानी चाहिए।

(7) **उत्पाद की डिजाइन व आकार** (Product Design and Size)-उत्पाद की डिजाइन व आकार से आशय उस उत्पाद के ढाँचे से होता है जो उस उत्पाद विशेष को शक्ल, रंग तथा अन्य गुण प्रदान किये जाते हैं। उपभोक्ता की क्रय प्रक्रिया बहुत कुछ उत्पाद की डिजाइन तथा आकृति से भी प्रभावित होती है।

(8) **उत्पाद रंग** (Product Colour)-कोई भी ग्राहक जब उत्पाद क्रय करने जाता है तो उस ग्राहक को उत्पादों का रंग भी अपनी ओर आकर्षित करता है। ग्राहक वही उत्पाद खरीदता है जिसका रंग उसको अच्छा लगता है।

(9) **उत्पाद का नाम** (Product Name)-उत्पाद नियोजन में उत्पाद का नाम भी महत्वपूर्ण तत्व होता है। बाजार में उत्पाद की ग्राहक अच्छी प्रकार से माँग कर सके, इसके लिए ऐसा नाम रखा जाता है जो ग्राहकों को याद रह सके तथा आसानी से बोला जा सके।

(10) **उत्पाद निर्णय** (Product Decision)-यह उत्पाद नियोजन का सर्वप्रथम कदम है। किसी भी उत्पाद का उत्पादन करने से पूर्व उत्पादनकर्ता काफी सोच-समझकर यह निर्णय लेता है कि किस उत्पाद की बाजार में माँग है तथा कौन-सा उत्पाद अधिक बेचा जा सकता है।

उत्पाद नियोजन में विपणन प्रबन्धक की भूमिका
(MARKETING MANAGER'S ROLE IN PRODUCT PLANNING)

उत्पाद नियोजन के कार्य का उत्तरदायित्व फर्म के स्वामी का होता है। कम्पनी प्रारूप की अवस्था में संचालक मण्डल को यह दायित्व पूरा करना होता है। सामान्यत: संचालक मण्डल इस उत्तरदायित्व को विपणन प्रबन्धक को सौंप देता है, क्योंकि उत्पाद नियोजन के अधिकांश क्षेत्रों में विपणन घटक ही निर्णायक होता है। उत्पाद नियोजन कार्य को विपणन प्रबन्धक के कार्य क्षेत्र में रखना उचित ही है। ये सब प्रबन्धक विपणन प्रबन्धक के अधीन कार्य करते हैं और स्वयं विपणन प्रबन्धक संचालक मण्डल के प्रति उत्तरदायी होता है।

रिचर्ड बसकर्क के अनुसार, **''व्यवसाय संचालन सम्बन्धी विपणन प्रबन्धकीय विचारधारा के अन्तर्गत यह आवश्यक है कि उत्पाद नियोजन का आधारभूत उत्तरदायित्व विपणन विभाग पर हो, न कि उत्पादन या इन्जीनियरी विभागों पर।''**

विपणन प्रबन्धक को बाजार पर निरन्तर निगाह रखनी आवश्यक है। आधुनिक समय में उपभोक्ताओं की रुचियों, प्राथमिकताओं एवं आवश्यकताओं में तेजी से परिवर्तन हो रहे हैं। अत: उसे चाहिए कि वह उपभोक्ताओं की बदलती हुई आवश्यकताओं से स्वयं को अवगत रखे और आवश्यक सूचनाएँ उत्पादन और इन्जीनियरी विभागों तक पहुँचाये जिससे उत्पाद में आवश्यक परिवर्तन किये जा सकें।

नियोजित अप्रचलन
(PLANNED OBSOLESCENCE)

अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition) - प्रत्येक उत्पाद का एक जीवन-चक्र होता है। वह कभी न कभी अप्रचलन की स्थिति में अवश्य पहुँचता है। अप्रचलन (Obsolescence) को ह्रास की प्रक्रिया कहा जा सकता है। ऐसे उत्पाद जो पुराने हो जाते हैं और जिनका क्रय नहीं किया जाता, अप्रचलित उत्पाद कहलाते हैं और ऐसी प्रक्रिया को अप्रचलन कहा जाता है।

NOTES

विलियम जे.स्टेण्टन के अनुसार, "नियोजित अप्रचलन का उद्देश्य एक उत्पाद को पुराना बनाना है और इस प्रकार प्रतिस्थापित बाजार में वृद्धि करना है।" ऐसा अप्रचलन नियोक्ता द्वारा जानबूझकर किया जाता है। वर्तमान उत्पादों को जानबूझकर अप्रचलित करने के उद्देश्य से ही वस्तु सुधार किया जाता है। आधुनिक समय में विकसित और विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में नियोजित अप्रचलन काफी लोकप्रिय है। आधुनिक उपभोक्ता नवीनता पसन्द हो गया है। टिकाऊ वस्तुओं के मॉडलों में प्रति वर्ष परिवर्तन आवश्यक हो गया है। भारत में नियोजित अप्रचलन अभी इस सीमा तक आगे नहीं बढ़ा है, परन्तु कपड़ों के सम्बन्ध में नये डिजाइन और स्टाइल काफी लोकप्रिय होते जा रहे हैं।

नियोजित अप्रचलन की नीति को अनैतिक और अपव्ययपूर्ण माना है। इसे अपनाने से प्रति वर्ष सैकड़ों पुरानी मशीनें और उत्पाद बेकार हो जाते हैं। इसके विपरीत, अनेक विद्वान अर्थव्यवस्था के निरन्तर विकास के लिए इसे अनिवार्य मानते हैं।

पक्ष में तर्क - नियोजित अप्रचलन के पक्ष में निम्न तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं-(1) नियोजित अप्रचलन **निम्न आय वर्ग के लोगों के लिए अच्छा है।** नवीन मॉडल आ जाने से पुराने मॉडल के दाम कम हो जाते हैं। (2) वस्तुओं में निरन्तर परिवर्तन के फलस्वरूप **कीमत-स्पर्द्धा का महत्व कम हो जाता है।** (3) नियोजित अप्रचलन की नीति के पक्ष में यह भी तर्क दिया जाता है कि यदि यह नीति उपभोक्ताओं के हितों के विरुद्ध है तो वे नवीन वस्तुओं का प्रयोग न करके इस नीति को असफल कर सकते हैं। (4) इस नीति के प्रयोग से **वितरकों एवं मध्यस्थों तथा विक्रेताओं के उत्साह में वृद्धि होती है।** उन्हें उपभोक्ताओं को आकर्षित करने के लिए अधिक अवसर प्राप्त होते हैं। (5) नियोजित अप्रचलन की नीति के प्रयोग से **सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में गतिशीलता आती है और विकास एवं अनुसन्धान क्रियाओं को प्रोत्साहन मिलता है।** (6) उपभोक्ताओं की नवीन वस्तुओं के प्रति रुचि को सन्तुष्ट किया जा सकता है।

नियोजित अप्रचलन की विशेषताएँ (Characteristics of Planned Obsolescence)

विलियम जे. स्टेण्टन ने नियोजित अप्रचलन की निम्न विशेषताएँ बतलाई है :

(1) **फैशन अप्रचलन** (Style Obsolescence)-फैशन अप्रचलन का अर्थ किसी उत्पाद की बाहरी विशेषताओं को इस प्रकार से परिवर्तित करना होता है जिससे वह उत्पाद पुराने मॉडल से स्पष्ट रूप भिन्न दिखाई देने लगे। इसे 'मनोवैज्ञानिक' (Pshychological) या 'शैली'(Fashion) अप्रचलन के नाम से भी जाना जाता है।

(2) **जानबूझकर उत्पन्न भौतिक अप्रचलन** (Intentially Disigned Physical Obsolescence)- जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, यह अप्रचलन निर्माताओं द्वारा जानबूझकर किया जाता है। वस्तु ऐसी बनायी जाती है जो कुछ ही समय में या तो खराब हो जाने वाली हो अथवा घिस जाने वाली हो।

(3) **स्थगित अप्रचलन** (Postponed Obsolescence)-स्थगित अप्रचलन उस अप्रचलन को कहते हैं जो भविष्य के लिए टाल दिया जाये। प्राय: तान्त्रिक सुधार तब तक प्रचलित नहीं किये जाते जब तक कि वर्तमान मॉडलों की माँग में कमी न हो।

(4) **तकनीकी अथवा कार्यात्मक अप्रचलन** (Technological or Functional Obsolescence)-इस व्याख्या के अन्तर्गत नवाचार से उत्पन्न अप्रचलन को सम्मिलित किया जाता है। उत्पाद में ऐसे महत्वपूर्ण सुधार किये जाते है जिन्हें तकनीकी प्रमापों से मापा जा सके। जब तान्त्रिक दृष्टि से उन्नत वस्तु बाजार में आती है तो पुरानी वस्तुएँ स्वत: ही अप्रचलित हो जाती हैं।

उत्पाद परिवर्तन निर्णय
(THE PRODUCT CHANGE DECISION)

एक निर्माता द्वारा लिये जाने वाले उत्पाद परिवर्तन सम्बन्धी निर्णय निम्न तीन प्रकार के हो सकते है-

(I) **उत्पाद में संशोधन का निर्णय**, (II) **उत्पाद परित्याग निर्णय**, (III) **नये उत्पाद का निर्माण निर्णय।**

(I) उत्पाद संशोधन का निर्णय
(THE PRODUCT MODIFICATION DECISION)

प्रत्येक उत्पाद का सीमित जीवन-चक्र होता है। कभी न कभी वह अवश्य ही पतनावस्था में पहुँचकर अप्रचलन को प्राप्त हो जाता है, लेकिन एक निर्माता इस उत्पाद जीवन-चक्र की विभिन्न अवस्थाओं की अवधि

में परिवर्तन करने में सफल हो सकता है। यदि एक निर्माता चाहता है कि उत्पाद परिपक्वता (Maturity) और संतृप्ति (Saturation) की अवस्था को बढ़ा दिया जाये जिससे उत्पाद पतन की अवस्था में देर से पहुँचे तो वह ऐसा करने के लिए उत्पाद संशोधन का सहारा लेता है। **फिलिप कोटलर** के अनुसार, **"किसी उत्पाद के भौतिक लक्षणों या उसके पैकेजिंग में जानबूझकर किया गया कोई परिवर्तन उत्पाद संशोधन कहलाता है।"**[1] एक निर्माता को मुख्य रूप से निम्नांकित घटक उत्पाद संशोधन के लिए प्रेरित करते हैं

(1) **विक्रय में गिरावट** -किसी उत्पाद के विक्रय में किसी निर्माता को उत्पाद संशोधन के लिए बाध्य कर सकती है। उत्पाद संशोधन द्वारा निर्माता वस्तु को नवीन रूप प्रदान करके उसके विक्रय में वृद्धि करने में सफल हो सकता है।

(2) **प्रतिस्पर्द्धा** -प्रतिस्पर्द्धा का सामना करने के लिए भी एक निर्माता को उत्पाद संशोधन का निर्णय लेना पड़ता है। यही कारण है कि अनेक कम्पनियाँ प्रति वर्ष नया मॉडल बाजार में प्रस्तुत करती है।

(3) **प्राविधिक या तकनीकी प्रगति** -तकनीकी प्रगति के कारण एक निर्माता के लिए उत्पाद संशोधन आवश्यक हो जाता है क्योंकि उपभोक्ता पुरानी वस्तु के लिए रुचि कम रखने लगते हैं। इसी प्रकार एच.एम.टी. दिन और दिनांक आदि विशेषताओं से युक्त प्रचलित घड़ी की घड़िया बना रही है।

उत्पादन-संशोधन की रीति-नीतियाँ (Product Modification Strategies)

उत्पाद संशोधन की रीति-नीतियों का अध्ययन निम्न तीन शीर्षकों में किया जा सकता है-(1) किस्म सुधार रीति-नीति, (2) शैली सुधार रीति-नीति, (3) कार्य सम्बन्धी सुधार रीति-नीति।

(1) **किस्म सुधार रीति-नीति** (Quality Improvement Strategy)-इस रीति-नीति का उद्देश्य अच्छी सामग्री का इन्जीनियरिंग विकास द्वारा उत्पाद की विश्वसनीयता और टिकाऊपन में वृद्धि करना होता है। उत्पाद संशोधन की यह एक अच्छी रीति-नीति है, परन्तु इसके लिए निम्न दो बातें आवश्यक हैं- **प्रथम**, सुधार इस प्रकार के होने चाहिए जो कि स्पष्ट दृष्टिगोचर हों और **द्वितीय**, उपभोक्ताओं की एक बड़ी संख्या वस्तु की किस्म सम्बन्धी तथ्यों से परिचित हो।

फर्म भविष्य में कीमतों में कमी करने के लिए किस्म को नीचा नहीं कर सकती। बाजार खण्ड में अपनी प्रमुख स्थिति बनाये रखने के लिए उसे किस्म सुधार पर विनियोगों में वृद्धि करते रहना होता है। यदि बाजार खण्ड में किस्म अभिमुखीकरण पर्याप्त मात्रा में विकसित नहीं होता और नये प्रतियोगी बाजार में प्रवेश कर लेते हैं तो फर्म की स्थिति बिगड़ सकती है। अत: एक फर्म को इस रीति-नीति के प्रयोग से पूर्व सम्भावित विपरीत परिणामों पर भी पर्याप्त विचार कर लेना चाहिए।

(2) **शैली सुधार रीति-नीति** (Style Improvement Strategy)-उत्पाद संशोधन की शैली सुधार रीति-नीति के अन्तर्गत उत्पाद के कार्य सम्बन्धी आकर्षण की तुलना में सौन्दर्य सम्बन्धी आकर्षण में वृद्धि की जाती है। अनेक फैशनेबिल वस्तुओं का निर्माण करने वाले निर्माता इस रीति-नीति का प्रयोग करते हैं। यद्यपि शैली सुधार रीति-नीति के प्रयोग से एक फर्म विशिष्ट या अद्वितीय पहचान (Indentification) प्राप्त कर लेती है और उस पहचान के आधार पर बाजार के एक भाग पर स्थायी अधिकार प्राप्त कर लेती है परन्तु यह भी जानना आवश्यक है कि शैली प्रतियोगिता अनेक समस्याओं को जन्म देती है। ऐसी स्थिति में पुराने मॉडल को पसन्द करने वाले समर्थक ग्राहकों से फर्म को हाथ धोना पड़ता है।

(3) **कार्य संबंधी सुधार रीति-नीति** (Functional Features Improvement Strategy)-इस रीति-नीति के अन्तर्गत उत्पाद का इस प्रकार पुनर्डिजाइन (Redesign) किया जाता है जिससे वह अधिक सुविधाजनक, सुरक्षित और कुशल बन जाये। किसी नवीन आविष्कार या तकनीक के विकास के अनुसार उत्पाद में किया गया सुधार इस रीति-नीति के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता है। इस रीति-नीति से होने वाले लाभों में **जॉन बी. स्टेवार्ट**[1] ने निम्न को सम्मिलित किया है-(अ) इससे कम्पनी की प्रगतिशीलता एवं नेतृत्व सम्बन्धी छवि का निर्माण होता है। (ब) यह अत्यन्त लचीला प्रतिस्पर्द्धी उपकरण है। (स) पहले से चुने हुए बाजार खण्डों की प्राथमिकता प्राप्त करना आसान होता है। (द) कम्पनी का निःशुल्क प्रचार हो जाता है। (य) इससे विक्रेताओं और वितरकों के उत्साह में वृद्धि होती है।

दोष -क्रियात्मक लक्षण रीति-नीति का प्रमुख दोष यह है कि (1) नवीन परिवर्तन की नकल आसानी से हो जाती है। (2) यदि पहल करने से स्थायी लाभ नहीं होता तो नवाचार पर किये गये प्रारम्भिक व्ययों को न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता।

NOTES

(II) उत्पाद परित्याग का निर्णय
(PRODUCT ELIMINATION DECISION)

अनेक बीमार उत्पाद (Sick Product) कभी नहीं मरते। इन्हें कम्पनी की उत्पाद पंक्ति में तब तक रखा जाता है जब तक कि ये स्वयं ही समाप्त नहीं हो जाते। वास्तव में, उत्पाद परित्याग सम्बन्धी निर्णय भी उतने ही महत्वपूर्ण होते है जितने कि नवीन उत्पाद विकास सम्बन्धी निर्णय। हमारे साधन सीमित हैं, ऐसी स्थिति में बीमार उत्पादों पर हम साधनों को व्यय करने की स्थिति में नहीं है। **आर.एस. अलेक्जेण्डर** के अनुसार, **''कम्पनी के उत्पाद अन्तर्लय में सम्मिलित दुर्बल या बीमार उत्पाद कम्पनी की प्रगति को प्रभावित करते हैं।''** उत्पाद परित्याग का निर्णय निम्न दशाओं में लिया जा सकता है :-

(1) **अधिक लागत** (High Cost)-नये उत्पाद की तुलना में निर्बल उत्पाद की लागत अधिक होने के कारण भी उत्पाद परित्याग का निर्णय लेना पड़ सकता है।

(2) **प्रतिस्थापित उत्पाद** (Substitute Product)-प्रतिस्थापित उत्पाद का अर्थ है एक उत्पाद द्वारा दूसरे उत्पाद का स्थान ले लेना, लेकिन यह स्थान उसी समय लिया जाता है, जबकि नया प्रतिस्थापित उत्पाद पहले निर्माता के उत्पाद से उत्पन्न होता है।

(3) **उत्पाद की प्रभावशीलता में कमी** (Reduction in Product's Effectiveness)-यदि उत्पाद उन उद्देश्यों की पूर्ति नहीं कर पा रहा है जिनके लिए उसे उत्पाद रेखा पंक्ति में शामिल किया गया था तो ऐसे उत्पाद के परित्याग का निर्णय लिया जा सकता है।

(4) **प्रबन्धकीय समय** (Managerial Time)-यदि किसी उत्पाद के विपणन पर प्रबन्धकों को अन्य वस्तुओं की तुलना में अधिक ध्यान देना पड़ता है जिससे अन्य उत्पादों की लाभदेयता विपरीत रूप से प्रभावित होती है तो ऐसी स्थिति में उत्पाद के परित्याग पर निर्णय लिया जा सकता है।

(5) **वस्तु का जीवन-चक्र** (Life-cycle of the Product)-वस्तु का जीवन-चक्र समाप्ति की ओर होने से भी उत्पाद के परित्याग का निर्णय लेना पड़ सकता है।

(6) **गिरते हुए मूल्य** (Falling Prices)-यदि किसी उत्पाद के मूल्यों में निरन्तर गिरावट की प्रवृत्ति दिखायी देती है तो उसका परित्याग करने का निर्णय लेना पड़ सकता है।

(7) **लाभों में कमी** (Decline in Profit)-दुर्बल उत्पाद की बिक्री में कमी होने से इसके लाभों में भी कमी होना प्रारम्भ हो जाता है। इस कारण भी उत्पाद परित्याग का निर्णय लेना पड़ सकता है।

(8) **गिरती हुई बिक्री** (Declining Sales)-दुर्बल उत्पाद की बिक्री में निरन्तर कमी होना प्रारम्भ हो जाता है। इस कारण भी उत्पाद परित्याग का निर्णय लेना पड़ सकता है।

(9) **संस्था पर बोझ** (Burden on Enterprise)- दुर्बल उत्पाद संस्था पर बोझ होता है जिससे उत्पादक यथा-शीघ्र इससे मुक्ति चाहता है।

परित्याग के लिए उत्पादों का चयन (Selection of Product for Elimination)

परित्याग किये जाने वाले उत्पादों का चयन करने में निम्नांकित सूचक (Indicators) प्रबन्ध की सहायता कर सकते हैं :

(1) **अधिशासी समय** (Executive Time)-एक अधिशासी द्वारा विभिन्न उत्पादों को दिये जाने वाले समय के आधार पर भी बीमार उत्पादों का पता लगाया जा सकता है। बीमार मनुष्य के समान ही बीमार उत्पाद की देखभाल पर अधिक ध्यान देना पड़ता है।

(2) **उत्पाद प्रभावशीलता** (Product Effectiveness)-कुछ उत्पाद एक समय के पश्चात् अपनी प्रभावशीलता खो देते हैं क्योंकि अब वे उन सुविधाओं या लाभों को प्रदान करने की स्थिति में नहीं होते जिनके कारण मूल रूप से उनका निर्माण किया गया था। यह स्थिति औषधि उत्पाद के सम्बन्ध में विशेष रूप से देखने को मिलती है।

(3) **प्रतिस्थापित उत्पाद** (Substitute Products)-जब किसी उत्पाद का प्रतिस्थापित उत्पाद बाजार में प्रचलित हो जाता है और जो पुराने उत्पाद का सुधरा हुआ रूप होता है तो प्रबन्ध को इस प्रश्न का सामना करना पड़ता है कि वह पुराने उत्पाद को बनाये रखे या छोड़ दे।

(4) **लाभ प्रवृत्ति** (Profit Trend)-किसी उत्पाद से होने वाले लाभों में कमी की प्रवृत्ति इस ओर ध्यान आकृष्ट करती है कि उस उत्पाद को उत्पाद पंक्ति में सम्मिलित रखा जाए या नहीं?

(5) **कीमत प्रवृत्ति** (Price Trend)-यदि एक फर्म 'मलाई उतारने की नीति' (Skimming Price Policy) का अनुसरण कर रही हो तो वह नये उत्पाद की कीमत में कमी कर सकती है, परन्तु यदि किसी स्थापित उत्पाद (Established Product), जिसकी प्रतिस्पर्द्धी स्थिति अपेक्षाकृत स्थाई हो चुकी है, की कीमत में काफी समय से गिरावट की प्रवृत्ति पायी जाती हो तो उस उत्पाद के भविष्य के सम्बन्ध में ध्यान देना आवश्यक हो जाता है।

(6) **विक्रय प्रवृत्ति** (Sales Trend)-यदि किसी उत्पाद के विक्रय में पर्याप्त समय से अन्य उत्पादों की तुलना में गिरावट की प्रवृत्ति पायी जाती है तो प्रबन्धकों के लिए यह आवश्यक है कि उस उत्पाद को उत्पाद अन्तर्लय में बनाये रखने पर सावधानी से विचार करें।

उत्पाद परित्याग की प्रणालियाँ (Product Abandonment Practices)

व्यवहार में प्राय: दो प्रणालियाँ काम में लायी जाती हैं- (1) टुकड़ों के आधार पर (On a Piecemeal Basis) एवं (2) संकट आधार पर (On a Crisis Basis)।

(1) **टुकड़ों के आधार पर** (On a Piecemeal Basis)-इस प्रणाली के अन्तर्गत किसी उत्पाद का परित्याग एक साथ न करके धीरे-धीरे किया जाता है अर्थात् उत्पादन एक साथ बन्द न करके धीरे-धीरे कम किया जाता है।

(2) **संकट आधार पर** (On a Crisis Basis)-इस प्रणाली के अन्तर्गत उत्पाद परित्याग तुरन्त किया जाता है। उत्पाद का उत्पादन कार्य बन्द कर दिया जाता है और उत्पाद को निर्माता की उत्पाद-पंक्ति में से निकाल दिया जाता है।

एक सुव्यवस्थित उत्पाद परित्याग प्रणाली के अन्तर्गत आवधिक या निश्चित समय के अन्तर पर उत्पाद समीक्षा (Periodic Product Review) की जानी चाहिए। उदाहरण के लिए, हर छठे महीने उत्पाद समीक्षा की जा सकती है और ज्ञात किया जा सकता है कि कौन-से उत्पाद औसत से कम लाभ कमा रहे हैं या हानि पर चल रहे है। ऐसे सभी उत्पादों के सम्बन्ध में सम्बन्धित प्रबन्धक से यह कहा जा सकता है कि वह उत्पाद आय में वृद्धि अथवा उत्पाद परित्याग की सिफारिश करे। आवधिक उत्पाद समीक्षा (Periodic Products Review) से कम्पनी का उत्पाद अन्तर्लय सदैव सशक्त बना रहता है। ऐसी समीक्षा से निम्न दो लक्ष्यों की पूर्ति हो जाती है- (1) बदलती हुई परिस्थितियों के सन्दर्भ में उत्पाद अन्तर्लय के कौन-से उत्पादों को संशोधित करने या त्यागने की आवश्यकता है। (2) उत्तरदायी अधिकारियों को श्रेष्ठ कार्य निष्पादन हेतु आवधिक प्रेरणा दी जा सकती है।

उत्पाद परित्याग प्रणाली की अवस्थाएँ (Stages of Product Abandonment System)-उत्पाद परित्याग प्रणाली की मुख्य रूप से निम्न दो अवस्थाएँ होती हैं-(1) सृजन अवस्थाएँ (Creative Stages) एवं (2) प्रचालन अवस्थाएँ (Operational Stages)।

(1) **सृजनात्मक अवस्थाएँ** (Creative Stages)-सृजनात्मक अवस्थाएँ तब ही शुरू हो जाती हैं जबकि यह निर्णय किया जाए कि उत्पाद परित्याग हेतु एक नियन्त्रण प्रणाली स्थापित करनी चाहिए। सृजनात्मक अवस्थाओं में निम्न दो अवस्थाएँ सम्मिलित की जाती हैं- **प्रथम**, उत्पाद समीक्षा समिति (Product Review Committee) की स्थापना करना और **द्वितीय**, उत्पाद छटाई (Product Pruning) से सम्बन्धित उद्देश्यों एवं कार्यविधियों के निर्धारण हेतु सभा बुलाना। बड़े व्यवसायों में प्राय: उत्पाद छटाई के निर्णय हेतु एक समिति का निर्माण किया जाता है जिसे उत्पाद समीक्षा समिति कहते हैं। इस समिति में विभिन्न विभागों के प्रतिनिधियों को सम्मिलित किया जाना चाहिए। समिति के प्रतिनिधियों की नियुक्ति व्यवसाय के प्रबन्ध द्वारा की जाती है।

(2) **प्रचालन अवस्थाएँ** (Operational Stages)-इनमें निम्नांकित अवस्थाओं को सम्मिलित किया जा सकता है

(अ) पहली अवस्था में नियन्त्रक के कार्यालय द्वारा उत्पाद सूचना पत्रों को भरने की क्रिया की जाती है। इन सूचना पत्रों में गत कुछ वर्षों के उत्पाद से सम्बन्धित आँकड़े संक्षेप में दिये जाते है।

(ब) दूसरी अवस्था के अन्तर्गत पहली अवस्था से प्राप्त सूचनाओं को कम्प्यूटर में डाला जाता है और संदिग्ध उत्पादों को छाँटा जाता है। इस हेतु आवश्यक सिद्धान्तों का निर्धारण पहले से ही कर लिया जाता है।

(स) तीसरी अवस्था के अन्तर्गत संदिग्ध उत्पादों की सूची का मूल्यांकन किया जाता है। यह कार्य उत्पाद समीक्षा समिति द्वारा किया जाता है।

NOTES

NOTES

(द) चौथी अवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक संदिग्ध उत्पाद के लिए प्रोडक्ट रिटेन्शन इण्डेक्स (Product Retention Index) का निर्धारण किया जाता है।

(क) उत्पाद समीक्षा समिति इन समस्त सूचनाओं की समीक्षा करती है और त्यागे जाने वाले उत्पादों का निर्णय लेती है।

(ख) अन्तिम अवस्था के अन्तर्गत त्यागे जाने वाले उत्पादों को धीरे-धीरे समाप्ति हेतु प्रबन्ध दल नीतियाँ एवं योजनाएँ बनाता है।

परित्याग किये जाने वाले या त्यागे जाने वाले उत्पाद के सम्बन्ध में प्रबन्ध को उन सभी पक्षों के प्रति अपने दायित्व का निर्धारण करना होता है जो कि इस निर्णय से प्रभावित होने वाले हैं।

उत्पाद नवाचार
(PRODUCT INNOVATION)

उत्पाद नवाचार का महत्व -आधुनिक समय में उद्योगों में उत्पाद नवाचार को अधिकाधिक महत्व दिया जाने लगा है। इसका मुख्य कारण यह है कि बाजार गतिशील (Dynamic) है। जो उत्पाद आज लाभप्रद है तो यह आवश्यक नहीं कि वह कल भी लाभप्रद ही रहेगा। हो सकता है कि भविष्य में उसकी मांग गिरने लगे और वह बाजार में अपने अधिकार को खो दे। कम से कम शुरू की अवस्था में तो नवीन सफल उत्पाद अधिक लाभप्रद रहते हैं क्योंकि प्रतिस्पर्द्धियों को उसी प्रकार के मिलते-जुलते उत्पाद को बाजार मे प्रस्तुत करने में पर्याप्त समय लगता है। वैसे भी प्रत्येक उत्पाद का एक निश्चित जीवन-चक्र होता है और एक न एक दिन उसे अप्रचलनता का सामना करना ही पड़ता है। अत: पुराने उत्पादों के स्थान पर नवीन उत्पादों का निर्माण आवश्यक हो जाता है। विकसित देशों में उत्पादों का बाहुल्य होता है, वहाँ पर प्रतिस्पर्द्धा भी अधिक होती है अत: नवाचार की गति भी तीव्र होती है। इसके विपरीत, विकासशील देशों में उत्पाद नवाचार की आवश्यकता अपेक्षाकृत रूप से कम होती है।

उत्पाद नवाचार के कारण (Reasons for Product Innovation)

यहाँ पर उन मुख्य कारणों का वर्णन किया जा रहा है जिन्होंने निर्माताओं को उत्पाद नवाचार हेतु विवश कर दिया है। ये कारण निम्न हैं-(1) प्रसाधनों का अधिकतम उपयोग (Maximum Utilisation of Resources), (2) बाजार परिवर्तन (Market Changes), (3) तकनीकी या प्राविधिक विकास (Techonological Developments),(4) प्रतिस्पर्द्धा (Competition),एवं (5) व्यवसाय वृद्धि (Business Growth)।

(1) **संसाधनों का अधिकतम उपयोग** (Maximum Utilisation of Resources)-कभी-कभी संसाधनों का अच्छा उपयोग करने के लिए भी उत्पाद नवाचार किया जाता है।

(2) **बाजार परिवर्तन** (Market Changes)-उत्पाद नवाचार का एक कारण बाजार परिवर्तन भी है। आज ग्राहकों की रुचियों और आदतों में तेजी से परिवर्तन आ रहे हैं। विशेष तौर से फैशन की वस्तुओं में तो बाजार परिवर्तन काफी तेजी से हो रहा है।

(3) **तकनीकी या प्राविधिक विकास** (Techonological Developments)-निरन्तर हो रही वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति के कारण भी उत्पाद नवाचार आवश्यक हो गया है। जब एक उत्पाद तकनीकी दृष्टि से सुधार कर बाजार में प्रस्तुत कर दिया जाता है तो अन्य कम्पनियों को भी अपने उत्पाद तकनीकी दृष्टि से सुधार कर बाजार में प्रस्तुत कर दिया जाता है तो अन्य कम्पनियों को भी अपने उत्पाद में आवश्यक परिवर्तन करने पड़ते हैं।

(4) **प्रतिस्पर्द्धा** (Competition)-आधुनिक समय में बढ़ती हुई प्रतिस्पर्द्धा ने भी निर्माताओं को उत्पाद नवाचार पर ध्यान देने के लिए बाध्य कर दिया है। आज एक निर्माता उपभोक्ताओं की नवीनता के प्रति रुचि को पूरा करके ही प्रतिस्पर्द्धा का सामना कर सकता है। मूल्य प्रतिस्पर्द्धा (Price Competition) से बचने के लिए भी एक निर्माता को अपने उत्पाद को भिन्न-भिन्न रूपों में प्रस्तुत करना पड़ता है।

(5) **व्यवसाय वृद्धि** (Business Growth)-व्यवसाय वृद्धि के लिए नवीन उत्पाद आवश्यक है। प्राय: देखने में आता है कि वही उद्योग प्रगति कर पाये हैं जिन्होंने उत्पाद विकास पर ध्यान दिया या जो उत्पाद नवाचार के प्रति सतर्क हैं।

प्रश्न
(QUESTIONS)

दीर्घ उत्तरीय/निबन्धात्मक प्रश्न (Long Answer Type Questions)

1. उत्पाद नवाचार किसे कहते हैं? उन कारणों को बताइए जो एक विपणन प्रबन्धक को उत्पाद नवाचार के लिए विवश कर देते है।
2. "उत्पाद नियोजन का अभाव संगठन में प्रबन्धकीय दिवालियापन का द्योतक है और यह संकेत करता है कि व्यवसाय को अपने भाग्य पर छोड़ दिया गया है।"

   उपरोक्त कथन के सन्दर्भ में उत्पाद नियोजन का महत्व समझाइए।
3. उत्पाद संशोधन की विभिन्न रीति-नीतियों को समझाइए।
4. उत्पाद नियोजन कुल विपणन नियोजन का एक अत्यावश्यक अंग समझा जाता है। इस नियोजन के अन्तर्गत आने वाली उन प्रधान क्रियाओं का विवेचन कीजिए जिनमें एक सैद्धान्तिक सन्तुलन होगा।
5. उत्पाद नियोजन को परिभाषा दीजिए तथा विपणन में इसके महत्व की विवेचना कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Type Questions)

1. उत्पाद परित्याग निर्णय एक संस्था के लिए क्यों महत्वपूर्ण है?
2. उत्पाद नवाचार के कारणों को समझाइये।
3. उत्पाद संशोधन निर्णय से आप क्या समझते है? उत्पाद संशोधन की आवश्यकता क्यों होती है?
4. उत्पाद नियोजन मे विपणन प्रबन्धक की भूमिका की विवेचना कीजिए।
5. नियोजित अप्रचलन के औचित्य को समझाइये।

●●●

NOTES

अपनी प्रगति की जाँच क
Test your Progress

NOTES

22

प्रमापीकरण एवं विशिष्टीकरण
(STANDARDISATION AND SPECIALIZATION)

प्रस्तावना

आधुनिक युग में जैसे - जैसे औद्योगिक प्रगति हो रही है, वैसे - वैसे [illegible] की बढ़ता जा रहा है। आजकल उद्योगों में प्रमापीकरण का प्रयोग दिनों - दिन बढ़ता जा रहा है। प्रमापीकरण को राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय दोनों क्षेत्र में मान्यता मिली है। वर्तमान समय में उन्हीं उद्योगों का महत्व बढ़ रहा है जिन्होंने उत्पादन की विधियों तथा उत्पादन की किस्म दोनों का ही प्रमापीकरण कर लिया है। उत्पादन की क्रियाएँ प्रमापीकरण के कारण सरलता से सम्पन्न हो जाती हैं। प्रमापीकरण का प्रमुख उद्देश्य उत्पादन क्रियाओं तथा कार्यों को नापना, तुलना करना और उनका विवरण देना है।

प्रमापीकरण का अर्थ
(Meaning of Standardisation)

साधारण शब्दों में, प्रमापीकरण का अर्थ उद्योगों के विभिन्न क्षेत्रों में समाप्त निर्धारित करना तथा उनका उपयोग करना हैं।

प्रमापीकरण की परिभाषाएँ (Definition of Standardisation)

अनेक विद्वानों ने प्रमापीकरण की परिभाषा अनेक प्रकार से दी है, जिनमें से कुछ प्रमुख विद्वानों की परिभाषाएँ निम्नलिखित है:-

(1) **जे.बेटी** (J.Batty) के अनुसार, "प्रमापीकरण एक वस्तु जैसे कार्य,गुण अथवा विभिन्न मापों पर प्रभाव डालने वाले घटकों के बारे में समझौता है।"

(2) **ई.सी.पेक** (E.C.Pack) के कथनानुसार "प्रमापीकरण का प्रमुख अर्थ प्रमापों अथवा मापदण्डों को निर्धारित करना जिनमें परिमाण,गुण,मूल्य,कार्य अथवा सेवा को मापा अथवा निर्धारित किया जा सके।"[2]

(3) **प्रो.जॉन.ए.शुबिन** (Prof.John.A.Shubin) के अनुसार, "प्रमापीकरण प्रबंध का एक महत्वपूर्ण कार्य है, क्योंकि वह निर्माण,क्रय लेखा तथा अन्य क्रियाओं को एक निश्चित स्तर तथा गुण से पूरा करने के नियंत्रण को सम्भव बनाता है।"

(4) **प्रो.किम्बाल** (Prof. Kimball) के शब्दों में, "प्रमापीकरण उत्पादन को किसी एक शाखा को थोड़े से आकारों,किस्मों तथा विशेषताओं में सीमित करने को कहते हैं"

(5) **मारिस एल.कुक** (Morris. L. Cooke) के अनुसार," आधुनिक वैज्ञानिक प्रबंध में प्रमाप से अभिप्राय किसी कार्य को करने की ठीक प्रकार से सोचकर निकाली हुई प्रणाली अथवा औजारों, स्टोर या उत्पादन पर नियंत्रण करने के लिए उचित प्रशिक्षण के पश्चात दिये गये निर्देशों से है।

(6) **सी.एस.डैवरेल** (C.S.Deverel) के अनुसार "एक प्रमाप -कार्य,गुण मिश्रण,आकार अथवा निर्माण विधि की व्याख्या करता है।"

(7) **आर.सी.डेविस** (R.C.Devis) के अनुसार " प्रमाप वह है जो कि अधिकार,रीति अथवा सामान्य स्वीकृति से नमूने, परख अथवा माप के नियम की तरह स्थापित किया जाता है। प्रमापीकरण इनको विकसित करने के कार्यमात्र को कहा जाता है।"

प्रमापीकरण की मुख्य विशेषताएँ
(Main Features of Standardisation)

प्रमापीकरण की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित है :-

(1) प्रमापीकरण मे वस्तुओं के प्रकार निर्धारित कर दिये जाते है।

(2) प्रमाप तभी निश्चित किये जाते है जब विज्ञान, तकनीकी एवं अनुसंधान कर लिये जाये। यह प्रमापीकरण सबसे अच्छी विधि है।

(3) प्रमापीकरण वस्तुओं और प्रणालियो दोनों का ही किया जा सकता है।

(4) प्रमापीकरण प्रायः विशालस्तरीय उद्योगों के उत्पादन मे ही हो सकता है

प्रमापीकरण के स्तर

प्रमापीकरण के स्तर से तात्पर्य उस एजेन्सी से है जो प्रमाप निर्धारित करती है इस दृष्टि से प्रमापीकरण के स्तर निम्नलिखित है:-

(1) **राष्ट्रीय प्रमाप**: राष्ट्रीय प्रमाप राष्ट्रीय स्तर पर किये जाते है। ये प्रमाप राष्ट्रीय स्तर की आवश्यकताओं,वर्तमान परिस्थितियों तथा उपलब्ध तत्वो के आधार पर किये जाते है ये प्रमाप किसी अधिकृत संस्था द्वारा किये जाते है हमारे देश में राष्ट्रीय स्तर पर प्रमाप निश्चित करने का कार्य भारतीय प्रमाप संस्थान (Indian Standards Institute) द्वारा किया जाता है

(2) **अंतर्राष्ट्रीय प्रमाप**: अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की सुविधा की दृष्टि से कुछ वस्तुओं के प्रमाप निश्चित कर दिये जाते है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रमाप निश्चित करने का कार्य अंतर्राष्ट्रीय प्रमाप संगठन (International Organisation for Standardisation) करता है इस संगठन द्वारा निश्चित प्रमापो को मानना या न मानना देशों की इच्छा पर अवलम्बित रहता है। जो देश इस संगठन द्वारा निर्धारित प्रमाणों का पालन करते है, उन्हे अपना माल विदेशों में बेचने में कोई कठिनाई नही होती है।

(3) **कम्पनी प्रमाप:** एक कम्पनी अथवा संस्था अपनी आवश्यकतानुसार वस्तुओं विधियों तथा निजी कार्यों का प्रमाप निर्धारित कर सकती है और उसके अनुसार कार्य कर सकती है।

(4) **संघ अथवा समुदाय सम्बन्धी प्रमाप:** एक व्यवसाय अथवा उद्योग से सम्बंधित संघ अनेक कम्पनियों का समुदाय प्रमाप निश्चित करके सभी इकाइयों से उसका पालन करा सकती है।

प्रमापीकरण के उद्देश्य
(Amis of Standardisation)

प्रमापीकरण के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं:-

(1) **मितव्ययिता:** किसी उद्योग विशेष से सम्बंधित कारखानों में जिन वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है तथा उनके उत्पादन पर जितना व्यय किया जाता है उतने ही व्यय पर पहले से अधिक उत्तम कोटि की वस्तुओं का निर्माण होने लगे,इसको मितव्ययिता करना कहते है। इस उद्देश्य की पूर्ति तभी की जा सकती है जब मशीनों, कच्चे पदार्थो तथा उत्पादन क्रियाओं का प्रमापीकरण कर दिया जाये।

(2) **जन - जीवन की सुरक्षा:** प्रमापीकरण में इस बात के प्रमाप भी निश्चित किये जाते हैं कि भवन - निर्माण करते समय बिजली के तार व स्विच आदि को फिटिंग करते समय किन नियमो का पालन करना आवश्यक है ताकि जन - जीवन की सुरक्षा हो सके।

(3) **उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा:** उपभोक्ता ऐसी वस्तु को ही खरीदना चाहता है जो कि श्रेष्ठ किस्म की हो तथा वह उचित मूल्य पर मिले। प्रमापित वस्तुएँ ही उत्तम कोटि की होती है क्योंकि उनकी अच्छे होने की गारण्टी होती है भारत में उपभोक्ता उस वस्तु को खरीदने में विश्वास रखता है जिस पर (I. S. I) की छाप लगी होती है इस प्रकार प्रमापीकरण उपभोक्ताओं के हितों को ध्यान में रखता है

NOTES

प्रमापीकरण के लाभ
(Advantages of Standardisation)

प्रमापीकरण से होने वाले लाभ निम्नलिखित है :-

(1) **वस्तुओं की किस्मों की संख्या कम:** प्रमापीकरण से वृहत पैमाने पर उत्पादन किया जा सकता है। प्रमापित वस्तुओं का निर्माण करने से सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि इसमें किस्मों की संख्या कम हो जाती है अतः उत्पादक उन्ही कम किस्मों के निर्माण करने में अनेक साधनों को केन्द्रित करता है, जिससे उत्पादन लागत में कमी आती है।

(2) **विशाल पैमाने पर उत्पादन:** प्रमापीकरण होने के पश्चात् उद्योग के अंतर्गत उत्पादन होने पर वस्तुओं की संख्या बहुत सीमित हो जाती है अत. उत्पादक उन्ही वस्तुओं के निर्माण करने पर अनेक साधनो को केन्द्रित करता है। इससे प्रमापीकरण में विशाल पैमाने पर उत्पादन होने लगता है।

(3) **कम पूँजी की आवश्यकता:** प्रमापीकरण हो जाने के कारण वस्तुओं की किस्म बहुत कम हो जाती है अतः पूँजी की भी कम आवश्यकता होती है क्योंकि अधिक उत्पादन से कम लागत आती है तथा अनेक किस्मों को एकत्र नही करना पड़ता इससे भी कार्यशील पूँजी की आवश्यकता कम हो जाती है।

(4) **वस्तु की किस्म में सुधार:** प्रमापित वस्तु श्रेष्ठ किस्म की होती है तथा उनमें आवश्यक सुधार भी सरलतापूर्वक किया जा सकता है।

(5) **वस्तुओं के प्रयोग में आसानी:** प्रमापित वस्तुओं का निर्माण करने मे सबसे बड़ी सुविधा वस्तुओं के प्रयोग करने में होती है, क्योंकि एक उत्पादक की वस्तु के स्थान पर दूसरे उत्पादक की वस्तु का प्रयोग सरलता से किया जा सकता है।

(6) **वस्तुओं का चुनाव करने में सुविधा:** उपभोक्ताओं को प्रमापित वस्तुओं का चुनाव करने में सुविधा होती है क्योंकि वस्तु की किस्म सीमित होने के कारण उपभोक्ता उनसे भलीभाँति परिचित रहता है। अतः वस्तुओं के क्रय करने में उपभोक्ता को सुविधा रहती है।

(7) **यंत्रीकरण सम्भव:** प्रमापीकरण में उत्पादन विशाल पैमाने पर होने लगता है जिससें यंत्रीकरण की योजना कार्यान्वित की जा सकती है। यन्त्रीकरण की योजना लागू होने पर उत्पादन में एकरूपता, शीघ्रता, अधिकता तथा मितव्ययिता आ जाती है

(8) **धन एवं समय की बचत:** प्रमापीकरण से विभिन्न प्रकार की डिजाइन तैयार करने में धन एवं समय की बचत होती है।

(9) **औद्योगिक क्षमता में वृद्धि:** प्रमापीकरण से औद्योगिक क्षमता में वृद्धि होती है जिससे नियोक्ता, उपभोक्ता, सरकार तथा राष्ट्र सभी लाभान्वित होते हैं।

प्रमापीकरण के दोष
(Disadvantages of Standardisation)

प्रमापीकरण के प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं :-

(1) **लोचहीनता:** प्रमापीकरण से उत्पादन में लोचहीनता आ जाती है क्योंकि उनमें परिवर्तन करना बड़ा ही कठिन हो जाता है। यदि उत्पादन में सुधार करने के लिए पद्धति लागू करना हो, तो प्रमापित वस्तु अपरिवर्तनशील होने के कारण उसका उपयोग नही किया जा सकता।

(2) **उपभोक्ताओं से अधिक मूल्य:** प्रमाप के आधार पर उपभोक्ताओं से वस्तुओं का अधिक मूल्य वसूल किया जाता है।

(3) **प्रमापों में विभिन्नता:** यदि केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रमाप निर्धारित नही किये जाते तो प्रमापित वस्तुओं के प्रमाप में भिन्नता रहती है।

(4) **समय की गति से उद्योग का पिछड़ जाना:** आधुनिक समय में औद्योगीकरण की गति तेज हो जाने से उपभोक्ताओं की रूचि, फैशन तथा अन्य रीति - रिवाजों में परिवर्तन होते रहते हैं। यदि उद्योग उपभोक्ताओं की माँग के अनुसार प्रमापित वस्तुओं के प्रमाप में परिवर्तन नही करता, तो समय की गति से उद्योग पिछड़ जाता है।

(5) **परिवर्तन में कठिनाई:** प्रमापीकरण का सबसे बड़ा दोष प्रमाप के परिवर्तन में कठिनाई का होना है उत्पादन जितने ही विशाल पैमाने पर किया जायेगा, प्रमाप के परिवर्तन करने में उतनी ही कठिनाई होगी। इस सम्बंध में **प्रो.किम्बाल** कहते है कि "जिस सीमा तक अमरीका में बड़े पैमाने पर उत्पादन किया जा रहा है, उससे उसको औद्योगिक श्रेष्ठता छिन जाने की सम्भावना है।"

प्रमापीकरण में नयी प्रवृत्तियाँ

NOTES

प्रमापीकरण के उपर्युक्त दोषों को दूर करने का प्रयास किया जा रहा है अब प्रमापीकरण के क्षेत्र में नवीन प्रवृत्ति आ रही है प्रमापीकरण की नयी प्रवृत्ति यह है कि पूर्ण वस्तु के उत्पादन का प्रमापीकरण न करके उसमें उपयोग किये जाने वाले अंगों का ही प्रमापीकरण किया जाये। उदाहरणार्थ - मशीन का प्रमापीकरण न करके उसमें प्रयुक्त होने वाले बाल वियरिंग व पहिये आदि का प्रमापीकरण किया जाये।

भारतवर्ष में प्रमापीकरण की आधुनिक प्रवृत्तियाँ

भारतवर्ष में प्रमापीकरण के सम्बंध में भारतीय प्रमाप संस्था महत्वपूर्ण योगदान कर रही है जिसका कि संक्षेप में वर्णन नीचे किया जा रहा है।

भारतीय प्रमाप संस्था
(Indian Standard Institute)

स्थापना: भारत में उत्पादन आदि के प्रमाप निश्चित करने के लिए एक संस्था की आवश्यकता काफी समय पूर्व महसूस की गयी। परंतु ऐसी संस्था की स्थापना का प्रस्ताव सरकार के समक्ष सर्वप्रथम 1940 में लखनऊ में हुए 12वें उद्योग सम्मेलन में भारतीय उद्योगपतियों द्वारा रखा गया। उस समय युद्ध की परिस्थितियों के फलस्वरूप इस ओर सरकार ने कोई ध्यान नहीं दिया। तत्पश्चात सन् 1946 में भारत सरकार ने औद्योगिक योजना के अंतर्गत प्रमापीकरण की आवश्यकता को महसूस किया तथा सन् 1947 में 'भारतीय प्रमाप संस्था (Indian Standard Institute) की स्थापना की गयी। इस संस्था का केन्द्रीय कार्यालय दिल्ली में है।

संगठन: भारतीय प्रमाप संस्था का प्रबंध साधारण परिषद (General Council) के द्वारा होता है साधारण परिषद् में केन्द्रीय सरकार के विभिन्न विभागों, राज्य सरकारों, वैज्ञानिक एवं तकनीकी संगठनों,अनुसंधान संस्थाओं, चैम्बर ऑफ कॉमर्स तथा संभागीय परिषदों (Division Councils) के प्रतिनिधि रहते हैं। इस संस्था के अध्यक्ष भारत सरकार के उद्योग मन्त्री होते है इसके अतिरिक्त संस्था के दिन - प्रतिदिन के कार्यों की देख - रेख के लिए एक कार्यकारिणी समिति (Executive Council) तथा वित्तीय मामलों के लिए एक वित्त समिति रहती है। भारतीय प्रमापों को निश्चित करने के लिए अनेक तकनीकी समितियाँ (Technical Committees) रहती हैं जिनमें वैज्ञानिक, तकनीकी विशेषज्ञ, उत्पादकों,उपभोक्ताओं, सरकारी विभागों तथा औद्योगिक संगठनों के प्रतिनिधि होते है।

उद्देश्य: वर्तमान समय में भारतीय प्रमाप संस्था एक महत्वपूर्ण संस्था बन गयी है। यह संस्था अंतर्राष्ट्रीय प्रमापीकरण संगठन की सदस्य है। इस संस्था के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं:-

(1) राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय आधार पर पदार्थों, वस्तुओं, ढाँचो,कार्यविधियों तथा व्यवहारों का प्रमाप निश्चित करना तथा उनमें आवश्यक सुधार करना।

(2) उद्योग एवं वाणिज्य में गुण - नियंत्रण, सुगमन तथा प्रमापीकरण को प्रोत्साहित करना।

(3) लम्बाई,भार आदि मापने के राष्ट्रीय प्रमाप के बारे में विचार करना तथा सरकार को उपयुक्त सलाह देना।

(4) यंत्रों,उत्पादनों,विधियों तथा पदार्थों आदि में महत्वपूर्ण सुधार करने के लिए उत्पादकों तथा प्रयोगकर्ताओं द्वारा किये गये प्रयासों में समन्वय स्थापित करना।

(5) वस्तुओं तथा उत्पादनों आदि से सम्बंधित प्रमापित चिन्हों के रजिस्ट्रेशन की व्यवस्था करना।

(6) प्रमापीकरण से सबंधित औद्योगिक आँकड़े एवं सूचनाएँ एकत्र एवं प्रकाशित करना।

भारतीय प्रमाप संस्था वस्त्र,रसायन,कृषि,विधुत,इंजीनियरिंग, खाद्य - उत्पादन तथा बिल्डिंग आदि से सम्बंधित प्रमाप निर्धारित करती है यह संस्था दिन - प्रतिदिन लोक - प्रिय होती जा रही है। इसकी लोकप्रियता इस बात से स्पष्ट हो जाती है कि अब उत्पादक स्वयं अपनी चीजों के प्रमाप निर्धारित करने के लिए माँग करने लगे है। भारतीय प्रमाप संस्था के विकास में भारतीय प्रमाप अधिनियम 1952 ने भी महत्वपूर्ण योगदान किया।

NOTES

इस अधिनियम के अंतर्गत इस संस्था को अनेक महत्वपूर्ण अधिकार प्रदान किये गये हैं इस संस्था को प्रमाप चिन्ह प्रदान करने तथा कम्पनियों को भारतीय प्रमाप के अनुसार माल तैयार करने के लाईसेंस प्रदान करने का भी अधिकार प्राप्त हो गया है जिससे उत्तम कोटि की वस्तुओं के उत्पादन को प्रोत्साहन प्राप्त होगा। साथ ही साथ जैसे - जैसे उपभोक्ता प्रमापित वस्तुओं पर विश्वास करने लगेंगे, वैसे - वैसे देश औद्योगिक - विकास की और तीव्र गति से अग्रसर होगा। भारत जैसे अर्द्ध - विकसित देश में तो इसका महत्व और भी बढ़ जाता है वस्तुएँ सस्ती एव उत्तम कोटि की प्राप्त हो सकेगी। इस प्रकार भारत में प्रमाप संस्था का कार्य देश के औद्योगिक विकास के साथ-साथ ही गति से बढ़ रहा है।

विशिष्टीकरण
(SPECIALISATION)

विशिष्टीकरण से आशय

आधुनिक औद्योगिक प्रणाली की प्रमुख विशेषता विशिष्टीकरण है। तकनीकी प्रगति में विशिष्टीकरण को बहुत प्रोत्साहन मिला है विशिष्टीकरण से आशय है किसी कार्य अथवा व्यवसाय में निपुणता प्राप्त करना। प्रो. किम्बाल के अनुसार, "विशिष्टीकरण प्रयास के सीमित क्षेत्र में प्रयत्न के केन्द्रीयकरण को कहते हैं " इसका तात्पर्य यह है कि एक व्यक्ति सभी क्षेत्रों में प्रयास करने की अपेक्षा सीमित क्षेत्र में प्रयास करके उसमें विशेष योग्यता प्राप्त कर लेता है इस प्रकार उसकी समस्त शक्ति एक विशेष क्षेत्र में ही केन्द्रित हो जाती है और उसकी कार्यक्षमता में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है यही बात औद्योगिक इकाइयों में भी लागू होती है औद्योगिक इकाई अनेक क्षेत्रों में विशिष्ट व्यक्तियों,जैसे इंजीनियर,वाणिज्य प्रशासक,विज्ञापन विशेषज्ञ, सार्वजनिक सम्बंध, श्रम सम्बंध,क्रय विक्रय आदि मे दक्ष व्यक्तियों की सेवाओं आदि का उपयोग करती है श्री जरोस्लाव तूमा (Jaroslav Tuma) के अनुसार," विशिष्टीकरण मानसिक कार्य या शारीरिक प्रयत्नों की विशेष समस्याओं अथवा कार्यों पर केन्द्रित करने को कहते हैं एक कार्य अथवा समस्या पर विचार अथवा कार्य के केन्द्रीयकरण से उस समस्या व कार्य से सम्बंधित जानकारी व अनुभव प्राप्त होता है जिससे पूर्ण ज्ञान अथवा पूर्ण दक्षता प्राप्त होती है"

संक्षेप में किसी कार्य में विशेष योग्यता प्राप्त करना ही विशिष्टीकरण कहलाता है

औद्योगिक इकाइयों का विशिष्टीकरण
(Specialisation of Industrial Units)

पहले एक ही कारखाना विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का निर्माण किया करता था जैसे-इंजीनियरिंग का कारखाना कई प्रकार की मशीनरी का निर्माण करता था। परन्तु आजकल प्रत्येक क्षेत्र में लोगों की प्रवृत्ति विशिष्टीकरण की और ही है। विशिष्टीकरण के कारण अब एक कारखाना पूरी मशीन न बनाकर केवल एक ही तरह के या कुछ विशेष प्रकार के पुर्जे तैयार करता है पहले कारखाना अपनी आवश्यकतानुसार सभी प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन करता था, परन्तु अब उसे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए दूसरे कारखानों पर निर्भर रहना पड़ता है उदाहरणार्थ - साइकिल बनाने वाले कारखाने टायर,टयूब तथा सीटों के लिए, दूसरे कारखानों पर निर्भर रहते है विशिष्टीकरण के कारण आजकल कोई भी उद्योग अपने आप पूर्ण नही है, उसे अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए दूसरे पर निर्भर रहना पड़ता है।

विशिष्टीकरण की प्रवृत्ति के कारण
(Causes of Advent of Specialisation)

वर्तमान समय मे विशिष्टीकरण के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं:-

(1) मितव्ययिता: विशिष्ट वस्तुओं का उत्पादन विशाल पैमाने पर करने के उत्पादन लागत कम आती है प्रत्येक कारखाने में सभी सम्बंधित वस्तुओं का निर्माण करने की अपेक्षा,एक ही कारखाने में प्रत्येक वस्तु का उत्पादन केन्द्रित करना अधिक लाभकारी होता है। किम्बाल एवं किम्बाल के अनुसार, "विशिष्ट (Specialised) मशीनरी लागत को कम कर देती है,सस्ती लागत बाजार का विस्तार करती है,विस्तृत बाजार से और अधिक विशिष्ट मशीनरी लगायी जा सकती है और इस चक्र का अन्त राष्ट्र की सर्वांगीण समृद्धि में ही होता है।

(2) आधुनिक उत्पादन का गतिशील होना: आधुनिक उत्पादन प्रणाली अत्यंत गतिशील है तथा उसमें हमेशा सुधार होते रहते है। विशिष्टीकरण की प्रवृत्ति के कारण औद्योगिक इकाई अब अपने में पूर्ण नहीं है, उसे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है।

विशिष्टीकरण के स्वरूप
(Forms of Specialisation)

NOTES

विशिष्टीकरण के मुख्य स्वरूप निम्नलिखित है -

(1) श्रम का विशिष्टीकरण (Specialisation of Labour) विशिष्टीकरण से श्रम - विभाजन करने मे सरलता होती है। कोई भी व्यक्ति कोई विशेष प्रकार का कार्य ही कर सकता है अतः उसे मानसिक एवं शारीरिक योग्यता के अनुसार ही काम सौंपना चाहिए. परन्तु कुछ लोग मानसिक दृष्टि से योग्य होते है, उन्हें मानसिक कार्य सौपना चाहिए।

(3) भौगौलिक विशिष्टीकरण (Geographical or Territorial Divison of Labour) : किसी भी क्षेत्र का औद्योगिक विकास वहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों मे प्रभावित होता है। उदाहरणार्थ- सूती वस्त्र उद्योग बम्बई व अहमदाबाद में,पटसन उद्योग कलकत्ता में, लोहा एवं इस्पात उद्योग टाटा नगर में,चूड़ी उद्योग फीरोजाबाद म भौगोलिक विशिष्टीकरण के कारण ही स्थापित हुए है।

(3) धन्धों का विशिष्टीकरण (Specialisation of Profession) धन्धो का विशिष्टीकरण अत्यंत प्राचीन काल से चला आ रहा है जैसे - जैसे सभ्यता का विकास होता गया, वैसे - वैसे मनुष्य अपने जीवन -निर्वाह के लिए धन्धों का चुनाव करने लगें। पेशेवर श्रम - विभाजन इस प्रकार के विशिष्टीकरण का ही रूप है। उदाहरणार्थ- मिट्टी के बर्तन बनाने वाले कुम्हार, सोने - चाँदी का काम करने वाले सुनार आदि कुछ प्रकार के धंधों के [illegible] के उदाहरण है। आधुनिक समय मे इस विशिष्टीकरण मे और भी अधिक वृद्धि हो गयी है अब डाक्टर व इंजीनियर के रूप में ही विशिष्टीकरण नहीं है।, वरन् इन पेशों के उपवर्गो में भी विशिष्टीकरण हो गया है उदाहरणार्थ - कोई डाक्टर महिला रोगों की विशेषज्ञ है, तो कोई शिशु रोगों का विशेषज्ञ है तो, कोई नाक, कान, आँख,गला,दाँत आदि रोगों के विशेषज्ञ है। इसी तरह इंजीनियर भी सिविल और मेकेनिकल हो सकते है। अतः ऐसे कई अन्य धन्धों में भी इसी प्रकार का विशिष्टीकरण पाया जाता है।

(4) औद्योगिक विशिष्टीकरण: पहले एक ही कारखाने में विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन होता था, परंतु शनैः-शनैः- उत्पादित माल की विविधता सीमित हो गयी। आधुनिक समय में एक कारखाना एक वस्तु से सम्बंधित अनेक प्रकार की वस्तुओं का स्वयं निर्माण नहीं करता, वरन् वह दूसरे कारखानों से आवश्यक वस्तुएँ खरीद लेता है। उदाहरणार्थ- साइकिल बनाने वाले कारखाने टायर,टयूब, सीट आदि दूसरे निर्माताओं से खरीद लेते है।

(5) यांत्रिक विशिष्टीकरण (Specialisation of Technology): आधुनिक समय में उत्पादन की प्रायः सभी क्रियाओं में यंत्रों का अधिकाधिक उपयोग होने लगा है जिससे विशिष्टीकरण में और तेजी से वृद्धि होती जा रही है। आजकल वस्तु की एक उत्पादन क्रिया को कई उप क्रियाओं में बाँट दिया जाता हैं तथा सभी उन क्रियाओं में अलगः अलग यान्त्रिक विशेषज्ञ कार्य किया करते हैं उदाहरणार्थ- आधुनिक जूता उद्योग को जूता बनाने की संपूर्ण क्रियाओं को लगभग 200 उप क्रियाओं में विभाजित किया गया है।

(6) अन्य क्षेत्रों का विशिष्टीकरण : उद्योगों के दूसरे क्षेत्रों में भी अब विशिष्टीकरण की प्रवृत्ति तेजी से जोर पकड़ रही हैं उदाहरणार्थः पहले बैंको ने साख की कला में ही विशिष्टता हासिल की थी,परन्तु अब सहकारी बैंक,औद्योगिक बैंक, भूमि बन्धक बैंक तथा व्यापारिक बैंक आदि का भी विशिष्टीकरण हो गया है। आजकल कम्पनियों की स्थापना भी विशिष्ट संस्थाओं द्वारा की जाने लगी है इसके अतिरिक्त माल लदवाने व छुड़वाने ,विज्ञापन, बिक्री तथा कम्पनियों का प्रबंध आदि भी विशिष्ट संस्थाओं द्वारा किया जाता है।

विशिष्टीकरण के सिद्धान्त
(Principles of Specialisation)

विशिष्टीकरण को लाभदायक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसके कुछ निश्चित सिद्धान्त बनाये जायें। **प्रो.डी.रावर्टसन** (Prof.D.Robertson) के अनुसार, "विशिष्टीकरण का यह सिद्धान्त है कि यदि कोई जटिल कार्य करना हो तो उसे शीघ्र व उत्तम ढंग से किया जा सकता है, बशर्ते प्रत्येक व्यक्ति उसके छोटे भाग पर अपना ध्यान केन्द्रित करें।" विशिष्टीकरण के प्रमुख सिद्धान्त निम्निलिखित है:-

(1) प्रत्येक व्यक्ति का कार्य - क्षेत्र एवं उत्तरदायित्व पहले से निश्चित होना चाहिए।

(2) उत्पादन के नियम एवं लागत के रूप में विशिष्टीकरण का प्रभाव स्पष्ट होना चाहिए।

NOTES

(3) विशिष्टीकरण को तभी लागू किया जा सकता है जबकि उत्पादन की इकाई का आकार बड़ा हो। उत्पादन इकाई का आकार बड़ा होने पर ही विशाल पैमाने पर उत्पादन संभव हो सकता है।

(4) व्यक्ति को उनकी रूचि एवं योग्यता के अनुसार काम सौंपना चाहिए।

(5) कार्यों या क्रियाओं का विभाजन वैज्ञानिक ढंग से होना चाहिए। एक उप-क्रिया को पूर्ण एवं निश्चित होना चाहिए।

(6) विशिष्टीकरण में अपनाये गये उपवर्गों में समन्वय होना आवश्यक है।

विशिष्टीकरण के लाभ
(Advantages of Specialisation)

विशिष्टीकरण के प्रमुख लाभ निम्नलिखित है:-

(1) सहयोग की भावना: विशिष्टीकरण की योजना लागू हो जाने से एक उद्योग अपनी आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति के लिए दूसरे उद्योग पर निर्भर हो जाते है अतः उनमें सहयोग से कार्य करने की भावना में वृद्धि होती है।

(2) अनुसन्धान की सुविधा: विशिष्टीकरण से अनुसन्धान को प्रोत्साहन मिलता है विशिष्टीकरण के कारण उत्पादन का क्षेत्र सीमित हो जाता है, जिससे अनुसन्धान सरलता - पूर्वक किया जा सकता है इससे वस्तु की किस्म में तो सुधार होता ही है साथ ही उत्पादन लागत भी कम आती है

(3) प्रशिक्षण की सुविधा: विशिष्टीकरण के कारण एक क्रिया को अनेक उप - क्रियाओं में विभाजित किया जाता है। अतः इन उप क्रियाओं को करने के लिए श्रमिकों को प्रशिक्षित करना आसान होता है।

(4) कार्यक्षमता में वृद्धि : श्रमिकों को एक सीमित क्षेत्र में कार्य करना पड़ता है, जिससे उनकी योग्यता में दिनों - दिन वृद्धि होती रहती है। अतः श्रमिक निश्चित समय में ही पहले की अपेक्षा अधिक कुशलता से कार्य करने लगता है। श्रमिक किसी एक कार्य की उप - क्रिया को हमेशा करता रहता है जिससे वह उस कार्य में निपुण हो जाता है अतः विशिष्टीकरण से श्रमिकों की कार्यक्षमता में निरंतर वृद्धि होती है।

(5) उत्तरदायित्व का केन्द्रीयकरण : औद्योगिक इकाई में विशिष्टीकरण को कार्यान्वित करने से उत्तरदायित्व का केन्द्रीयकरण हो जाता है।

(6) साख में वृद्धि: विशिष्टीकरण के कारण उद्योग व स्थान की साख में वृद्धि होती है। किसी विशेष काम को करते - करते श्रमिक प्रसिद्ध हो जाते हैं। उदाहरणार्थ - घड़ियों का निर्माण करने में स्विजरलैण्ड के श्रमिक, शैफील्ड के कैंची, चाकू आदि, अलीगढ़ के ताले, आगरा का पेठा, आई.सी.आई.(I.C.I) का टेरीन आदि वस्तुएँ बनाने वाले श्रमिक प्रसिद्ध हैं।

(7) उत्पादन - लागत में कमी: विशिष्टीकरण से उत्पादन लागत में कमी आती है। कारखानों में मशीनों का प्रयोग, श्रम विभाजन तथा विशाल पैमाने पर उत्पादन होने से वस्तु की औसत लागत कम हो जाती है परिणामस्वरूप उत्पादन लागत कम हो जाती है।

(8) श्रम विभाजन के लाभ: विशिष्टीकरण श्रम विभाजन पर निर्भर है अतः विशिष्टीकरण से श्रम विभाजन के सभी लाभ उपलब्ध हो जाते हैं। उदाहरणार्थ- अर्द्ध कुशल लोगों को काम मिलना,कम अपव्यय, समय की बचत,कार्यक्षमता में वृद्धि आदि।

(9) समय की बचत: विशिष्टीकरण से श्रमिको की कार्यक्षमता में पर्याप्त वृद्धि होती है जिससे समय की बचत होती है।

(10) यन्त्रीकरण को प्रोत्साहन: विशिष्टीकरण से यन्त्रीकरण को प्रोत्साहन मिलता है। इसके अतिरिक्त विनियोगों में भी वृद्धि होती है।

(11) प्रमापित वस्तुओं का उत्पादन: विशिष्टीकरण के कारण प्रत्येक कार्य विशेषज्ञों द्वारा किये जाते हैं अतः कारखानों में केवल प्रमापित वस्तुओं का ही उत्पादन होने लगता है।

(12) विशाल पैमाने वाले उत्पादन के लाभ: विशिष्टीकरण के कारण सीमित किस्म की वस्तुओं का उत्पादन होता है जिससे विशाल पैमाने वाले उत्पादन के लाभ प्राप्त होते हैं इसके फलस्वरूप उत्पादन कम हो जाते हैं तथा क्रेता एवं विक्रेता दोनों ही लाभान्वित होते है।

(13) श्रमिको को रूचि व योग्यतानुसार काम प्राप्ति में सुविधा: विशिष्टीकरण से श्रमिकों को उनकी रूचि एवं योग्यता के अनुसार काम मिलने में सुविधा रहती है। इसके अंतर्गत श्रमिकों को वही काम करने को दिया जाता है, जिनमें उनकी रुचि हो तथा वे अपनी शिक्षा व योग्यता के अनुसार इस कार्य को ठीक रीति से कर सकें।

विशिष्टीकरण के दोष
(Disadvantages of Specialisation)

विशिष्टीकरण के प्रमुख दोष निम्नलिखित है :—

(1) प्राचीन उद्योगों का पतन: विशिष्टीकरण का प्राचीन उद्योगों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इससे प्राचीन उद्योग धंधों का पतन हो जाता है तथा करीगरों के कौशल का भी विनाश हो जाता है। इस प्रकार धीरे - धीरे प्राचीन हस्तकला लुप्त होती जा रही है। प्रो. किम्बाल के अनुसार, "शायद सबसे बड़ी हानि यह हुई कि प्राचीन उद्योग - धन्धे नष्ट हो गये तथा पुराने कुशल कारीगर समाप्त हो गये।"

(2) आत्मनिर्भरता की समाप्ति: विशिष्टीकरण से कारखानों की आत्मनिर्भरता समाप्त हो जाती है,क्योंकि एक कारखाने को दूसरे कारखाने पर आश्रित रहना पड़ता है। यदि उत्पादन की किसी एक इकाई के कार्य में शिथिलता आ जाती है तो दूसरी ईकाइयो को भी अपने कार्य की गति को धीमा करना पड़ता है - उदाहरणार्थ - यदि साइकिल बनाने वाले कारखानों में टायर - ट्यूब का अभाव होगा तो इसका प्रभाव साइकिल की बिक्री पर पड़ेगा।

(3) मध्यस्थों की संख्या में वृद्धि: विशिष्टीकरण से मध्यस्थों की संख्या में वृद्धि हो जाती है उनमें पर्याप्त भावना का उदय हो जाने से समन्वय स्थापित करने की समस्या उत्पन्न हो जाती है।

(4) प्रशिक्षण पर अधिक व्यय: विशिष्टीकरण की योजना के अंतर्गत श्रमिकों के यान्त्रिक प्रशिक्षण पर अत्यधिक व्यय करना पड़ता है।

(5) उत्पादन का कार्यक्षेत्र सीमित: विशिष्टीकरण के कारण उत्पादन का कार्यक्षेत्र सीमित हो जाता है जब कभी उद्योग पर संकट आता है तो उसे काफी क्षति उठानी पड़ती है। इसके विपरीत यदि एक साथ अनेक क्षेत्रों में उत्पादन किया जाये तो किसी प्रकार के कोई संकट का सामना नहीं करना पड़ता । **प्रो. किम्बाल** के अनुसार," यदि नये आविष्कारों के कारण परिवर्तन हो जाये तो उत्पादन विधियों में अत्याधिक विशिष्टीकरण से किसी कारखाने व उद्योग को आर्थिक संकट अथवा पूर्ण विनाश का सामना करना पड़ सकता है।

(6) मानसिक विकास में बाधा: विशिष्टीकरण से श्रमिक के मानसिक विकास की गति अवरूद्ध हो जाती है एक ही क्रिया को निरंतर करने से रूचि एवं आनन्द का लोप हो जाता है।

(7) उत्तरदायित्व की भावना में कमी: विशिष्टीकरण के कारण संपूर्ण क्रिया सम्पन्न होने तक यन्त्रों एवं श्रमिकों का सहारा लेना पड़ता है यदि किसी कारणवश वस्तु खराब बन जाये तो यह पता लगाना असंभव हो जाता है कि गलती किसके द्वारा की गयी है सामूहिक उत्तरदायित्व किसी पर थोपा नहीं जा सकता जिसके फलस्वरूप श्रमिक अपने कार्य में लापरवाह हो जातें है। इस प्रकार श्रमिकों में उत्तरदायित्व की भावना का अभाव होता जाता है।

(8) कुशलता में कमी: विशिष्टीकरण के फलस्वरूप एक व्यक्ति उत्पादन की एक विशेष क्रिया को ही निरंतर करता रहता है, अतः वह अन्य क्रियाओं से सर्वथा अपरिचित रहता है। इस प्रकार श्रमिकों की कुशलता धीरे - धीरे कम होने लगती है।

विशिष्टीकरण की सीमाएँ
(Limitation of Specialisation)

विशिष्टीकरण समस्त स्थानों पर लागू नही किया जा सकता। इसको लागू करने के लिए निम्नलिखित शर्तों को पूरा करना आवश्यक है :—

(1) तकनीकी प्रगति पर आश्रित: विशिष्टीकरण तकनीकी प्रगति पर आश्रित रहता है।

(2) प्रमापीकरण आवश्यक: उत्पादन विधियों तथा उत्पादित वस्तुओं की किस्म में प्रमापीकरण होना आवश्यक है, तभी विशिष्टीकरण को सफलता प्राप्त हो सकती है।

(3) बाजार की सीमा पर निर्भर: विशिष्टीकरण बाजार की सीमा पर निर्भर रहता है वस्तु की माँगे अधिक होने पर विस्तृत बाजार होने पर विशिष्टीकरण को प्रोत्साहन मिलता है।

(4) किस्म तथा उत्पादन विधि में कम परिवर्तन: विशिष्टीकरण तभी संभव है किस्म और उत्पादन विधियों में परिवर्तन की कम - से - कम आशंका हो।

(5) विलासिता की वस्तुओं के लिए अनुपयुक्त: विशिष्टीकरण विलासिता की आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन में अधिक उपयुक्त रहता है, क्योंकि आवश्यक वस्तुओं की रहती है जबकि विलासिता की वस्तुओं की माँग पूर्णतः अनिश्चित रहती है।

प्रश्न
(Question)

1. प्रमापीकरण किसे कहते हैं? इसके गुण दोषों का वर्णन कीजिए।
2. प्रमापीकरण की परिभाषा दीजिये एवं प्रमापीकरण की मुख्य विशेषताये समझाइए।
3. विशिष्टीकरण शब्द की परिभाषा दीजिये। इसके विभिन्न रूप क्या है? प्रत्येक को
4. विशिष्टीकरण का क्या अर्थ है? इसके गुण दोषों को समझाइए।

●●●

सुझाव पत्र (विद्यार्थियों के लिये)

नाम –
नामांकन नं. –
फोन नं.–
ई–मेल आईडी –

कार्यक्रम का नाम –
कोर्स का नाम –
सत्र –

प्रिय छात्र–छात्राओं,

विश्वविद्यालय के द्वारा दूरस्थ शिक्षण संस्था में पंजीकृत छात्र–छात्राओं को दी जाने वाली पाठ्यसामग्री को हमेशा बेहतर बनाने का प्रयास रहा है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु आपके विचार एवं सुझाव आमंत्रित है, कृपया आपको प्रदान की जाने वाली पाठ्य–सामग्री के संबंध में अपने विचार एवं सुझाव 500 शब्दों में लिखकर प्रेषित करें, ताकि उक्त विचार एवं सुझाव का अमल करते हुये हम अपने पाठ्य सामग्री को और अधिक सरल, सहज एवं रोचक बनाया जा सकें।

सुझाव –

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

छात्र का नाम एवं हस्ताक्षर

सुझाव पत्र (विषय विशेषज्ञ/पाठ्यक्रम समन्वयक/कार्यक्रम समन्वयक के लिये)

नाम – पद –

विभाग/विषय – पता –

फोन नं.– सत्र –

ई–मेल आईडी –

प्रिय विषय विशेषज्ञ/पाठ्यक्रम समन्वयक/कार्यक्रम समन्वयक,

विश्वविद्यालय के द्वारा दूरस्थ शिक्षण संस्था में पंजीकृत छात्र–छात्राओं को दी जाने वाली पाठ्यसामग्री को हमेशा बेहतर बनाने का प्रयास रहा है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु आपके विचार एवं सुझाव प्रार्थनीय है, कृपया आप इस पाठ्य–सामग्री के संबंध में अपने विचार एवं सुझाव 500 शब्दों में लिखकर प्रेषित करें, ताकि उक्त विचार एवं सुझाव का अमल करते हुये हम अपने पाठ्य सामग्री को और अधिक सरल, सहज एवं रोचक बनाया जा सकें।

सुझाव –

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

धन्यवाद,

नाम एवं हस्ताक्षर